CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

कृष्णदास संस्कृत सीरीज-९०

काव्यप्रकाशः

सविमर्श 'रहस्यबोधिनी' हिन्दीव्याख्या सहित

व्याख्याकारः
डॉ॰ गजाननशास्त्री मुसलगाँवकर

कृष्णदास अकादमी. वाराणसी

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

8.1

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृष्णदास संस्कृत सीरीज

९०

श्रीमम्मटभट्टविरचितः

(११वीं शताब्दी)

काव्यप्रकाशः

सविमर्श 'रहस्यबोधिनी' हिन्दीव्याख्याविभूषितः

[१-६ उल्लासः]

व्याख्याकारः

डॉ० गजाननशास्त्री मुसलगाँवकरः

वेदान्त-मीमांसा-साहित्याचार्यः, साहित्यरत्नम्

एम्. ए., पी-एच्. डी.

भू०पू० मीमांसा-धर्मशास्त्रविभागाध्यक्ष : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भू०पू० विजिटिंग प्रोफेसर : बड़ोदा यूनिवर्सिटी, बड़ोदा

भू०पू० शास्त्रचूडामणि-प्रोफेसर : गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद

सम्पादकः

आचार्य पं० सत्यनारायणशास्त्री खण्डूड़ी

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

१९८६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० सं० २०४१

मूल्य : रू० ३५-००

© कृष्णदास अकादमी

पो० बा० नं० ११२८

चौक, (चित्रा सिनेमा बिल्डिंग), वाराणसी-२२१००१

(भारत)

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

के० ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० १००८, वाराणसी-२२१००१ (भारत)

फोन : ६३१४५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES
90

KĀVYA PRAKĀSHA

OF

MAMMAT

With

'Rahasyabodhini' Hindi Commentary

By

Dr. Gajanan Shastri Musalgaonkar
M. A., Ph. D.
Vedanta-Mimansa-Sahityacharya, Sahityaratna.
Ex. Head of the Department of Mimansa & Dharmashastra : Faculty of Oriental Learning & Theology, B. H. U., Varanasi.
Ex. U. G. C. Professor : Baroda University, Baroda.
Ex. Shastrachudamani Professor : Ganga Natha Jha Kendriy Sanskrit Vidyapith, Allahabad.

Edited By

ACHARYA Pt. SATYANARAYAN SHASTRI KHANDURI

(1 – 6 ULLAS)

KRISHNADAS Academy

VARANASI
1986

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

© KRISHNADAS ACADEMY
Oriental Publishers & Distributors
POST BOX No. 1118
Chowk, (Chitra Cinema Building), Varanasi–221001
(INDIA)

First Edition
1986
Price Rs. 35–00

Also can be had from
Chowkhamba Sanskrit Series Office
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Post Box 1008, Varanasi–221001 (India)
Phone : 63145

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माङ्गलिकम्

ग्रन्थस्य ग्रन्थकारस्य च स्वरूपपरिचयपूर्वकं तत्पुण्यनामधेयस्मरणमङ्गलम् ।

वाग्देव्याः पुरुषावतार इति यं शंसन्ति विद्वज्जनाः
साहित्ये समुपैति यस्य वचनं प्रामाण्यमव्याहतम् ।
काश्मीरान् समभूषयत् स्वजनुषा यः शारदाधिष्ठितान्
काव्यज्ञैकशिखामणिः स नियतं जीयाच्चिरं मम्मटः ॥

काव्यस्थं गुण-दोषजातमखिलं स्पष्टं प्रकाशं नय-
न्नुद्देशं परितः समं च विषमं मार्गे प्रदीपो यथा ।
आबालस्थविरं जगत्परिसरे बिभ्रत् प्रतिष्ठाम्परां
जीयात् काव्यपरीक्षणैकनिकषः काव्यप्रकाशश्चिरम् ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

॥ श्रीः ॥

समर्पणम्

परमाराधनीय-पूजनीय-प्रातःस्मरणीयानां परब्रह्मणि
विलीनानां श्रीमन्मातृ-पितृ-गुरुचरणानां
समर्प्यमाणोऽयं निवापाञ्जलिः ।

माता-पितृभ्यां शिवतां गताभ्यां
विद्यागुरुभ्यः करुणानिधिभ्यः ।
काव्यप्रकाशे रचितां सुबोधां
व्याख्यां निवापाञ्जलिमर्पयामि ॥

भवच्चरण-रेणु-रञ्जितः
पुत्रः शिष्यश्चाहं
गजाननः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मलीनाः पूजनीयाः श्रीमातृ-पितृचरणाः

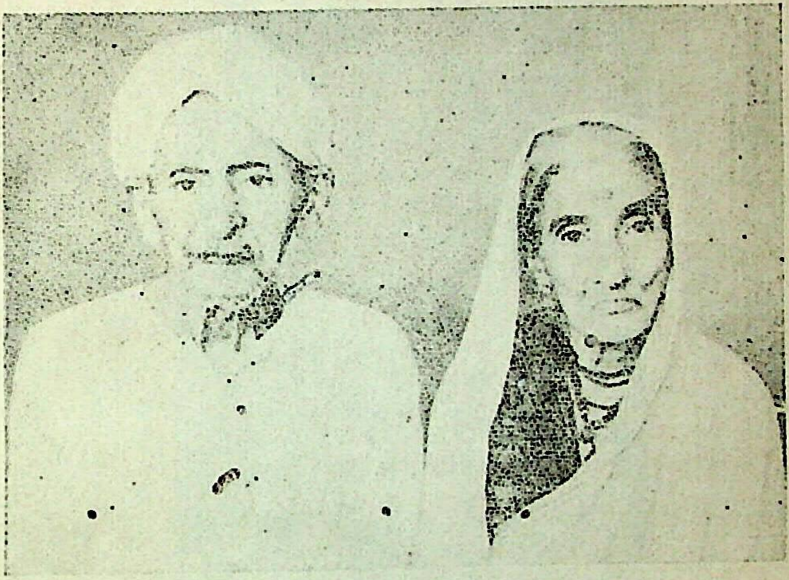

श्रीमत्पूजनीय-मातृ-पितृचरणचिन्तनात्मकं

मङ्गलम्

यः शास्त्रेष्वखिलेष्वकुण्ठितमतिः शुश्रूषयाऽऽसीद् गुरोः
शिष्याध्यापनतत्परः स्वमनयत्सर्वञ्च यो जीवनम् ।
तं विद्या-विनयान्वितं शिवपदं प्राप्तं तपोभूषितं
तातं ख्यातगुणं सदाशिवपदप्रख्यातिभाजं भजे ।

सेवासु तत्परमतिः पतिदैवतस्य
या कार्यभारमवहत् सकलं गृहस्य ।
वात्सल्यधर्मपरतादिगुणैरुपेतां
तां पार्वतीं स्व-जननीं हृदि भावयामि ।।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्मलीनाः पूज्यनीयाः श्रीगुरुचरणाः

परमाराधनीयश्रीमद्गुरुचरणारविन्दाभिवन्दनम्

स्फूर्जद्दुर्गमशास्त्रकानततटीसञ्चारिपञ्चाननं
गर्वद्दुर्वहवादिवृन्ददमनं वाचस्पतिस्पर्धिनम्।
दत्वा पण्डितराजराजपदवीं विद्वज्जनैरादृतं
वन्दे द्राविडवंशभूषणमणिं राजेश्वराख्यं गुरुम् ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शुभाशंसा

अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों में श्रीमम्मटाचार्य-विरचित 'काव्यप्रकाश' का विशिष्ट स्थान है। काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक विस्तृत इस विशाल पुण्यभूमि के विद्वज्जनों ने इस ग्रन्थ की प्रौढिमा से आकृष्ट होकर इस उत्तम ग्रन्थ की व्याख्या की है। व्याख्याकार आलङ्कारिक ही नहीं, सभी दार्शनिकों ने भी अपने दर्शन-सिद्धान्त के अनुसार व्याख्या की है। इतना ही नहीं, सभी प्रान्तों के विद्वज्जनों ने ग्रन्थ के महत्त्व को अनुभव कर व्याख्या की है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि चाहे ग्रन्थ किसी प्रान्त के व्यक्ति द्वारा प्रणीत हो प्रान्तीय भावना को त्यागकर ग्रन्थ का आदर करना, ग्रन्थकार के महत्त्व को प्रचार करना और ग्रन्थकार के आशय को अभिव्यक्त करना, संस्कृत-समाज की एकता को अक्षुण्ण रखना, आदि में वे चिरंतन तत्परता को दिखलाते थे। संस्कृत व्याख्याओं से मात्र संस्कृत-समाज लाभान्वित होगा, यह समझकर हिन्दी-क्षेत्र के मनीषियों ने राष्ट्रभाषा की पुष्टि एवं संस्कृत न जानने वालों की ज्ञान-समृद्धि के उद्देश्य से अनुवाद एवं व्याख्या के रूप में काव्यप्रकाश को प्रकाशित किया है।

इस परंपरा में दार्शनिक तथा साहित्यिक विद्वद्वर श्रीगजाननशास्त्री मुसलगाँवकर ने काव्यप्रकाश की 'रहस्यबोधिनी' नामक सविमर्श टीका लिखकर प्रकाशित की है। मैंने इस टीका को स्थालीपुलाकन्याय से पढ़ा। मेरी दृढ धारणा है कि दार्शनिक पदार्थों के ज्ञान के बिना काव्यप्रकाश का गूढ आशय अभिव्यक्त नहीं होगा। व्याख्याकार मुसलगाँवकर अपनी विस्तृत भूमिका द्वारा एवं तत्तत्स्थलों की विशद व्याख्या द्वारा विषय-प्रतिपादन सरल हिन्दी माध्यम से अभिव्यक्त किये हैं। मराठी-भाषा-भाषी होते हुए हिन्दी में व्याख्या की रचना भी एकता-सूचक है। मुसलगाँवकरजी का न्याय-मीमांसादि दर्शनों में विद्यमान अगाध वैदुष्य इस व्याख्या से प्रतिफलित होता है। मैं पण्डितजी के श्रेय और प्रेय की सर्वेश्वर से प्रार्थना करता हुआ साहित्याध्ययनशील छात्रों से अनुरोध करता हूँ कि वे इस व्याख्या का अध्ययन कर अलंकारशास्त्र में वैदुष्य प्राप्त करें।

वाराणसी
दीपावली, सं. २०४३ वि.

—पट्टाभिरामशास्त्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्पादकीय

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गमः'

'काव्यप्रकाश' से सम्बन्धित यह सूक्ति अक्षरशः यथार्थ घटित होती है। अद्यावधि 'काव्यप्रकाश' की शताधिक टीकाओं का उल्लेख विद्वानों ने किया है। इतना ही नहीं विद्वन्मूर्धन्य कमलाकरभट्ट ने तो 'काव्यप्रकाशे टिप्पण्यः सहस्रं सन्ति यद्यपि' इन शब्दों में सहस्रों टीका-टिप्पणियों का निर्देश किया है। पुनः निरन्तर इसकी नवीन-नवीन व्याख्याएँ तब से प्रकाशित होती रहीं। संस्कृत-साहित्य में इतनी अधिक व्याख्याएँ किसी भी अन्य ग्रन्थ की आज तक नहीं लिखी गईं, भले ही अपवादस्वरूप बहुचर्चित बहुप्रशंसित सुप्रसिद्ध 'श्रीमद्भगवद्गीता' ही क्यों न हो, 'सहस्रं सन्ति यद्यपि' इस प्रकार सहस्रों का उल्लेख इस प्रसङ्ग में भी किसी विद्वान् ने नहीं किया। इन सब उल्लेखों एवं व्याख्याओं से 'काव्यप्रकाश' की लोकप्रियता, सारगर्भिता, रहस्यपूर्णता एवं उपादेयता आदि ही निःसन्देह भासित होती है। यदि इसके अन्दर उपादेयता न होती, मात्र दुरूहता ही रहती, तो भारत के सम्पूर्ण प्रान्तों में ही नहीं, सर्वत्र देश-विदेश में बहुसंख्यक मूर्धन्यमनीषियों की इसकी व्याख्याओं के प्रति आकर्षण तथा प्रवृत्ति ही क्यों होती। इससे स्पष्ट है कि 'काव्यप्रकाश' की उपादेयता, अर्थ-गम्भीरता, गूढरहस्यता सर्वत्र सर्वमान्य है। और इसीसे प्रारम्भ से लेकर आज तक उसके अध्ययन-अध्यापन का क्रम अबाधगति से चलता आ रहा है, यत्किञ्चित् भी न्यूनता नहीं आयी। सर्वत्र उच्च-कक्षाओं में पाठ्यग्रन्थ के रूप में यह आज भी स्वीकृत है।

'काव्यप्रकाश' की अतिप्राचीन टीकाओं में सर्वप्रथम 'रुय्यक'कृत 'संकेत' नामक एवं 'माणिक्यचन्द्र'कृत 'संकेत' दो नाम की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। तदनन्तर अनेकानेक टीकाएँ भी प्रारम्भ हुईं। हिन्दी टीकाकारों में 'श्रीहरिमङ्गल मिश्र' तथा अंग्रेजी टीकाकारों मे 'श्रीगङ्गानाथ झा' का नाम उल्लेखनीय है। हिन्दी टीका 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग' से प्रकाशित हुई। अनन्तर अन्य हिन्दी-टीकाएँ भी अन्यत्र प्रकाशित हुईं।

आज राष्ट्रभाषा हिन्दी के युग में इसकी हिन्दी टीकाओं का महत्त्व भी सर्वविदित ही है। इसी राष्ट्रभाषा-प्रेम एवं राष्ट्रिय भावना से अभिभूत होकर तथा सर्वजनसुखाय सर्वजनहिताय की उदात्त भावना से प्रेरित होकर बहुमुखी-प्रतिभासम्पन्न विद्वन्मूर्धन्य शास्त्रचूडामणि विद्वान् अनेकानेक-शास्त्रीयग्रन्थों के ख्यातिलब्ध-व्याख्याकार ने 'काव्य-प्रकाश' के उन समस्त विवादास्पद गूढरहस्यों का उद्घाटन करते हुए, यह सविमर्श

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

व्याख्या विद्यानुरागी अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत की है। इसका जो वैशिष्ट्य है उसका यत्किञ्चित् सूत्ररूप से दिग्दर्शन करादेना आवश्यक प्रतीत होता है, जिससे इसके पठन-पाठन के प्रति छात्रों एवं विद्वानों की अभिरुचि बढ़े।

इस व्याख्या की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें मूलग्रन्थ के जो तीन भाग हैं—१. कारिका एवं सूत्रभाग, २. वृत्तिभाग, ३. उद्धरण-श्लोकभाग। सर्वप्रथम इनमें-से मूल-सूत्रकारिका-भाग का हिन्दी अनुवाद देकर, वृत्तिभाग के अनुवाद द्वारा उसे स्पष्ट करते हुए तथा उद्धरण-श्लोकों का भी अनुवाद करते हुए, सूत्रकारिकावृत्ति को उस उद्धरण में अक्षरशः घटाकरके समझाया गया है। गूढ एवं सूक्ष्म विषयों को विमर्श के अन्तर्गत देकर, मतमतान्तरों का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत प्रसङ्गों का सप्रसङ्ग स्पष्टीकरण किया गया है। आवश्यकतानुसार मूल-उद्धरणों के अतिरिक्त स्वयं के उद्धरणान्तर भी दिये गये हैं, उन्हें अच्छी प्रकार घटाकर समझाया भी गया है। विद्वान् व्याख्याकार के बहुप्रतिभासम्पन्न होने के कारण तथा अनेकशः शास्त्रीयग्रन्थों के व्याख्यानुभव एवं अध्यापनानुभव-निपुण होने के कारण, जहाँ अभिधा, व्यञ्जना, लक्षणा, रस, ध्वनि, आदि-जैसे गूढ-सूक्ष्म विषयों के बृहद् विवेचनीय प्रसङ्ग हैं, वहाँ अलङ्कारशास्त्र के मतमतान्तरों के प्रतिपादन के साथ-साथ न्याय, व्याकरण, दर्शन, मीमांसा, आदि शास्त्रान्तरों से सम्बन्धित सुविस्तृत व्याख्यानों द्वारा उनके सप्रसङ्ग आदर्शस्वरूप विवेचन, प्रतिपादन एवं समाधान प्रस्तुत किये गये हैं। अनावश्यक विस्तारभय से भी विषय को बचाया गया है। जिससे जिज्ञासुओं की लेशमात्र भी जिज्ञासा अवशिष्ट न रहे। भाषा-शैली परिमार्जित, सरस, सरल एवं संवादरूप होने से विषयावबोधन में किसी प्रकार की कोई बाधा ही उपस्थित नहीं हो पाती। इससे छात्र, अध्यापक; विद्वान् एवं गवेषक आदि सभी वर्ग के अध्येताओं के लिए यह संस्करण समान रूप से उपादेय है।

इतना ही नहीं, अपने सुदीर्घकालीन अध्यापनानुभवों से छात्रों की कठिनाई को ध्यान में रखते हुए, यत्र तत्र सर्वत्र व्याख्याओं के उन समस्त प्रष्टव्य द्रष्टव्य स्थलों को स्थूलाकार अक्षरों में अङ्कित कर दिया है, जिससे पृष्ठ उलटते ही उस पृष्ठ के स्मरणीय स्थूलाक्षर-अङ्कित स्थल-विशेष शीघ्र ही दृष्टिगोचर हो जायें, याद हो जायें। मात्र इतने ही अंश को यदि छात्र बुद्धिस्थ, कण्ठस्थ या अनुगम कर लें तो परीक्षोत्तीर्णता-प्राप्ति तो हस्तामलक के समान असन्दिग्ध ही समझें। योग्यता भी सहज-अर्जित सुनिश्चित है। इसके समक्ष प्रश्नोत्तरी की आवश्यकता भी व्यर्थ है। जिससे योग्यता का ह्रास होता है। उदाहरणार्थ यथा पृष्ठ १६ पर व्याख्याभाग में स्थूल अक्षरों में अङ्कित है—"शब्द की त्रिविधता—वाचक, लाक्षणिक, व्यञ्जक"। मात्र इतने अंश पर ही दृष्टि पड़ने पर भी शब्द की त्रिविधता ज्ञात हो गयी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसी प्रकार गवेषकों की असुविधाओं को भी ध्यान में रखकर मतमतान्तरों, विषयान्तरों, शास्त्रान्तरों का सूक्ष्म विवेचन करते हुए सभी विषयों का एकत्र समावेश कर दिया गया है। उद्धरण, उद्धरणान्तरों से भी विषयों को सुसज्जित किया गया है। जिससे गवेषकों को दुष्प्राप्य ग्रन्थों की प्राप्ति के प्रयास एवं समयसाध्य उनके आलोडन-विलोडन की क्लिष्टता से सहज मुक्ति मिल सके। इससे यह संस्करण गवेषकों के लिए भी उतना ही उपादेय है, जितना छात्रों के लिए।

साथ-साथ जिज्ञासु अध्येताओं, विद्वानों, अध्यापकों के लिए भी इसकी वही उपादेयता है, जो छात्रों एवं गवेषकों के लिए है। वे सभी अपने जिज्ञासित विषय को इसमें एकत्र समाविष्ट पायेंगे तथा यत्र-तत्र व्यर्थ श्रमसमय से मुक्त रहेंगे।

इसके अतिरिक्त जो इस संस्करण का अन्य मुख्य वैशिष्ट्य है, वह है इसका भूमिका भाग। भूमिकाभाग इस प्रकार के सप्रासङ्गिक प्रसङ्गों से युक्त है, जो सम्पूर्ण ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं अलङ्कारशास्त्र से सम्बन्धित विषयों का तत्त्वसारस्वरूप है। मात्र भूमिका के अध्ययन से ही शास्त्र, विषय, प्रसङ्ग तथा ग्रन्थ आदि में अनायास गति सुलभ हो सकती है। अतः ग्रन्थ अध्ययन के पूर्व इसके भूमिकाभाग का अवलोकन नितान्त आवश्यक एव अनिवार्य है।

आशा है, इन समस्त विस्तृत एवं विशिष्ट विशेषताओं को समेटता हुआ यह संस्करण छात्र, गवेषक, अध्यापक, विद्वान्, सभी जिज्ञासु अध्येताओं एवं ग्रन्थागारों के लिए समानरूप से उपादेय सिद्ध होगा। अतः संग्रहणीय एवं पठनीय है।

अन्त में सहृदय सुधी पाठकों को यह स्मरण दिला देना भी उचित समझता हूँ कि जैसा सर्वविदित ही है—श्री कृष्णदास अकादमी का यह सर्वमान्य आदर्श सिद्धान्त है कि वह आर्ष, दुर्लभ एवं विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थों के प्रकाशन में ही विशेष रुचि रखता है, सचेष्ट रहता है। अतः ऐसे ही विद्वान् लेखकों, व्याख्याताओं की कृतियों को ही प्रकाशन में प्राथमिकता देता है। विद्वान् लेखकों के ग्रन्थ पठनीय होते हैं, इनसे ज्ञानवर्धन होता है। विश्वास है, 'श्री कृष्णदास अकादमी' के प्रकाशन आपके लिए लाभकारी प्रमाणित होंगे। और आप इन्हें सतत अपनाते रहेंगे। इति शम्॥

—सत्यनारायण खण्डूड़ी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रन्थ-ग्रन्थकारस्य व्याख्या-व्याख्याकारस्य च प्रशस्तिः

मम्मटभट्टविरचितः सहृदयसर्वस्वतां यातः
काव्यप्रकाशनामा विराजते ग्रन्थराजोऽयम् ॥ १ ॥

हिन्दीभाषाभाष्यं तस्य पुनः श्रीमुसलगांवकरै-
ररचितं तन्नूनं स्वर्णे सौरभमिवातनुते ॥ २ ॥

काव्यप्रकाशगौरवमेतेनैव स्फुटीभवति
यत्तत्रैव विरचिताः शतशष्टीकाः प्रटीकाश्च ॥ ३ ॥

वाग्देवतावतारश्चानेनैवैकमात्रग्रन्थेन
मम्मटभट्टो जातः सा सुषमा तावदस्ति रचनायाः ॥ ४ ॥

काव्यविषयका ये ये ज्ञातव्याः सन्ति सद्विषयाः
परिहृत्य विस्तरं ते संक्षेपेणात्र राजन्ते ॥ ५ ॥

अन्येषु ग्रन्थेषु च विस्ताराणां सुबहुलत्वम्
अतिसंक्षेपो वाप्यथ विक्षेपं नूनमाधत्ते ॥ ६ ॥

व्याकरणे यत् स्थानं काचित् सिद्धान्तकौमुदी धत्ते
साहित्ये तत्स्थानं मम्मटरचनेयमाधत्ते ॥ ७ ॥

हिन्दीभाषाटीका बह्व्यो ह्यत्रापि दृश्यन्ते
किन्तु तदेतद्भाष्यं गजाननानां समुन्नतं स्वगुणैः ॥ ८ ॥

दार्शनिका विद्वांसश्चैते सहृदयधुरीणाश्च
निपुणाः कवयश्चैते भाषाभाष्ये प्रवीणाश्च ॥ ९ ॥

वयसश्चोत्तरभागे सेवाकार्याद्विनिर्मुक्ताः
लेखनकर्मणि सेवां वाग्देव्यास्ते प्रकुर्वन्ति ॥ १० ॥

दर्शनसद्ग्रन्थानां काव्यानां शास्त्ररत्नानाम्
निभृतं रहस्यजातं व्याख्यासु प्रकटयन्त्येते ॥ ११ ॥

अविरामधारया ननु प्रचलत्वेषां तु लेखनी रुचिरा
काव्यप्रकाशभाषाभाष्यमिदं श्लाघ्यतां यातु ॥ १२ ॥

विद्यावनतः
डॉ० शिवदत्तशर्मा चतुर्वेदः
काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालये संस्कृतसंकाये साहित्यविभागे प्रवाचकः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूमिका-विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
ग्रन्थ का नामकरण	१
ग्रन्थ की रचना का स्वरूप	१
काव्यशास्त्र और उसके अन्यान्य नाम	१
साहित्यशास्त्र या साहित्यविद्या	२
काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का प्रथमतः विवेचन	२
काव्य के विषय में भरतमुनि की सृष्टि	४
काव्य की स्वतन्त्र प्रधानता	४
युगप्रवर्त्तक के रूप में श्री आनन्दवर्धन	४
ध्वन्यालोक से प्रभावित प्रथम ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश'	५
काव्य के तीन भेद	५
बीजारोपण	६
आलङ्कारिकों का शब्दार्थविवेचन	६
काव्यमीमांसकों को अपने उत्तरदायित्व की प्रतीति	७
शब्दार्थ-विवेचन के सम्बन्ध में मम्मटभट्ट का कार्य	७
काव्यमीमांसकों की इस नवीन कल्पना में वैयाकरणों का आधार	८
वैयाकरणों का 'ध्वनि' और आलङ्कारिकों का 'ध्वनि'	९
स्फोट के स्वरूप का परिचय	१०
मम्मटभट्टकृत अभिधालक्षणा के विवेचन का आधार	१३
मुकुलभट्ट के द्वारा 'जात्यादिवाद' के सिद्धान्त की स्थापना	१४
मुकुलभट्ट के अनुसार 'लक्षणा' के भेद	१४
लक्षणा के सम्बन्ध में मुकुलभट्ट का अपना मत	१४
मम्मटभट्ट के द्वारा मुकुलभट्ट की मान्यताओं का खण्डन	१६
मम्मटभट्ट की गुणग्राहिता	१७
लक्षणा की विशेषता	१७
कतिपय व्याख्याकारों की उक्त व्याख्या का अनौचित्य	१७
ध्वनि के प्रकार	१८
रस की परिभाषा	२०
रस की चार व्याख्याएँ	२१
रस की अलौकिकता	२४
रसादिध्वनि का प्रपञ्च	२५
ग्रन्थकार के द्वारा प्रदर्शित रसादि ध्वनियों के उदाहरण	२६
रसादिध्वनि के अन्तर्गत होनेवाले 'भावों' के उदाहरण	२७
भट्टलोल्लट के अनुसार	२८
प्रथमसंख्यानिर्दिष्ट भट्टलोल्लट के मन्तव्य पर शंकुक का आक्षेप	२८
आचार्य शंकुक की व्याख्या का अभिनवगुप्तपाद के द्वारा समीक्षण	३३
तृतीय व्याख्याता भट्टनायक के अनुसार 'रस' की प्रतीति का विषय नहीं कह सकते	३५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	पृष्ठ
रस के सम्बन्ध में भट्टनायक के अपने विचार	३७
भट्टनायक के विचारों का परीक्षण	३८
रससूत्र पर अभिनवगुप्तपाद की व्याख्या	४२
रसचर्चा का सिंहावलोकन	४५
काव्यरस	४५
गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकार	४६
गुणीभूतव्यंग्य के कतिपय उदाहरण	४७
'रस' के स्थलों में व्यञ्जना की सिद्धि	५०
अवशिष्ट ध्वनि-भेदों में व्यञ्जना की सिद्धि	५१
अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि का परीक्षण	५१
अन्विताभिधानवाद की दृष्टि से अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का परीक्षण	५१
अन्विताभिधानवादी का आक्षेप और उनका समाधान	५३
दीर्घ-अभिधावाद का खण्डन	५४
'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'	५६
'विष भक्षय, मा च अस्य गृहे भुङ्क्थाः'	५६
दीर्घ-अभिधावाद में उपस्थित होनेवाले दोष	५७
व्यञ्जना के अस्तित्व में कतिपय अन्य प्रमाण	५८
वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में भेद	५८
वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के भेद में अन्यान्य कारण	५९
लक्षणावादी की दृष्टि से 'व्यञ्जना' का लक्षणा में अन्तर्भाव	६१
व्यंग्यार्थ की लक्ष्यार्थ से भिन्नता	६२
'व्यंजना' का नाम लक्षणा नहीं	६३
स्फोटवादी वैयाकरणों को भी व्यञ्जना का स्वीकार करना अनिवार्य	६४
महिमभट्ट की दृष्टि से 'व्यंजना' का अनुमान में अन्तर्भाव	६४
अनुमान का प्रकार	६५
'व्यञ्जना' का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं	६५
चित्रकाव्य (अधम, अवर) काव्य	६६
मम्मटभट्ट-विरचित 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ की विशेषता	६७
लाघवपूर्ण वृत्ति-रचना	६९
लाघवपूर्ण कारिकाएँ	७०
अन्वयमुखेन विवेचन	७०
काव्यप्रकाश में प्राकृत उदाहरणों की विपुलता	७१
मम्मटभट्ट की वाक्यरचना	७१
काव्यप्रकाशकार के विषय में विद्वानों के विचार	७२
काव्यप्रकाशकार श्रीमम्मटभट्ट का परिचय	७३
'काव्यप्रकाश' पर व्याख्याओं की विपुलता	७४
'काव्यप्रकाश' ग्रंथ की एक-कर्तृकता	७५
सिद्धान्तपक्ष	७७
वृत्ति और कारिका ग्रन्थ दोनों का कर्ता एक	७७
समस्त कारिका-भाग भरत-कर्तृक नहीं	७७
उपसंहार	७८
कृतज्ञता-प्रकाशन	८०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूमिका

ग्रन्थ का नामकरण—

श्रीमन्महामाहेश्वर मम्मटभट्ट ने प्रस्तुत ग्रन्थ का नामकरण 'काव्यप्रकाश' और उसका विभाजन 'उल्लास' के नाम से किया है। इस पर थोड़ा-सा विचार, करना अनुचित न होगा। 'काव्यस्य प्रकाशः=काव्यप्रकाशः'। 'काव्यस्य' इस षष्ठी विभक्ति का अर्थ 'विषय' है; और 'प्रकाश' का अर्थ होगा 'दीखने का साधन'। किन्तु यहाँ पर उसका लाक्षणिक अर्थ 'ज्ञान का साधन' करना होगा। तब सम्पूर्ण अर्थ यह होगा कि 'काव्यस्वरूप के ज्ञान का 'साधनभूत ग्रन्थ'। अनेक ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों के नाम इसी प्रकार रखे हैं। जैसे गूढार्थप्रकाशः, शृङ्गारप्रकाशः, भाट्ट-दीपिका, शास्त्रदीपिका, ध्वन्यालोकः, काव्यप्रदीपः, सिद्धान्तकौमुदी इत्यादि।

सम्पूर्ण ग्रन्थ का नाम 'प्रकाश' रखने पर उसके जो 'प्रकरण' होंगे, उनकी उस प्रकाश के 'उल्लास' रूप में कल्पना करना उचित ही है, क्योंकि 'उल्लास' का अर्थ 'स्फुरण या उन्मेष' है। अनेक छोटे-छोटे स्फुरणों या उन्मेषों से 'प्रकाश' निष्पन्न हुआ करता है। अतः ग्रन्थकार के द्वारा किया गया नामकरण समुचित ही है।

ग्रन्थ की रचना का स्वरूप—

ग्रन्थ की रचना 'कारिका, सूत्र' और उस पर सोदाहरण 'वृत्ति' (विवरणात्मक संक्षिप्त व्याख्या) के रूप में की गई है। 'मूलकारिकाओं' (सूत्रों) तथा उनकी 'वृत्ति' के रचयिता श्रीमम्मटभट्ट स्वयं ही हैं, किन्तु उदाहरणों का संग्रह अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों से किया गया है। एवं 'काव्यशास्त्र' का ज्ञान कराने वाला यह प्रस्तुत ग्रन्थ है।

काव्यशास्त्र और उसके अन्यान्य नाम—

'शब्द' और 'अर्थ' के माध्यम से साकार होने वाली 'काव्य-कला' की मीमांसा को ही 'काव्यशास्त्र' कहते हैं। इसी को अनेक नामों से भी अन्यत्र कहा गया है। इसका अत्यन्त प्राचीन नाम 'क्रियाकल्प' या 'काव्यक्रियाकल्प' (काव्यकरण-विधि) भी है। इसका निर्देश महर्षि वात्स्यायन (ई० दूसरी शता०) के कामसूत्र (१।१३।१६) में किया गया है। वाल्मीकिरामायण (९४।७) में 'क्रियाकल्प-विदश्चैव' कहा गया है। भामह ने काव्यालङ्कार (१।१०) में 'काव्यक्रिया' तथा दण्डी ने अपने काव्यादर्श (१।९) में 'क्रियाविधि' शब्द का प्रयोग करके इस प्राचीन-तम नाम को सूचित किया है। दण्डी ने इस शास्त्र के लिए एक अन्य नाम 'काव्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

लक्षण' भी दिया है। उसी में किञ्चिन्मात्र परिवर्तन करके भामह ने 'काव्यलक्ष्म' शब्द का प्रयोग (६।६४) किया है। इसी शास्त्र का तीसरा नाम 'काव्यालङ्कार-शास्त्र' अथवा केवल 'अलङ्कारशास्त्र' भी है। काव्य की शोभानिष्पत्ति के अनुकूल सभी अर्थों के अनुरोध से 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग किया जा रहा था। अतः उसके विवेचक शास्त्र को 'अलङ्कारशास्त्र' की संज्ञा प्राप्त होना स्वाभाविक ही है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भामह, रुद्रट आदि काव्यमीमांसकों ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारः', उद्भट, वामन आदि ने अपने ग्रन्थ का नाम 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति रखना पसन्द किया।

आज भी इसी नाम के अनुरोध से 'भामह' आदि काव्यमीमांसकों का निर्देश 'आलङ्कारिक' नाम से किया जाता है।

तदनन्तर कुछ समय के बाद 'अलङ्कार' शब्द का प्रयोग 'शब्दार्थालङ्कार' के लिए ही किया जाने लगा, तथापि प्रस्तुत शास्त्र को 'अलङ्कारशास्त्र' और भामह आदि विद्वानों को आलङ्कारिक कहने में कोई किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँच रही है।

साहित्यशास्त्र या साहित्यविद्या—

भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (१।१६) इस काव्य-लक्षण का 'सहितौ' पद, काव्य के स्वरूपविवेचन में महत्त्व को प्राप्त कर भविष्य में सारगर्भित 'साहित्य' शब्द की निर्मिति में बीज बन गया। शब्द और अर्थ की परम्परानुरूप सौन्दर्य-शालिता को ही 'साहित्य' कहते हैं, प्रस्तुत शब्द से यह अभिप्राय जब स्फुट होने लगा तब 'साहित्यशास्त्र' के नाम से 'काव्य-शास्त्र' को निर्दिष्ट किया जाने लगा। राजशेखर ने 'काव्यशास्त्र' को 'साहित्यविद्या' नाम देकर अन्य प्रतिष्ठित विद्याओं की गणना में उसे स्थान दिला दिया। कतिपय काव्यमीमांसकों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों का नामकरण 'साहित्यमीमांसा', 'काव्यमीमांसा' 'साहित्यदर्पण' आदि रखकर राजशेखर का समर्थन भी किया। निष्कर्ष यह है कि 'काव्यशास्त्र' सम्बन्धी ग्रन्थों में 'काव्य का स्वरूप, उसके अङ्गों, उपाङ्गों' को बताया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि 'काव्यशास्त्र' का स्वरूप सर्वव्यापक है।

काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का प्रथमतः विवेचन—

काव्यशास्त्रीय कतिपय तत्त्वों का विवेचन प्रथमतः भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' में दृष्टिगोचर होता है। यह नाट्यशास्त्र ग्रन्थ ३६ या परम्पराभेद से ३७ अध्यायों में पूर्ण होता है। उसके श्लोकों की संख्या स्थूलतः ६००० कही जाती है, तथा इसमें उपस्थित किया गया 'गद्यभाग' भी प्रायः ५०० श्लोकों की बराबरी का माना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जाता है। इस ग्रन्थ पर एकमात्र व्याख्या 'श्री अभिनवगुप्तपाद'—विरचित 'अभिनवभारती' के नाम से आज उपलब्ध है। किन्तु वह भी काल की विकरालता तथा विद्वान् व जनता और शासन की घोर अनवधानता के कारण अनेक स्थलों पर त्रुटित और मुद्रण-अशुद्धिबहुल ही है।

इस नाट्यशास्त्र में 'नाट्य और उससे सम्बन्धित नृत्य, गीत, वाद्य, शिल्प आदि' अनेक विषयों का निरूपण किया गया है, और उसके व्याख्याकार श्री अभिनवगुप्त-पाद ने तो उसे एक समृद्ध ज्ञान-भाण्डागार का ही रूप प्रदान कर दिया है। इस ग्रन्थ के कतिपय अध्यायों में नाट्यशास्त्र के अङ्गभूत काव्यशास्त्रीय विषयों का विवेचन किया गया है। 'पाठ्य, गीत, अभिनय और रस' इन चार अङ्गों से पूर्ण होने वाले 'नाट्य' का जो 'पाठ्य' नामक अङ्ग है. उसका निर्देश भरतमुनि ने 'नाट्य-शरीर' के रूप में किया है। और उसी को लक्ष्य कर यत्र-तत्र 'काव्य' शब्द का प्रयोग किया है। इस 'नाट्यशरीर' के साथ अवशिष्ट तीन अङ्गों का योग प्राप्त होने पर 'नाट्य' का निर्माण होता है। नाट्यशास्त्र के छठे-सातवें अध्याय में 'रस' का विवेचन सविस्तर किया है। 'विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव (सञ्चारीभाव), स्थायीभाव' आदि रसमीमांसा सम्बन्धी पारिभाषिक संज्ञाएँ प्रथमतः नाट्यशास्त्र में ही उपलब्ध होती हैं। 'विभावानुभावव्यभिचारि-संयोगाद् रसनिष्पत्तिः, रस इति कः पदार्थः ? आस्वाद्यत्वात्' इत्यादि भरतवचनों की उपलब्धि काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में रस की चर्चा के समय प्रायः होती है। भरतमुनि के द्वारा निर्दिष्ट की गई रस-प्रक्रिया का अनुसरण तदुत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में किया है। यह 'रसविवेचन' काव्यशास्त्र के लिए भरतमुनि की बहुत बड़ी देन है

भरतमुनि का कहना है कि 'पाठ्य' नामक काव्यबन्ध को 'भूषण, अक्षरसंघात' आदि ३६ लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिये। उनमें से पहले 'भूषण' के लक्षण में—'उपमा, रूपक, दीपक, यमक' इन चार अलङ्कारों को और 'श्लेष, प्रसाद, समता' आदि दश गुणों को समाविष्ट कर दिया है। गुणों के अनुषङ्गों से 'गुणविपर्ययात्मक दश दोषों' का भी निरूपण सतरहवें अध्याय में कर दिया है। 'अक्षरसंघात' आदि अवशिष्ट लक्षणों का स्वरूप भरत के निरूपण से पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता है। अतः उनके स्वरूप के विषय में ग्रन्थकार और व्याख्याकारों के भिन्न-भिन्न मत दृष्टि-गोचर होते हैं। काव्यशास्त्र में समाविष्ट होनेयोग्य नाट्यशास्त्र का जो—अवशिष्ट 'नाटक, प्रकरण, अङ्क' इत्यादि दश नाट्यप्रकार (दशरूपक) और उनकी बीजभूत 'भारती, सात्वती, कैशिकी, आरभटी' नाम की वृत्तियाँ तथा 'इतिवृत्त' (काव्य-शरीरभूत कथारचना की तत्त्वभूत पाँच अवस्थाएँ, पाँच अर्थप्रकृतियाँ और पाँच सन्धियाँ) का विवेचन बीस से बाईस तक के अध्यायों में किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दशरूपक आदि विषय, 'काव्य' के बहिरंग हैं, यह मानकर उत्तरकालीन काव्यशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में उनका विचार प्रायः नहीं किया। उनकी दृष्टि, काव्य के अन्तरङ्ग पर केन्द्रित ही रही, किन्तु नाट्यशास्त्र के रसविवेचन का परिग्रह तो सभी ने अपने-अपने ग्रन्थों में न्यूनाधिकरूप में किया है।

काव्य के विषय में भरतमुनि की दृष्टि—

भरतमुनि 'काव्य' को एक नाट्याङ्ग के रूप में देखते हैं। उसे वे 'अभिनेय' मानते हैं, क्योंकि नाट्य का स्वत्व 'अभिनय' है यह बात 'न ह्यङ्गाभिनयात् किञ्चिदृते नाट्यम्प्रवर्तते'—(भ० ना० १४।८०) कहने से स्पष्ट होती है।

काव्य की स्वतन्त्र प्रधानता—

किन्तु सभी काव्यों का निर्माण 'अभिनय' के लिए नहीं होता है। वे अभिनेय न होने पर भी आस्वाद्य तो रहते ही हैं। रामायण की महाकाव्य में गणना, उसकी अभिनेयता के कारण नहीं है। हाँ, छन्दोबद्ध होने से उसको 'गेय' कहा जा सकता है। अतः उसकी आस्वाद्यता का आंशिक श्रेय कदाचित् संगीत को भी दिया जा सकता है, किन्तु प्रायः गद्यमय अतएव अगेय कही जाने वाली कथा-आख्यायिकाओं की आस्वाद्यता का श्रेय, पूर्णतया काव्य को ही प्राप्त होता है, अन्य किसी को नहीं। इनमें एक दृष्टि से आस्वाद्य बनाने वाला उपकारक के रूप में घटनावैचित्र्यात्मक कथासूत्र भी रहता है, किन्तु वैसा कथासूत्र जिसमें नाममात्र के लिए भी नहीं है ऐसी हाल-सातवाहन की मनोरम गाथा को अथवा उसी के समान अनेक मुक्तकों को भी 'काव्य' शब्द से कहा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि 'काव्य' में अपना निजी रञ्जकत्व रहता है। उसे अभिनय या संगीत की अपेक्षा नहीं है। इस रहस्य का प्रकाशन, 'काव्य' को केवल 'नाट्याङ्ग', या 'अभिनेय' या 'गेय' अथवा 'इतिवृत्त-घटित' के रूप में देखने से नहीं होगा। इस रहस्य के प्रकाशनार्थ 'काव्य' का विचार एक स्वयं अपने आप में पूर्ण रचना की दृष्टि से करना होगा। यही सोचकर (ई० ६ श.) के भामह, दण्डी, उद्भट (ई० ८ श०) वामन, रुद्रट के समय तक शनैः-शनैः मार्गक्रमण करती हुई 'काव्यमीमांसा' को श्री आनन्दवर्धन ने तडिद्वेग से प्रगति के शिखर पर ले जाकर आसीन करा दिया।

युगप्रवर्तक के रूप में श्री आनन्दवर्धन—

काव्यशास्त्र के इतिहास में श्री आनन्दवर्धन को वस्तुतः, युगप्रवर्तक ही माना जाता है। उसने अपने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ में 'वाच्य, लक्ष्य' इन प्रसिद्ध अर्थों से भिन्न 'व्यङ्ग्य' संज्ञक अर्थ, भी 'शब्द' से प्रकट होता है'—इस तथ्य को अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है, और व्यङ्ग्यार्थ (ध्वनि) का निकष लगाकर समस्त काव्यांगों का पुनर्विचार किया है। इस मौलिक ग्रन्थ का विलक्षण प्रभाव, उत्तर-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कालीन सभी काव्यमीमांसकों पर पड़ा दिखाई देता है। अतएव श्रीराजशेखर, पंडित-राज जगन्नाथ जैसे उद्भट विद्वन्मूर्धन्य के भी मुख से यह सूक्ति निकल पड़ी।

"ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः॥"

तथा— 'ध्वनिकृतामालङ्कारिकसरणिव्यवस्थापकत्वात्' इति।

श्री आनन्दवर्धन ने काव्य के समस्त अंगों का संग्रह करते हुए काव्य का मूल्याङ्कन करनेवाले एक व्यापक तत्त्व का अपने 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है। महाभाष्यादि ग्रन्थों के समान पूर्वोत्तर पक्षों का उपस्थापन करते हुए अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करनेवाला यह प्रथम काव्यमीमांसा ग्रन्थ है। एतत्पूर्ववर्ती अलङ्कार ग्रन्थों से इस ग्रन्थ का वैशिष्टच यह है कि उन ग्रन्थों में अन्वयमुख से केवल निष्कर्षों को बताया गया है, किन्तु इस ग्रन्थ में जिज्ञासु विद्यार्थी को निष्कर्ष तक पहुँचानेवाले समग्रयुक्तिप्रपञ्च को सन्निविष्ट किया गया है।

ध्वन्यालोक से प्रभावित प्रथम ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश'—

'ध्वन्यालोक' की शैली का अनुसरण करते हुए काव्यशास्त्र का सांगोपाङ्ग परामर्श करनेवाला प्रथम ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' है। इसे 'ध्वन्यालोक' पर 'वार्तिक' की कोटि में रखा जा सकता है।

वाग्देवतावतार श्री मम्मटभट्ट ने अपने 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ की रचना का प्रारम्भ, संस्कृत ग्रन्थकारों की श्रुत्यनुमोदित भारतीय-शिष्टपरम्परा के अनुसार 'मङ्गलाचरण' से किया है। मङ्गलाचरण के द्वारा ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि-निर्मित काव्यसृष्टि की श्रेष्ठता को हेतु, स्वरूप और फल की दृष्टि से सूचित किया है। तदनन्तर निष्फल कार्यों में बुद्धिमानों की प्रवृत्ति न होने से काव्य के छह प्रयोजनों—(कीर्ति, सम्पत्ति, व्यवहारज्ञान, अशुभपरिहार, परमानन्द और मिठास के साथ तत्त्वावबोध) को बताकर काव्यनिर्माण और उसकी उत्कृष्टता के लिए आवश्यक 'शक्ति' (प्रतिभा), 'निपुणता' (बहुज्ञता) और 'अभ्यास' इन तीन उपायों से परिपूर्ण होने वाले 'काव्यसाधन' को बताया है। तदनन्तर 'काव्यलक्षण' को प्रदर्शित किया है। श्री मम्मटभट्ट के मतानुसार 'दोषरहित' 'गुणसहित' और 'स्फुट अलङ्कारों से विभूषित' हुए 'शब्दार्थ' (शब्द+अर्थ) ही 'काव्य' कहलाने योग्य होते हैं, भले ही उन शब्दार्थों में क्वचित् 'अलङ्कार' की स्फुटता न भी हो, तब भी उन्हें 'काव्य' की कोटि मान लिया जाता है।

काव्य के तीन भेद—

काव्य के—'अतिशयितव्यङ्ग्य' अर्थात् 'ध्वनि', 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' और 'अव्यङ्ग्य' अर्थात् चित्र—ये तीन भेद किये गये हैं। इन्हीं को क्रम से 'उत्तम', 'मध्यम' और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अधम' काव्य कहा गया है। उत्तम काव्य में 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रधानता, मध्यमकाव्य में 'व्यङ्ग्यार्थ' की स्फुटता रहने पर भी 'वाच्यार्थ' की प्रधानता, और अधम काव्य में 'व्यङ्ग्यार्थ की अस्फुटता' व 'अलङ्कार' की प्रधानता रहा करती है। इस प्रकार प्रथम उल्लास में कहे गये 'काव्यलक्षण' औई 'काव्यभेद' के प्रपञ्चार्थं ही अग्रिम ग्रन्थ की रचना की गई है।

काव्य के लक्षण में 'शब्द, अर्थ, दोष, गुण, अलंकार' पदों का निर्देश किया है। उनमें से 'शब्द और अर्थ' का विवेचन द्वितीय और तृतीय उल्लास में किया गया है। तदनन्तर वस्तुतः दोष, गुण, अलङ्कारों का विवेचन करना प्राप्त था, किन्तु काव्यरूप धर्मी का विवेचन किये बिना दोष, गुण और अलङ्कार रूप धर्मों में से किसकी त्याज्यता एवं उपादेयता का आकलन करना कठिन होगा। अतः चतुर्थ, पञ्चम और छठे उल्लासों में यथाक्रम पूर्वोक्त तीन काव्य-भेदों का विवेचन किया गया है। यहीं पर षष्ठ-उल्लास तक के प्रथम भाग को पूर्ण करके यथावसर मुद्रित होनेवाले द्वितीय भाग में पूर्वोक्त काव्य-लक्षण के अन्य पदों का विवेचन किया है। जैसे— सातवें उल्लास में 'दोषों' का आठवें उल्लास में 'गुणों' का नवें उल्लास में 'शब्दालङ्कारों' का और दसवें उल्लास में 'अर्थालङ्कारो' का वर्णन किया गया है।

बीजारोपण—

ग्रन्थ की रचनाशैली से अवगत हो रहा है कि सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' का बीजारोपण प्रथम उल्लास की चतुर्थ और पञ्चम कारिकाओं में ही कर दिया गया है।

द्वितीय उल्लास में काव्यलक्षणघटक 'शब्दार्थ' का विवेचन किया गया है। 'वाचक', 'लाक्षणिक', 'व्यञ्जक' के रूप में 'शब्द' की त्रिविधता बताई गई है। तदनुसार 'अर्थ' के भी 'वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य' के रूप में तीन प्रकार कहे गये हैं।

उपर्युक्त 'वाचक' आदि शब्द क्रमशः अपनी 'अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना' नामक शक्ति (व्यापार) के द्वारा वाच्यादि अर्थों को बोधित करते हैं। इन तीन अर्थों के अतिरिक्त 'तात्पर्यार्थ' नामक एक चौथे अर्थ भी को महामीमांसक कुमारिल भट्टपाद ने माना है। यह चौथा 'अर्थ' वाक्यघटक किसी 'पद' का नहीं है, अपितु पदसमूहात्मक 'वाक्य' का है। उस 'तात्पर्यार्थ' का बोध, वाक्य में रहने वाली 'तात्पर्य' नामक शक्ति से होता है। उक्त त्रिविध अर्थों में से प्रत्येक अर्थ, यथावसर व्यञ्जकशब्द का सहायक होकर अथवा प्रधानरूप से व्यङ्ग्यार्थ को प्रकट करता है। अभिप्राय यह है कि ये अर्थ, 'व्यञ्जक' भी होते हैं। 'अर्थ' की व्यञ्जकता का प्रपञ्च तृतीय उल्लास में किया है

आलङ्कारिकों का शब्दार्थविवेचन—

'शब्द' और 'अर्थ'—काव्य के शरीर हैं, यह कल्पना प्रायः आरम्भ से ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काव्यमीमांसाशास्त्र में चली आरही है। तथापि उसका तात्त्विक विवेचन, प्रस्तुत शास्त्र के आवश्यक अंग के रूप में श्री आनन्दवर्धन के समय से ही किया जाने लगा। उसके पूर्व तो आलङ्कारिकों ने इस विवेचन का भार, व्याकरण–न्याय–मीमांसा शास्त्रों पर ही सौंप दिया था, किन्तु श्री आनन्दवर्धन ने व्यञ्जनाशक्ति की नवीन उपपत्ति जब से बताई, तभी से काव्यमीमांसा में शब्दार्थ-विचार को अभूतपूर्व महत्त्व प्राप्त हुआ।

काव्यमीमांसकों को अपने उत्तरदायित्व की प्रतीति—

काव्यमीमांसकों के ध्यान में यह बात आ गई कि शब्दार्थ-विचार का भार व्याकरणादि शास्त्रों के द्वारा वहन किये जाने पर भी उनके सभी विचार काव्य-मीमांसा की भूमिका से संगत नहीं हो सकते, और कुछ विषयों पर तो उन्हीं के विचार परस्पर नहीं मिलते हैं।

अतः उनके द्वारा किये गये शब्दार्थ-विचार में से कितना अंश काव्यमीमांसा के अनुकूल है, कितना प्रतिकूल है. उनके किस अंश में काव्यमीमांसा उदासीन है ? यह विचार काव्यमीमांसकों को ही अवश्य करना होगा।

यह ध्यान में आने पर इन विचारों का दिग्दर्शन प्रथमतः श्री आनन्दवर्धन की 'ध्वनिमीमांसा' के द्वारा किया गया और तदनुसार ही श्री मम्मटभट्ट ने उन्हीं विचारों को विशद करते हुए सबके सामने प्रथमतः प्रस्तुत किया। तदनन्तर उत्तर-कालीन आलंकारिकों ने प्रायः मम्मटनिरूपित शब्दार्थ-विवेचन का ही अनुसरण किया है।

शब्दार्थ-विवेचन के सम्बन्ध में मम्मटभट्ट का कार्य—

शब्दार्थ का विवेचन करते समय मम्मटभट्ट ने सर्वसम्मत अभिधा-व्यापार तथा न्याय-मीमांसादि-सम्मत लक्षणारूप शब्दव्यापारों को स्वीकार करके 'गौणी-भक्ति-उपचार' के नाम से प्रसिद्ध, किन्तु लक्षणा-मार्ग का ही अनुसरण करनेवाले व्यापारों का 'लक्षणा' में ही समावेश कर लिया और वैयाकरणों की स्फोट-कल्पना में गर्भित रहनेवाली 'व्यञ्जना' की स्थापना, लक्षण-स्वरूप के आधार पर तथा स्वतन्त्र युक्ति-वाद के बल पर भी शब्द और अर्थ के स्वतन्त्र-व्यापार के रूप में कर दी।

इन तीन व्यापारों के अतिरिक्त 'अभिधा' के पश्चात् कार्य करने वाला 'तात्पर्य' संज्ञक वाक्य-व्यापार, जिसे भाट्ट मीमांसकों ने माना है, उसका नाम-निर्देशमात्र करके मम्मटभट्ट ने उसके विषय मे अपनी उपेक्षा प्रकट की है

इससे यह प्रतीत होता है कि भाषा के द्वारा अवगत होनेवाला अर्थ-प्रत्यायक व्यापार, 'शब्द' और शब्दसमुदायात्मक 'वाक्य' में रहता है। यहाँ तक निश्चित किये गये विचार में काव्यमीमांसकों ने एक और नवीन कल्पना जोड़ दी कि 'अर्थ' में भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार के व्यापार की संभावना की जा सकती है, यानी अर्थ का भी ऐसा व्यापार हो सकता है।

काव्यमीमांसकों की इस नवीन कल्पना में वैयाकरणों का आधार—

काव्यमीमांसकों को उपरिनिर्दिष्ट नवीन कल्पना की गन्ध श्री भर्तृहरि के द्वारा प्रतिपादित 'वाक्यस्फोट' में भी उपलब्ध हुई। ध्वन्यालोक में व्यञ्जना की सोपपत्तिक स्थापना करते समय एक जगह वैयाकरणों का निर्देश 'प्रथमे विद्वांसः' कहकर आनन्दवर्धन ने किया है। इस सन्दर्भ में वैयाकरणों का आधार स्वीकार कर लेने का प्रयोजन इतना ही है कि 'एक से दो भले'।

अर्थात् अपने अकेलेपन के भय को दूर करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं, क्योंकि 'व्यञ्जना' के वास्तविक उपयोग का श्रेय व्याकरण को न होकर काव्यशास्त्र को ही है। व्याकरण में व्यञ्जना का जो निर्देश किया गया है, वह तो अर्थप्रक्रिया से सम्बद्ध 'स्फोट' के विषय में कतिपय वैयारकणों के द्वारा की गई कल्पना की उपपत्ति लगाने के लिए है, किन्तु 'स्फोट' को माननेवाले और न माननेवाले दोनों ही वैयाकरण प्राचीनता में समान हैं। अतः दोनों में से किसी को भी अनादरणीय नहीं कह सकते।

किञ्च 'स्फोट' को मानने या न मानने से व्याकरण की मुख्य उपपत्ति में कोई किसी प्रकार की हानि भी नहीं है, किन्तु काव्यमीमांसा की स्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ तो 'व्यञ्जना' के मानने अथवा न मानने पर आकाश-पाताल का अन्तर हो जाता है। इसकी प्रतीति तब होती है, जब आनन्दवर्धन-पूर्व की काव्यमीमांसा से आनन्दवर्धनोत्तर काव्यमीमांसा की तुलना की जाय। एवञ्च काव्य और काव्यमीमांसा के लिए यह 'व्यञ्जना' जीवातुभूत सिद्ध हो गई है। इस प्रकार उसकी आधारभूत अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना के द्वारा काव्यमीमांसा के लिए उपकारक शब्दार्थ-विचार की पूर्णता हो पाती है।

प्रथम उल्लास में निर्दिष्ट तीन काव्यभेदों (ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य और चित्र) का सविस्तर निरूपण चतुर्थ उल्लास से षष्ठ उल्लास तक किया गया है।

प्रथम उल्लास में 'इदमुत्तमतिशायिनि' कारिका पर दी गई वृत्ति में 'बुधैः' का अर्थ 'वैयाकरणैः .....' आदि कहा गया है। उसे पढ़कर 'बुधैः' का अर्थ "वैयाकरणैः' समझा जाता है, किन्तु 'बुधैः' का सम्बन्ध — अग्रिम 'अन्यैरपि' के साथ करने के लिए व्याख्याकार कहते हैं। अतः 'एकवृन्तगतफलद्वय' के न्याय से—वैयाकरण और आलंकारिक दोनों का समावेश 'बुधैः' पद से यद्यपि किया जा सकता है, तथापि प्रकृत प्रसंग के अनुरोध से 'बुधैः' पद से 'आलङ्कारिकों' को ही यहाँ विवक्षित करना उचित होगा, क्योंकि प्रस्तुत प्रसंग 'अतिशयिव्यङ्ग्य' नामक काव्य का है। उसी को आनन्दवर्धनादि आलङ्कारिकों ने 'ध्वनि' की संज्ञा दी है, 'वैयाकरणों' ने नहीं। वैयाकरणों ने तो 'ध्वनि' की संज्ञा 'स्फोटव्यञ्जक शब्द' को दी है, 'काव्य'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को नहीं। क्योंकि 'काव्य' कोई व्याकरण का विषय नहीं है। ऐसी स्थिति में यह जिज्ञासा हो सकती है कि 'वृत्तिकार' ने यहाँ पर 'वैयाकरणों' का उल्लेख क्यों किया?

इस जिज्ञासा का समाधान तो यह है कि—काव्यशास्त्रीय ध्वनि की कल्पना करने में व्याकरणशास्त्रीय ध्वनि-कल्पना का भी—इस अभिप्राय को ऐतिहासिक और तौलनिक दृष्टि प्रदर्शित करना है।

'वर्ण-समूहात्मक' अनित्य शब्द से 'स्फोटात्मक' नित्य शब्द का व्यक्त होना और सर्वसाधारण वाच्यार्थ को बतानेवाले 'शब्द' से विशेषाभिप्रायात्मक 'व्यङ्ग्यार्थ' का व्यक्त होना—इन दोनों प्रक्रियाओं में बहुत साम्य है। इस प्रकार दोनों कल्पनाओं की समानता को ध्यान में रखकर आलङ्कारिकों ने भी वाच्यातिशायिव्यंग्यार्थ को 'ध्वनि' की संज्ञा प्रदान कर दी।

वैयाकरणों ने पहिले से ही प्रमाणपुरःसर स्फोट-कल्पना कर दी थी, जिसका प्रामाणिकत्व ही आलङ्कारिकों के द्वारा ध्वनि के अस्तित्व की कल्पना करने में एक प्रमाण है। इसी तथ्य को प्रदर्शित करना ग्रन्थकार को अभीष्ट है। अतएव उन्होंने यहाँ पर वैयाकरणों का उल्लेख किया है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' संज्ञा और उसकी कल्पना का इतिहास स्पष्ट शब्दों में बताया है—

"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥"

"सूरिभिः कथितः" कह कर यह बताया है कि "विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्ता"।

'ध्वनि' संज्ञा का प्रयोग प्रथमतः 'वैयाकरणों' ने किया है। तभी से वह शब्द सर्वत्र परिचित हो चुका था। इसलिए कुछ समानता को लक्षित कर उसी 'संज्ञा' का प्रयोग, काव्य-तत्त्वज्ञों ने भी अपने काव्यविवेचन में कर लिया।

वैयाकरणों का 'ध्वनि' और आलङ्कारिकों का ध्वनि—

वैयाकरणों के 'ध्वनि' पदार्थ से काव्यतत्त्वज्ञों का 'ध्वनि' पदार्थ किस दृष्टि से भिन्न है? इस रहस्य को मम्मटभट्ट ने सूचक विशेषणों के प्रयोग से ग्रन्थ की वृत्ति में स्पष्ट कर दिया है। वैयाकरणों के मत में 'शब्द' के सुनने पर जो अर्थज्ञान होता है, वह साक्षात् उस श्रुत शब्द के योग से नहीं होता है, किन्तु उस श्रुत शब्द से व्यक्त होने वाले 'स्फोट' संज्ञक पदार्थ से होता है। अर्थात् शब्द-व्यवहार से जो अर्थबोध होता है, वह 'स्फोट' नामक तत्त्व से होता है। इसलिए प्रधानता 'स्फोट' तत्त्व की ही मानी जाती है। यह अर्थप्रत्यायक (अर्थबोधक) स्फोट और उसका आश्रयभूत शब्द, इन दोनों में 'व्यंग्य-व्यञ्जक भाव' सम्बन्ध रहता है। अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'शब्द', 'स्फोट' को सूचित करता है और वह 'स्फोट' अर्थप्रतीति करा देता है। निष्कर्ष यह है कि वह 'स्फोट' पदार्थ, शब्द के द्वारा सूचित (अभिव्यक्त=ध्वनित) होता है। इसलिए उसके व्यञ्जक (अभिव्यञ्जक) 'शब्द' को वैयाकरणों ने 'ध्वनि' की संज्ञा दी है।

अब उत्तमकाव्य में क्या होता है ? उसे देखिये—उसमें 'वाच्यार्थ' को गौण (अप्रधान) स्थान दिया जाता है, यानी उसे 'न्यग्भावित' किया जाता है और व्यङ्ग्यार्थ' को प्रधान (प्रमुख) स्थान दिया जाता है। इस प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करने का कार्य, काव्य के 'शब्द' और 'अर्थ' की जोड़ी क्रिया करती है। अतः प्रधानभूत व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति करने में उत्तमकाव्य के 'शब्दार्थों' की व्याकरण के 'शब्द' से समानता है। इसलिए आलङ्कारिकों ने वैयाकरणों का अनुसरण करके उत्तमकाव्यरूप 'शब्दार्थों' को 'ध्वनि' की संज्ञा प्रदान की है।

इसके अतिरिक्त 'व्यङ्ग्य अर्थ' और 'व्यञ्जनाव्यापार' के अर्थ में भी 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार अलङ्कारशास्त्र में किया जाता है। इन तीन अर्थों में 'ध्वनि' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार होती है—(१) 'ध्वनति प्रकाशयति व्यङ्ग्यम्, इति ध्वनिः'—काव्यम्। (२) 'ध्वन्यते व्यज्यते शब्दार्थाभ्याम्, इति ध्वनिः—व्यङ्ग्यार्थः। (३) 'ध्वन्यते व्यज्यते व्यङ्ग्यम् येन' इति ध्वनिः—व्यञ्जनाव्यापारः।

एवञ्च काव्य का 'ध्वनि' पदार्थ व्याकरण के 'ध्वनि' पदार्थ से भिन्न है। वैयाकरणों ने केवल 'शब्द' को 'ध्वनि' कहा है। किन्तु आलङ्कारिक जिसे 'ध्वनि' कहते हैं, वह 'शब्द' और 'अर्थ' दोनों की जोड़ी है। अर्थात् काव्यतत्त्वज्ञ विद्वान् 'शब्दार्थ' रूप काव्य को 'ध्वनि' कहते हैं। इस प्रकार के 'व्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षम शब्दार्थों' को ध्वन्यालोककार ने महाकवियों के शब्दार्थ के रूप में माना है।

"सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्य—योगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥" (ध्व० लो० १।८).

उन महाकवियों के द्वारा प्रयुक्त किये गये शब्दार्थों से साकार होनेवाले काव्य को 'ध्वनिकाव्य' यानी 'ध्वनिप्रधानकाव्य' (अतिशयिव्यङ्ग्य—काव्य) कहा जाता है— "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ। व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥"—(ध्व० लो० १।१३)। ध्वन्यालोक की निर्दिष्ट कारिका का ही अनुवाद मम्मटभट्ट ने अपने काव्यप्रकाश में 'इदमुत्तममति' इत्यादि कारिका और उसकी वृत्ति के द्वारा किया है।

स्फोट के स्वरूप का परिचय—

वैयाकरणों का जो 'स्फोट' है, वह पाणिनीय-व्याकरण की महत्त्वपूर्ण अर्थबोध-प्रक्रिया है। किसी शब्द के श्रवण करने पर जो अर्थ प्रतीत होता है, वह उस शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के वर्णों से तो प्रतीत हो नहीं सकता यदि वर्णोंको अर्थबोधक कहा जाय तो विचार करना होगा कि एक-एक वर्ण से अर्थबोध होता है या वर्णसमूह से अर्थबोध होता है? यदि एक-एक वर्ण से अर्थबोध हो तो 'घट' शब्द के केवल 'घ्' से अथवा उस शब्द के ही किसी अन्य वर्ण से भी 'कम्बुग्रीवादिमत्त्व' रूप अर्थ का बोध हो जाता, किन्तु होता नहीं है। इसलिए प्रथम पक्ष स्वीकार करना संभव नहीं है।

उसी तरह 'वर्णसमूह' से भी 'अर्थबोध' का होना संभव नहीं है, क्योंकि एक कालिक न रहनेवाले वर्णों का 'समूह' नहीं बनता है। क्योंकि 'घ्' का उच्चारण होते ही वह नष्ट हो जाता है। उसी तरह 'अ', उसी तरह 'ट्', तदनन्तर 'अ' ये सभी वर्ण उच्चरित होते ही नष्ट हो जाते हैं। इन भिन्नकालिक वर्णों का समूह हो पाना कभी संभव नहीं है। 'समूह' तो समकालिक वस्तुओं का ही हुआ करता है। इस प्रकार 'वर्णों' से 'अर्थबोध' का होना संभव नहीं है। अतः अर्थबोध के होने में अन्य कोई कारण होना चाहिये। एवञ्च 'अर्थापत्ति' प्रमाण से अवगत होनेवाला जो अन्य कारण है, वही 'स्फोट' है। 'वर्णात्मकशब्द' सावयव होने से अनित्य (विनाशी) है, किन्तु 'स्फोटात्मकशब्द' निरवयव होने से नित्य (अविनाशी) है।

'घ्—अ—ट्—अः'—इन अनेक वर्णों से निष्पन्न हुआ 'घटः' एक पद (इदमेकम्पदम्) है, इत्याकारक जो अनुभव होता है, वही 'स्फोट' के अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रमाण है। उक्त अनुभव का विषय होने वाला जो 'एकत्व' है, वह भिन्नकालिक होने से समूह का रूप न ले सकने वाले वर्णों पर उसका रहना संभव नहीं है। वर्णों को 'वर्णात्मक शब्द' जो कहा जाता है, वह भी औपचारिक ही है।

वैयाकरणों ने अर्थप्रत्यायक 'नित्यतत्त्व' को जो 'स्फोट' की संज्ञा दी है, उसके दो कारण हैं—'स्फुटयते व्यज्यते वर्णैः' (जो वर्णों से व्यक्त होता है), और 'स्फुटति स्फुटीभवति अर्थः यस्मात्' (जिससे अर्थ प्रकट होता है), इस प्रकार 'स्फोट' शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति बताकर वैयाकरणों ने उसकी संगति, एक तरफ 'वर्णों' से लगाई है और दूसरी तरफ अर्थ से लगाई है। 'स्फोट' जिन वर्णों से व्यक्त होता है, उनको भर्तृहरि ने 'ध्वनि' नाम दिया है—'ध्वनति स्फोट व्यनक्ति इति ध्वनिः'। माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में 'स्फोट' का लक्षण—'वर्णातिरिक्तः वर्णाभिव्यङ्ग्यः अर्थप्रत्यायकः नित्यः शब्दः स्फोटः'—बताया है।

यह नित्य, निरवयव 'स्फोटतत्त्व', वेदान्त के 'ब्रह्मतत्त्व' से अभिन्न है, और वही जगत् का कारण है, ऐसा भर्तृहरि कहते हैं—

"अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं तदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः" ॥

—(वा० प० १।१)।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस रीति से वैयाकरण, 'स्फोट' के झरोखे से वेदान्त के राजभवन में प्रवेश करना चाह रहे थे।

किन्तु वेदान्तियों ने उनको अपने राजभवन में घुसने नहीं दिया। 'शब्द इति-चेत्' (ब्र० सू० १।३।२८) इत्यादि सूत्र के भाष्य में भगवत्पूज्यपाद आचार्य शङ्कर ने 'वर्ण एव तु शब्दः, इति भगवानुपवर्षः' कहकर, 'शब्द' को वर्णात्मक ही मानने वाले महान् वैयाकरण उपवर्ष के पक्ष को स्वीकार करके 'स्फोटवाद' का खण्डन किया है।

वैयाकरणों के द्वारा कल्पित 'स्फोटवाद' को मीमांसक और भामहादि आलंकारिकों ने भी नहीं माना है। भामह कहते हैं—

"शपथैरपि चादेयं वचो न स्फोटवादिनाम्।
नभः कुसुममस्तीति श्रद्दध्यात् कः सचेतनः" ॥
—(भामह ६।१२)।

इस प्रकार भामह ने अपने विचारों को निर्भयता के साथ स्पष्ट किया है। 'अमुक शब्द का अमुक अर्थ है'—ऐसा संकेत बहुत प्राचीनकाल में ही लोगों ने अपने व्यवहार-सौकर्य के लिए किया था। ऐसी स्थिति में अर्थबोधार्थ एक अन्य नित्य, अविकृत, नादभिन्न आदि-आदि स्वरूप के शब्द की, और शब्दार्थ-सम्बन्ध के नित्य होने की; कल्पना करना निरा भोलापन ही है। उनका कहना है—

"इयन्त ईदृशा वर्णा ईदृगर्थाभिधायिनः।
व्यवहाराय लोकस्य प्रागित्थं समयः कृतः ॥"
"स कूटस्थोऽनपायी च नादादन्यश्च कथ्यते।
मन्दाः सांकेतिकानर्थान् मन्यन्ते पारमार्थिकान् ॥"
—(भाम० ३।१३।१४)।

स्तंभ, भित्ति, जमीन के अतिरिक्त 'गृह' जैसे कोई पृथक् वस्तु नहीं है, वैसे ही 'वर्ण' के अतिरिक्त स्फोटात्मक शब्द की कोई संभावना ही नहीं है—

"न चापि समुदायिभ्यः समुदायोऽतिरिच्यते।
दारुभित्तिभुवोऽतीत्य किमन्यत् सद्म विद्यते" ॥
"तस्मात् कूटस्थ इत्येषा शाब्दी वः कल्पना वृथा"
—(भाम० ६।१०।११)।

'तर्कसङ्ग्रह' की 'भास्करोदया' नामक उपटीका के कर्ता उपहासपूर्वक पूछते हैं कि 'आप वैयाकरण लोग 'स्फोट' को 'ब्रह्म' मानते हैं, और आपके भाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं कि शब्द के ज्ञान से 'स्वर्ग' की प्राप्ति होती है—'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति'। अतः यह कथन कहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तक उचित है ? क्योंकि मूर्ख से लेकर विद्वानों तक सभी लोग 'निरुपाधिक विशुद्ध ब्रह्मज्ञान' से मोक्ष प्राप्ति का होना सर्वदा से सुनते आ रहे हैं। इसलिए एक कल्पित शब्द में ब्रह्म का आरोप कर उसमें मोक्ष प्राप्ति बताना कहाँ तक उचित होगा ?'

'स्फोट' को न माननेवालों के मत में 'वर्ण' ही अर्थ-प्रत्यायक होते हैं। वर्णों को अर्थप्रत्यायक मानने में स्फोटवादियों ने जिन आक्षेपों को उपस्थित किया है, वे सभी आक्षेप, स्फोटवादियों के पक्ष में भी संभव होते हैं। वर्णों से अभिव्यक्त होनेवाला 'स्फोट', क्या एक-एक वर्ण से अभिव्यक्त होता है ? अथवा वर्णसमूह से अभिव्यक्त होता है ? इन दोनों ही पक्षों में प्रदर्शित दोषों से स्फोटवादियों की मुक्तता नहीं हो सकेगी। ऐसी स्थिति में स्फोट-कल्पना करने की आवश्यकता ही क्या है ? 'एक-पदत्व' की कल्पना तो 'स्फोट' को न मानने पर ही हो सकती है। 'घ् अ ट् अ' इस वर्ण-समूह में 'घट' इत्याकारक 'एक पद' का जो अनुभव होता है, वह तो वृद्धव्यवहार आदि से होने वाले अर्थसंकेत के कारण होता है।

यदि यह आशंका करें कि 'रसः' पद में जो वर्णसमूह है, वही 'सरः' पद में, तथा 'नदी' में जो वर्णसमूह है, वही 'दीन' में, तथा 'राम' में जो वर्णसमूह है, वही 'मरा' पद में, जो 'कपि' में वर्णसमूह है, वही 'पिक' पद में है। यदि वर्णसमूह से ही अर्थ होता तो, प्रदर्शित जोड़ियों का कोई भिन्न अर्थ होगा ही नहीं।

किन्तु इस आक्षेप का समाधान यह है कि प्रत्येक जोड़ी में वर्णों के समान रहने पर भी उनका क्रम भिन्न है। अतः उनसे बोधित होनेवाला अर्थ भी भिन्न होता है।

मम्मटभट्टकृत अभिधा-लक्षणा के विवेचन का आधार —

मम्मटभट्ट ने अभिधा—लक्षणा का विवेचन प्रायः मुकुलभट्ट-विरचित 'अभिधा-वृत्तिमातृका' नामक ग्रन्थ के आधार पर ही किया है। मुकुलभट्ट ने 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' नामक शब्द-व्यापार को 'मुख्य' और 'लाक्षणिक' कहते हुए तदनुसार 'अर्थ' को भी 'मुख्य' और 'लक्ष्य' बताया है। शब्द के सुनते ही जिसकी प्रतीति हो उसे 'मुख्य' अर्थ और उस मुख्यार्थ का बोध होने पर उसकी सहायता से जिस अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, उसे 'लक्ष्य' अर्थ कहते हैं। जैसे—'गौः अनुबन्ध्यः' इस उदाहरण में 'गौः' पद से तत्काल बोधित होनेवाली 'गोत्व' जाति, 'गौः' पद का मुख्यार्थ है। यह समझने पर 'गोत्व' जाति का हनन (अनुबन्धन) करना कैसे संभव हो सकेगा ? क्योंकि 'जाति' तो अमूर्त पदार्थ है। अतः 'गौः' पद से बोधित होनेवाली 'गो' व्यक्ति 'गौः' पद का 'लक्ष्यार्थ' समझा जाता है।

द्विविध अर्थों में से जो 'मुख्यार्थ' है, वह 'जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा' भेद

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

से चतुर्विध है। इस विषय पर मम्मटभट्ट ने जो विवेचन किया है, वह प्राय: मुकुल भट्ट के ही कथन का अनुवाद-मात्र है।

मुकुलभट्ट के द्वारा 'जात्यादिवाद' के सिद्धान्त की स्थापना—

वैयाकरणों के 'जात्यादिवाद' पर मीमांसकों के 'जातिवाद' का आश्रय लेकर आक्षेप और उसका निराकरण करते हुए मुकुलभट्ट ने 'जात्यादिवाद' की सिद्धान्त के रूप में स्थापना की है।

मुकुलभट्ट के अनुसार 'लक्षणा' के भेद—

(१) शुद्धा उपादानलक्षणा—
(क) 'गौः अनुबन्ध्यः'—वैदिक उदाहरण।
(ख) 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'—लौकिक उदाहरण।

(२) शुद्धा लक्षण-लक्षणा—
'गङ्गायां घोषः'—लौकिक उदाहरण।

(१) शुद्धा उपचारमिश्रा अध्यारोपलक्षणा—
'आयुर्घृतम्'—लौकिक उदाहरण।

(२) शुद्धा उपचारमिश्रा अध्यवसानलक्षणा—
'पञ्चालाः'—देशार्थक लौकिक उदाहरण।

(१) गौणोपचारमिश्रा अध्यारोपलक्षणा—
'गौर्वाहीकः'—लौकिक उदाहरण।

(२) गौणोपचारमिश्रा अध्यवसानलक्षणा—
'राजा'—ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र आदि को लक्ष्य कर किया गया लौकिक प्रयोग।

इनका विवेचन करते हुए मुकुलभट्ट ने इनको ३ विभागों में बाँट दिया है।
(१) शुद्धा लक्षणा।
(२) अध्यारोपलक्षणा।
(३) अध्यवसानलक्षणा।

लक्षणा के सम्बन्ध में मुकुलभट्ट का अपना मत—

(१) मुकुलभट्ट के मत से उक्त तीन विभागों में से 'शुद्धा-लक्षणा' नामक प्रथम विभाग में 'वाच्य' और 'लक्ष्य' अर्थों में तटस्थता अभिप्रेत है।

(२) 'अध्यारोपलक्षणा' नामक द्वितीय विभाग में 'वाच्य' और 'लक्ष्य' अर्थों की एक दूसरे से अदूरता (समीपता) अभिप्रेत है।

(३) 'अध्यवसानलक्षणा' नामक तीसरे विभाग में 'वाच्य' और 'लक्ष्य' अर्थों की अत्यधिक समीपता अभिप्रेत है। अथवा वैसी समीपता अभिप्रेत न रहने पर भी केवल 'रूढि' से भी 'अध्यवसान' का संभव हो सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुकुलभट्ट कहते हैं कि 'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोग में जब 'गङ्गाप्रवाह' और 'गङ्गातट' दोनों का केवल 'सम्बन्ध' मात्र ही अभिप्रेत रहेगा (यानी 'न यमुनायां घोषः' यह अर्थ निष्पन्न होता होगा) तब यह प्रयोग 'शुद्धा लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण कहलायेगा।

'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोग के समय वक्ता की विवक्षा वाच्यार्थ (गङ्गाप्रवाह) से लक्ष्यार्थ (तट) की अदूरता (समीपता) प्रकाशित करने में हो, तो 'गङ्गातटे घोषः' यही कहना होगा। तब इसे 'शुद्धा अध्यारोपलक्षणा' का उदाहरण माना जायगा। और यदि 'गङ्गायां घोषः' कहने कर वक्ता की विवक्षा 'वाच्य' और 'लक्ष्य' अर्थों की अत्यधिक समीपता प्रकट करने में हो तो इस प्रयोग को 'अध्यवसाना लक्षणा' का उदाहरण कहना होगा।

गौणोपचारमिश्र अध्यारोपलक्षणा का उदाहरण—'गौर्वाहीकः' है। यहाँ पर प्रयोक्ता को 'वाच्य' और 'लक्ष्य' अर्थों की एक-दूसरे से 'अदूरता' (समीपता) अभिप्रेत है। किन्तु यहीं पर वक्ता को यदि 'वाच्य' और 'लक्ष्य अर्थों की अत्यन्त समीपता विवक्षित रहे तो 'गौरेवायं साक्षात्' इस 'अध्यवसानलक्षणा' का प्रयोग करना होगा।

यहाँ पर यह समझना भी आवश्यक है कि 'अध्यवसानलक्षणा में अत्यन्त समीपता की विवक्षा सर्वत्र रहती ही है, यह नियम नहीं है। अत्यन्त समीपता का भाव विवक्षित न रहने पर भी केवल 'रूढि' के बल पर भी 'पञ्चालाः' 'राजा' इस प्रकार के अध्यवसानगर्भित प्रयोग हुआ करते हैं। 'पञ्चालाः' का वाच्य अर्थ 'पञ्चाल राजा की सन्तान' होता है। किन्तु इस समय प्रयोक्ता ने 'पञ्चालाः' कहकर 'पञ्चालराज के सन्तानों की निवासभूमि' इस अर्थ को विवक्षित किया है। इसलिए 'पञ्चालाः' यह उदाहरण 'रूढिमूलक शुद्धा अध्यवसाना लक्षणा' का है। उसी प्रकार 'राजा' का वाच्य-अर्थ 'क्षत्रिय' है, किन्तु जब राजोचित प्रजारक्षण, रञ्जनादि गुणों के कारण किसी ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रादि में 'राजा' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब वह प्रयोग 'रूढिमूलक' 'गौणी अध्यवसाना लक्षणा' का उदाहरण कहा जाता है।

शब्द के सुनते ही उसके वाच्य (मुख्य) अर्थ की जैसे नियमतः प्रतीति होती है, वैसे 'लक्ष्य' अर्थ की नियमेन प्रतीति नहीं होती। 'लक्ष्य अर्थ' की प्रतीति होने के लिए 'वक्ता, वाक्य और वाच्य' के वैशिष्टय की अपेक्षा करनी पड़ती है। इस वैशिष्टय की अपेक्षा करके किये जानेवाले नवीन लाक्षणिक प्रयोग, वृद्धव्यवहार में होने वाले प्रयोगों की समानता पर आधारित रहते हैं। अन्यथा किसी भी शब्द का कोई भी 'लक्ष्य' अर्थ कहा जा सकेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

इस सम्पूर्ण लक्षणाप्रपञ्च का स्थान, 'अभिहितान्वयवाद' में 'वाच्यार्थ' के पश्चात् और 'अन्विताभिधानवाद' में 'वाच्यार्थ' के पूर्व तथा 'समुच्चयवाद' में 'वाच्यार्थ' के अनन्तर किन्तु 'वाक्यार्थ' के पूर्व रहता है। 'सखण्डवाक्यार्थवाद' में तो लक्षणा का कोई स्थान ही नहीं है।

इसी सन्दर्भ में मुकुलभट्ट ने 'मुख्य-लक्ष्य' सम्बन्धों का परिगणन करनेवाली भर्तृमित्र की एक कारिका का उद्धरण देकर उसका सोदाहरण विवेचन किया है। तदनन्तर उसने लक्षणा के विशिष्ट 'मुख्य-लक्ष्य-सम्बन्धों' को और लक्षणा प्रकारों की दृष्टि से 'वाच्यार्थ' का क्वचित् 'अत्यन्त तिरस्कृत' रहना, क्वचित् 'विवक्षित' या 'अविवक्षित' रहना बताया है और साथ ही साथ यह कह दिया है कि ध्वनिकार के द्वारा प्रतिपादित ध्वनिभेदों का अन्तर्भाव लक्षणा के प्रपञ्च में ही हो जाता है।

मम्मटभट्ट के द्वारा मुकुलभट्ट की मान्यताओं का खण्डन--

मम्मटभट्ट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में 'लक्षणा' का विवेचन करते हुए मुकुलभट्ट की मान्यता के खण्डनार्थ 'व्यञ्जना' का स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित कर दिया है। मुकुलभट्ट ने 'लक्षणा' के होने में जिन तीन कारणों को बताया है, उनमें से 'प्रयोजन' रूप तृतीय कारण ही 'व्यञ्जना' की स्वतन्त्रसिद्धि कराने में पर्याप्त है।

लक्षणा का 'प्रयोजन' और लक्षणा का 'विषय' --दोनों को अभिन्न (एक) मान लेना संभव नहीं है, क्योंकि 'विषय' का अस्तित्व लक्षणा-व्यापार के पूर्व से ही रहता है और 'प्रयोजन' की सिद्धि, लक्षणाव्यापार के पश्चात् होती है। अतः जिसे 'लक्षणा' मान्य है, उसे 'व्यञ्जना' को स्वीकार तो करना ही होगा।

किञ्च मुकुलभट्ट ने 'लक्षणा' के जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, वस्तुतः वे 'व्यञ्जना' के ही उदाहरण हैं। किन्तु जहाँ लक्षणा 'प्रयोजनवती' होगी, वहाँ 'प्रयोजन' का बोध करानेवाला व्यापार 'व्यञ्जना' के अतिरिक्त अन्य कोई है ही नहीं। अतः 'व्यञ्जना' को अवश्य मानना ही होगा।

इसके अतिरिक्त 'लक्षणा' के सन्दर्भ में मुकुलभट्ट के अन्य मतों का भी खण्डन मम्मटभट्ट ने किया है। जैसे—'गौरनुबन्ध्यः' और 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'— इन दो उदाहरणों में मुकुलभट्ट ने 'उपादानलक्षणा' बताई है।

उस पर मम्मटभट्ट का कहना है कि मुकुलभट्ट के द्वारा प्रदर्शित किये गये दोनों उदाहरण 'उपादानलक्षणा' के नहीं हो सकते, अपितु वे दोनों उदाहरण 'अर्थापत्ति' के हैं। क्योंकि मुकुलभट्ट तो 'उपादानलक्षणा' और 'लक्षणलक्षणा' में 'वाच्य और लक्ष्य अर्थों' की 'तटस्थता' मानते हैं। किन्तु 'तटस्थता' मानने पर 'लक्षणा' के प्रयोजन का बाध ही हो जायगा। अतः उनका 'तटस्थता' का सिद्धान्त उपादेय नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मम्मटभट्ट की गुणग्राहिता--

मुकुलभट्ट के खण्डनीय अंशों को छोड़कर उनके अन्यान्य अंशों के विवेचन का अनुसरण मम्मटभट्ट ने किया ही है। इससे स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट के साथ मम्मट-भट्ट का द्वेष नहीं था। उन्होंने किसी द्वेषभावना से उनका खण्डन नहीं किया। मम्मटभट्ट के द्वारा प्रतिपादित 'उपादान लक्षणा' आदि लक्षणा के प्रकारों का दर्शन मुकुलभट्ट के ही ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। मीमांसादि शास्त्रों के प्राचीन 'लक्षणा प्रकारों' से इन प्रकारों की सङ्गति लगाने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन 'जहल्लक्षणा' और 'अजहल्लक्षणा' को ही क्रमशः नवीन 'उपादान लक्षणा' और 'लक्षण-लक्षणा' के रूप में उपस्थित किया जा रहा है। 'प्राचीन गौणीवृत्ति' का ही रूपान्तर नवीन —'गौण अध्यारोपलक्षणा' और 'गौण अध्यवसान लक्षणा' के रूप में किया गया है। अन्तिम दो प्रकार के शुद्धभेदों से मिलते-जुलते भेद, प्राचीन लक्षणाप्रपञ्च में दृष्टिगोचर नहीं होते हैं। प्राचीन व्यवस्था में मान्य 'जहदज-हल्लक्षणा' इस नवीन व्यवस्था में नहीं दिखाई दे रही है। नवीनों ने उसका समावेश 'उपादान-लक्षणा' में कर दिया है।

लक्षणा की विशेषता--

मम्मटभट्ट ने 'लक्षणा' का लक्षण करते हुए—'आरोपिता क्रिया' शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे उसकी विशेषता अवगत होती है। शब्द के 'अभिधाव्यापार' के समान 'लक्षणाव्यापार' स्वाभाविक नहीं है, किन्तु 'आरोपित' (कृत्रिम) है। 'संकेत' के बिना तो 'शब्द' में 'शब्दत्व' ही नहीं रहता। उस पर अधिष्ठित रहने वाला 'अभिधाव्यापार' तो 'शब्द' का स्वाभाविक व्यापार है। और इसके विपरीत लक्षणाव्यापार, रूढि अथवा प्रयोजन के अनुरोध से वक्ता के द्वारा 'शब्द' के साथ जोड़ दिया जाता है। इसीलिए उसे 'आरोपित' (आगन्तुक) कहा गया है।

वस्तुतः 'लक्षणाव्यापार' वाच्यार्थ का है, क्योंकि 'वाच्यार्थ' ही 'लक्ष्यार्थ' का बोध कराता है। तथापि उसे 'शब्द' का व्यापार माना जाता है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने 'आरोपिता क्रिया' शब्दों का प्रयोग किया है, ऐसा कतिपय व्याख्याकारों का कहना है।

कतिपय व्याख्याकारों की उक्त व्याख्या का अनौचित्य—

कतिपय व्याख्याकारों की निर्दिष्ट व्याख्या से 'लाक्षणिक' यह नाम वस्तुतः 'वाच्यार्थ' का ही प्रतीत होता है। तथापि उसे 'शब्द' का हठात् मान लिया गया है, यह कहना होगा। किन्तु यह पक्ष, मम्मटभट्ट को यदि मान्य होता तो 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते' इस उक्ति के समान वे 'वाच्यार्थस्य लाक्षणि-कत्वमपीष्यते' कहते, अर्थात् 'वाच्यार्थ' को लाक्षणिक भी बताते। किन्तु उन्होंने कहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भी वैसा नहीं कहा है। इसलिए 'लक्षणा' को 'शब्द का व्यापार' हठात् माना गया है, यह कहना उचित नहीं है।

व्याख्याकार गोविन्दठक्कुर ने 'सान्तरार्थनिष्ठः' का अर्थ, 'लक्ष्यार्थविषयकः' किया है, जो उचित प्रतीत होता है। 'शब्द' का 'वाच्यार्थ' उसका सङ्केतित अर्थ ही होता है। उस 'वाच्यार्थ' से 'लक्ष्यार्थ' की भिन्नता बताने के लिए ही 'लक्ष्यार्थ' को 'सान्तरार्थ' कहा गया है। 'अन्तर' का अर्थ होता है कि दो पदार्थों में दैशिक अथवा कालिक अवकाश। उस अवकाश (अन्तर) से जो युक्त होता है, उसे 'सान्तर' कहते हैं। यह 'अन्तर' पद, यहाँ पर 'शब्द' और 'लक्ष्यार्थ' दोनों के 'कालिक अन्तर' को बता रहा है। शब्द का उच्चारण करने पर 'वाच्यार्थ' के समान तुरन्त बाद 'लक्ष्यार्थ' की प्रतीति नहीं होती है, अपितु कुछ अन्तर (व्यवधान) के बाद ही वह होती है। कितने अन्तर के बाद ? यह जिज्ञासा होने पर 'वाच्यार्थ' और उसके साथ रहने वाले 'अन्यार्थ-सम्बन्ध' की प्रतीति होने में 'आवश्यक अन्तर' के बाद ही श्रोता को 'लक्ष्यार्थ' की प्रतीति हो पाती है? इसलिए उसे 'सान्तर अर्थ' कहा गया है।

किन्तु इसके विपरीत, 'शब्द' का उच्चारण करने के बाद 'वाच्यार्थ' की प्रतीति तुरन्त होती है। इसलिए उस 'वाच्यार्थ' को 'निरन्तर-अर्थ' कहा जाता है। 'वाच्यार्थ' और 'लक्ष्यार्थ' के लिए 'निरन्तरार्थ' और 'सान्तरार्थ' संज्ञाओं का प्रयोग, प्रथमतः मुकुलभट्ट ने ही किया है। मम्मटभट्ट ने 'अभिधा' और 'लक्षणा' का विवेचन, प्रायः मुकुलभट्ट के ग्रन्थ के अनुसार ही किया है, क्योंकि उनकी निर्मित परिभाषाओं की समानता को देखने से यह तथ्य स्पष्ट होता है।

ध्वनि के प्रकार--

प्रथम उल्लास में 'ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य' और 'चित्र' के नाम से काव्य के तीन प्रकार बताये थे। किन्तु उनका सविस्तर निरूपण चतुर्थ उल्लास से आरम्भ होता है। चतुर्थ उल्लास में 'ध्वनि' के अनेक प्रकारों को बताया गया है। 'ध्वनि' में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की जो प्रधानता रहती है, उसका सम्भव दो प्रकार से हो सकता है--(१) जब काव्य के वाच्यार्थ का बोध कराने की कवि की इच्छा ही न हो। अथवा (२) काव्य के वाच्यार्थ का बोध कराने की कवि की इच्छा रहने पर भी वह वाच्यार्थ, जब 'व्यङ्ग्यार्थ' का उपकारक (सहायक) हो। इनमें से प्रथम प्रकार को 'अविवक्षितवाच्य' और द्वितीय प्रकार को, 'विवक्षित-अन्यपरवाच्य' कहा गया है। पहिले प्रकार में 'वाच्यार्थ' या तो 'व्यङ्ग्यार्थ' में परिणत हो जाता है, अथवा सर्वथैव वह त्याज्य रहता है। इसमें विपरीत-लक्षणा के सहारे 'व्यङ्ग्यार्थ' प्रवृत्त होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि के भी दो प्रकार हैं—(१) जिसमें व्यङ्ग्यार्थ के 'व्यञ्जक कारण' और उनसे व्यक्त होनेवाला 'व्यङ्ग्यार्थ कार्य' दोनों के पौर्वापर्य (क्रम) का ज्ञान नहीं हो पाता, यानी कार्य-कारणों के पूर्वापर क्रम का बोध हुए बिना ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति तत्काल होती है। यह एक प्रकार है।

(२) जहाँ 'व्यञ्जक' और 'व्यङ्ग्य' दोनों का पौर्वापर्य लक्षित होता है—यह दूसरा प्रकार है।

उनमें से पहिले का क्षेत्र 'रसादि' व्यङ्ग्य अर्थ है, उसी को उसके स्वभावानुरूप 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नाम से कहा गया है।

और दूसरे को 'लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' के नाम से कहा गया है। इसके तीन प्रकार (भेद) किये गये हैं—

(१) केवल शब्दशक्ति के (अभिधा के) आश्रय से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

(२) केवल अर्थशक्ति के (सन्दर्भादिसापेक्ष वाक्यार्थ के) आश्रय से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

(३) शब्दशक्ति और अर्थशक्ति दोनों के (उभय) आश्रय से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है।

अनेकार्थक शब्दों के आधार पर अथवा भिन्नसन्धिच्छेदों के कारण भिन्नार्थक सुसंगत शब्दों को प्रकट करनेवाले वर्णसमूह के आधार पर वे जहाँ प्राकरणिक (प्रकृत) अर्थ से भिन्न अप्राकरणिक (अप्रकृत) अर्थ को ध्वनित करते हैं, उसे 'शब्दशक्त्युद्भव' ध्वनि कहते हैं—यह एक प्रकार है। उसका पर्यवसान यदि अलङ्कार में होता हो तो उसे अलङ्कारध्वनि, और यदि वस्तु में पर्यवसान होता हो तो उसे वस्तुध्वनि कहते हैं।

'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि' के बारह प्रकार होते हैं—यह काव्यार्थ 'लोकप्रसिद्ध' रहने पर उसे 'स्वतःसंभवी' कहते हैं। और लोकप्रसिद्ध न रहनेपर भी केवल कवि-कल्पितमात्र रहने पर उसे 'कविप्रौढोक्तिसिद्ध' कहते हैं। तथा कविनिर्मित नायक, नायिका के द्वारा कहलाने पर इसे 'कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध' कहते हैं। ये तीनों 'अलङ्कारप्रधान' अथवा 'वस्तुप्रधान' (रसादिरूप अथवा अलङ्काररूप न रहने वाला अर्थ) होने पर छह प्रकार (३×२) के हो जाते हैं। इन्हीं को 'अलंकार ध्वनि' और 'वस्तुध्वनि' कहते है। ये छहों परस्पर एक-दूसरे को ध्वनित करते हैं, तब द्विगुणित (६×२) बारह हो जाते हैं, और जो अंशतः 'शब्दशक्ति' तथा अंशतः 'अर्थशक्ति' के आश्रय से प्रकट होता है, उसे 'उभयशक्त्युद्भव ध्वनि' कहते हैं। यह एक ही प्रकार का होता है। सब मिलकर 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' के सोलह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भेद (प्रकार) होते हैं। इनमें 'अविवक्षितवाच्य' ध्वनि के दो भेदों को मिला देने पर उसके अठारह भेद हो जाते हैं।

इनमें से कुछ भेद तो केवल वाक्य में; और कुछ भेद पदों में तथा वाक्यों में, कुछ भेद पद, वाक्य, प्रबन्ध में; और कुछ वर्णरचना, पदैकदेश, पद, वाक्य, प्रबन्ध में उपलब्ध होते हैं। उन सबके कुल मिलाकर इक्यावन भेद सम्पन्न होते हैं। ये इक्यावन भेद, जैसे शुद्ध स्वरूप में होते हैं, वैसे ही संकर और संसृष्टि के रूप में भी होते हैं। यहाँ पर 'संकर' और 'संसृष्टि' नाम के अलंकारों से तात्पर्य नहीं है, अपितु उनके मूलभूत मिश्रण-तत्त्वों से तात्पर्य है। 'संकर-त्रिविध' (अंगांगिसंकर, सन्देहसंकर और एकव्यंजकानुप्रवेशसंकर) और एक प्रकार की 'संसृष्टि'। इसलिए संकर में (५१×३ =) १५३ और संसृष्टि में ५१ जोड़ने पर 'संकर-संसृष्टि' के कुल २०४ भेद हो जाते हैं। इनका शुद्ध भेदों के साथ मिश्रण करने पर (५१×२०४ = १०४०४) दसहजार चार सौ चार मिश्र भेद होते हैं। उनमें शुद्ध भेदों की संख्या इक्यावन मिला देने पर ध्वनि के कुल भेद दस हजार चार सौ पचपन (१०४५५) हो जाते हैं। इस प्रकार ध्वनिभेदों की यह गणना मम्मटभट्ट ने स्वयं की है। उनके दिग्दर्शनार्थ प्रायः नव्वे उदाहरणों को भी प्रदर्शित किया है। उसमें से प्रायः पच्चीस उदाहरण 'रसादिध्वनि' के हैं। इससे ध्वनिकाव्य की व्यापकता और मम्मटभट्ट की सूक्ष्म-विवेचन शक्ति का अनुभव हो पाता है, ग्रन्थकार ने रसादिध्वनि को एकविध ही बताया है, उसके अनेक भेद नहीं किये हैं। क्योंकि उसके भेदों का विश्लेषण करने लग जाँय तो असंख्य भेद हो सकते हैं। इसलिए उसे एकविध ही मान लिया है। उत्तम काव्य के निर्माण करने में कवि को वर्ण से लेकर प्रबन्ध तक सर्वत्र कितनी सावधानी रखनी पड़ती है, यह स्पष्ट हो जाता है।

रस की परिभाषा—

मम्मटभट्ट ने रसादिकों का अन्तर्भाव, उपर्युक्त काव्य भेदों में से 'अलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य' नामक भेद में किया है। मम्मटभट्ट ने स्वसम्मत रसप्रक्रिया का निरूपण अभिनवगुप्तपाद की अभिनवभारती के आधार पर संक्षेप में किया है।

व्यावहारिक जीवन में जो चित्तवृत्तियाँ (प्रेम, शोक, भय आदि) स्थिर रूप में रहती हैं, उनका अनुभव सभी को हुआ करता है। उन चित्तवृत्तियों का 'उदय' और 'परिपोष' कतिपय विशिष्ट कारण तथा उनके सहकारी कारणों से होता है, तब उन चित्तवृत्तियों से कुछ कार्य होता हुआ दृष्टिगोचर होता है, जैसे किसी को किसी स्त्री के प्रति प्रेम होने लगा, और विशिष्ट परिस्थिति में वह परिपुष्ट होने लगा, उस कारण वह अपने प्रियतमा को देखकर स्मित, मधुर-भाषण आदि करने लगता है। यह प्रेमभावना उसके मन में दृढ़ होने लगती है, और वह उस प्रियतमा की प्राप्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में—आशा, निराशा, चिन्ता और यदि कोई प्रतिस्पर्धी हो तो मत्सर इत्यादि तात्कालिक उत्पत्ति-निवृत्तिशील चित्तवृत्तियों से—उसकी प्रेमभावना अत्यधिक बढ़ती जाती है। प्रेमी के मन में प्रेमभावना का उदय होने से 'मुख्यकारण' 'प्रेमिका' (प्रियतमा स्त्री) और विशिष्ट परिस्थिति है। आशा, निराशा आदि तात्कालिक वृत्तियाँ 'सहकारी कारण' हैं। एवं स्मित, मधुरभाषण इत्यादि उस प्रेमभावना के 'कार्य' होते हैं। इस प्रकार की स्थिर रूप में रहनेवाली 'प्रेम' आदि भावनाएँ जब नाट्य (दृश्य-श्रव्य), अथवा काव्य (श्रव्य) में चित्रित की जाती हैं, तब उन्हें 'स्थायीभाव' और उन भावनाओं के मुख्यकारणों को 'विभाव' और सहकारीकारणों को 'व्यभिचारीभाव' (संचारीभाव) तथा उन स्थिरभावनारूप स्थायीभावों के कार्यों को 'अनुभाव' नाम दिया जाता है। अर्थात् 'विभाव, व्यभिचारीभाव, अनुभाव'—ये संज्ञाएँ काव्य-नाटक में व्यवहृत होती हैं, ये उनकी पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं।

'विभाव' दो प्रकार के होते हैं—एक 'आलम्बन' और दूसरा 'उद्दीपन'। (१) मनोगत स्थिर भावना का जो 'विषय' रहता है, उसे 'आलम्बन-विभाव', (२) और उस स्थिरभावना का उद्दीपन करने वाले को 'उद्दीपनविभाव' कहते हैं। इन पारिभाषिक संज्ञाओं के सहारे 'रस' का स्वरूप बताया जाता है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव—इनके संयोग से व्यक्त होनेवाले स्थायीभाव को ही 'रस' कहा गया है।

रस की चार व्याख्याएँ

मम्मटभट्ट के द्वारा बताये गये इस रस-स्वरूप का मूल आधार भरत का 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' यह सूत्र है। इसी को 'रससूत्र' कहते हैं। इस रससूत्र की व्याख्या अनेक प्रकार से व्याख्याकारों ने की है। इस प्रकार की चार व्याख्याएँ आज उपलब्ध होती हैं। उनमें पूर्व-पूर्व व्याख्याओं में दोष बताकर अभिनवगुप्तपाद का चतुर्थ मत सिद्धान्त के रूप में बताया गया है।

(१) मम्मटभट्ट के द्वारा उल्लिखित चार व्याख्याओं में से प्रथम व्याख्या लोल्लट भट्ट की है—'विभावैः ललनोद्यानादिभिः.................इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।' यहाँ 'प्रभृतयः' कहकर 'दण्डी' आदि प्राचीन आचार्यों को बताया गया है—ऐसा अभिनवभारती (पृ. २७४) से अवगत होता है। भट्टलोल्लट के मत में—'विभावों' से उत्पन्न तथा 'अनुभावों' से प्रतीतियोग्य और 'व्यभिचारीभावों' से पुष्ट होने वाले रति आदि 'स्थायीभाव' को ही 'रस' कहा गया है। इस 'रस' का अधिष्ठान 'राम' इत्यादि व्यक्ति हैं। अर्थात् अभिनेय 'राम' आदि व्यक्ति, 'रस' के मुख्य अधिष्ठान हैं, और अभिनेता 'नट' आदि, 'रस' के गौण (अमुख्य) अधिष्ठान कहे गये हैं।

(२) द्वितीय व्याख्या शंकुक की है—"राम एवायम्,' 'अयमेव रामः' इति, ... चर्व्यमाणः, रसः—इति शङ्कुकः।" आचार्य शङ्कुक के मत में भित्ति पर या कागज आदि पर चित्रित 'अश्व' को अश्व के रूप में ही जैसे जाना जाता है, वैसे ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'राम' का अभिनय करने वाले 'नट' को भी प्रेक्षक लोग 'यह राम है' कहते हैं। प्रेक्षकों को 'नट' में होने वाला 'राम' का ज्ञान, चारों प्रकार के ज्ञानों (साम्यक्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान, सादृश्यज्ञान) से भिन्न ही है। 'राम' का अभिनय करने वाले 'नट' को देखकर प्रेक्षकों को 'यह राम ही है, यही राम है' इस प्रकार का दृढ-दृढतर द्विर्बद्ध ज्ञान यदि हुआ होता; तो उसे 'सम्यक्-ज्ञान' कहा गया होता, क्योंकि द्विर्बद्ध हुए निश्चय से सामने दिखाई देने वाले व्यक्ति में 'रामत्व' के न रहने की और उसी-तरह सामने दिखाई देनेवाले व्यक्ति से भिन्न (अन्य) व्यक्ति में 'रामत्व' के रहने की व्यावृत्ति की जा रही है, यानी 'अयोगव्यवच्छेद' और 'अन्ययोगव्यवच्छेद' किया जा रहा है। नाटक देखने के पश्चात् 'राम' का अभिनय करने वाले 'नट' को देखकर 'यह राम नहीं है'—ऐसा बाधक ज्ञान यदि होता हो तो पूर्व हुए 'यह राम है' इस ज्ञान को 'मिथ्या-ज्ञान' कहा गया होता। नाटक देखते समय 'राम' का अभिनय करने वाले 'नट' को देखते हुए प्रेक्षकों को 'यह राम है, या नहीं' ऐसा यदि प्रतीत होता रहता तो उस प्रतीति (ज्ञान) को 'संशय-ज्ञान' कहा गया होता, और 'नट' को देखकर यदि 'यह राम के समान है' इस प्रकार का ज्ञान हुआ होता तो उस ज्ञान को 'सादृश्य-ज्ञान' कहा गया होता। अतः उक्त चारों प्रकार के ज्ञानों में से किसी भी प्रकार के ज्ञान में इन पुरोवर्ती नट को देखकर हो रहे ज्ञान को अन्तर्गत न कर पाने से दृश्यमान 'नट' का 'चित्रतुरगन्याय' से 'राम' के रूप में ज्ञान होता है। नाटक करते समय 'नट' में वस्तुतः अविद्यमान 'रति' आदि स्थायीभावों की प्रतीति प्रेक्षकों को जो होती है, वह 'अनुमान' से होती है। इस अनुमान में 'नट' को पक्ष, और 'स्थायीभाव' को साध्य, तथा 'विभावादिसामग्री' को हेतु (साधन) कहा जाता है।। प्रस्तुत 'साध्य' का विभावादिसामग्री के साथ 'गम्य-गमक' भाव के रूप में जो सम्बन्ध है, वही 'रससूत्र' में बताया गया 'संयोग' है। यह विभावादि जो साधन-भूत सामग्री है (स्थायीभाव के कारण, कार्य और सहकारी कारण), वह वस्तुतः कृत्रिम है, तथापि उस कृत्रिमता की प्रतीति नहीं हो पाती, क्योंकि 'नट' के द्वारा किया गया काव्यानुसंधान-अभिनय-शिक्षा, और स्वयं का परिश्रम इतना अधिक रहता है, कि फलस्वरूप वह उस विभावादि सामग्री को इतनी सफाई से प्रकट करता रहता है, जो प्रेक्षकों को वास्तविक-सा प्रतीत होता है। इस रीति से नट में 'रति' आदि स्थायिभावों की प्रतीति अनुमान से होती है। तथापि अनुमान से प्रतीत होनेवाली धूमानुमित अग्नि आदि से एकदम भिन्न ये विभावादि पदार्थ हैं, क्योंकि ये अपने स्वाभाविक सौन्दर्य के कारण आस्वाद्य रहते हैं। धूम से अनुमित होने वाला अग्नि, वैसा आस्वाद-योग्य नहीं हो पाता है। आस्वाद्ययोग्य रहने से ही वे विभावादि पदार्थ, प्रेक्षकों की इच्छाबल-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जन्य चर्वणा के विषय हो जाते हैं और चर्वणा के विषय बन जाने से उन्हें 'रस' की संज्ञा दी जाती है।

(३) तृतीय व्याख्या भट्टनायक की है—"न ताटस्थ्येन न आत्मगतत्वेन रसः प्रतीयते······भोगेन भुज्यते—इति भट्टनायकः"। इनका कहना है कि 'रस' की उत्पत्ति न असली राम में, और न नकली राम में, किंवा प्रेक्षकसामाजिक में भी नहीं होती है, तथा अनुमान से या व्यञ्जना से भी उस 'रस' की प्रतीति नहीं होती है। अपितु काव्य में या नाट्य में 'भावकत्व' नाम के व्यापार से 'स्थायी भाव' ही एक विशिष्ट स्थिति को प्राप्त होकर 'भोजकत्व' नामक व्यापार के द्वारा प्रेक्षक सामाजिकों के आस्वाद का विषय (योग्य) बन जाता है। यह 'भावकत्व व्यापार' वह शक्ति है, जो विभावादि सामग्री में रहने वाले व्यक्तिगत अंश को हटा देती है, और उसे सर्वसाधारण बना देती है। यह 'भावकत्व शक्ति' शब्दार्थ-बोधक 'अभिधाशक्ति' से भिन्न (पृथक्) है। तथा 'भोजकत्वशक्ति' (भोजकत्वव्यापार), प्रकाशमय और आनन्दमय चेतना (चैतन्य) का स्फुरणरूप है, क्योंकि इससे सत्त्वगुण का उत्कर्ष होता है, जिससे 'रजस्' और 'तमस्' नामके अवशिष्ट दो गुण अभिभूत हो जाते हैं।

(४) चतुर्थ व्याख्या श्रीमदभिनवगुप्तपाद की है—'लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमाने अभ्यासपाटववतां·· शृङ्गारादिको रसः'। इनका कहना है कि (प्रत्येक व्यक्ति के मन में) व्यावहारिक अनुभव से और 'प्रमदा' आदि कारणों के अनुरोध से उत्पन्न होनेवाले 'रति' आदि स्थायी भावों को पहिचानने का अभ्यास प्रत्येक व्यक्ति को रहता है। ऐसे 'अभ्यस्त' सामाजिक जब किसी नाटक को देखते हैं या किसी काव्य को पढ़ते-सुनते हैं, तब ये ही 'प्रमदा' आदि सांसारिक पदार्थ, 'विभावन, अनुभावन, व्यभिचारण' इन विशिष्ट व्यापारों से युक्त होकर क्रमशः 'विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव' इन अलौकिक संज्ञाओं से पुहिचाने जाते हैं और 'ये विभावादि केवल मेरे ही हैं' या 'केवल शत्रु के ही हैं', या 'केवल तटस्थ के ही हैं' अथवा 'ये केवल मेरे ही नहीं हैं' या 'केवल शत्रुके ही नहीं हैं' या 'केवल तटस्थ के ही नहीं हैं'—इस प्रकार उन विभावादिकों का विशिष्ट-व्यक्तिगत सम्बन्ध मानने या न मानने में किसी निश्चित प्रमाण (विनिगमक) के न होने से उन विभावादिकों की 'सर्वसाधारण' रूप से प्रतीति होने लगती है। इस प्रकार 'साधारणीकृत' हुए ये 'विभावादि' पदार्थ ही प्रेक्षक सामाजिक पाठक आदि लोगों के मन में संस्कार (सूक्ष्म) रूप से रहनेवाले 'रति' आदि स्थायीभावों को प्रकट (अभिव्यक्त) किया करते हैं।

ये अभिव्यक्त होनेवाले 'स्थायी भाव', तत्तत् सामाजिकों में मर्यादित रहने पर भी विभावादिकों के साधारणीकरण (सर्वसाधारण रूप) के कारण उनके मर्यादित (संकुचित) रूप का भंग हो जाता है। अन्य विषयों का ज्ञान भी लुप्त हो जाता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, यहाँ तक कि अपने व्यक्तित्व की भी सुध-बुध नहीं रहती है। ये अभिव्यक्त हुए स्थायीभाव, अमर्यादित स्वरूप के (व्यापक रूप के) प्रतीत होने लगते हैं और सभी प्रेक्षकों को उनकी (स्थायी भावों की) समान रूप से अनुभूति होने लगती है—जैसे प्रत्येक व्यक्ति का आकार उसके स्वयं से अभिन्न रहता है, उसी तरह वे स्थायीभाव भी उन सामाजिकों से अभिन्न रहते हैं, तथापि भिन्न की तरह उन सामाजिकों की प्रतीति के विषय बन जाते हैं। इन प्रतीयमान होने वाले 'स्थायी भावों' का आस्वाद वे सामाजिक लिया करते हैं, और तब उन्हें 'शृङ्गार' आदि इस शब्द से कहा जाता है। जैसे नीम्बू, कालीमिर्च, लाइची, शर्करा (चीनी), केशर आदि का मिश्रण करके एक शरबत तैयार किया जाता है। उसमें मिश्रित प्रत्येक वस्तु के पृथक्-पृथक् स्वाद की अपेक्षा उस शरबत का एक विलक्षण स्वाद निष्पन्न होता है उसी तरह 'विभावादि सामग्री' और 'स्थायी भाव' के संयोग (सम्पर्क) से 'रस' की निष्पत्ति होती है। उसका आस्वादन (चर्वणा) ही 'रस' का जीवित (जीवातुभूत प्राण) है। उस जीवित का और विभावादि का काल समान ही रहता है, अर्थात् जब तक प्रेक्षकों के सामने विभावादि सामग्री उपस्थित रहती है, तभी तक उन्हें 'रस' की प्रतीति (अनुभव) होती रहती है। 'विभावादि' सामग्रीसहित 'स्थायी भाव' से जिस समय रस की अभिव्यक्ति होती है, उस समय तत्क्षण वह, अन्य समस्त ज्ञेय विषयों को मानो भुला देता है। तथा अलौकिक चमत्कार (आनन्द) का निर्माण कर मानो ब्रह्मसाक्षात्कार का ही अनुभव करा देता है। ऐसा लगता है मानो सामने वह नाच रहा है, हृदय में मानो घुसा जा रहा है, अंग अंग में मानो प्रविष्ट-सा हो रहा है, यह अवस्था जिस समय हो जाती है, उसी को 'रस की अनुभूति' कहते हैं।

विभावादि सामग्री से रस की निष्पत्ति होने पर भी उसे विभावादि सामग्री का 'कार्य' नहीं कह सकते। यदि वह विभावादि सामग्री का 'कार्य' होता, तो विभावादि के नष्ट (दृष्ट न) होने पर भी उसकी (रस की) प्रतीति (आस्वाद) होती रहती। किन्तु वैसी प्रतीति (अनुभव) नहीं होती है। अतः विभावादि सामग्री को उस (रस) का निमित्तकारण (हेतु) नहीं कह सकते। यही मम्मटभट्टाभिमत सिद्धान्ततः स्वीकृत रस की व्याख्या एवं परिभाषा भी है।

रस की अलौकिकता—

प्रेक्षकों के रग-रग में प्रविष्ट होने वाले उस 'रस' को हम विभावादि सामग्री का 'कार्य' भी नहीं कह सकते। अन्यथा 'विभावादि सामग्री' के आँख ओझल हो जाने पर भी उसका (रस का) अनुभव होते रहना चाहिये था, किन्तु होता नहीं है। अच्छा हम 'विभावादि सामग्री' को 'रस' का ज्ञापक हेतु कहें, तो वह भी उचित न होगा, क्योंकि इस पक्ष में 'रस' को विभावादि सामग्री के पूर्व से ही सिद्ध मानना होगा। अर्थात् विभावादि सामग्री के पूर्व भी उसका अस्तित्व जानना होगा। किन्तु वैसा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानना, अनुभव के विरुद्ध होगा। अतः विभावादि सामग्री को 'रस' का न 'कारक हेतु' कह सकते हैं और न 'ज्ञापक हेतु' ही मान सकते हैं। किसी भी कार्य (वस्तु) के प्रति दो प्रकार के ही 'हेतु' (कारण) हुआ करते हैं, 'कारक हेतु' या ज्ञापक हेतु; इनके अतिरिक्त हेतु होने का अन्य कोई प्रकार नहीं है। हेतु के उक्त दोनों प्रकारों की उपपत्ति विभावादि सामग्री में समन्वित नहीं हो रही है, फिर भी रसानुभूति में विभावादि सामग्री को कारण (हेतु) कहा जाना—यही तो उसकी अलौकिकता है। उपर्युक्त द्विविध हेतुओं की उपलब्धि तो लौकिक है। किन्तु रसानुभूति तो अलौकिक है, उनमें हेतु का लौकिक प्रकार कैसे काम करेगा? अतः रसानुभूति और विभावादि सामग्री दोनों में जो हेतु—हेतुमद्भाव है उसे अलौकिक ही कहना होगा। फिर भी "रस-चर्वणा" का प्रयोग सुनने पर स्पष्ट होता है कि 'चर्वणा क्रिया उत्पन्न होती है, अतः उसे 'कार्य' कहना ही होगा, तब उसके साहचर्य से 'रस' को भी लक्षणावृत्ति के द्वारा (उपचार से) 'कार्य' कह सकते हैं, उसी तरह 'लौकिक प्रत्यक्षादि ज्ञान' तथा अपरिपक्व योगी (युञ्जान योगी) का 'इन्द्रिय-निरपेक्ष' ज्ञान और परिपक्व योगी (युक्त योगी) का एकाग्र-स्वविक्रान्त ज्ञान, इन त्रिविध ज्ञानों से भी विलक्षण अलौकिक (लोकोत्तर) ज्ञान (संवित्) का विषय होने से उस 'रस' को 'ज्ञाप्य' (ज्ञेय) भी कह सकते हैं। उसी तरह उस रसानुभूति को 'निर्विकल्प का प्रत्यक्ष' भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' उसी को कहा जाता है, जो 'निष्प्रकारक' होता है, किन्तु रसानुभूति में तो 'विभावादि सामग्री' का परामर्श होता है। उसी तरह उस 'रसानुभूति' को 'सविकल्पक प्रत्यक्ष' भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'चर्वणा' का विषय होने वाला जो 'अलौकिक आनन्दरूप रस' है, वह तो स्वयं (स्वतः) ही सिद्ध है, अर्थात् स्वयं के संवेदन से ही सिद्ध है। सविकल्पक प्रत्यक्ष तो 'अनुव्यवसाय' (तद्विषयक अन्यज्ञान) पर निर्भर होता है। एवं च 'रसानुभूति' को न निर्विकल्पक प्रत्यक्ष और न सविकल्पक प्रत्यक्ष ही कह सकते हैं। फिर भी उसे 'निर्विकल्पक नहीं है' कहने पर अर्थात् 'सविकल्पक है' कहने का प्रसंग स्वरसतः प्राप्त होता है; तथा 'सविकल्पक नहीं है' कहने पर अर्थात् 'निर्विकल्पक है' कहने का प्रसंग स्वरसतः प्राप्त होता है। इस दृष्टि से उसको (रसानुभूति को) निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी कह सकते हैं। यही इसकी अलौकिकता का बोधक है। अतः कोई विरोध नहीं है।

रसादिध्वनि का प्रपञ्च—

रसादिध्वनि के प्रपञ्च में १-शृङ्गार (संभोगशृङ्गार और विप्रलंभशृङ्गार) २-हास्य, ३-करुण, ४-रौद्र, ५-वीर, ६-भयानक, ७-बीभत्स और ८-अद्भुत, इन आठ रसों की स्थिति काव्य और नाट्य में एक-सी रहती है। तथा उक्त रसों के क्रमशः आठ 'स्थायी भावों'—१-रति, २-हास, ३-शोक, ४-क्रोध, ५-उत्साह, ६-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भय, ७–जुगुप्सा और ८–विसाय—का वर्णन, भरतनाट्यशास्त्र की कारिकाओं (ना० शा० ६।१५, १७) का उल्लेख करके ही मम्मट ने कर दिया। तथा तैंतीस व्यभिचारी भावों (संचारीभावों) को बताते हुए 'निर्वेद' नाम के भाव को दो रूपों में बताया है। जब 'निर्वेद' स्थायीभाव के रूप में होता है तब 'शान्त' नाम का नवाँ (नवम) 'रस' उससे उत्पन्न होता है। अन्यथा वह व्यभिचारी भाग के रूप में रहता है। उक्त 'रति' आदि जब देवता, नृपति, गुरु, आदि के विभावों के विषय में होते हैं, तब उन्हें (रति आदि को) 'भाव' शब्द में ही पहचाना जाता है, 'रस' शब्द से नहीं। उसी तरह विभावादिकों से अभिव्यक्त होने वाले 'व्यभिचारी' भावों को भी 'भाव' शब्द से ही पहचाना जाता है। उसी तरह 'रस' और 'भाव' के विषय, यदि अनौचित्यपूर्ण (लौकिक अथवा शास्त्रीय मर्यादा से रहित) हों तब उन रसों और भावों को 'रसाभास' एवं 'भावाभास' शब्दों से कहा आता है। जैसे—किसी नायिका की अनेक पुरुषों के सीथ 'रति', गुरुपत्नी से अथवा पशु-पक्षी के साथ 'रति', गुरुविषयक 'हास', विरक्त का 'शोक', शूर पुरुष का डरपोकपना, इत्यादि—ये सब रसाभास, भावाभास, की कोटि में आते हैं। इसके अतिरिक्त 'भावों' का उपशम (शान्ति), 'भावों' का उदय (उत्थान), 'भावों' की संधि (मिश्रण), और 'भावों' की शवलता (पूर्व-पूर्व भाव को दवाकर उत्तर-उत्तर भाव का प्रकट होना)—ये भी 'व्यङ्ग्य' कोटि में आ सकते हैं। इन सब का अन्तर्भाव 'रसादिध्वनि' (अलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य) में किया जाना अभीष्ट है।

ग्रन्थकार के द्वारा प्रदर्शित रसादि ध्वनियों के उदाहरण—

(१) शृङ्गार—(क) संभोग शृङ्गार—'शून्यं वासगृहम्' इत्यादि।

(ख) विप्रलंभ शृङ्गार—'सा पत्युः प्रथमापराधसमये' और 'त्वामालिख्य प्रणयकुपिताम्' इत्यादि।

('विप्रलम्भ' शब्द का अर्थ, 'वियोग' होता है। वियोगावस्था में प्रकट होनेवाली 'रति' का पर्यवसान 'विप्रलंभ शृङ्गार' में होता है। यह 'वियोग'—देशान्तर से तथा मानसिक भी हो सकता है। यह विप्रलंभ शृङ्गार-(१) ईर्ष्या,(२) अभिलाष, (३) विरह, (४) प्रवास, (५) शाप आदि से होता है।

(२) हास्य—'आकुञ्च्य पाणिमशुचिम्'।

(इस रस के स्थायीभाव 'हास' का आश्रय 'प्रेक्षक' अथवा स्वयं 'कवि' भी हो सकता है।)

(३) करुण—'हा मातस्त्वरितासि कुत्र'।

(४) रौद्र—'कृतमनुमतं दृष्टवार्यैरिदम्'।

(५) वीर—'क्षुद्राः सन्त्रासमेते'।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(६) भयानक—'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्'।

(७) बीभत्स—'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्'।

(यहाँ पर इसके स्थायीभाव का आश्रय, प्रेक्षक या कवि अथवा वाचक हो सकता है।)

(८) अद्भुत—'चित्रं महानेष वतावतारः'।

(९) शान्त—'अहौ वा हारे वा'।

(यहाँ पर 'निर्वेद' = वैराग्य रूप स्थायीभाव का आश्रय 'विरक्त' वीतराग महापुरुष है।)

रसादिध्वनि के अन्तर्गत होनेवाले 'भावों' के उदाहरण--

भाव--(क) 'हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः'।

(यहाँ 'हर्ष' व्यभिचारीभाव है।)

(ख) 'जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा'।

(यहाँ 'असूया' व्यभिचारीभाव है। यह व्यभिचारीभाव प्रधानतया अभिव्यक्त हो रहा है, अतः यह 'भाव' का उदाहरण है, 'विप्रलम्भ शृंगार' का नहीं। इस भाव का पर्यवसान अन्ततोगत्वा विप्रलंभशृंगार में होरहा है, यह अलग बात है।)

रसाभास--'स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विना'।

(इसमें शृंगार रस' न होकर उसका 'आभास' मात्र है।)

भावशान्ति--'तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतट'।

(यहाँ पर 'कोपशान्ति' प्रधानतया व्यक्त की गई है।)

भावोदय—'एकस्मिञ्छयने विपक्षरमणीनामग्रहे'।

(यहाँ पर 'उत्सुकता' को प्रधानतया व्यक्त किया गया है।)

भावसन्धि—'उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेः'।

(यहाँ पर 'आवेग' और 'हर्ष' इन दो व्यभिचारी भावों की एक ही समय में अभिव्यक्ति की गई है।)

भावशबलता—'क्वाऽकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं'

(यहाँ पर 'वितर्क' 'औत्सुक्य' 'मति' 'स्मरण' 'शंका' 'दैन्य' 'धृति' 'चिन्ता'—ये भाव, पूर्व-पूर्व के भावों को अभिभूत करके अभिव्यक्त हो रहे हैं।)

इस चतुर्थ उल्लास में मम्मटभट्ट के द्वारा निरूपित किये गये ध्वनि के सभी प्रकार प्रायः आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोकग्रन्थ के द्वितीय और तृतीय उद्योत के पूर्वार्ध में बताये गये हैं। मम्मटभट्ट ने अपने काव्यप्रकाश में 'असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' नामक ध्वनि प्रकार के अनुरोध से 'रस' का विचार किया है। काव्यशास्त्रीय रसचर्चा का मूल-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्रोत, भरत के नाटचशास्त्र में दृष्टिगोचर होता है। रसचर्चा करते समय भरत ने रस का स्वरूप, उसकी निष्पत्ति की प्रक्रिया, रस के भेद आदि बताये हैं उन्हीं के अनुरोध से उत्तरकालीन काव्य मीमांसकों ने भी अपने अपने ग्रन्थों में उसकी चर्चा की है, तथापि क्वचित्-क्वचित् अपना मतभेद भी प्रकट किया है। समस्त रसचर्चा का मूल बिन्दु भरत का 'रससूत्र' ही है। इस सूत्र की विविध व्याख्याओं का विस्तृत दर्शन, हमें 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' में होता है। उत्तरकालीन 'काव्य-मीमांसा' का 'भरत' के साथ जो मतभेद है, वह 'शान्त' रस के प्रसंग में तथा भोज के द्वारा किये गये रसविवेचन में उपलब्ध होता है। काव्यप्रकाश में की गई 'रस-चर्चा' तो अभिनवगुप्तपाद का ही अनुसरण कर रही है।

भट्टलोल्लट के अनुसार—

(१) रस —परिपुष्ट हुआ स्थायीभाव ही 'रस' है। और
भाव—'अपरिपुष्ट जो स्थायी भाव' वह है।

(२) रस का आश्रय—मुख्य (असली) राघवेन्द्र राम है, और उसका अनुकरण करने वाला (नकली) नट, 'रस' का गौण आश्रय है।

(३) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के साथ 'रस' का सम्बन्ध-यथाक्रम 'जन्य-जनकभाव, प्रत्येय-प्रत्यायकभाव (ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव), पोषकभाव' है।

प्रथमसंख्यानिर्दिष्ट भट्टलोल्लट के मन्तव्य पर 'शङ्कुक' का आक्षेप—

नाटचशास्त्र की 'अभिनवभारती' (६।३१) के अनुसार तथा 'लोचन' (२।४) के अनुसार शङ्कुक के द्वारा किये गये—आक्षेप का निष्कर्ष यह है कि 'परिपुष्ट हुए स्थायी भाव' को 'रस' समझ लेना 'भरत' को मान्य नहीं है। क्योंकि 'स्थायी भाव' के परिपोष की 'मन्दतर, मन्द, मध्य, तीव्र' आदि अनगिनती (असंख्य) अवस्थाएँ हो सकती हैं। तब एक-एक रस के अगणित भेद होने लगेंगे। इन अवस्थाओं में से पराकाष्ठा को प्राप्त हुई अवस्था के 'स्थायी' को यदि 'रस' कहें तो भरत ने 'स्थायी भाव' की तीव्रता, तीव्रतरता के अनुसार 'हास्यरस' के 'स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम्' (ना शा. ६।६१)। अर्थात् 'स्मितं हसितं, विहसितं' आदि जो छः प्रकार कहे हैं, उनकी उपपत्ति कैसे हो सकेगी ? दूसरी बात यह भी है कि -कालगति से 'स्थायी भाव' का परिपोष ही होता रहे, यह कोई नियम नहीं है, उसका ह्रास भी हो सकता है। जैसे—'शोक' स्थायी भाव, अपने उत्पत्ति काल में जितना तीव्र होता है, उतनी तीव्रता कालान्तर में उसकी नहीं रह पाती। यही स्थिति 'विस्मय, क्रोध' आदि 'स्थायी भावों' में भी दृष्टिगोचर होती है। ऐसी परिस्थिति में 'स्थायीभाव' को रस कहने का कभी प्रसंग ही नहीं आवेगा। इस प्रकार लोल्लट के प्रथम मन्तव्य पर शंकुक ने आक्षेप किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोल्लट के द्वितीय मन्तव्य पर शंकुक ने जो आक्षेप किया है उसका निष्कर्ष यह है कि प्रथम मन्तव्य (परिपुष्ट 'स्थायी' ही 'रस' है) के खण्डन से ही 'असलीराम' में ही मुख्यतया 'रस' रहता है। अर्थात् 'असली राम' ही 'रस' का मुख्य आश्रय है—इस द्वितीय मन्तव्य का भी खण्डन हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में जहाँ पर स्थायी भाव के परिपोष होने की कोई संभावना ही नहीं है, तो उस 'अनुकर्तानट' को ही 'रस' का आश्रय मानना होगा।

लोल्लट के तृतीय मन्तव्य पर जो आक्षेप शंकुक ने किया है; उसका निष्कर्ष यह है कि अभिनय की दशा में 'असली राम' का सम्बन्ध कहीं भी न रहने से 'रस' का 'विभावादिसामग्री' के साथ 'जन्य-जनक-भाव' अथवा 'पोष्य-पोषक-भाव' सम्बन्ध का होना कभी संभव नहीं है। 'असली सीता' को देखकर 'असली राम' के मन में 'रति' की उत्पत्ति हो सकेगी, उसका परिपोष भी हो सकेगा, किन्तु 'सीता' का अभिनय करने वाली 'नकली सीता' को देखकर (राम का अभिनय करनेवाले) 'नकली राम' के मन में 'रति' की उत्पत्ति और उसका परिपोष होना कभी भी संभव नहीं है। अतः लोल्लटभट्ट के द्वारा की गयी 'रससूत्र' की व्याख्या उपेक्षणीय ही है।

रससूत्र पर भट्टलोल्लट-कृत व्याख्या में उपस्थित बाधाओं का परिहार करके आचार्य शंकुक ने रससूत्र पर एक दूसरी प्रकार से अपनी व्याख्या प्रस्तुत की है।

आचार्य शङ्कुक की व्याख्या—"तस्माद् हेतुभिः विभावाख्यै···व्यपदिष्टो रसः" (अभि भार.) के अनुसार—

रस—'अनुकरणात्मक स्थायी भाव' को ही 'रस' शब्द से कहा जाता है।

रस का आश्रय—असली (अनुकार्य) 'राम' आदि का 'अनुकरण' करने वाला (अनुकर्त्ता) 'नट' ही है। अनुकार्य (असली) 'दाशरथी राम' आदि व्यक्ति नहीं है।

स्थायी भाव का सम्बन्ध—'स्थायी भाव' का 'विभावादिसामग्री' के साथ जो सम्बन्ध है, वह 'गम्य-गमक भाव' (अनुमाप्य-अनुमापकभाव) अर्थात् 'ज्ञाप्य-ज्ञापक' भाव है। यहाँ पर 'ज्ञापक' शब्द से प्रमुखतया 'अभिनयशक्तिः' समझनी चाहिये। इस अभिनय-शक्ति के प्रभाव से ही 'नट' अपने कृत्रिम 'स्थायी' तथा अपनी कृत्रिम 'विभावादि' सामग्री की 'कृत्रिमता' की जानकारी (ज्ञान) सामाजिकों को होने नहीं देता। 'नाट्य' और 'काव्य' में 'रति' आदि 'स्थायी' तथा उसकी 'कारणभूत सामग्री' पूर्णतया 'कृत्रिम' होने से ही उनका निर्देश 'भाव, कारण, कार्य' आदि लौकिक नामों (संज्ञाओं) से न करके 'रस, विभाव अनुभाव' आदि नामों से किया जाता है। 'रससूत्र' में भरत के द्वारा 'स्थायी' का उल्लेख न करने का कारण, आचार्य शंकुक ने यह बताया है कि 'नट' में रहने वाला 'स्थायी' भी अनुकरण-रूप ही है, इसीलिए भरत ने उसका उल्लेख 'रससूत्र' में नहीं किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सामाजिकों को रसास्वाद—सामाजिक प्रेक्षकवर्ग, उक्त सामग्री के आधार पर नटगत 'स्थायी' का अनुमान करके अपनी वासना (इच्छा) के बलपर उसकी 'चर्वणा' करते हैं, यानी मन के द्वारा आस्वाद लेते हैं।

कृत्रिम साधन से साध्य की वास्तविक उपलब्धि—कृत्रिम 'गमक' (अनुमापक या ज्ञापक) से यथार्थ 'अनुमति' और उसके बलपर यथार्थ 'आस्वाद' की उपलब्धि का होना कैसे संभव होगा ? इसके समाधान में आचार्य शंकुक ने कहा कि 'चित्रतुरगन्याय' से अथवा 'संवादिभ्रम' की पद्धति से संभव हो सकता है।

घोड़े का चित्र देखकर जैसे घोड़े का ज्ञान होता है, वैसे ही कृत्रिम विभावादि-सामग्री से भी 'स्थायी भाव' का अनुमान करने में कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिये। इस पर यह कह सकते हैं कि घोड़े का चित्रदेखकर घोड़े का ज्ञान होने पर भी, उसपर बैठा नहीं जा सकता, उसी तरह 'कृत्रिम' विभावादिसामग्री से ज्ञात हुए 'स्थायी' भाव का 'आस्वाद' सामाजिक को कैसे हो सकेगा ? किन्तु इस आशंका का समाधान 'संवादिभ्रम' से दिया जा सकता है। जैसे किसी दूर प्रदेश में एक 'मणि' (रत्न) पड़ा है, और उसकी 'प्रभा' दूर तक फैली हुई है। आने-जानेवाले लोगों को वह प्रिय दिखाई दे रही है, किन्तु 'रत्न' दिखाई नहीं पड़ रहा है। उस 'प्रभा' को ही 'मणि' (रत्न) समझकर उसे पाने की इच्छा से चलता जाता है और अन्ततः उस मणि(रत्न) की प्राप्ति उसे हो जाती है। अभिप्राय यह है कि कभी-कभी 'भ्रमात्मक ज्ञान' भी 'फलपर्यंनसायी' हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञान को 'संवादिभ्रम' (फलानुकूलभ्रम) कहते हैं। इसके विपरीत 'विसंवादिभ्रम' (फलप्रतिकूलभ्रम) होता है। दूरतक फैले हुए 'दीप-प्रकाश' को ही 'रत्न' समझकर उसे पाने की इच्छा से कितनी ही दूर तक क्यों न चला जाय, तो भी 'मणि' (रत्न) की प्राप्ति नहीं होती है। इसी बात को नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती (अ. ६. पृ. २७५) में कहा गया है—

"मणि-प्रदीप प्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाऽविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियाम्प्रति ॥"

एवञ्च कृत्रिम विभावादिकों से होने वाले 'स्थायी' का ज्ञान 'मिथ्याज्ञान है। यह स्वीकारने पर भी 'स्थायी' का 'आस्वाद' किया जा सकता है। वस्तुतः 'स्थायी' ज्ञान तो 'सम्यगज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान' और 'सादृश्यज्ञान' इन चतुर्विध ज्ञानों के अतिरिक्त ही है और अनुभव-सिद्ध रहने से उसकी उपेक्षा भी नहीं कर सकते, यह आचार्य शंकुक का कहना है, जिसे अभिनवभारती में बताया गया है—

प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि ॥
विरुद्धबुद्धिसंभेदादविवेचितसप्लवः ।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥

(अभि. भार. पृ० २७५ अ० ६ ।)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उस पर भट्टतौत ने कहा कि आपके कथनानुसार 'स्थायी' का ज्ञान हो सकने पर भी, उसकी प्रक्रिया जो आपने बताई है, वह सर्वमान्य नहीं है। 'स्थायी' के अनुकरण को 'रस' समझने की बात जो आप कह रहे हैं, वह 'प्रेक्षक' की दृष्टि से अथवा 'नट' की दृष्टि से ? सामाजिक (प्रेक्षक) की दृष्टि से यदि आप कह रहें हों तो वह असंगत है, क्योंकि प्रेक्षक-समाज ने भगवान् 'राम' का चित्तवृत्तिरूप 'स्थायी' को कब देखा है ? यदि देखा होता तो यह कहना संगत होता है कि 'नट' भगवान् राम के 'स्थायी' का अनुकरण कर रहा है। अनुकरण की प्रतीति तभी हो सकती है, जब 'मुख्य' और 'अमुख्य' दोनों का 'ज्ञान' रहे, अन्यथा अनुकरण की प्रतीति नहीं हो सकेगी। इसके अतिरिक्त 'स्थायीभाव' तो चित्तवृत्तिरूप है। 'चित्तवृत्ति' का प्रत्यक्ष किसी को भी इन्द्रिय से नहीं हुआ करता, तब उसको 'अनुकरण' का इन्द्रिय से प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा ? इन्द्रियों से तो हावभाव-रोमांच-कटाक्ष इत्यादि बाह्य पदार्थों का ही ज्ञान हुआ करता है। 'उसी को' स्थायी का अनुकरण करना कोई नहीं कहता।

इसी अभिप्राय को अभिनवभारती में इस प्रकार बताया है—"किञ्चित् हि प्रमाणेन उपलब्धं तत् अनुकरणम्, इति शक्यते वक्तुम्। यथा…न च रामगतां रतिम् उपलब्धपूर्विणः केचित्। एतेन दातानुकारी नटः इत्यपि निरस्तः प्रवादः।" (अभि. भार. पृष्ठ २७६ अ० ६।) इस पर आचार्य शंकुक यदि यह कहें कि बाह्यपदार्थ के अनुकरण को तो हम भी 'स्थायी' का अनुकरण नहीं कहते, हमारे कथन का अभिप्राय यह है कि 'कारण, कार्य और सहकारि-कारण' के आधार पर लोक-व्यवहार में नटगत अनुमीयमान जो 'रति' है, वही 'रति' (स्थायीभाव) का अनुकरण है, यानी 'रस' है।

इस पर भट्ट तौत का कहना है कि तुम्हारे उक्त मन्तव्य के अनुसार तो यही मानना होगा कि प्रेक्षक की जो 'प्रतीति' होती है, वह 'रति' की होती है, रति के अनुकरण की नहीं, क्योंकि ठीक व्यवहार में यह देखा जाता है कि कार्य-कारण सहकारिकारण के आधार पर दूसरे की चित्तवृत्ति का जो बोध होता है, वह अनुकरणात्मक नहीं होता है, यह सर्वानुभव-सिद्ध है। इस पर आचार्य शंकुक यदि यह कहें कि 'लौकिक कार्य-कारण-सहकारिकारण'—ये सब वास्तविक होते हैं। अतः उनसे वास्तविक 'रति' का अनुमान होता है, किन्तु नाट्यगत 'कार्य-कारण और सहकारीकारण' सभी कृत्रिम (अवास्तविक=सच नहीं) होते हैं, इसलिए उनसे 'रति के अनुकरण' का अनुमान होता ही है।

इस पर भट्टतौत का कहना है कि 'नाट्यगत कार्य-कारण' आदि के कृत्रिम रहने पर भी 'प्रेक्षकों' को उनकी कृत्रिमता प्रतीत नहीं हो पाती, यदि उनकी कृत्रिमता को प्रेक्षक जान लेता हो तो उसे वास्तविक या अनुकरणात्मक किसी प्रकार की भी 'रति' का बोध नहीं हो सकेगा, क्योंकि अनुमान हेतु (लिङ्ग) से साध्य (लिङ्गी)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का ज्ञान (अनुमति) हुआ करता है। हेतु (लिङ्ग) सदृश पदार्थ से साध्य (लिङ्गी) सदृश पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है। अन्यथा धूम-सदृश कुहरे से अग्निसदृश जपा-पुष्प का भी बोध (अनुमिति) हो जाता, किन्तु वैसी अनुमिति होती नहीं है।

आचार्य शकुक ने 'रस-प्रतीति' (रसज्ञान) को 'सम्यक्, मिथ्या, संशय, सादृश्य' इन चतुर्विध ज्ञानों (प्रतीतियों) से विलक्षण (भिन्न) बताया है।

किन्तु भट्टतौत का कहना है कि नाटक देखते समय मंच पर उपस्थित हुए रामवेषधारी 'नट' को देखकर 'अयं रामः'=यह राम है—यह भावना प्रेक्षकों के मन में होती है। उस समय 'नायं रामः'—यह राम नहीं है—ऐसी बाधक-भावना किसी भी प्रेक्षक के मन में उदित नहीं होती है, तब 'अयं रामः' इस भावना (प्रतीति-ज्ञान) को 'सम्यक् ज्ञान' क्यों न कहा जाय ? जिस ज्ञान के उत्तर-क्षण में बाधक ज्ञान नहीं होता, उस ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहा करते हैं। उसी तरह 'अयं रामः' इस ज्ञान को 'मिथ्या-ज्ञान' ही क्यों न कहा जाय ? इस पर शंकुक यदि कहें कि बाधक ज्ञान के रहने पर ही 'पूर्व-ज्ञान' को 'मिथ्या-ज्ञान' कहा जा सकता है। मंच पर राम वेषधारी नट को देखकर 'नायं रामः'—यह राम नहीं है—ऐसी भावना किसी भी प्रेक्षक के मन में उदित नहीं होती है, अतः इसे 'मिथ्या-ज्ञान' कैसे कह सकेंगे ?

इस पर भट्टतौत कहते हैं कुछ भी कहो तथापि वास्तविक दृष्टि से विचारने पर तो 'अयं रामः' यह मिथ्याज्ञान ही सिद्ध होगा। यह विवाद तो 'राम' को एक विशेष व्यक्ति के रूप में गृहीत करने से हो रहा है। वस्तुतः नाटक में 'रामत्व' विशेषात्मक न होकर सामान्यात्मक रहता है। यही कारण है कि एक 'नट' की जगह यदि दूसरा 'नट' आ जाय तब भी 'अयं रामः' यही प्रतीति होती है।

आचार्य शंकुक ने 'स्थायी के अनुकरण' को 'रस' कहा है। किन्तु 'नट' की दृष्टि से विचारने पर शंकुक का उक्त कथन भी उचित नहीं है। अभिनय करते समय 'नट' यह नहीं समझता है कि 'मैं रामका या उसकी चित्तवृत्ति का अनुकरण कर रहा हूँ' 'अनुकरण' का अर्थ है 'सदृशकरण, क्योंकि 'अनु' का अर्थ ही 'सदृश' है। इस रीति से 'अनुकरण' का अर्थ 'सदृशकरण' करने पर भी 'नट' के अभिनय को 'अनुकरण' नहीं कहा जा सकेगा। क्योंकि उसने (नट ने) 'असली राम' के क्रियाकलाप को कभी भी देखा नहीं है, और देखना संभव भी नहीं है। यदि 'अनुकरण' का अर्थ 'पश्चात्करण' करें, क्योंकि 'अनु' का अर्थ, पश्चात् भी होता है। तब तो लौकिक व्यवहार को भी 'अनुकरण' शब्द से कहना होगा, यानी 'रस' कहना होगा।

इन सब दोषों के निरसनार्थ 'अनुकरण' शब्द के दोनों (सदृशकरण और पश्चात्-करण) अर्थों को छोड़कर 'अनुकरण' का अर्थ, यह करेंगे कि 'उत्तमप्रकृति-वाले पुरुष का अनुकरण' यानी उसकी चित्तवृत्ति (स्थायी) का अनुकरण (सदृश-करण) ही 'रस' है, ऐसा कहने पर कोई दोष नहीं होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार शंकुक के कहने पर भट्टतोत ने पूछा कि 'नट' किस तरह 'अनुकरण' करता है ? जैसे 'नट' यदि शोक का अनुकरण करता है, तो क्या वह 'शोक' करता है अथवा 'अश्रुपात' करता है ? उसके द्वारा तो शोक किया जाना सम्भव ही नहीं है, क्यों कि उसे 'शोक' का अनुभव ही नहीं है और शोक होने का कोई प्रसंग भी नहीं है। वह 'अश्रुपात' अवश्य करता है किन्तु 'अश्रुपात' का अर्थ 'शोक' नहीं है। तब 'अश्रुपात' से 'शोक' रूप 'स्थायी' का 'अनुकरण' कैसे हो पायेगा ? इतना कह सकते हैं कि उत्तम प्रकृतिवाले पुरुष के शोक रूप स्थायी के जो 'अनुभव' (कार्य) हैं, उनका 'अनुकरण' 'नट' करता है। फिर भी प्रश्न उपस्थित होता है कि जिसका अनुकरण किया जा रहा है, वह उत्तम प्रकृति पुरुष 'कौन' है। उत्तर में यदि कह दें कि 'कोई भी' है तो वह उत्तर ठीक नहीं होगा, क्योंकि किसी प्रकार की विशिष्टता के बिना अनुकरण का विषय होने वाला 'उत्तम प्रकृति पुरुष' 'अनुकर्ता नट' के चित्त में प्रविष्ट नहीं हो सकता। यदि यह कहें कि 'जो कोई ऐसा रोता हो वह', तो ऐसे पुरुषों के अन्तर्गत तो 'नट' भी उपलब्ध हो सकेगा, तब 'अनुकरण' कहाँ और किसका होगा ?

उपर्युक्त भट्टतोत के अभिप्राय को अभिनवभारती में "न चापि नटस्य इत्थं प्रतिपत्तिः—'रामं तच्चित्तवृत्तिं वा अनुकरोमि" इति। सदृशकरणं हि तावत् अनुकरणं अनुपलब्धप्रकृतिना न शक्यं कर्तुम्। अथ पश्चात्करणं, तत् लोकेऽपि अनुकरणात्मकता प्रसक्ता। ··· ··· ··· ··· ··· इति गलितः अनुकार्यानुकर्तृभावः ॥"

—(अभि० भार० पृ० २७७ अ० ६)

'चित्रतुरगन्याय' का जो दृष्टान्त दिया है, वह दार्ष्टान्तिक से मेल नहीं खाता है। चित्र का घोड़ा, वास्तविक घोड़े का अनुकरण रूप है, वह अनुकरणरूपता उसकी आकृति की समानता के कारण है, किन्तु विभावादि पदार्थ-कभी भी किसी भी प्रकार से वास्तविक स्थायी-जैसे किसी अन्य स्थायी को पैदा नहीं करते। जैसे दीपक 'घट' को प्रकाशित कर देता है, उसे पैदा नहीं करता; उसी तरह विभावादि पदार्थ, 'स्थायी' को 'प्रकाशित' कर देते हैं, उसका 'निर्माण' नहीं करते। किन्तु विविध रंग, उस तरह घोड़े को 'प्रकाशित' नहीं करते, अपितु उसका 'निर्माण' कर देते हैं। यानी घोड़े की आकृति-जैसी दूसरी 'आकृति' का ही 'निर्माण' करते हैं।

आचार्य शंकुक की व्याख्या का अभिनवगुप्तपाद के द्वारा समीक्षण—

आचार्य शंकुक के अनुकरणवाद का प्रतिवाद श्रीमदभिनवगुप्तपाद ने भी किया है। उनका कहना है कि वस्तुतः प्रेक्षक के मन में यह भावना कभी उत्पन्न नहीं होती है कि 'यह नट, किसी का अनुकरण कर रहा है'। अन्यथा उन्हें शुद्ध आस्वाद नहीं मिल सकेगा। यदि कोई किसी को किसी का अनुकरण करते हुए देखता है, तो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वह उस पर हँसने लगता है। अभिप्राय यह है कि प्रेक्षकों को हँसाने में 'अनुकरण' 'कारण' हुआ करता है। अतएव भरत ने कहा कि "परचेष्टानुकरणात् हासः समुपजायते" (भर० ना० शा० ७।१०)। यही कारण है कि अनुकार्यव्यक्ति में श्रद्धा, पूज्य भाव रखने वाले लोग, अनुकार्य की चेष्टाओं का अनुकरण करते देख क्रुद्ध हो जाते हैं। एवं च अनुकरण, 'क्रोध' का 'कारण' होता है। एक बार देव-दैत्यों की सभा के समक्ष भरतमुनि ने एक नाटक का प्रयोग प्रदर्शित किया था। जिसमें देवताओं के द्वारा दैत्यों पर विजय प्राप्त करने का 'अभिनय' किया गया था, उसे देखकर दैत्यवर्ग अपने मन में सोचने लगा कि भरत ने नाटक के बहाने हम दैत्यों का 'उपहास' किया है, यह भावना पैदा होते ही समस्त दैत्य 'क्रोध' से भड़क उठे, ऐसा 'नाट्यशास्त्र' में 'प्रथमाध्याय' में बताया गया है। यदि यह कहा जाय कि किसी 'विशिष्ट महान्' व्यक्ति के चरित्र का अनुकरण भले ही न किया जाय, किन्तु 'सामान्य व्यक्तियों' के अनुकरण करने में कोई हानि नहीं है।

इस पर अभिनवगुप्तपाद का उत्तर यह है कि विशिष्ट महान् व्यक्तियों के 'नियताकार' चरित्र का अनुकरण उनके जैसी मनोभूमिका और वास्तविक परिस्थिति के अभाव में हो पाना शक्य नहीं है, तथा सामान्य (अनियताकार) बातों का अनुकरण करना तो संभव ही नहीं है। यदि 'अनुकर्ता नट' की भी वैसी ही 'मनोभूमिका' और वास्तविक परिस्थिति का होना कहें तो उसके प्रदर्शन को 'अनुकरण' (अभिनय) कैसे कहा जायगा ? क्योंकि यथार्थ (वास्तविक) 'चित्तवृत्ति' को 'अनुकरण' शब्द से नहीं कहा करते। इसलिए 'नाट्य' को अनुकरणात्मक नहीं कह सकते। अभिनवभारती में कहा भी है—"तदिदम् अनुकीर्तनम् अनुव्यवसायविशेषो वा नाट्यापरपर्यायः न अनुकारः, इति भ्रमितव्यम्..........तेन अनुव्यवसायविशेषविषयीकार्यं नाट्यम्"। (अभि० भार० पृ० ३७, अ० १)

निष्कर्ष यह है कि 'नाट्य' को हम 'अनुव्यवसाय' का (सामाजिकों के आस्वाद का) 'विषय' कह सकते हैं। वह तो केवल 'ज्ञानाकार' है कि 'आरोपात्मक' है, कि 'सामान्यस्वरूप' है या उतने ही समय के लिए उत्पन्न हुई 'आभासात्मक' कोई वस्तु है, या 'और कुछ' है, इसके सम्बन्ध में हम अभी कुछ कहना नहीं चाहते। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने अनुकरणवादियों का खण्डन किया है, तथापि इतना तो उन्होंने कह दिया है कि लोक में किये जाने वाले व्यवहार की जैसी यथार्थता हुआ करती है, उसके ठीक विपरीत, अयथार्थता नाट्य में रहती है। इस दृष्टि से 'नाट्य' को अनुकरण कहा जा सकता है। वस्तुतः 'नाट्य' को अनुकरण' से 'भिन्न' ही मानना चाहिये। यदि कोई अभ्यस्त शब्द का अनायास प्रयोग करता रहता हो तो हमारा उससे कोई विवाद नहीं है। इसी बात को अभिनवभारती में कहा है—".........यः अनु-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यवसायः जन्यते........रसनास्वादनचमत्कारचर्वणनिर्वेशभोगाद्यपरपर्यायः, तत्र यद् अवभासते वस्तु, तद् नाट्यम्।............स्थिते वस्तुतः भेदे शब्दप्रवृत्तेः अविवादास्पदत्वात्" । (अभि० भार० पृ० ३८ अ० १)

तृतीय व्याख्याता भट्टनायक के अनुसार 'रस' को प्रतीति का विषय नहीं कह सकते—

यद्यपि कालक्रम की दृष्टि से आचार्य शंकुक के पश्चात् व्यञ्जनावादी आनन्दवर्धन के मत की (रसोपपत्तिकी) चर्चा करनी चाहिये थी, किन्तु उनका मत सिद्धान्त की कोटि में निर्धारित करने के निमित्त अभिनवगुप्त ने और तदनुरोधेन मम्मटभट्ट ने आनन्दवर्धन के पूर्व भट्टनायक के मत पर विचार किया है।

भट्टनायक का कहना है कि भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवाद तथा आनन्दवर्धन के व्यञ्जनावाद के आधार पर 'रसप्रतीति' की उपपत्ति नहीं लग सकती। अन्य लौकिक पदार्थों की तरह वह (रस) प्रतीति का विषय ही नहीं बन सकता। क्योंकि सोचना होगा कि वह 'प्रतीयमान रस' उन्हें 'स्वगत' होकर (स्वयं सामाजिकों में रहता हुआ) प्रतीत होता है? या 'परगत' होकर (असली राम आदि में रहता हुआ) प्रतीत होता है? यदि स्वगत होकर प्रतीत होता है कहें, तो उसका अभिप्राय यह होगा कि 'सामाजिक में रस की उपपत्ति' होती है। यानी 'भट्टलोल्लट' के उत्पत्तिवाद को ही तुमने मान लिया। तब 'करुणरस' की प्रतीति से 'सामाजिक में दुःखोत्पत्ति' का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु सामाजिक को वैसा 'दुःखी' होता किसी ने देखा नहीं है। 'राम' के साथ 'जानकी' का वियोग होने से सामाजिक को दुःख क्यों होगा। क्योंकि सामाजिक में रहने वाले 'स्थायीभाव' का 'विभाव' वह 'जानकी' नहीं है। सामाजिक का जानकी से क्या सम्बन्ध है? यदि यह कहें कि नाटक देखते समय सामाजिक अपनी 'कान्ता' के 'विरह' से 'दुःखी' होता हो, यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि नाटक देखते समय उसे अपनी स्त्री की 'सुखद स्मृति' होती रहती है। यदि यह कहें कि सुखद स्मृति के हो जाने से स्त्री-विरह की 'भावना' जाग उठती है, और उससे वह दुःखी होता है, किन्तु यह कल्पना करना अनुभव के विरुद्ध है। दूसरी बात यह है कि आज के युग में तो नाटक देखते समय प्रायः बगल में ही स्त्री के रहने से उसके वियोग और तज्जनित दुःख होने का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर भी सामाजिक जो दुःखी हो जाता है, वह 'साधारणीकरण' की भावना से हो जाता है। यानी नाट्यगत 'राम-सीतादि' व्यक्तियों से तथा उनकी 'भावनाओं' से अपनी भावनाओं के 'तादात्म्य' (अभिन्नता) की कल्पना वह कर लेता है। ऐसा यदि कहें तो वह भी संभव नहीं है, क्योंकि राम-सीता आदि 'दिव्य व्यक्तियों' (देवताओं) के साथ साधारणीकरण की भावना करना कैसे संभव हो सकता है? 'हनुमान् जी' से हम अपना 'साधारणीकरण' करने लगें तो अपने शरीर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में 'समुद्रोल्लंघन' करने का सामर्थ्य विद्यमान है, यह कल्पना भी उसे (सामाजिक को) करनी होगी। एवं च सामाजिकों को 'स्वगत रूप में रस की प्रतीति' करने के विकल्प का 'निरसन' हो जाता है।

अब 'रस की प्रतीति, परगत' (रामादिगत) के रूप में सामाजिकों को होती है, कहें तो, वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'रस-विशिष्ट' राम की प्रतीति जो सामाजिकों को होती है, वह क्या 'स्मृति' से, या 'शब्द' (आगमादिग्रन्थों) से, या 'अनुमान' से होती है ? यह सोचना होगा। सामाजिकों को परगतरूप में रस की प्रतीति का होना स्मृति के द्वारा संभव नहीं है, क्योंकि पहिले 'अनुभूत' किये पदार्थ की 'स्मृति' हुआ करती है। सामाजिकों को कभी भी रामदर्शन का अनुभव, पहिले नहीं हुआ है। अतः 'स्मृति' से रस-विशिष्ट राम का ज्ञान (प्रतीति) हो नहीं सकता। यदि यह कहें कि शब्द (आगम्) प्रमाण, अनुमान प्रमाण के आधार पर रस-विशिष्ट राम का ज्ञान होता है, तो 'परगत' रहने से 'रस का प्रत्यक्ष नहीं', तथापि उसे प्रतीति का विषय मान लें, तो नाटक देखते समय स्वयं प्रत्यक्ष अनुभूयमान होती हुई-सी रस-प्रतीति, लोगों को क्यों होती है ? 'रस' को 'नटगत' मानने पर भी यही समस्या उपस्थित होती है। दूसरी बात यह है कि परगतरूप से रसप्रतीति को मानने पर सामाजिकों को शुद्धरसास्वादन तो हो ही नहीं सकता, अपितु उससे 'लज्जा, स्वयं की इच्छा', आदि अनेक 'स्वगत भावनाओं' की ही प्रतीति होने लगेगी। जैसे किसी एकान्त स्थान में स्त्री-पुरुष को एकत्रित पाकर सभ्य पुरुष लज्जित हो जाता है, उसी तरह नाटक देखते समय भी उसे 'लज्जा' का अनुभव होगा। 'उत्पत्तिवाद' और अभिव्यक्तिवाद में भी यही दोष पैदा होते हैं। उत्पत्तिवाद में अर्थात् रस को 'सामाजिकगत' मानने पर 'करुणरस' के नाटक में सामाजिक को 'दुःखानुभव' होगा, जिस कारण वह पुनः करुणरस के नाटक को देखना नहीं चाहेगा। परन्तु वस्तुस्थिति इसके नितान्त विपरीत है। करुणरस के नाटक को देखते समय अश्रुपात करते हुए भी उसे वह चाव से देखता रहता है, इतना ही नहीं, पुनः पुनः उसी नाटक को देखना भी चाहता है। अतः 'उत्पत्तिवाद' का सिद्धान्त उचित नहीं है। अब यदि 'अभिव्यक्तिवाद' पर सोचते हैं, तो उसे भी निर्दोष नहीं कहा जा सकता। अभिव्यक्तिवाद के सिद्धान्तानुसार यह मानना होगा कि सामाजिकों के मन में रस की स्थिति 'वीज' के रूप में रहती ही है, वहीं (वीजरूप में स्थित रहने वाला रस), नाट्य-दर्शन से 'अभिव्यक्ति' (प्रतीति) के योग्य हो जाता है। यह मान लेने पर भी रस की सुख-दुःख-पर्यवसायिता की दृष्टि से किसी विशिष्ट नाटक को ही देखना सामाजिक अधिक चाहेगा, अन्यान्य नाटकों की ओर उसका आकर्षण नहीं होगा या कम होगा। किन्तु यह बात भी अनुभव के विरुद्ध है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रस के सम्बन्ध में भट्टनायक के अपने विचार—

भट्टनायक ने अन्यव्याख्याकारों के द्वारा किये गये रस-विवेचन में उपस्थित होने वाले दोषों को प्रदर्शित कर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका कहना यह है कि रसास्वाद की उपलब्धि, दो व्यापारों से होती है। उन दो व्यापारों में से एक व्यापार तो (१) भावकत्वव्यापार (भावना) है और दूसरा व्यापार है (२) भोजकत्वव्यापार (भोग) है। इनमें से पहिले व्यापार (भावना या भावकत्वव्यापार) का स्वरूप तो 'साधारणीकरण' है। 'साधारणीकरण' का अर्थ, यह है कि 'काव्य या नाट्य के जो विभाव, अनुभाव आदि हैं, उन पर एक विशेष स्वरूप का कवच (ये विभाव-अनुभाव आदि 'राम' के हैं, इस प्रकार के विशेषस्वरूप का कवच) चढ़ा रहता है, उस कवच को दूर कर उनको सर्वसाधारण (सामान्य) रूप का बना देना'। अर्थात् पुरुषमात्र के या स्त्रीमात्र के ये विभाव-अनुभाव आदि होते हैं—ऐसा समझना ही 'साधारणीकरण' है। गाढ मोहान्धकार के निवारण के समान यह साधारणीकरण करने का कार्य है, इसके किये बिना 'रसास्वादन' हो ही नहीं सकता। यह साधारणीकरण करने का कार्य, श्रव्यकाव्य में गुण, अलंकार और दोषाभाव के द्वारा तथा दृश्यकाव्य (नाट्य) में चार प्रकार (आंगिक, वाचिक, सात्विक और आहार्य) अभिनय के द्वारा कियां जाता है। विभावादिकों का 'साधारणीकरण' करने से 'रस' भी 'भावित' (साधारणीकृत) हो जाता है। तब सामाजिक वर्ग उस भावित हुए 'रस' का 'भोग' (आस्वाद), 'भोजकत्व व्यापार' से लेता है। यह 'भोजकत्वव्यापार' आस्वाद लेने में हेतुभूत एक 'मानसिक-व्यापार' है। इस व्यापार का स्वरूप 'द्रुति' 'विस्तार' और 'विकास' है, क्योंकि इस व्यापार में 'सत्वगुण', अपनी उत्कर्षावस्था में रहता है और रजस् तमस् गुण, अभिभूत हुए रहते हैं। इस कारण तीन गुणों के तीन कार्यों (द्रुति, विस्तार और विकास) का इस 'भोजकत्व' (भोग) व्यापार में अनुभव होता है। तथापि 'सत्त्वगुण' का उत्कर्ष रहने से यह व्यापार, 'प्रकाशमय' और 'आनन्दमय' जो चैतन्य है, उसमें स्थिर हो जाता है। तब ऐसा लगता है कि यह 'भोग', मानों 'ब्रह्मास्वाद' का दूसरा सहोदर भ्राता ही है। इसी बात को अभिनव भारती में इस प्रकार बताया है—"तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसंकटतानिवारणकारिणा ······· परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते।" (अभि० भार० पृ० २७८-७९)

'शृंगार, करुण, शान्त'—इन रसों का अनुभव करते समय क्रमशः वृद्धिगत होने वाली 'चित्तदशा' को 'द्रुति' कहते हैं। उसी तरह 'वीर, बीभत्स, रौद्र'—इन रसों का अनुभव करते समय क्रमशः वृद्धिगत होने वाली 'चित्तदशा' को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'विस्तार' यानी 'दीप्ति' कहते हैं। तथा तत्काल आत्मसात् करने वाली जो 'चित्त-दशा' है उसे 'विकास' (व्याप्ति) कहते हैं।

निष्कर्ष यह है कि भट्टनायक की दृष्टि के अनुसार 'नाट्य' तथा 'काव्य' में तीन व्यापार (अभिधा, भावकत्व [भावना] और भोजकत्व [भोगीकृति अथवा भोग]) रहते हैं। इन तीन व्यापारों के विषय, क्रमशः वाच्यार्थ, रस और सहृदय होते हैं। अभिधा से 'वाच्यार्थ' का बोध होता है, और भावना (भावकत्व) व्यापार से 'रसों' का 'साधारणीकरण' होता है। तथा भोग (भोगीकृति अथवा भोजकत्व) व्यापार से सहृदय लोग 'रसास्वादन' करते हैं। काव्य की असाधारण विशेषता, द्वितीय और तृतीय व्यापार में ही निहित है। उक्त भावना व्यापार के साहचर्य से काव्य की 'अभिधा' भी, शास्त्रीय अभिधा से कुछ विलक्षण ही प्रतीत होती है। वेद-शास्त्रों में 'शब्दतत्त्व' की, और इतिहास-पुराणादि आख्यानों में 'अर्थतत्त्व' की प्रधानता रहती है। ये दोनों 'तत्त्व' शुद्ध 'अभिधा' के कक्ष में आते हैं, किन्तु काव्य में इन दोनों तत्त्वों का स्थान 'गौण' (अप्रधान) है, और 'भावना तथा भोगीकृति' इन दोनों व्यापारों का स्थान 'प्रधान' होता है। काव्य का मुख्य प्रयोजन 'भोग' ही है, उसके समक्ष तत्त्वबोध 'गौण' है। इसी को लोचनकार श्री आनन्दवर्धन ने अपनी लोचनव्याख्या में बताया है—

"किन्तु अन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य, त्र्यंशताप्रसादात्। ... ... व्युत्पत्तिर्नाम अप्रधानमेवेति ॥ —(लोचन)

तथा—"शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग् विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः।
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत् ॥"

(हृदयदर्पण)

भट्टनायक के विचारों का परीक्षण—

भट्टनायक ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है कि 'रसः न प्रतीयते' यानी 'रस' कोई प्रतीति रूप नहीं है, अपितु वह 'भोग' है। उस पर अभिनवगुप्त ने कहा कि "प्रतीत्या दिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोगः, इति न विद्मः।" ऐसा कोई भी 'भोग' सम्पूर्ण विश्व में उपलब्ध नहीं है, जो 'प्रतीति' के अन्तर्गत न आता हो। सभी दृष्टि से 'भोग' भी प्रतीति का ही एक प्रकार है। 'प्रत्यक्ष, अनुमिति, शाब्द' आदि अन्यान्य जो प्रतीतिप्रकार हैं, उनसे उसको पृथक् कहने पर भी वह 'प्रतीति' से पृथक् कैसे कहलायेगा? अतः प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि प्रतीतियाँ भिन्न-भिन्न उपायों से होती हैं, इसलिए वे एक-दूसरे से भिन्न कही जाती हैं, तथापि अन्ततः वे सभी 'प्रतीति' की ही कक्षा में गिनी-मानी जाती हैं, वैसे ही यह 'चर्वणा' यानी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'आस्वाद' रूप जो 'भोग' है, वह भी उपायभेद के कारण 'प्रत्यक्ष, अनुमिति' आदि प्रतीति-प्रकारों से भिन्न रहने पर भी अन्ततः वह 'प्रतीति' की कक्षा में तो कहा ही जायगा। अन्यथा 'रस' को 'प्रतीति' का विषय न मानने पर (रस की प्रतीति नहीं होती है, ऐसा कहने पर) उसे पिशाच के समान अव्यवहार्य कहना होगा, यानी पिशाच की प्रतीति न होने के कारण वह 'फलानी जगह है'—ऐसा निश्चित रूप से नहीं कह सकते, वैसे ही 'रस' के सम्बन्ध में भी नहीं कहा जा सकेगा। इसलिए कहना होगा कि 'भोग' (रस) भी एक प्रकार की 'प्रतीति' ही है। 'रस प्रतीत होता है'—यह सुनकर 'प्रतीति' के पूर्व 'रस' का अस्तित्व रहता है, यानी रस का अस्तित्व प्रतीति-निरपेक्ष रहता है, ऐसा समझना उचित न होगा, क्योंकि उसका (रस का) अस्तित्व, प्रतीतिकाल में ही रहता है। एवं च एक विशिष्ट प्रकार की प्रतीति ही 'रस' है। यह प्रतीति, 'लौकिक' (व्यावहारिक) प्रत्यक्षादि प्रतीतियों से भिन्न है, क्योंकि इस प्रतीति को कराने वाली जो विभावादि सामग्री (उपाय) है, वह 'अलौकिक' है, यानी 'लौकिक' कार्य, कारणादि सामग्री से भिन्न है। नाट्य में यह प्रतीति, लौकिक अनुमिति, प्रतीति से यद्यपि भिन्न है, तथापि आरम्भ में अनुमान का ही साहाय्य लेकर चलती है। यह प्रतीति, श्रव्य काव्य में लौकिक शब्द-प्रतीति से भिन्न है। तथापि आरम्भ में उसी का साहाय्य लेकर चला करती है। इसी बात को लोचनकार अपनी लोचन-व्याख्या में इस प्रकार बताते हैं—"अप्रतीतं हि पिशाचवत् अव्यवहार्यं स्यात्, किन्तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेन अविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था, प्रतिभानकृता, योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिः, उपायवैलक्षण्यात् अन्यैव, तद्वत् इयमपि प्रतीतिः चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु······ ··············तां च प्रमुखे उपायतया अपेक्षमाणा।" (लोचन)। अतः भट्टनायक ने 'रसः न प्रतीयते' जो कहा है, वह नितान्त अनुचित है। 'रसः न प्रतीयते' कहकर उसने 'रसः न उत्पद्यते' और 'रसः न अभिव्यज्यते' भी कहा है। अब इन दो पक्षों को जैसा का तैसा मान लेने पर 'रस' को जीव में चैतन्य के समान नित्य कहना होगा अथवा शश के सींग की तरह मिथ्या कहना होगा। और कोई तीसरा मार्ग नहीं है। किन्तु उपर्युक्त दोनों निष्कर्ष भी अनुभव के विरुद्ध हैं। इसी बात को अभिनवगुप्त ने बताया है—"निष्पादनाभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे च नित्यः वा असत् वा रसः, इति न तृतीया गतिः स्यात्"। (अभि० भार० पृ० २७९)।

भट्टनायक ने 'रस-प्रतीति' पक्ष का निराकरण करते हुए कहा है कि 'राम-सीता' आदि दैवी व्यक्तियों के साथ सामाजिकों का 'साधारणीकरण' (हृदयसंवाद) होना संभव नहीं है। उस पर अभिनवगुप्त का कहना है कि भट्टनायक का उक्त कथन तो उनकी धृष्टता का परिचायक है। क्योंकि उनको यह समझना चाहिये कि प्रत्येक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनुष्य के मन में 'इस जन्म' के पूर्वानुभव के 'संस्कार' तथा 'जन्म-जन्मान्तरों' के अनुभवों से उत्पन्न हुए 'असंख्य संस्कार' निहित रहते हैं, और अनुकूल परिस्थिति के प्राप्त होते ही वे संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं। अतः 'नाट्य' की अथवा 'काव्य' की चाहे 'दैवी व्यक्तियाँ' हों अथवा 'मानवी व्यक्तियाँ' हों, उनके साथ 'सामाजिकों' का साधारणीकरण (हृदयसंवाद) होने में कोई किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती। पतञ्जलि ने भी अपने योगसूत्र (४।९–१०) में संस्कारों का अनादित्व, असंख्यत्व और अनुकूल परिस्थिति में उनका उद्‌बुद्ध होना बताया है।

काव्यगत प्राथमिक 'अभिधा-व्यापार' के सम्बन्ध में तो अभिनवगुप्त का भट्टनायक से कोई मतभेद नहीं है, किन्तु भट्टनायक के द्वारा कल्पित दो नवीन व्यापारों (भावकत्व और भोजकत्व) के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का अवश्य मतभेद है। भट्टनायक ने अपने सिद्धान्त (रसास्वाद की प्रतीति-विलक्षणता) के अनुरोध से 'भोजकत्व' (भोगीकरण) व्यापार की कल्पना की है। किन्तु अभिनवगुप्त ने तो यह सिद्ध कर दिया है कि 'रसास्वाद' भी एक प्रकार की 'प्रतीति' ही है। वह 'प्रतीति' से अतिरिक्त नहीं है। अतः 'भोगीकरण-व्यापार' और 'रसः न अभिव्यज्यते' यह सिद्धान्त, निराधार है। आपका कल्पित 'भोगीकरणव्यापार' तो हमारे सर्वमान्य 'व्यञ्जनाव्यापार' से कोई पृथक् नहीं है। वह तो 'व्यञ्जना-व्यापार' ही है। क्योंकि 'व्यञ्जना-व्यापार' का जो 'विषय' और फल है, वही तुम्हारे भोगीकरण-व्यापार का भी विषय और फल है। एवं च दोनों का विषय और फल एक ही है। भट्टनायक, 'भोगीकरणव्यापार' का जो फल बताते हैं, वह मोहपटल के दूर हो जाने पर 'प्रकाशानन्दमयचैतन्य' में पर्यवसित होनेवाला, द्रुति-विस्तर-विकासात्मक 'भोग' (आस्वाद) और उससे होनेवाली 'चमत्कृति' के अतिरिक्त और क्या है ? अर्थात् अन्य कुछ नहीं है। व्यञ्जना-व्यापार का भी फल वही है। इसी बात को आनन्दवर्धन भी कह रहे हैं—"भोगीकरणव्यापारश्च रसविषयः ध्वननात्मैव, नान्यत् किञ्चित्।...... भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्ध्यसंकटतानिवृत्तिद्वारेण आस्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तर-विकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः।" (लोचन)।

भिनवभारती में 'चमत्कृति' के स्वरूप को अच्छी तरह से बताया है, जो इस प्रकार है—'निर्विघ्न, अखण्ड प्रतीति' और उससे होनेवाली जो 'कम्प-रोमाञ्च' आदि विकृति है, उसी को 'चमत्कृति' कहते हैं। यह 'चमत्कृति' रूप निर्विघ्न प्रतीति ही साक्षात्कारात्मक 'प्रतीति' है। इसको चाहे 'मानस अध्यवसाय' (गौर्वाहीकः की तरह इच्छाबलजन्य आरोप) कहिये, चाहे संकल्प (कल्पना) कहिये, चाहे किसी शब्द से कहिये, है वह 'प्रतीति' ही। इसी प्रतीति को लक्ष्य करके ही 'चमत्कार,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्वेश, रसन, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति' इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसा कि अभिनवगुप्तपाद ने अपनी अभिनवभारती में कहा है– "सा च अविघ्ना संवित् चमत्कारः, तज्जोऽपि कम्पपुलकोल्लुकसनादिः विकारः चमत्कारः। स च साक्षात्कारस्वभावः मानसः अध्यवसायः वा, संकल्पः वा, स्मृतिः वा, तयात्वेन स्फुरन्नस्तु। यदाह—"रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्" (शाकुं-५।२), अत्र हि 'स्मरति' इति या स्मृतिः उपदर्शिता, सा न तार्किकप्रसिद्धा, पूर्वम् एतस्य अर्थस्य अननुभूतत्वात्, अपि तु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावा इयम्, इति। सर्वथा तावत् एषा अस्ति प्रतीतिः आस्वादात्मा········।" (अभि. भार. पृ. २८१)।

अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के बताये हुए 'अभिधाव्यापार' को तो मान्य किया है, किन्तु भट्टनायक के बताये हुए 'भोगीकरण-व्यापार' को स्वसम्मत 'व्यञ्जना-व्यापार' से अभिन्न (अपृथक्) बताया है, और मध्यवर्ती 'भावकत्व' (भावना) व्यापार का परीक्षण करते हुए उन्होंने (अभिनवगुप्त ने) कहा है कि इस व्यापार में मान्य, 'काव्योचित-गुणालंकारविशिष्टत्व' तो हमें भी अभीष्ट है, अतः आपने नवीन बात कौन-सी बताई है। गुणालंकारों से होने वाले 'साधारणीकरण' को मीमांसाशास्त्रीय पारिभाषिक 'भावना' की कल्पना करके भट्टनायक ने 'रसः न उत्पद्यते' कहकर किये हुए पक्ष को स्वयं ही पुनः उज्जीवित किया है। 'भावना' का अर्थ है—'उत्पत्त्यनुकूलव्यापार'। जैसे स्वर्गरूप फल को उद्देश्य करके, यानी स्वर्गरूप फल की उत्पत्ति के लिए स्वर्गेच्छु पुरुष के द्वारा किये जाने वाले 'याग' को ही 'भावना' शब्द से कहा जाता है। इसी रीति से 'रस' को उद्देश्य करके होनेवाला 'भावकत्व-व्यापार' भी रसोत्पत्ति-परक व्यापार ही सिद्ध होता है। इसे वे (भट्टनायक) अस्वीकार नहीं कर सकते ? क्योंकि वे उत्पादक-व्यापार से भिन्न 'व्यञ्जना-व्यापार' को स्वीकार नहीं कर रहे हैं। यद्यपि हम 'साधारणीकरण' को स्वीकार करते हैं, तथापि उपर्युक्त प्रसंग हम पर नहीं आता है, क्योंकि हम 'व्यञ्जनावादी' हैं।

मीमांसाशास्त्र-सम्मत 'भावना' का अवतरण काव्यशास्त्र में स्वीकार करने से भट्टनायक के पक्ष में एक अन्य प्रश्न भी उपस्थित होता है, जो इस प्रकार है— 'भावकत्वव्यापार' की स्थिति; 'शब्द' और 'अर्थ' दोनों में 'स्वतन्त्र' रूप से (अन्योन्य-निरपेक्षतया) माननी होगी, क्योंकि मीमांसाशास्त्र की 'शाब्दीभावना', उस शास्त्र की 'आर्थीभावना' से भिन्न है। किन्तु काव्य में वे शब्द और अर्थ, स्वतन्त्ररूप से अपना कार्य नहीं कर सकते। अतः काव्य में उसे (भावना को) स्वीकार करना उचित नहीं है।

व्यञ्जनावादी के मत में यह बाधा उपस्थित नहीं होती, क्योंकि काव्य में 'शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और अर्थ' दोनों में व्यञ्जनाव्यापार का समुच्चय माना गया है। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की कारिका १।१३ पर लोचनकार ने कहा है कि "भावकत्वमपि समुच्चित-गुणालंकारपरिग्रहात्मकम् अस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम् ? काव्यं च रसान् प्रति भावकम् इति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनात् उत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानाम् अर्थानाम्, शब्दान्तरेण अर्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वम् इति, अस्माभि-रेव उक्तम्—"यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः" इति।"

रससूत्र पर अभिनवगुप्तपाद की व्याख्या--

इनके मत के अनुसार 'स्थायी' और 'रस' पृथक्-पृथक् हैं—'स्थायिविलक्षण एव रसः (अभि० भारती० पृ० २८५)। सभी प्राणिमात्र के हृदय में 'स्थायीभाव' जन्मतः (स्वाभाविक) ही हुआ करते हैं और वे सदा-सर्वदा के लिए रहते हैं। अभिनवगुप्तपाद कहते हैं—"स्थायित्वञ्च एतावतामेव। जात एव हि जन्तुः इयतीभिः संविद्भिः परीतः भवति।...नहि एतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्यः प्राणी भवति।' (अभि० भारती० पृ० २८४)। उत्साहादयस्तु संपादितकर्तव्यतया प्रणीनकल्पा अपि संस्कार-शेषतां न अतिवर्तन्ते, कर्तव्यान्तरविषयस्य उत्साहादेरखण्डनात्। यथाह पतञ्जलिः—"न हि चैत्रः एकस्यां स्त्रियां रक्तः इति अन्यासु विरक्तः" इत्यादि। (अभि० भार० पृ० २८४)। किन्तु 'रस' तो सहृदयों के चित्त में उत्पन्न होता है और वह तात्का-लिक स्वरूप से रहता है। जब तक 'चर्वणा' है, तभी तक 'रस' की स्थिति रहती है। चर्वणा के समाप्त होते ही 'रस' की समाप्ति हो जाती है। श्रीमदभिनवगुप्तपाद कहते हैं—"अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः" (अभि० भार० पृ० २८०)। "तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालावम्बी, स्थायिविलक्षण एव रसः" (अभि० भार० पृ० २८५)।

यदि 'स्थायी' ही 'रस' होता तो व्यवहार में अन्यपुरुषगत 'स्थायी' की प्रतीति भी अनुमान से आस्वाद्य (आस्वाद का विषय) हुई होती, किन्तु किसी को भी ऐसी प्रतीति न हुई है और न है ही। अतः उस प्रतीति को 'स्थायी की अनुमिति' के रूप में ही मानना होगा। इसीलिए भरतमुनि ने अपने रससूत्र में 'स्थायी' का निर्देश नहीं किया। यदि करते तो 'रसस्वरूप' की प्रतीति में अनेक बाधाएं उपस्थित होतीं।

'स्थायी का 'रस' में परिणत होना' जो कहा जाता है, वह तो एक औचित्य की दृष्टि से कहा जाता है। 'स्थायी' के व्यावहारिक 'कारण-कार्यों' को ही 'रस' निष्पत्ति में 'विभाव, अनुभाव' शब्दों से कहा जाता है। इसी प्रसिद्धि की ओर ध्यान रखते हुए 'स्थायी' को यदि गौणरूप में 'रस' कहा जाय तो कह सकते हैं—('तेन स्थायिप्रतीतिः अनुमितिरूपा वाच्या, न रसः। अत एव सूत्रे स्थायिग्रहणं न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृतम्, तत् प्रत्युत शल्यभूतं स्यात्। केवलम् औचित्यात् एवमुच्यते, 'स्थायीरसभूतः' इति। औचित्यं तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानाम् अधुना चर्वणोपयोगितया विभावत्वावलम्बनात्। तदा हि लौकिकचित्तवृत्त्यनुमाने का रसता ?" (अभि० भार० पृ० २८५)।

'स्थायी' से 'रस' जैसे भिन्न है, वैसे ही 'विभाव–अनुभाव' भी 'स्थायी' के 'कार्य–कारणों' से भिन्न हैं। 'कार्य–कारणों' का 'स्थायी' के साथ 'जन्य–जनक-भाव' सम्बन्ध है, किन्तु 'अनुभाव–विभावों' का 'रस' के साथ 'व्यङ्ग्य–व्यञ्जक-भाव' सम्बन्ध है। यदि 'अनुभाव–विभाव' को 'रस' का 'जनक' कहा जाय तो 'अनुभाव–विभाव' के दृष्टि से ओझल होने पर भी 'रस' की प्रतीति हुई होती। अभिनवगुप्त कहते हैं कि—'अत एव विभावादयः न निष्पत्तिहेतवः—रसस्य तद्बोधापगमेऽपि रससंभवप्रसंगात्' (अभि० भार० पृ० २८६)। किन्तु दृष्टि से अनुभाव-विभावों के ओझल होने पर 'रस' की प्रतीति नहीं होती। जब तक अनुभाव–विभावों की उपस्थिति रहती है, तभी तक 'रस' की प्रतीति होती है। 'अनुभाव–विभाव' जब दृष्टिगत नहीं रहते, तब 'रसप्रतीति' नहीं हो पाती। यदि कोई कहे कि विभाव–अनुभाव को 'रस' का 'कारण' न कहा जाय तो 'रससूत्र' में भरत ने कार्यकारणबोधक 'निष्पत्ति' पद का प्रयोग क्यों किया ? इस पर श्रीअभिनवगुप्तपाद ने उत्तर दिया है कि 'निष्पत्ति' शब्द से 'रसविषयकचर्वणा' की उत्पत्ति कही गई है, 'रस' की नहीं। यह 'चर्वणा' (रसना) प्रतीतिरूप है, उसी की उत्पत्ति होती है। 'रस' का जीवित उस पर केवल अवलम्बित है। इसलिए गौणतया 'रस' को उत्पन्न हुआ कहना चाहें तो कह सकते हैं, अभिनवगुप्त ने कहा है—"तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम् ? नेयं रसस्य, अपि तु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिः उच्यते,'न कश्चिदत्र दोषः' (अभि० भा० पृ० २८६)। जैसे 'घट' के ज्ञान की उत्पत्ति होने से, उस ज्ञान के समय 'घट' के ज्ञान की उत्पत्ति होने से, उस ज्ञान के समय 'घट' की उत्पत्ति का होना नहीं कह सकते, वैसे ही 'चर्वणा' (रसना), प्रतीति (ज्ञान) रूप होने से उसकी (चर्वणा की) उत्पत्ति का होना तो उचित है, किन्तु चर्व्यमाण (चर्वणा का विषय) 'रस' की उत्पत्ति को बताना उचित नहीं है। क्योंकि 'घट' का अस्तित्व, 'घटज्ञान' पर निर्भर नहीं है, उसी तरह 'रस' ज्ञान (चर्वणा) पर उसका (रस का) अस्तित्व अवलम्बित नहीं है।

'चर्वणा' (रसना) को 'रस' की 'प्रतीति' (ज्ञान) कहने पर, उस प्रतीत का जो विषय 'रस' है, वह क्या है ? इसका उत्तर अभिनवगुप्तपाद देते हैं कि 'रस' यानी 'साधारणीकृत' चर्वणा (रसना) गोचर (विषय) होने वाला 'स्थायी'। "सर्वथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यः भाव एव रसः" (अभि० भार० पृ० २८१)। एवं च 'साधारणीकृतत्व' और 'रसनागोचरत्व' इन दो विशेषणों से रहित 'स्थायी' जब रहे तब उसे 'रस' नहीं कहा जाता। इसी अभिप्राय से पहले 'स्थायी विलक्षणो रसः' कहा था। अतः 'स्थायी रसः' और 'स्थायिविलक्षणो रसः' इन दोनों कथनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है। 'रस' के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय 'साधारणीकृतत्व' जो विशेषण दिया है, उसका अभिप्राय यह है कि प्रेक्षक को 'रसात्मक स्थायी' की प्रतीति जो होती है, वह किस रूप में होती है? उसे विचारना होगा। 'स्थायी' की प्रतीति 'स्व-गत, शत्रु-गत या तटस्थ-गत' रूप में नहीं होती है।

'स्थायी' यदि 'स्व-गत' रूप से प्रतीत हुआ होता तो प्रत्येक प्रेक्षक को स्वयं 'लज्जा' का अनुभव हुआ होता। क्योंकि उसके मन में यह आता कि अपने 'रति आदि भाव को अन्य प्रेक्षक देख रहे हैं', यह भाव मन में आने पर उनका (प्रेक्षकों का) लज्जित होना स्वाभाविक ही है। यदि 'स्थायी' 'शत्रुगत' रूप से प्रतीत हुआ होता तो प्रेक्षकों (सामाजिकों) के मन में 'द्वेष' उत्पन्न होता, जिससे रसास्वाद न हो पाता। यदि 'स्थायी "तटस्थ-गत' रूप से प्रतीत होता है, कहें तो उसके साथ 'स्वय' का कोई सम्बन्ध न रहने से प्रेक्षक (सामाजिक) को 'रसास्वाद' का अनुभव होना कभी शक्य न हुआ होता। किन्तु सामाजिक को तो रसास्वाद उपलब्ध होता है, यह निर्विवाद है। इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि सामाजिक को 'स्थायी' की प्रतीति, किसी नियत व्यक्ति से सम्बद्ध हुई नहीं होती है। अपितु उसकी प्रतीति 'साधारण-रूप' से होती है। इस रीति से 'स्थायी' से नियत व्यक्ति का सम्बन्ध छूट गया। उसके छूटने से नियत देश और नियत काल का सम्बन्ध भी उससे छूट जाता है। यही 'साधारणीकरण' की सामग्री है। इसी बात को अभिनवगुप्तपाद ने बताया है—"अयमत्र संक्षेपः—मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावत् नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढ-प्राक्तन-संवित्-सस्काराच्च काव्यबलाऽऽनीयमानाऽपि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एव उभयदेशकालत्यागः। रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टाः, तथापि लौकिकदेशकालाऽनियमनेन तत्र रतिं गमयन्ति, यस्यां स्वात्माऽपि तद्वासनावत्वात् अनुप्रविष्टः। अत एव न तटस्थतया रत्यवगमः। न च नियत-कारणतया, येन अर्जनाभिषङ्गादिसंभावना। न च नियतपरात्मैकगततया। येन दुःखद्वेषाद्युदयः। तेन साधारणीभूता, संतानवृत्तेः एकस्याः एव वा संविदः गोचर-भूता रतिः शृङ्गारः।"—(अभि० भा० पृ० २८७)

इस 'साधारणीकरण' का ही दूसरा नाम 'हृदयसंवाद' है। ऐसा हृदयसंवाद, जिसे होता है, उसीको 'सहृदय' शब्द से काव्यशास्त्र में संबोधित किया गया है "हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात्........" (अभि० भा० पृ० २८६)। रसस्वरूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के प्रतिपादन में 'रसगोचरता' कहकर रसविषयता को बताया है। अर्थात् 'स्थायी' की रसता स्वयं सिद्ध नहीं है। जब तक 'स्थायी' भाव रसना का विषय नहीं हो पाता, तब तक उस स्थायी भाव को 'रस' नहीं कहा जाता। रसना (चर्वणा = आस्वादन) के समय में रसना का विषय होकर जितनी देर तक स्थायीभाव रहता है, उतने ही समय के लिए वह 'रस' शब्द से कहा जाने का अधिकारी है। तदतिरिक्त समय में वह 'स्थायी' भाव ही कहलाता है। एवं च 'रस' की आयुर्मर्यादा केवल 'रसनाकाल' तक ही है।

रसचर्चा का सिंहावलोकन

'नाट्य' क्या है ? तो उत्तर होगा—'अर्थविशेष' है। यह 'अर्थविशेष' नाटक के द्वारा प्रकाशित किया जाता है, और एकाग्रचित्त से ग्रहण किया जाता है, नटों के अभिनय से प्रत्यक्षतुल्य होता है। उसके नानाविध रहने पर भी समस्त जड़ पदार्थों की सफलता संवेदना में, संवेदन की भोक्ता में, और समस्त भोक्ताओं की मुख्य भोक्ता में अन्तर्भूत होने से उपर्युक्त 'अर्थ', मुख्य भोक्ता जो नायक है, उसके स्थायीभाव के रूप में संगृहीत हो जाता है। यह स्थायीभावरूप चित्तवृत्ति, यद्यपि अपनी या दूसरे की है, इसकी पहिचान, सैंकड़ों भिन्न-भिन्न चित्तवृत्ति के स्वरूप में प्रकट होती है, तथापि लौकिक जीवन से भिन्न रहने वाले गीत-वाद्य-नृत्य-लक्षण-गुण-अंधकार आदि साधनों से वह स्व-परभाव नष्ट हो जाता है, और वह चित्तवृत्ति, साधारणरूप धारण करके अपने में सामाजिकों को अपना लेती है। अर्थात् सामाजिकों की अपने में ही स्थित वह चित्तवृत्ति है, यह संवेदना होने लगती है। किन्तु उस चित्तवृत्ति का स्वयं में और स्वयं से सम्बद्ध अनुभव न हो पाने से राग-द्वेषादि अन्य चित्तवृत्तियों का जन्म उससे नहीं हो पाता। इसलिए वह, निर्विघ्न आस्वाद का विषय होती है और उसे 'रस' नाम दिया जाता है। एवं च इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 'रस' ही नाट्य है—(भार० पृ० २६८–६९)

काव्यरस—

उपर्युक्त विवेचन दृश्य-काव्य नाट्य के 'रस' की दृष्टि से किया गया है। किन्तु काव्यगत रस के विषय में भट्टतोत का कहना है कि काव्य में भी जो रस-प्रतीति होती है, वह भी प्रायः नाट्य में रूपान्तर होने पर ही होती है। अर्थात् काव्यार्थ की संवेदना, प्रत्यक्षानुभव के तुल्य होने पर ही रसानुभव हुआ करता है। काव्यार्थ की प्रत्यक्षकल्प संवेदना, कवि की वर्णन-कुशलता और प्रौढोक्ति पर निर्भर होती है।

इसी सन्दर्भ में एक अन्य मत ऐसा भी है कि काव्य में जो रसचर्वणा होती है, वह गुणालंकारों से निर्मित्त होने वाले सौन्दर्यातिशय के कारण होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसके पश्चात् अभिनवगुप्त ने अपना स्वयं का मत दिया है कि वामन के मतानुसार 'दशरूपकात्मक नाट्य'—ही वस्तुतः काव्य है। क्योंकि उसमें यथोचित विविध भाषा, वृत्ति, स्वरविकृति, वेषभूषा इत्यादि साधनों से सरसता आती है। सरसता-सम्पादक ये सब साधन, 'सर्गबन्ध' आदि प्रकारों में नहीं हुआ करते। सहृदय लोग रसास्वाद के अनुकूल पीठिका का निर्माण उनमें करते हैं। इसलिए उनमें से उनको रस की प्रतीति होती है। रसास्वादानुकूल पीठिका का निर्माण करने में सहृदयों को काव्याभ्यास, पुण्यसम्पादन इत्यादि बातों का बल प्राप्त करना होता है। उसीसे उन्हें काव्य की विभावादिसामग्री के परिमित रहने पर भी रस के साक्षात्कार की स्फुट प्रतीति हो पाती है। अभिनवगुप्त ने इसी बात को कहा भी है—"न नाट्य एव रसः। काव्येऽपि नाट्यायमाने एव रसः। काव्यार्थविषये हि प्रत्यक्षकल्पसंवेदनोदये रसोदयेः, इति उपाध्यायाः। यदाहुः काव्यकौतुके—"प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसंभवः" इति। "वर्णनोत्कलिकाभोगप्रौढोक्त्या सम्यगर्पिताः। उद्यानकान्ताचन्द्राद्या भावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः॥" इति॥ अन्ये तु काव्येऽपि गुणालंकारसौन्दर्यातिशयकृतं रसचर्वणम् आहुः।

वयं तु ब्रूमः—काव्यं तावत् मुख्यतः दशरूपकात्मकमेव। तत्र हि उचितैः भाषा-वृत्तिकाकुनेपथ्यप्रभृतिभिः पूर्यते रसवत्ता'—(भार० २९१-९२)।

'तद्रूप(?)समर्पणया तु प्रबन्धे भाषावेषवृत्त्यौचित्यादिकल्पनात्। तदुपजीवनेन मुक्तके। तथा च सहृदयाः पूर्वापरम् उचितं परिकल्प्य "ईदृक् अत्र वक्ता अस्मिन् अवसरे" इत्यादि बहुतरं पीठबन्धरूपं विदधते। तेन ये काव्याभ्यास प्राक्तन-पुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयाः तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति।" (भार० पृ० २८८)

अभिनवगुप्त ने और भी एक जगह कहा है कि नाट्य में जिस प्रकार 'लोकधर्मी' और 'नाट्यधर्मी' इन दो उपायों से रसास्वाद का लाभ होता है, उसी प्रकार काव्य में 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति' इन द्विविध उक्तियों से अलौकिक प्रसन्न, मधुर, ओजस्वी शब्दों के द्वारा विभावादिकों की प्रतीति से रसास्वाद होता है। इसी बात को लोचनकार कह रहे हैं—'काव्येऽपि च लोक-नाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्ति-वक्रोक्ति-प्रकारद्वयेन अलौकिकप्रसन्न-मधुरौजस्वि-शब्दसमर्प्यमाण-विभावादियोगात् इयमेव रसवार्ता'। (लोचन)।

गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकार—

'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक जो द्वितीय काव्यभेद है, उसका आठ प्रकार से निरूपण पञ्चम उल्लास में किया गया है। 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' उसे कहते हैं, जिस काव्य में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'व्यङ्ग्यार्थ' गौण (अप्रधान) रूप से रहता है। व्यंग्यार्थ की गौणता (अप्रधानता) आठ प्रकार की परिस्थिति में हुआ करती है। उनमें से—

पहिली परिस्थिति—

(१) व्यङ्ग्यार्थ का अगूढ (स्पष्ट) रहना—

दूसरी परिस्थिति—

(२) 'अलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य' अथवा 'लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' के प्रति या 'वाच्यार्थ' के प्रति व्यङ्ग्यार्थ का अंगभूत रहना।

तीसरी परिस्थिति—

(३) वाच्यार्थ की सिद्धि में व्यंग्यार्थ का अंगभूत होना।

चौथी परिस्थिति—

(४) व्यंग्यार्थ का अस्फुट (क्लिष्ट) रहना।

पाँचवीं परिस्थिति—

(५) व्यंग्यार्थ की प्रधानता का सन्दिग्ध रहना।

छठवीं परिस्थिति—

(६) व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ की प्रधानता समानरूप से रहना।

सातवीं परिस्थिति—

(७) व्यंग्यार्थ का 'काकु' से प्रकट होना।

आठवीं परिस्थिति—

(८) वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की असुन्दरता का होना।

पूर्वोक्त ध्वनि-प्रकारों की दिशा से इन आठ प्रकारों के अन्यान्य उपप्रकारों की भी यथासंभव कल्पना की जा सकती है। उस दृष्टि से ध्वनि-गुणीभूतव्यंग्यों के अगणित मिश्र प्रकार हो सकते हैं। यह सूचित करते हुए—ध्वनि के प्रकारों को सप्रमाण सिद्ध करके श्रीमम्मटभट्ट ने प्रस्तुत विषय का उपसंहार किया है।

किन्तु श्रीमम्मटभट्ट ने उक्त प्रकारों की असंख्यता को देखकर उनका परिगणन जो छोड़ दिया है, उसे सुधासागरकार ने पूर्ण कर दिया है। 'गुणीभूतव्यंग्य' के कुल प्रकार ८१४५ और 'ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्यों' के संकर-संसृष्टि से उद्‌भूत हुए प्रकार ३४०६२३९०० बताये हैं।

श्रीमम्मटभट्ट ने ध्वनि (व्यंग्यार्थ) के 'वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि, रसादि-ध्वनि' से इन तीन भेदों को स्थूलतया बताया है।

गुणीभूतव्यंग्य के कतिपय उदाहरण—

(१) अगूढव्यङ्ग्य—'उन्निद्रकोकनद०'

(२) अपराङ्गव्यङ्ग्य—'अयं स रशनोत्कर्षी०'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस उदाहरण में 'शृङ्गार रस', सन्दर्भप्राप्त 'करुण रस' का अंगभूत हो गया है, इसलिए इस उदाहरणभूत काव्य को 'ध्वनि' की संज्ञा न देकर 'गुणीभूतव्यंग्य' की संज्ञा दी गई है। इस रीति से जहाँ 'रस' को अंगभूत कहा जाता हो, वहाँ 'रसवत्' संज्ञक अलंकार होता है, यह बात ध्वनिकार और उनके कतिपय उनके अनुयायियों ने मानी है। उद्भटादि आलंकारिकों ने तो यह कहा है कि चाहे अंगभूत हों, चाहे अंगीभूत हों सभी 'रसों' का समावेश 'रसवत्' अलंकार में होता है, (उद्भट ४।३)।

किन्तु ये दोनों पक्ष, श्रीमम्मटभट्ट को मान्य नहीं हैं। 'रस' यदि प्रधान हो तो उसे 'अंगी' कहा जाता है, इसलिए उस समय अलंकार नहीं कहा जाता। किन्तु 'रस' जहाँ किसी दूसरे का अंगभूत हो, तब वह अंगी का साक्षात् उपकारक माना जाता है। वहाँ वह वाच्यार्थ के द्वारा उपकारक नहीं होता है, इसलिए ऐसे स्थलों पर भी उसे 'अलंकार' नहीं कहा जाता।

'रस' की तरह 'भाव, रसाभास, भावाभास, भावशांति' को भी उद्भट आदिकों ने क्रमशः 'प्रेयस्, ऊर्जस्वि, समाहित' नाम देकर उन्हें अलंकार ही माना है (उद्भट ४।२-७)।

किन्तु श्रीमम्मटभट्ट ने कहा है कि वे जब 'प्रधान' रहें तब उनकी गणना 'ध्वनि' में की जाती है, और वे जब अंगभूत हों तब उनको 'गुणीभूतव्यंग्य' में स्थान दिया जाता है। मम्मटपूर्व किसी आलंकारिक ने 'भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता' को अलंकार की संज्ञा नहीं दी है। किन्तु श्रीमम्मटभट्ट ने 'भाव और रसाभासादि' के तुल्य उन्हें भी 'ध्वनि-गुणीभूतव्यंग्य' में ही माना है।

उपर्युक्त 'अयं स रशनोत्कर्षी' यह उदाहरण 'रसांगभूत रस' का है। तथा 'अत्युच्चाः परितः स्फुरन्तिः' यह उदाहरण 'भावांगभूत भाव' का है। इस उदाहरण में पृथ्वीविषयक 'रतिभाव', राजविषयक 'रतिभाव' का अंग है। इस उदाहरण-भूत काव्य को 'गुणीभूतव्यंग्य' की संज्ञा दी गई है, यह देखकर कोई पूछ सकता है कि यहाँ पर अङ्गीभूत राजविषयक रतिभाव को लक्ष्य कर इस उदाहरणभूत काव्य को 'ध्वनि' ही क्यों न कहा जाय? किन्तु श्रीमम्मटभट्ट ने उत्तर दिया है कि वस्तुतः देखा जाय तो प्रायः सभी व्यंग्य काव्यों में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के असंख्य प्रकारों में परस्पर सजातीय अथवा विजातीय संकर और संसृष्टि दृष्टि-गोचर होती है, तथापि जिन विशिष्ट उदाहरणों में जो प्रकार (भेद) प्रधानतया चमत्कृतिजनक होता हो, उसी को लक्ष्य करके उस उदाहरण को 'ध्वनि' अथवा 'गुणीभूतव्यंग्य' के नाम से कहा जाता है। उपर्युक्त दो उदाहरणों में 'व्यंग्यार्थ, दूसरे व्यंग्यार्थ के प्रति अंगभूत' हुआ है। तथा अग्रिम उदाहरण 'जनस्थाने भ्रान्तं' में कवि ने अनेकार्थक वर्णावलि का प्रयोग कर स्वयं का राम से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साम्य सूचित किया है। इस साम्य के आधार पर 'मया आप्तं रामत्वम्' यह विधान उत्पन्न किया है। अर्थात् यहाँ पर सूचित किया गया साम्य, प्रस्तुत विधान-रूप वाच्यार्थ के प्रति अंगभूत' हो गया है।

(३) वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य — 'गच्छाम्यच्युतं' इस उदाहरण में गोपी का आशय, ध्यान में आने पर ही उसके 'वृथावस्थान' और 'खेदायस' होने की आपत्ति जग पाती है। इसलिए प्रस्तुत उदाहरण-भूत काव्य में जो 'व्यंग्यार्थ' है, वह काव्य के वाच्यार्थ की सिद्धि में अंगभूत है।

(४ अस्फुटव्यङ्ग्य—'अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा' इस उदाहरण में जो व्यंग्यार्थ है, वह सहृदयों को भी दुर्बोध है। इसलिए इस उदाहरण-भूत काव्य को 'स्फुटव्यंग्य' कहा गया है।

(५) सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्य — 'हरस्तु किञ्चित्' इस उदाहरण में 'उमा के अधरोष्ठ का चुम्बन करने की लालसा शिव को हुई'—यह 'व्यङ्ग्यार्थ' है, और 'शिव ने उमा के ओष्ठ पर अपनी आँखें टिका दीं'—यह 'वाच्यार्थ' है। इन दोनों अर्थों में से कौन-सा अर्थ 'मुख्य' है और कौन सा 'गौण' है ? इसका निर्णय करने में किसी प्रमाण के न होने से इस उदाहरणभूत काव्य को 'सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्य' नाम दिया गया है। क्योंकि यहाँ पर दोनों ही अर्थों की रमणीयता समान प्रतीत हो रही है और शिव की उमाविषयक रति को प्रकट करने की शक्ति दोनों ही अर्थों में है।

(६) तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य—'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो' इस उदाहरण में 'वाच्यार्थ' और 'व्यंग्यार्थ' दोनों का प्राधान्य तुल्य (समान) है, क्योंकि 'वाच्यार्थरूप' 'उत्कर्ष' और 'व्यङ्ग्यार्थरूप' 'विनाश' दोनों की प्रधानता समान है।

(७) काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य—'मथ्नामि कौरवशतं'—इस उदाहरण में 'वाच्यार्थ' तो यह है कि 'मैं युद्ध में क्रोध से कौरवों का संहार नहीं करूँगा' किन्तु काव्य-गत वाक्यों को अपने स्वर को बदल कर (काकु) यदि कहा जाय तो 'मैं युद्ध में क्रोध से कौरवों का संहार किये बिना नहीं रहूँगा' यह 'व्यङ्ग्यार्थ' उस परिवर्तित आवाज से प्रकट होता है। इस प्रकार जहाँ विधिरूप व्यङ्ग्यार्थ, 'काकु' की सहायता से प्रकट होता है, वहाँ वह, 'निषेधरूप' वाच्यार्थ के साथ ही प्रकट होता है, इसलिए उसमें 'गौणता' आ जाने से इस उदाहरण-भूत काव्य को 'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य' नाम दिया गया है।

(८) असुन्दरव्यङ्ग्य—'वाणीरकुडङ्गुड्डीण' (वानीरकुञ्जोड्डीन) इस उदाहरण में 'वाच्यार्थ' की अपेक्षा, 'व्यङ्ग्यार्थ' का सौन्दर्य 'न्यून' है। इसलिए इस उदाहरण को 'असुन्दरव्यङ्ग्य' के नाम से कहा गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य के आठ प्रकारों को बताकर 'ध्वनि' की तात्त्विक चर्चा की है, जो प्रतिपाद्य विषय की उपकारक है। द्वितीय उल्लास में की गई व्यञ्जनाविषयक चर्चा की अपेक्षा इस पञ्चम उल्लास में की जाने वाली चर्चा एक अलग दृष्टिकोण से की गई है। द्वितीय उल्लास में अभिधा-लक्षणा के ज्ञान की सर्वमान्य प्रक्रिया के आधार पर व्यंजनाव्यापार की चर्चा की गई है। उस व्यञ्जना व्यापार के विषय में अनेक वादियों ने आक्षेप किये हैं, उन आक्षेपों का सप्रमाण सोपपत्तिक खण्डन इस उल्लास के उत्तरार्ध में किया गया है। इस ऊहापोह का बहुत-सा भाग ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में ध्वनि-प्रकारों के निरूपण के बाद और गुणीभूतव्यंग्य के पूर्व मूलग्रंथ में की गई मीमांसा के साथ तथा प्रथम उद्योत के 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' (ध्वन्या. १।४) इस कारिका की लोचनव्याख्या के साथ तुलना करने योग्य है।

'रस' के स्थलों में व्यञ्जना की सिद्धि—

श्रीमम्मटभट्ट ने चर्चा के आरम्भ में ही ध्वनि के मुख्य प्रकारों में से एक-एक को लेकर उसमें व्यञ्जनाव्यापार के अतिरिक्त निर्वाह नहीं हो सकता, यह बताया है। समस्त ध्वनि-प्रपञ्च के संक्षेपतः तीन प्रकार होते हैं, जो व्यंग्यार्थ के तीन प्रकारों के कारण होते हैं। कतिपय 'व्यङ्ग्यार्थ', वाच्य का रूप ग्रहण कर सकते हैं, अर्थात् यदि चाहें तो 'व्यञ्जना' का आश्रय किये बिना ही साक्षात् अभिधा के द्वारा उन्हें प्रकट किया जा सकता है। तथा कतिपय 'व्यंग्यार्थ', वाच्य का रूप ग्रहण ही नहीं कर सकते, अर्थात् सर्वदा 'व्यञ्जना' के द्वारा ही वे प्रकट होते हैं। जो 'वाच्यरूप' को ग्रहण कर सकते हैं, उनके 'अविचित्र' (चमत्काररहित) और 'विचित्र' (चमत्कृतिपूर्ण) नाम से दो विभाग (भेद) होते हैं। उनमें से 'अविचित्र व्यंग्य' यानी 'वस्तुध्वनि' और 'विचित्रव्यङ्ग्य' यानी 'अलङ्कारध्वनि' कहलाती है। अब अवशिष्ट जो 'रसादिध्वनि' है, वह कभी 'वाच्य' के रूप का ग्रहण करेगा, यह आशा स्वप्न में भी नहीं की जा सकती—'रसादिलक्षणस्तु अर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः'। क्योंकि 'रस' को यदि 'वाच्य' कहें, तो उसका वाचक शब्द 'रस' होगा? या 'शृङ्गार' आदि शब्द होंगे? इन दोनों पक्षों में से किसी भी पक्ष को स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि इन शब्दों का प्रयोग करने पर भी यदि विभावादिकों का प्रयोग न किया जाय तो 'रस-प्रतीति' नहीं हुआ करती, प्रत्युत 'रस-शृंगार' आदि शब्दों का प्रयोग न करने पर भी केवल विभावादि के प्रयोग करने मात्र से 'रसप्रतीति' हुआ करती है। इस 'अन्वय-व्यतिरेक' के बल पर यह सिद्ध हो जाता है कि केवल विभावादिकों का प्रयोग करने पर 'रस-प्रतीति' होती है। अर्थात् वह 'व्यङ्ग्य' है—यह निश्चित हो जाता है। उसी तरह यह भी स्पष्ट है कि 'रस' को 'अभिधा' का विषय नहीं कह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकते, तथा उसे 'लक्षणा' का भी विषय नहीं कह सकते, क्योंकि लक्षणा के लिए आवश्यक जो मुख्यार्थ-बाध आदि कारण-सामग्री कही गई हैं, वह रसस्थल में उपलब्ध नहीं है। निष्कर्ष यह है कि "अलक्ष्यक्रमव्यंग्य" ध्वनि में 'व्यञ्जनाव्यापार' के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार का संभव ही नहीं है।

अवशिष्ट ध्वनि भेदों में व्यञ्जना की सिद्धि—

अवशिष्ट ध्वनि-प्रकारों (ध्वनि-भेदों) में 'अविवक्षितवाच्य' और 'विवक्षितान्यपरवाच्य'—नाम के दो भेद हैं।

उनमें भी 'अविवक्षितवाच्य' के 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य' नामके दो भेद होते हैं। तथा 'विवक्षितान्यपरवाच्य' के 'शब्दशक्तिमूल' और 'अर्थशक्तिमूल' नामक दो भेद, यानी 'लक्ष्यक्रमव्यंग्य' के दो भेद होते हैं। अविवक्षितवाच्य के जो भेद बताये हैं, उनमें 'वस्तुव्यंग्य' जब तक नहीं होगा तब तक 'लक्षणा' का होना सभव ही नहीं है। उनमें रूढि का कोई सम्बन्ध न रहने से 'प्रयोजनवती' लक्षणा ही होगी। तब प्रयोजनवती लक्षणा में तो 'प्रयोजन' नित्य व्यंग्य' ही रहा करता है। इसे द्वितीय उल्लास में बता ही चुके हैं। शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में भी अनेकार्थक शब्दों का अभिधाव्यापार, सन्दर्भादि की दृष्टि से प्रकृत अर्थ तक ही नियन्त्रित रहता है, उस कारण अप्रकृत अर्थ और प्रकृत—अप्रकृत अर्थों में प्रतीयमान उपमादि अलंकारों की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार से ही होती है, यह निर्विवाद है।

अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से अर्थशक्ति-मूलक ध्वनि का परीक्षण—

'अर्थशक्तिमूलक-ध्वनि' का परीक्षण, महान् मीमांसक कुमारिलभट्ट के अभिहितान्वयवाद की दृष्टि से भी किया जा सकता है। इनके अभिहितान्वयवाद में केवल सामान्यात्मक पदार्थों का (पदार्थ-सामान्य का) ज्ञान (बोध) अभिधावृत्ति से होता है, और पदार्थसंसर्गरूप विशेषात्मक वाक्यार्थ का ज्ञान (बोध) तात्पर्यवृत्ति से होता है। क्योंकि सामान्य अर्थ में ही संकेत (शक्ति) ग्रह को मानना उचित है। विशेषात्मक अर्थ में मानना उचित नहीं है और 'अभिधा' तो केवल संकेतित अर्थ का बोध करानेवाला शब्दव्यापार है। तात्पर्य यह है कि इस अभिहितान्वयवाद में भी विशेषात्मक जो वाक्यार्थ है, उसे 'अभिधा' का विषय नहीं माना जाता, तब सोचिये कि वाक्यार्थ-प्रतीति के पश्चात् प्रकट होनेवाला व्यङ्ग्यार्थ, 'अभिधा' का विषय कैसे हो पायगा ?

अन्विताभिधानवाद की दृष्टि से अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का परीक्षण—

अन्विताभिधानवाद में भाषा की शिक्षा प्राप्त करने वाला छोटा-सा बालक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वृद्धव्यवहार को देखकर और एक-एक पद (शब्द) को सुनकर उस एक-एक पद से विशेष रूप में ही 'यानी संसर्गयुक्त पदार्थ' को समझा करता है।

जैसे— कोई वृद्ध आदमी किसी मध्यम वृद्ध (प्रौढ़ आदमी) से कहता है कि 'देवदत्त बैल लाओ'। यह सुनकर प्रौढ आदमी उसे ले आने की क्रिया करता है। उसकी उस क्रिया को देखनेवाले, भाषा से अनभिज्ञ छोटे बालक को अर्थापत्तिप्रमाण से 'प्रौढ आदमी के द्वारा बैल का लाना' इस अखण्ड वाक्यार्थ का ज्ञान हो पाता है। तदनन्तर वही वृद्ध आदमी किसी दूसरे प्रौढ आदमी से कहता है कि 'चैत्र! बैल ले आओ' इस वाक्य को सुनकर वह भी 'बैल' को ले आता है। इसके द्वारा की गई लाने की क्रिया को देखता है। उन दोनों क्रियाओं के बोधक वाक्यों में 'देवदत्त और चैत्र' शब्दों का जो 'आवाप—उद्वाप' उसने किया उससे उस बालक को 'देवदत्त और चैत्र' शब्द से बोध्य अर्थ का ज्ञान हो जाता है। तदनन्तर उसी वृद्ध ने कहा कि 'देवदत्त! बैल को वापस ले जाओ और घोड़े को ले आओ' इस वाक्य को सुनकर देवदत्त बैल को वापस ले जाता है और घोड़े को ले आता है, इस वापस ले जाने की और ले आने की क्रिया को देखने से उस बालक को 'ले जाना' और 'ले आना' तथा 'बैल' और 'घोड़ा' शब्दों का अर्थ बोध, आवाप एवं उद्वाप की प्रक्रिया से हो पाता है। इस प्रक्रिया में वाक्यरूप से अवगत होनेवाली भाषा में प्रत्येक पदार्थ, अन्य किसी पदार्थ से सम्बद्ध (अन्वित) ही प्रतीत होता है, और भाषा में उसका प्रयोग भी अन्य एक या अनेक पदार्थों के साथ हुए संयोग के कारण वाक्य के रूप में ही होता है। अर्थात् सामान्यतया सम्बद्ध रहना (अन्वित रहना), यह 'विशेष', प्रत्येक पदार्थ में स्वाभाविक होने के कारण पदार्थ बोध के अनन्तर 'वाक्यार्थबोध' नाम की कोई वस्तु अवशिष्ट नहीं रह जाती। निष्कर्ष यह है कि स्वभावतः विशिष्ट (सम्बद्ध या अन्वित) पदार्थ ही 'वाच्यार्थ' होता है, न कि सामान्य पदार्थों में बाद में होनेवाली विशिष्टता, 'वाक्यार्थ' है, "विशिष्टा एव पदार्थाः वाक्यार्थः, न तु पदार्थानां वैशिष्टचम्" कहा गया है। इस अन्विताभिधान-वाद में यद्यपि पदार्थ को 'विशेषरूप' कहा गया है, तथापि उसे सामान्यतः एव 'विशेषरूप' कहना चाहिये।

जैसे—'बैल लाओ' इस वाक्य में 'बैल' पद का अर्थ यदि 'किसी से भी सम्बद्ध' इस 'विशेष' से युक्त (अन्वित) हुआ ही ज्ञात होगा, 'ले आओ इस पद के अर्थ से सम्बद्ध'—इस विशेष से युक्त होने की प्रतीति नहीं होगी। अन्यथा 'बैल लाओ' और 'बैल ले जाओ' इन दोनों वाक्यों से कहा गया 'बैल' एक ही पदार्थ है, यह जो प्रत्यभिज्ञा होती है. वह उपपन्न नहीं हो सकेगी। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद में भी सामान्य-विशेषरूप ही पदार्थ जैसे 'बैल लाओ' इस वाक्य में 'किसी से भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्बद्ध' ऐसा 'बैल'—'अभिधा' वृत्ति से बोधित होता है, उस कारण वाक्यार्थान्तर्गत 'अतिविशेष' रूप पदार्थ--जैसे 'बैल ले आओ' इस वाक्य में 'ले आओ से सम्बद्ध' ऐसा 'बैल', और 'बैल से सम्बद्ध' 'ले आओ' यह क्रिया—संकेतित न रहने के कारण 'अभिधा' की कक्षा से बाहर ही रह जाते हैं। तब इन 'सामान्य, विशेष' और 'अति-विशेष' पदार्थों से सर्वथैव भिन्न रहने वाला 'व्यङ्ग्यार्थ'—जैसे 'निःशेषच्युतचन्दनं' इस उदाहरण में 'तदन्तिकमेव रन्तुं गतासि'—यह विधिरूप अर्थ अभिधा की कक्षा में कैसे आ सकेगा ? निष्कर्ष यह है कि अभिहितान्वयवाद में ही नहीं, अपितु अन्विताभिधानवाद में भी 'वाक्यार्थ' 'पदार्थ' से भिन्न ही सिद्ध होता है। इसी बात को श्रीमम्मटभट्ट ने बताया है—"अनन्वितः अर्थः अभिहितान्वये, पदार्थान्तरमात्रेण अन्वितस्तु अन्विताभिधानवादे, अन्वितविशेषस्तु अवाच्य एव–इति उभयनयेऽपि अपदार्थ एव वाक्यार्थः"।

अन्विताभिधानवादी का आक्षेप और उसका समाधान--

वाक्यार्थ को जो अपदार्थ बताया है, उस पर अन्विताभिधानवादी कदाचित् यह कह सकता है कि "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते"—कारण का अनुमान कार्य से होता है—इस नियम के अनुसार शब्द से प्रतीत होनेवाले सभी विशेष अर्थों का कारण, हम शब्द को ही मानेंगे, तब हमारे पक्ष में पदार्थ से वाक्यार्थ को भिन्न कैसे कहा जा सकेगा ? उसे भिन्न कहने का कोई अवसर ही नहीं है।

उस पर मम्मट उनसे पूछते हैं, आपने जो कहा कि 'सभी अर्थों का कारण, 'शब्द' है, तो उसकी कारणता, क्या 'कारक रूप में' है' या 'ज्ञापक रूप में' है ? 'शब्द' को 'अर्थ' का कारक हेतु कह नहीं सकते, क्योंकि वह 'अर्थ' को उत्पन्न नहीं करता है, वह तो अर्थ को केवल प्रकाशित करता है। तथा उसे 'अर्थ' का ज्ञापक हेतु भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'अज्ञात अर्थ' का ज्ञान, वह करा नहीं सकता। अन्यथा भाषाविशेष के अनविज्ञ को भी उस भाषा के वाक्यों से स्पष्टतया अर्थज्ञान हुआ होता। अतः उसे ज्ञात अर्थ का ही ज्ञापक कहना होगा। अर्थ का ज्ञान 'संकेतग्रह' से हुआ करता है। अर्थात् अमुक अर्थ है—इस प्रकार सम्बन्ध ग्रहण संकेत ग्रह से होता है। शब्द का संकेत तो किसी से सम्बद्ध हुए सामान्य विशेष रूप अर्थ में ही हो सकता है, अतिविशेष रूप अर्थ में नहीं। यानी अतिविशेष रूप अर्थ, का ज्ञान 'शब्द' को नहीं रहता। अर्थात् अतिविशेष रूप अर्थ, तो शब्द को ज्ञात नहीं है, वह उसे अज्ञात है। कोई भी शब्द अज्ञातरूप रहकर अर्थ को बता नहीं सकता। जब तक यह अच्छी तरह (निश्चित) न मालूम (न ज्ञात) रहे कि अमुक कार्य का अमुक ज्ञापक-कारण है, तब तक उस कारण से उस कार्य की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतीति होना संभव नहीं है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते'—कार्य से कारण का अनुमान के आधार पर पदार्थ में ही वाक्यार्थ का अन्तर्भाव करने का अन्विताभिधानवादियों ने जो विचार किया है, वह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है।

दीर्घ अभिधावाद का खण्डन--

'दीर्घ-अभिधावाद' को कुछ व्याख्याकारों ने 'भट्टलोल्लट' का बताया है, किन्तु अभिनवगुप्तपाद ने उसे 'अन्विताभिधानवादियों' का बताया है। तथाहि—"योऽपि अन्विताभिधानवादी" "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति हृदये गृहीत्वा शरवत् अभिधाव्यापारमेव दीर्घ-दीर्घम् इच्छति······। (लोचन)।" श्रीमम्मटभट्ट को भी अभिनवगुप्तपाद का मत ही उचित प्रतीत हो रहा है, क्योंकि आगे चलकर दीर्घ अभिधावाद के दोषों को बताकर उन्होंने 'इति अन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं-व्यङ्ग्यत्वम्" कहा है।

दीर्घ अभिधावाद का स्वरूप इस प्रकार है—किसी धनुर्धर के द्वारा छोड़ा गया बाण, जिस प्रकार अपने एक ही वेगाख्य व्यापार से शत्रु के कवच का भेदन और उसके मर्मस्थल का छेदन एवं प्राणहरण किया करता है, उसी प्रकार अभिधा का व्यापार भी बाण-जैसा ही अनेक लम्बे-लम्बे कार्यों को करने में समर्थ है। अर्थात् 'शब्द' की अकेली अभिधा शक्ति ही 'संकेतित अर्थ, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ' इन सभी का बोध करा देगी। तथाहि—"सोऽयम् इषोरिव दीर्घ-दीर्घतरो व्यापारः"। मीमांसक भी इसी प्रकार कहते हैं कि 'जिसमें शब्द का तात्पर्य हो वही शब्दार्थ है'। तथाहि—"यत्परः शब्दः, स शब्दार्थः" इति। मीमांसकों का उक्त कथन भी हमारे दीर्घ-अभिधावाद में ही उपोद्बलक है। अतः व्यङ्ग्यार्थबोध के लिए व्यञ्जना-व्यापार को मानने की आवश्यकता नहीं है। व्यंजना का कार्य अभिधा से ही निकल आवेगा।

परन्तु मम्मट का कहना है कि अभिधा का समर्थन करने के लिए तैयार हुए और अपने को मीमांसक समझने वाले ये कतिपय विद्वान् 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्य के वास्तविक अर्थ को समझ ही नहीं पा रहे हैं—"तेऽपि अतात्पर्यज्ञाः तात्पर्यवाचोयुक्तेः देवानाम्प्रियाः"।

"यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः"—इस मीमांसावचन का अर्थ वास्तव में इस प्रकार है—"जहाँ पर एकत्र दो पदार्थों का निर्देश हो, उनमें से एक सिद्ध (भूत) स्वरूप का यानी 'द्रव्य' पदार्थ हो, और दूसरा साध्य (भव्य) स्वरूप का यानी 'क्रिया' पदार्थ हो, तब उनमें से 'सिद्ध' पदार्थ, दूसरे 'साध्य' पदार्थ के लिए होता है, यानी उस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'सिद्ध' पदार्थ को 'साध्य' पदार्थ का अंग कहा जाता है"—'भूत-भव्यसमुच्चारेण भूतं, भव्याय उपदिश्यते' अर्थात् वैदिकवाक्यों में 'द्रव्य' पदार्थ, सर्वदा 'मुख्यक्रिया' के साथ अथवा उस मुख्यक्रिया के अन्तर्गत रहने वाली 'अवान्तर' क्रियाओं के साथ सम्बद्ध होकर ही सफल हुआ करते हैं, वे 'द्रव्य' पदार्थ स्वतन्त्रतया सफल नहीं होते। तथाहि—"नावान्तरक्रियायोगादृते वाक्योपकल्पितात्। "गुणद्रव्ये कथंभावैः गृह्णन्ति प्रकृताः क्रियाः" (तं० वा०)। ऐसे स्थलों पर 'अनुवादात्मकभाग' कौन-सा ? और 'विधेयभाग' कौन-सा ?—इस प्रश्न के निर्णयार्थ "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" यह मीमांसावचन प्रवृत्त हुआ है। तथाहि—जैसे अदग्ध (न जले हुए) भाग को ही 'अग्नि' जलाता है, दग्धभाग को नहीं, उसी प्रकार जितना भाग, किसी अन्य प्रमाण से अप्राप्त हो, यानी अन्य किसी प्रमाणान्तरादिमार्ग से उपलब्ध न हुआ हो, तो 'उतने ही भाग' का 'विधिवाक्यों' के द्वारा विधान किया जाता है—"ततश्च अदग्धदहनन्या-येन यावत् अप्राप्तं तावत् विधीयते"। जिस प्रकार ज्योतिष्टोमयाग के प्रकरण में "सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति"—इस वचन ने ज्योतिष्टोम और उसके विकृतिभूत याग में शिरपर पगड़ी पहने हुए ऋत्वजों के सञ्चरण का विधान किया है, अर्थात् इस प्रकार से सञ्चरण करने का बोध हो जाता है। और ज्योतिष्टोमयाग के विकृतिभूत 'श्येनयाग' के प्रकरण में पठित "लोहितोष्णीषा ऋत्वजः प्रचरन्ति" इस वाक्य से इतना बताया जा रहा है कि ऋत्विजों की पगड़ियाँ 'लालरंग की होनी चाहिये'—अतः इस वाक्य से इतने ही भाग का विधान किया जाता है। क्योंकि इस दूसरे वचन (लोहितोष्णीषा) में पगड़ियों का 'लोहित्व' भागमात्र ही 'अप्राप्त' है, अर्थात् प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोमयाग में आये हुए वाक्य से ज्ञात (अवगत) न होने वाला है। अथवा जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से 'हवन' ज्ञात रहता है, तब 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य से 'दधि' के 'होमसाधनत्व' मात्र का विधान किया जाता है, इस रीति से किसी भी विधायक वाक्य से उतने ही 'अंश' का विधान किया जाता है, जितना 'अप्राप्त' हो, यानी किसी अन्य वाक्य (वाक्यान्तर) से प्राप्त (अवगत) न हुआ हो। इस प्रकार के अप्राप्त अंश, कहीं-कहीं अनेक भी हो सकते हैं। जैसे लौकिकव्यवहार में किसी ने कहा—'रक्तं पटं वय' यानी लाल कपड़ा बुनो—इस वाक्य का कोई भी अंश, यदि प्रकरणप्राप्त न हो तो इस एक ही वाक्य से तीन बातों का विधान होगा, अर्थात् 'वयन=बुनना'—इस क्रिया का, तथा 'वस्त्ररूप कर्म का' और उस वस्त्र के 'लोहितत्व' का भी विधान होगा, और यदि इन तीन अंशों में से कोई एक अंश, पहिले से प्राप्त (अवगत) रहे तो दो का ही विधान होगा, और यदि दोनों अंश, पहिले से प्राप्त रहें तो एक ही अंश का विधान होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'—

उपर्युक्त विवेचन के पढ़ने पर समझ में इतना आता है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्य का अर्थ यह होगा कि जिस अर्थ में जिस शब्द का अर्थ केन्द्रित हुआ हो, वही उस शब्द का अर्थ समझना चाहिए। परन्तु किस अर्थ-विशेष में शब्द का तात्पर्य समझा जाय ? इस प्रश्न पर उत्तर यह होगा कि जो अर्थ 'विधेय' (जिस अर्थ का विधान करना अभीष्ट है) हो, उसी अर्थ में उस शब्द का तात्पर्य रहता है। तथा 'विधेय' किसे समझा जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना होगा कि 'जो प्रमाणान्तर (वाक्यान्तर) से अप्राप्त होगा, उसे 'विधेय' कहा जाता है। निष्कर्ष यह है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह वचन उस प्रसङ्ग का है कि जब किसी वाक्य में प्रयुक्त किये गये शब्दों के वाच्य अर्थों में से किस अर्थ में उक्त वाक्य का तात्पर्य केन्द्रित हुआ है ? उसका निर्णय उक्त वचन से किया जाता है। वाक्यगत शब्दों से प्रतीत होने वाले सभी आर्थों में, वाक्य का तात्पर्य नहीं हुआ करता है, अन्यथा 'पूर्वो धावति'—अगला (घोड़ा) दौड़ रहा है—इस वाक्य का तात्पर्य 'अपरो धावति'—पिछला (घोड़ा) दौड़ रहा है—यह भी किया जा सकेगा, क्योंकि जब तक 'पिछले' का ज्ञान नहीं रहेगा, तब तक 'पहिले'—अगले का ज्ञान नहीं हो पाता। एवं च अप्राप्त अंश ही 'विधेय' रहता है, और उसी में वाक्य का तात्पर्य रहा करता है।

'विषं भक्षय, मा च अस्य गृहे भुङ्क्थाः'--

अभी ऊपर बता चुके हैं कि किसी वाक्य का तात्पर्य, उसमें प्रयुक्त हुए शब्दों के 'वाच्य अर्थ' में ही हुआ करता है। उस पर एक आक्षेप किया जा सकता है कि 'विषं भक्षय, मा च अस्य गृहे भुङ्क्थाः—'विष खाले', किन्तु इसके घर भोजन मत कर'—इस उदाहरण में 'विष खा ले, इस वचन का तात्पर्य, वाक्य में प्रयुक्त हुए शब्दों के 'वाच्य अर्थ' में न होकर 'मा च अस्य गृहे भुङ्क्थाः'—इसके घर में भोजन मत करो—इसमें है। किन्तु 'ये शब्द' दूसरे वाक्य के हैं, 'विषं भक्षय' इस वाक्य के नहीं हैं। दोनों वाक्य भिन्न-भिन्न हैं। उस पर मम्मटभट्ट का समाधान यह है कि यद्यपि ये दोनों वाक्य एक-दूसरे से परस्पर भिन्न हैं, तथापि दूसरे वाक्य में प्रयुक्त जो 'च' शब्द है, वह दोनों वाक्यों की 'एकवाक्यता'—(समान प्रयोजनता) को सूचित कर रहा है। इस पर कोई यह कह सकता है कि दोनों वाक्य, अपनी-अपनी 'स्वतन्त्र क्रियाओं' से युक्त हैं। इसलिए ये 'दोनों वाक्य' अपने में स्वयं पूर्ण हैं। अतः इन दोनों वाक्यों में 'अंगांगिभाव' कैसे संभव होगा ? और अंगांगिभाव हुए बिना 'एकवाक्यता' दोनों में हो सकेगी ? इस आशंका के समाधानार्थ यह कल्पना करनी पड़ती है कि 'विषं भक्षय' यह वाक्य; किसी हितू मित्र का है। इस कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'विषं भक्षय' यह वाक्य, अगले वाक्य का अंगभूत वाक्य है। इस कल्पित अंगांगिभाव के आधार पर प्रस्तुत वाक्य का आकार इस प्रकार होगा—'इसके घर का भोजन, विष' खाने से भी बुरा है, इसलिए तू किसी भी स्थिति में इसके घर में भोजन मत कर,—यह सम्पूर्ण वाक्य का आकार (स्वरूप) निष्पन्न होता है। अतः 'विषं भक्षय' वाक्य का तात्पर्य, प्रयुक्त शब्दों के (उत्तर वाक्य के) अर्थ में ही सिद्ध होता है।

दीर्घ-अभिधावाद में उपस्थित होनेवाले दोष—

इस प्रकार मम्मटभट्ट ने प्रतिपक्षी के द्वारा किये गये आक्षेपों का निराकरण कर उसके मत में दोषों को प्रदर्शित किया है। दीर्घ अभिधावादी का कहना यह था कि 'शब्द' श्रवण के पश्चात् जितना भी अर्थ समझ में आता है, वह सब 'अभिधा' से ही समझ में आता है।

इस पर मम्मटभट्ट का कहना है कि यदि 'अभिधा' से ही समस्त अर्थ का बोध होता है, तो 'हे ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः'—हे ब्राह्मण ! तुम्हें पुत्र हुआ है, तथा 'हे ब्राह्मण ! कन्या ते गर्भिणी जाता'—हे ब्राह्मण ! तुम्हारी कन्या (कुमारी) गर्भवती है'—इत्यादि वाक्यों को सुनते ही ब्राह्मण के मुख पर उभरनेवाले हर्ष-शोकादि भावों को भी उन वाक्यों में—प्रयुक्त शब्दों के 'वाच्यार्थ' के रूप में ही क्यों नहीं मानते ? और 'लक्षणा' को भी स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि दीर्घ-दीर्घतर अर्थ को बतानेवाली 'अभिधा' जब 'व्यंजना' का भी कार्य कर सकती है, तो क्या वह अभिधा, 'लक्ष्यार्थ' की प्रतीति नहीं करा सकेगी ? और ऐसा होने पर मीमांसाशास्त्र में प्रतिपादित 'श्रुति–लिङ्ग–वाक्य–प्रकरण' इत्यादि 'अंगांगिभाव' के निर्धारक छह प्रमाणों को मानने की और उनमें पूर्व-पूर्व प्रमाणों को प्रबल मानने की भी क्या आवश्यकता है ? जैमिनिमुनि तो यह कह रहे हैं —"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पारदौर्बल्यम्, अर्थविप्रकर्षात्"—(जै० सू० ३।३।१४), तथा लोचनकार अभिनवगुप्तपाद ने भी इसी बात को कहा है। प्रस्तुत 'दीर्घ अभिधावादपक्ष' में 'श्रुति–लिङ्ग–वाक्य' आदि सभी प्रमाण, उद्दिष्ट अर्थ के प्रति समान रूप से समीप (क्योंकि सभी उद्दिष्ट अर्थ, एकमात्र अभिधा से ही अवगत हो जायेंगे) होने के कारण अर्थ की दूरता–समीपता के आधार पर उन प्रमाणों में बताया गया 'पारदौर्बल्य (अन्योन्य विरोध के उपस्थित होने पर उत्तरोत्तर प्रमाणों की दुर्बलता) निराधार ही कहना होगा। अन्विताभिधानवादी के मत में भी 'व्यञ्जना' को अनिवार्यता निश्चित करने में यही युक्ति है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यञ्जना के अस्तित्व में कतिपय अन्य प्रमाण—

१—'व्यञ्जनाव्यापार' को यदि स्वीकार नहीं करेगें तो 'कुरु रुचिम्' इन पदों का क्रम, विपरीत कर देने पर अर्थात् 'रुचिम् कुरु' यह क्रम रखने पर 'चंकु' यह कश्मीरभाषा का असभ्यार्थक (अश्लील) शब्द भासित होता है, जो काव्यदोष में गिना जाता है, किन्तु अभिधावादी के पक्ष में उसे काव्यदोष के रूप में नहीं गिना जा सकेगा, क्योंकि इस भासमान असभ्य अर्थ का किसी अन्य पदार्थ के साथ अन्वय नहीं है, इसलिए वह अभिधेय (अभिधा का विषय) ही नहीं हो पारहा है, क्योंकि अन्विताभिधानवादी की दृष्टि से 'अन्वित अर्थ ही' अभिधेय हुआ करता है। एवं च 'व्यंजना' को मान्य न करने पर 'रुचिं कुरु' यह विपरीत क्रम भी आक्षेपार्ह न होकर स्वीकार किया जासकेगा।

२—व्यञ्जनाव्यापार को स्वीकार न करने पर 'असाधुत्व' (व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग) आदि दोषों को जो 'नित्यदोष' (सर्वत्र निरपवाद रूप से माने गये दोष) माने जाते हैं और 'कष्टत्व' (दुर्बोधता-दुरूहता) इत्यादि दोषों को 'अनित्यदोष' (विशेष परिस्थिति में जिन को दोष के रूप में नहीं माना जाता, ऐसे दोष) कहेलाने की व्यवस्था उत्पन्न नहीं हो सकेगी। किन्तु व्यञ्जनाव्यापार को मानने पर व्यङ्ग्य अर्थ का संभव अनेक प्रकार से होनेके कारण विशेष स्थानों में विशिष्ट व्यङ्ग्यार्थ का औचित्य, ध्यान में रखकर द्विविध दोषों के नित्यानित्य की व्यवस्था हो जाती है। 'व्यंजना' का यदि अस्तित्व ही न होता तो "द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः" (कु० सं० ५।७१)—इस पद्य में 'शिव' के 'पिनाकिन्' आदि कितने ही नामों के रहते हुए भी 'कपालिन्' (भिक्षा-पात्र के रूप में आदमी की खोपड़ी को हाथ में रखने वाला) नाम ही काव्यानुकूल माना गया है, क्योंकि 'कपालिनः' पद से 'शिव' का निर्देश तो होता ही है, उसके अतिरिक्त उसकी दरिद्रता और अमंगलता भी सूचित हो जाती है, जिससे वक्ता का अभिप्राय परिपुष्ट होता है। इस अर्थ की प्रतीति, व्यञ्जनाव्यापार के बिना हो नहीं सकती।

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में भेद—

'वाच्यार्थ' सभी के लिए एक-सा रहता है, उसका स्वरूप निश्चित रहता है। 'गतोऽस्तमर्कः'—सूर्य अस्त हो गया—इस वाक्य का 'वाच्यार्थ' किसी भी सन्दर्भ में और किसी भी व्यक्ति को समान रूप से एक-सा प्रतीत होता है, किन्तु इसका 'व्यङ्ग्यार्थ' कहनेवाले तथा सुननेवाले व्यक्तिविशेष की सहायता से अलग-अलग अवगत होता है। जैसे—युद्धोत्सुक सैनिकों को 'शत्रुओं पर चढ़ाई करने का समय आ-पहुँचा'—इस अर्थ की प्रतीति होती है, किसी अभिसारिका को 'अपने प्रियतम से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिलने के लिए चलो'—इस अर्थकी प्रतीति होती है, किसी विरहपीडित नायिका को 'अपना प्रियतम अपने समीप अब आनेवाला ही है'—इस अर्थ की प्रतीति होती है, कामकरनेवाले नौकरों को 'चलो, काम-काज बन्दकरो'—इस अर्थ की प्रतीति होती है, सदाचारनिष्ठ कर्मठ ब्राह्मणों को 'सन्ध्यावन्दन का समय हो गया है' - इस अर्थ की प्रतीति होती है, घर से बाहर जानेवाले किसी नवागत आदमी को 'दूर मत जाना'--इस अर्थ की प्रतीति होती है। किसी ग्वाले को--'गौओं को उनके गोठे में बान्ध दो' दिनभर धूपमें सन्तप्त हुए आदमी को 'अब ऊष्मा (गरमी) नहीं होगा; किसी दूकानदार को 'विक्री की वस्तुओं को अब समेटना चाहिये', किसी प्रोषितभर्तृका को 'अभीतक प्रियतम आया नहीं'--इस अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार से प्रस्तुत वाक्य 'गतोऽस्तमर्कः' का व्यङ्ग्यार्थ, असंख्य प्रकारों से प्रतीत हो सकता है।

कहीं कहीं 'वाच्यार्थ' निषेधपरक होता है, किन्तु 'व्यंग्यार्थ' विधिरूप रहता है। जैसे—'निःशेषच्युतचन्दनं······' इस पद्य में। तथा कहीं-कहीं 'वाच्यार्थ' संशयात्मक और 'व्यङ्ग्यार्थ' निश्चयात्मक रहता है। जैसे—'मात्सर्यमुत्सार्यकार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु'—(भर्तृ० शृङ्गा० शत० ३६)। यहां 'व्यङ्ग्यार्थ'—शान्तवृत्ति के लोगों को चाहिये कि वे पर्वतों के 'नितम्बों' का और 'कामुक लोग' विलासिनी सुन्दरियों के नितम्बों का सेवन करें, यह निश्चयात्मक है। तथा कहीं-कहीं 'वाच्यार्थ' निन्दात्मक और 'व्यङ्ग्यार्थ' प्रशंसात्मक होता है। जैसे—'हित्वा त्वामुपरोधवन्ध्यमनसां'—(१०।१०२)।

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के भेद में अन्यान्य कारण—

१. इसी प्रकार 'वाच्यार्थ' और 'व्यङ्ग्यार्थ' दोनों में 'स्वरूप' की दृष्टि से भेद रहता है। —(स्वरूप-भेद)

२. 'वाच्यार्थ' की प्रतीति पहिले और व्यंग्यार्थ की प्रतीति पश्चात् होती है। —(काल-भेद)

३. 'वाच्यार्थ' की प्रतीति—समग्र शब्द रूप एक ही आश्रय से होती है, किन्तु 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति—समग्र शब्द, शब्दांश, शब्द का अर्थ, वर्ण, रचना (समास) आदि अनेक आश्रयों से होती है। —(आश्रय-भेद)

४. शब्द का वाच्यार्थ केवल व्याकरण, कोष आदि की सहायता से समझा जा सकता है, किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ' के समझने में उक्त सहायता के साथ ही 'प्रकरण' आदि और 'प्रतिभा' के साहाय्य की आवश्यकता होती है। —(निमित्त-भेद)

५. 'वाच्यार्थ' सभी के समझ में आ जाता है, और उसका 'फल' केवल बोध-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मात्र है, किन्तु 'व्यंग्यार्थ' केवल सहृदयों (विदग्धों-चतुरों) के ही समझ में आता है, और उसका 'फल' चमत्कारानुभव है। —(कार्य-भेद)

६. 'वाच्यार्थ' एक ही निश्चित रहता है, किन्तु 'व्यग्यार्थ' असख्य (अनेक) होते हैं। जैसे—'गतोऽस्तमर्क:' में है। —(संख्या-भेद)।

७. 'वाच्यार्थ' का विषय, केवल उद्दिष्ट व्यक्ति ही रहता है किन्तु 'व्यग्यार्थ' अनुद्दिष्ट व्यक्तियों को भी विषय बना लेता है।—(विषय-भेद)। जैसे –

'कस्या वा न भवति रोषो:' इस पद्य का वाच्यार्थ, प्रस्तुत व्यभिचारिणी को विषय कर रहा है, किन्तु इसका 'व्यंग्यार्थ' उपस्थित हुए 'पति' को विषय बना रहा है। अर्थात् कहने वाली का उद्दिष्ट विषय 'व्यभिचारिणी' सखी है, उसका 'पति' नहीं है, तथापि 'व्यंग्यार्थ' ने उस अनुद्दिष्ट 'पति' को अपना विषय बना लिया है।

इस रीति से 'स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या और विषय' की दृष्टि से 'वाच्य' और 'व्यङ्ग्य' भिन्न-भिन्न रहते हैं। यदि इन दोनों को एक ही (भिन्न नहीं) माना जाय तो, 'नील' और 'पीत' में भी कोई भेद नहीं माना जायगा। मम्मट भट्ट ने स्पष्ट कहा है—"वाच्य-व्यंग्ययो: स्वरूपस्य······कालस्य ··· आश्रयस्य··· ··· ···निमित्तस्य······ ···कार्यस्य··· ··· ···संख्याया:··· ······ विषयस्य च भेदेऽपि यदि एकत्वं, तत् क्वचिदपि नील–पीतादौ भेदो न स्यात्"। अत: वाच्य और व्यंग्य अर्थ की भिन्नता सर्वथैव मान्य करनी ही होगी, क्योंकि 'विरुद्ध धर्मों से युक्त होना, और भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होना ही 'भेद' अथवा 'भेद का कारण' होता है। मम्मट कहते हैं—"अयमेव भेदो भेदहेतुर्वा यद् विरुद्ध-धर्माध्यास: कारणभेदश्च"। इसी वाक्य को माधवाचार्य ने भी अपने 'सर्वदर्शनसंग्रह' में उद्धृत किया है।

'वाचक' शब्द में वाचकत्व तभी आ पाता है, जब 'संकेत' से उसका 'अर्थ' निर्धारित रहता है, किन्तु 'व्यंजक' शब्द में व्यंजकत्व होने के लिए वैसे 'अर्थ' की आवश्यकता नहीं होती। अतएव 'अर्थहीन' वर्ण और संगीत की ध्वनियाँ भी व्यञ्जक कहलाती हैं। इस कारण 'वाचक' और 'व्यञ्जक' का भेद स्पष्ट हो जाता है। इन तथ्यों पर ध्यान न देते हुए 'यत्पर: शब्द: स शब्दार्थ:' इस मीमांसा वाक्य के अर्थ को ठीक-ठीक न (गलत) समझकर, उसी का आधार लेते हुए 'व्यङ्ग्यार्थ' को भी 'तात्पर्य' का विषय कहने लगे और उसे 'अभिधाव्यापार' का ही विषय बताने लग गये, किन्तु स्वयं को मीमांसक समझने वाले उन विद्वानों से मम्मटभट्ट पूछते हैं कि 'वाणीरकुडङ्गुड्डीण' इस गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरण में 'व्यङ्ग्यार्थ' को तात्पर्य का विषय नहीं माना जाता, क्योंकि उसमें 'वाच्यार्थ के जैसी 'चमत्कृति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जनकता' नहीं रहती। उस कारण व्यङ्ग्यार्थ को व्यक्त करके भी अन्ततः 'वाच्यार्थ' स्वयं में ही विश्रान्त हो जाता है। एवं च व्यंग्यार्थ तात्पर्य का विषय न रहने से 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'—इस न्याय को ऐसी जगह नहीं लगा सकते। उस न्याय का ठीक–ठीक अर्थ (मार्मिक अर्थ) समझिये। अन्यथा, आप शब्द की अभिधावृत्ति से गम्य न हो सकनेवाले व्यंग्यार्थ को प्रतीति किस व्यापार से बता सकेंगे ?

लक्षणावादी की दृष्टि से 'व्यञ्जना' का लक्षणा में ही अन्तर्भाव—

अभिधावादी की अभिधावृत्ति में 'व्यञ्जना' का समावेश जब नहीं हो सका तब लक्षणावादी उस व्यञ्जना का अन्तर्भाव अपनी लक्षणावृत्ति में करने का प्रयत्न करने लगा।

लक्षणावादी का कहना है कि—'एक शब्द के सहारे (आश्रय से) अवगत होनेवाला लक्ष्यार्थ भी 'प्रकरण' आदि के भेद से भिन्न-भिन्न रूपमें प्रतीत होता है'। जैसे –स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो' इस पद्य में 'रामः' का मुख्यार्थ (दशरथपुत्र) बाधित होता है, क्योंकि राम ने स्वयं को 'मैं राम हूँ'—इस प्रकार मुख्यतया जो कहा है, उसे कहने की आवश्यकता न होती। एवं च 'राम' शब्द का मुख्यार्थ, बाधित होने से संदर्भानुरोधेन उसका लक्ष्यार्थ अत्यन्त दुःखसहिष्णु होता है।

उसी तरह 'प्रत्याख्यानरुचेः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा' इस पद्यमें भी 'राम' शब्द का मुख्यार्थ बाधित रहने से सन्दर्भानुरोधेन उसका लक्ष्यार्थ —'स्वार्थी, कर्तव्य-भ्रष्ट, प्रेम के अयोग्य' होता है।

तथा 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिम्पराम्' रावण को उद्देश्य करके विभीषण के उद्गारभूत इस पद्य में 'मुख्यार्थ' बाधित होता है, क्योंकि रावण 'राम' को अच्छी तरह पहचानता है, अतः उसका (राम का) नामतः निर्देश करने की कोई आवश्यकता नहीं है। एवं च उस प्रकार निर्देश करना अनावश्यक रहने से उसका मुख्यार्थ बाधित हो जाता है. और सन्दर्भानुरोधेन 'खर, दूषण आदि प्रबल राक्षसों का संहारकर्ता' यह लक्ष्यार्थ उससे जाना जाता है।

इस प्रकार 'वाच्यार्थ' से भिन्न समस्त अर्थ, 'लक्षणा' से उपपन्न हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में 'व्यङ्ग्यार्थ' नामक एक नवीन तत्त्व की कल्पना क्यों की जा रही है ?—इसी बात को "कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम" से कहा गया है, जिसकी प्रतीति के लिए एक और अधिक 'व्यञ्जना व्यापार' मानने की आवश्यकता हो रही है। जब 'व्यंग्यार्थ' नाम का कोई नवीन अर्थ ही नहीं है, तब उसे बताने के लिए

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'व्यंजना' नामक व्यापार की भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि लक्षणागम्य जो 'लक्ष्यार्थ' है, उसीमें सबका अन्तर्भाव हो रहा है।

व्यङ्ग्यार्थ की लक्ष्यार्थ से भिन्नता—

'लक्ष्यार्थ' में 'व्यङ्ग्यार्थ' का अन्तर्भाव करनेवाले से वाग्देवतावतार मम्मटभट्ट कहते हैं कि यद्यपि प्रकरण आदि के भेद से 'लक्ष्यार्थ' भी अनेक प्रतीत होते हैं, तथापि वह लक्ष्यार्थ, अनेकार्थक शब्द के अर्थों के समान, नियत (निश्चित) और प्रसिद्ध ही रहता है। जिस अर्थ के साथ 'मुख्यार्थ' का सम्बन्ध (योग) निश्चित नहीं रहता, उस अर्थ को 'लक्षणा' बता भी नहीं सकती। जैसे—'गंगायां घोषः' में 'गंगा' पद से जो बोध होता है, वह 'गंगा' से नियत सम्बद्ध रहनेवाले 'तट' (किनारे) का ही होता है, अन्य किसी अप्रसिद्ध सम्बन्ध वाले (अनियत सम्बन्ध वाले गधे, घोड़े का नहीं। अतएव यह नियम किया गया है कि 'मुख्यार्थ-योगे'।

किन्तु व्यंग्यार्थ के विषय में ऐसा कोई निर्बन्ध नहीं है। प्रकरण आदि के अनुरोध से प्रकट होनेवाला व्यंग्यार्थ, चाहे 'मुख्यार्थ' के साथ नियत सम्बद्ध हो, चाहे अनियत-सम्बद्ध हो, और तो क्या, 'सम्बद्ध-सम्बद्ध' भी हो, तो भी उसकी प्रतीति होती है। जैसे—

(१) 'अत्ता एत्थ निमज्जइ'—इस उदाहरण में 'वाच्यार्थ' (हमारे बिस्तरे पर अन्धेरे में मत गिरना) के साथ, (मेरे बिस्तरे पर आ जाना) यह 'व्यंग्यार्थ' नियत-सम्बद्ध है। अर्थात् विरोधित्व (वैपरीत्य) इस प्रसिद्ध नियत (निश्चित) सम्बन्ध से सम्बद्ध है।

(२) 'कस्स व न होइ रोसो' इस उदाहरण में नायिका को उद्देश्य कर विवक्षित रहनेवाले मुख्यार्थ (भ्रमर के द्वारा अधरोष्ठ पर किये गये व्रण के कारण प्राप्त होने वाले परिणाम को अब भोग) के साथ उस नायिका के पति को उद्देश्य कर विवक्षित रहने वाला 'व्यंग्यार्थ' अनियत-सम्बद्ध है, अर्थात् किसी भी प्रसिद्ध, निश्चित सम्बन्ध से सम्बद्ध नहीं है।

(३) 'विपरीतरते लक्ष्मी ब्राह्मणं' इस पद्य में 'भगवान् के दक्षिण नेत्र को ढक दिया'—यह मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) है, और 'सूर्य' और 'चन्द्र' को भगवान् विष्णु के क्रमशः 'दक्षिण' और 'वाम' नेत्र बताया गया है। उस कारण भगवती 'लक्ष्मी' के द्वारा भगवान् विष्णु का 'दक्षिण नेत्र' ढाक देते ही (पिहित करते ही) सूर्यास्त हो जाता है, सूर्यास्त होते ही विष्णु का नाभिकमल संकुचित हो जाता है, तब उस कमल में बैठे हुए ब्रह्माजी उसमें बन्द हो जाते हैं, जिससे लक्ष्मी जी की रति-क्रीडा निर्विघ्नतया चलती रही।—यह व्यंग्यार्थ है। इन दोनों अर्थों में कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'व्यंजना' का नाम लक्षणा नहीं है—

'व्यंजना' को लक्षणा शब्द से (लक्षणा के नाम से) इसलिए नहीं कह सकते कि 'लक्षणा' की प्रवृत्ति तो मुख्यार्थ का बाध होने पर ही हुआ करती है, किन्तु 'व्यंजना' की प्रवृत्ति होने में वैसा कोई नियम नहीं है। जैसे—'अत्ता एत्थ निमज्जइ' इस विवक्षितान्यपरवाच्य' ध्वनि के उदाहरण में 'व्यंग्यार्थ' का बोध (प्रतीति), 'मुख्यार्थ' का बाध होने पर नहीं हो रहा है। क्योंकि यहाँ पर 'हम दोनों के बिस्तरों पर नहीं गिरना' मुख्यार्थ है। 'मेरे बिस्तरे पर मत आओ'—यह मुख्यार्थ नहीं है। ऐसी स्थिति में यहाँ 'लक्षणा' का अवसर ही कहाँ है ? यदि कदाचित् कहीं पर मुख्यार्थबाध दिखाकर 'लक्षणा' का अवसर प्रदर्शन कर भी दिया जाय, तो भी व्यञ्जना के अस्तित्व में कोई किसी प्रकार का अवरोध (रुकावट) पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि जब 'रूढ़िमूलक लक्षणा' नहीं होगी। तब तो 'प्रयोजन' के लिए ही वह (लक्षणा) होगी। उसी को 'प्रयोजनवती लक्षणा' कहा गया है। तब उस प्रयोजनकी प्रतीति 'व्यञ्जना' से ही होगी, क्योंकि व्यंजनागम्य प्रयोजन के लिए ही उस (लक्षणा) की प्रवृत्ति हो रही है।

'व्यञ्जना' को लक्षणा से भिन्न बताना तो अर्थात् ही सिद्ध होता है। क्योंकि पहिले ही हमने 'व्यञ्जना' को 'अभिधा' से भिन्न बता दिया है। 'अभिधा' जिस प्रकार 'संकेत' पर अवलम्बित रहती है, उसी प्रकार 'लक्षणा' भी 'मुख्यार्थबाध' आदि तीन कारणों (हेतुओं) पर यानी एक प्रकार के संकेत (शर्त) पर ही अवलम्बित रहती है। अतएव 'लक्षणा' को 'अभिधापुच्छभूता'—अभिधा का परिशिष्ट कहा गया है।

निष्कर्ष यह है कि 'व्यञ्जना' का अर्थ 'लक्षणा' नहीं है। कारण यह है कि वह, लक्षणा के पश्चात् प्रवृत्त होती है। उस व्यञ्जना को 'लक्षणामूला व्यञ्जना' कहते हैं। किन्तु यह भी कोई नियम नहीं है कि वह लक्षणा के पश्चात् ही प्रवृत्त हो, क्योंकि वह 'अभिधा' के भी सहारे (आश्रय से) प्रवृत्त होती है, ऐसी व्यञ्जना को 'अभिधामूला व्यञ्जना' कहते हैं। किन्तु इससे यह तात्पर्य नहीं समझना होगा कि वह दोनों (अभिधा और लक्षणा) के ही आश्रय से (सहारे से ही) प्रवृत्त होती है, क्योंकि वाच्यार्थहीन अतएव लक्ष्यार्थहीन वर्णों का आश्रय लेकर भी वह प्रवृत्त होती है। फिर भी यह नहीं कह सकते कि वह नित्य शब्दों के अथवा वर्णों के आश्रय से ही प्रवृत्त होती है, क्योंकि जो कटाक्ष आदि, वर्णरूप या शब्दरूप नहीं होते हैं, उन कटाक्ष आदिकों से भी वह प्रवृत्त होती है, इन विवेचन से समझ में आ जाता है कि 'अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा' इन तीन व्यापारों के अतिरिक्त 'ध्वनन' आदि नामों से श्रुत होनेवाले 'व्यंजना' व्यापार को स्वीकार किये बिना काम नहीं चलेगा। अतः 'व्यंजना' को मानना अत्यन्त आवश्यक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्फोटवादी वैयाकरणों को भी व्यञ्जना का स्वीकार करना अनिवार्य है--

कतिपय वैयाकरणों का कहना है कि "अखण्डवाक्यार्थ ही 'वाच्यार्थ' है" अर्थात् अखण्ड रूप में सम्पूर्णतया ग्रहण किया जाने वाला वाक्यार्थ ही वाच्यार्थ है, और 'अखण्ड वाक्य' ही उस वाच्यार्थ का 'वाचक' है। किन्तु इस प्रकार कहने वाले वैयाकरणों को भी अविद्यामूलक व्यवहार की दृष्टि से विचार करते हुए अखण्ड-वाक्य-वाक्यार्थ की कल्पना को ताक पर रखकर पद-पदार्थ की कल्पना करनी ही पड़ती है। पद-पदार्थ की कल्पना किये बिना व्याकरण शास्त्र, एक पैर भी आगे चल नहीं सकता और एक बार पद-पदार्थ की कल्पना को स्वीकार कर लेने पर 'निःशेषच्युतचन्दनं' इत्यादि उदाहरणों में 'त्वं तदन्तिकमेव रन्तुं गतासि' इत्यादि अर्थ को व्यञ्जनागम्य स्वीकार किये बिना अन्य कोई उपाय नहीं है। इस विषय को 'लोचन' की सहायता से अधिक विशद रूप से समझा जा सकता है।

महिमभट्ट की दृष्टि से 'व्यञ्जना' का अनुमान में अन्तर्भाव —

महिमभट्ट का कहना है कि 'व्यञ्जना-व्यापार' अन्य कुछ न होकर वस्तुतः 'अनुमान' ही है, यानी अनुमान में ही उसका अन्तर्भाव कर लेना उचित है। महिमभट्ट, व्यञ्जनावादी से पूछते हैं कि तुम पहिले यह बताओ कि जिसे तुम 'व्यङ्ग्यार्थ' कहते हो, वह 'वाच्यार्थ' से सम्बद्ध रहता है या नहीं ? यदि नहीं रहता है तो किसी भी शब्द से चाहे जिस 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति हो सकेगी। अतः 'व्यङ्ग्यार्थ' को 'वाच्यार्थ' से सम्बद्ध ही मनाना होगा। ऐसी स्थिति में 'व्यङ्ग्यार्थ' यदि वाच्यार्थ के साथ नियत (अव्यभिचरित) सम्बन्ध से संम्बद्ध न रहेगा तो उस व्यङ्ग्यार्थ की उस वाच्यार्थ से नियत प्रतीति नहीं हो सकेगी। इससे यह निष्पन्न हुआ कि 'व्यङ्ग्यार्थ' की 'वाच्यार्थ' के साथ 'व्याप्ति' रहनी चाहिये। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पक्ष-सपक्ष' पर रहने वाले और 'विपक्ष' पर न रहने वाले यानी सर्वांगपूर्ण 'हेतु' से होने वाला 'साध्य-ज्ञान' एवं च 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव' कुछ अन्य न होकर 'अनुमान' ही है। अनुमान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। जैसे—'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः'—इस पद्य से आपाततः अवगत होने वाला वाच्यार्थ यह है कि इस प्रदेश में आने वाले लोगों को पीडित (आतङ्कित) करने वाले कुत्ते का भय (उपद्रव) अब दूर हो गया है, इसलिए यह धार्मिक पुरुष, निश्चिन्त होकर (निर्भय होकर) यहाँ पर आया करे। और इस वाच्यार्थ के पश्चात् प्रतीत होने वाला 'व्यङ्ग्यार्थ' यह है कि 'इस प्रदेश में आजकल एक मदोन्मत्त सिंह; संचार करने लगा है। अतः अपने प्राणों की रक्षा करना हो तो वह धार्मिक पुरुष इस प्रदेश में आना छोड़कर तत्काल भाग जाय'।

इस उदाहरणभूत पद्य में 'कुत्ते से होने वाला आतंक सिंह के द्वारा दूर कर दिया गया है, इसलिए इस प्रदेश में स्वेच्छानुसार संचार (भ्रमण) का उपदेश (कथन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदेश) किया गया है'। इस उपदेश से 'गोदावरी के तटवर्ती प्रदेश में सिंह का वास्तव्य (निवास, स्थिति) रहने से संचार (भ्रमण) न किया जाय'—इस अर्थ (साध्य) का अनुमान होता है।

अनुमान का प्रकार—

कोई डरपोक आदमी, कहीं किसी प्रदेश में भ्रमण तभी करता है, जब 'वहाँ किसी प्रकार का भी भय-कारण नहीं है'—यह ज्ञान पहिले कर लेता है। तभी वह किसी प्रदेश में स्वच्छन्द निर्भय होकर भ्रमण करता है, अन्यथा नहीं।

किन्तु यहाँ तो गोदावरी नदी के तट पर सिंह के वास्तव्य (स्थिति) का उसे ज्ञान है। अर्थात् डरपोक (भीरु) पुरुष के भ्रमणार्थ आवश्यक परिस्थिति के विरुद्ध परिस्थिति का ज्ञान (व्यापक-विरुद्धोपलब्धि) हो रहा है। यानी गोदावरी नदी का तट-प्रदेश, भीरु पुरुष के भ्रमण करने योग्य नहीं है। इसी को नैयायिक विद्वानों की पद्धति से इस प्रकार कह सकते हैं—"गोदावरीतीरं न भीरुभ्रमणयोग्यम्, भय-कारणनिवृत्त्युपलब्धेः अभावात्", यानी सिंहसद्भावात्। "यत्र-यत्र भयकारण-निवृत्त्युपलब्धिः नास्ति, तत्र-तत्र भीरुभ्रमणयोग्यत्वमपि नास्ति, यथा समरे"। यह व्याप्ति का आकार है। एवं च व्यञ्जना का अनुमान में ही अन्तर्भाव होता है, उसे अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है।

'व्यञ्जना' का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं—

व्यञ्जनावादी मम्मटभट्ट का कहना है कि पूर्वोक्त अनुमान-प्रयोग में दिया गया हेतु, 'सद्धेतु न' होकर हेत्वाभास है, यानी दूषित हेतु है। दूषित हेतु से (हेत्वाभास या असद्धेतु से) साध्य की अनुमिति नहीं हुआ करती। सभी लोग जानते हैं कि राजा या स्वामी अथवा गुरु तथा अन्य किसी पूजनीय व्यक्ति के आदेश से अथवा अपनी प्रियतमा के प्रेम के कारण डरपोक व्यक्ति भयावह स्थान में (खतरे की जगह) भी चला जाता है। इसलिए 'भीरुभ्रमणयोग्यत्वाभाव' रूप 'साध्य' के साथ 'भय कारणनिवृत्त्युपलब्ध्यभाव' रूप 'हेतु' की अव्यभिचरित व्याप्ति ही नहीं बन पा रही है। अतः यह प्रदर्शित 'हेतु', 'अनैकान्तिक' (सव्यभिचार) दोष से दूषित होने के कारण 'असद्हेतु' यानी हेत्वाभास है, वास्तविक 'हेतु' नहीं है।

तथा कोई वीर, धार्मिक पुरुष, अपनी धर्मनिष्ठा (धर्मभीरुता) के कारण कुत्ते का स्पर्श हो जाने के भय से कदाचित् डर सकता है, किन्तु अपनी वीरता के नाते वह सिंह से कभी नहीं डरता है। अतः 'सिंह' को भय का कारण समझ लेना भी उचित नहीं है। एवं च सिंह का भयकारणत्व 'निरपवाद' नहीं है। इसके अतिरिक्त 'गोदा-वरी के तटवर्ती प्रदेश में सिंह का अस्तित्व यानी 'भीरु-भ्रमण के प्रतिकूल परिस्थिति' का होना एक अभिसारिका स्त्री के शब्द से प्रतीत हो रहा है. प्रत्यक्ष या अनुमान

५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से उसकी प्रतीति नहीं हो रही है। अभिसारिका (व्यभिचारिणी) स्त्री के शब्दों पर विश्वास कैसे किया जा सकता है? अतः ऐसी व्यभिचारिणी स्त्री के शब्दों को निश्चित प्रमाण के रूप में भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए उपर्युक्त अनुमान में प्रदर्शित 'हेतु' सद्धेतु न होकर 'असिद्ध' (स्वरूपासिद्ध) हेतु नामक हेत्वाभास (असद् हेतु) है। इसके सहारे साध्य का अनुमान नहीं किया जा सकता।

प्रदर्शित रीति के अनुसार 'निःशेषच्युतचन्दनं'—इस उदाहरण में यदि अनुमान प्रयोग किया जायगा तो 'चन्दनच्युति' इत्यादि क्रियाओं को 'उपभोग' के 'गमकरूप' में मानना होगा। किन्तु ये क्रियाएँ, केवल 'उपभोग' से ही निष्पन्न होती हों, यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अन्यान्य कारणों से भी उनका होना संभव है। यही कारण है कि इस उदाहरण में 'स्नानकार्य' के रूप में उन क्रियाओं का निर्देश चतुर-नायिका ने स्वयं होकर ही किया है। इसलिए 'उपभोग' से उन क्रियाओं का नियत सम्बन्ध नहीं है। अतः 'अनैकान्तिक' नाम का हेत्वाभास भी है। इसलिए उन क्रियाओं से (उस हेतु से) उपभोग रूप 'साध्य' की सिद्धि नहीं की जा सकती। अतः अनुमान में 'व्यञ्जना' का अन्तर्भाव नहीं कर सकते, और न ही अनुमान से 'उपभोग' की अनुमिति कर सकते हैं।

किन्तु व्यञ्जनावादी के पक्ष में 'अधम' पद की सहायता से 'चन्दनच्युति' इत्यादि कार्यों की उपभोगव्यञ्जकता निर्बाध रूप से हो सकती है। यानी 'चन्दन-च्युति' आदि कार्य अच्छी तरह से 'उपभोग' को व्यञ्जित कर देते हैं। अतः अनु-मानवादी के पक्ष में उपस्थित होने वाले दोष, व्यञ्जनावादी के पक्ष में नहीं आ पाते। यदि अनुमानवादी भी हमारा अनुकरण करके 'अधम' पद की सहायता से 'अनुमान' करने का व्यर्थ प्रयत्न करे तो वह सफल (पूर्णमनोरथ) नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'नायक का अधमत्व' प्रमाण से सिद्ध नहीं है, यानी किसी प्रमाण से प्रमित्त नहीं है। इसलिए उसके बल पर अनुमान नहीं किया जा सकेगा। उस 'अधमत्व' का अनुमान में कोई उपयोग नहीं होगा।

इस पर यदि अनुमानवादी यह कहे कि व्यञ्जना के पक्ष में भी 'अधम' पद का उपयोग कैसे हो सकेगा, तो उसका उत्तर हम यह दे सकते हैं कि किसी प्रमाण के न होने पर भी सार्वजनीन प्रत्यक्ष अनुभव के बल पर अमुक चिह्नों से अमुक अर्थ, प्रकट हो जाता है। एवं च व्यंजनावादियों का सहायक 'अनुभव' होता है। इसलिए अनुमानवादी के पक्ष में उपस्थित होने वाले दोष, हमारे पक्ष में नहीं आ पाते।

चित्रकाव्य

अधम (अवर) काव्य—

इस काव्य का विवरण करने के लिए ग्रन्थकार ने षष्ठ (छठें) उल्लास का आरम्भ किया है। इस उल्लास में ग्रन्थकार ने पूर्वोक्त (प्र० उ० का० ५) 'शब्द-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'चित्र' और 'अर्थचित्र' के नामों से 'चित्रकाव्य' के भेद बताये हैं। यह नामकरण, 'शब्द' और 'अर्थ' की प्रधानता के अनुरोध से किया गया है। 'शब्दचित्र' में 'शब्द' की प्रधानता और 'अर्थ' की गौणता (अप्रधानता) रहती है, तथा 'अर्थचित्र' में 'अर्थ' की प्रधानता और 'शब्द' की गौणता (अप्रधानता) रहती है।

अलङ्कारशास्त्र में बहुत प्राचीन काल से इन दो भेदों की मान्यता चली आ रही है, उसे बताने के लिए ही 'भामह' के कतिपय पद्यों का उद्धरण भी ग्रन्थकार ने दिया है। इन पद्यों के द्वारा भामह ने 'शब्दालंकार' और 'अर्थालंकार' का विभाग बताया है। इन द्विविध चित्रकाव्यों के प्रकारों (विविध शब्दालंकार और अर्थालंकार) को आगे चलकर नवम और दशम उल्लास में ग्रन्थकार ने बताया है। इन सभी अलंकारों का अन्ततः पर्यवसान, 'विभाव–अनुभाव' आदि में ही होता है। अतः परम्परया इनका सम्बन्ध यद्यपि 'रसध्वनि' से ही है, तथापि उनमें 'रस' की स्फुटता नहीं हो पाती। इसी कारण पीछे के उल्लास में इस काव्य को अव्यंग्य (अस्फुट व्यंग्य) कहा गया था। और इसी से इसकी गणना अधम (अवर) काव्यों में की गयी है।

मम्मटभट्ट (ग्यारहवीं शताब्दी) विरचित 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ की विशेषता

'काव्यप्रकाश' ग्रंथ (ई०स० १०५०–११०० ई०) का पर्यालोचन करने पर मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि जिस ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर यह ग्रन्थ लिखा गया, उस ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन तो 'श्री आनन्दवर्धन' ने ही यथावत् सम्पूर्णतया सविस्तर कर ही दिया था, उसी तरह रसविषयक उपपत्ति को भी 'भरत' से आरम्भ कर 'अभिनवगुप्त' तक के ग्रन्थकारों ने ही विशदतया स्पष्ट कर दिया था, एवं गुण–दोष–अलंकारों का निरूपण भी 'भामह' से लेकर सभी अलंकार-शास्त्रियों ने अपने-अपने विशिष्ट पक्षपात का अनुसरण करते हुए बड़े विस्तार के साथ कर ही दिया था। इन समस्त तथ्यों के अतिरिक्त काव्यशास्त्र का कोई भी विषय ऐसा नहीं शेष रह जाता है, जिसके प्रतिपादनार्थ इस ग्रन्थ की रचना करने की आवश्यकता हुई हो। तब 'मम्मट' ने ऐसी कौन-सी नवीन बात इस ग्रन्थ में बताई है? जिससे इस 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ ने सम्पूर्ण विश्व में इतनी प्रसिद्धि प्राप्त की है?

यह तो सत्य है कि श्रीमम्मटभट्ट ने अपने ग्रन्थ में ऐसी कोई भी नवीन बात नहीं बताई है, तथापि उसके समय तक काव्यशास्त्र के क्षेत्र में जो विचार किये गये थे, उन्हीं विचारों को प्रमाणों के निकष पर परीक्षित कर, उनमें से कौन-सा विचार कहाँ सुघटित हो सकता है, उसे निश्चित कर श्रीमम्मटभट्ट ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्र की सर्वस्पर्शी, सुसंगत रचना कर दी है, यही उनका कार्य है और उनके ग्रन्थ की विशेषता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री आनन्दवर्धन तक के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'व्यंजना' की तथा 'ध्वनि' की उपपत्ति नहीं बताई गई थी। स्वयं आनन्दवर्धन के ग्रन्थ में भी केवल 'ध्वनि' का ही सांगोपांग विवेचन किया गया है। आनन्दवर्धन के उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों से लेकर श्रीमम्मटभट्ट के समय तक के ग्रंथों में केवल 'ध्वनि' का विरोध, तो कहीं केवल सर्वसंग्रह, तो कहीं केवल किसी एक अंग का एक नवीन शैली से ऊहापोह अथवा केवल अवान्तर जानकारी दी गई थी। उस कारण काव्यशास्त्र की सर्वाङ्गपरिपूर्ण निर्णायक पद्धति से प्रतिपादन करनेवाले ग्रंथ की न्यूनता भासित हो रही थी, उस न्यूनता की पूर्ति करने का कार्य श्रीमम्मटभट्ट ने किया है, तथा अपने ग्रंथ में किये गये समस्त प्रतिपादन के आधारभूत ध्वनि-सिद्धान्त पर अनुत्तरित आक्षेपों का भी खण्डन किया है, और चारों ओर मोर्चेबन्दी भी कर दी है।

शास्त्रीय क्षेत्र में इस प्रकार का कार्य करना वार्तिककार का हुआ करता है। इसलिए काव्यशास्त्र के कतिपय मर्मज्ञ विद्वानों ने इसे (काव्यप्रकाश ग्रन्थ को) 'ध्वन्यालोक का वार्तिक' ही कह दिया है। 'काव्यप्रकाश' के रूप में किया गया यह कार्य, इतना प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ कि तदुत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने अपने-अपने काव्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थों में सामान्य विषयों को लेकर ही उनके निरूपण क्रम में किञ्चित् परिवर्तन कर इसी ग्रन्थ का अनुकरण-मात्र किया है। कतिपय ग्रन्थकारों ने इस तथ्य को पहिचान कर जहाँ कुछ नवीन कहने का अवकाश है, उन अलंकारों का ही उतना क्षेत्र, अपनी ग्रन्थरचना के लिए चुन लिया। इस रीति से उन विद्वानों ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अप्रत्यक्ष रूप से 'काव्यप्रकाश' की सार्वभौमता को स्वीकार कर लिया। श्रीमम्मटभट्ट के रचनावैशिष्टच का यह अन्तरंग भाग है।

श्रीमम्मटभट्ट के रचना-वैशिष्टच के बहिरंग भाग में काव्यप्रकाश के छन्दोबद्ध सूत्रों को ले सकते हैं। बाह्य रचनापद्धति की दृष्टि से काव्यशास्त्र-विषयक ग्रंथों के तीन वर्ग किये जा सकते हैं—

(१) भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि के ग्रन्थ, केवल पद्यात्मक हैं।

(२) वामन, शोभाकर, जगन्नाथ आदि के ग्रन्थ केवल गद्यात्मक हैं।

(३) आनन्दवर्धन, कुन्तक, मम्मट, विश्वनाथ आदि, बहुसंख्य काव्यमीमांसकों के ग्रन्थ, गद्य-पद्यात्मक हैं—इन सभी वर्गों के ग्रन्थों में उदाहरण प्रायः पद्यात्मक ही हैं। केवल गद्यात्मक और गद्य-पद्यात्मक ग्रन्थों में जो निरूपण-पद्धति है, वह प्रायः 'सूत्र' और 'वृत्ति' के रूप में हुई है।

सूत्रों की पद्यात्मक रचना-पद्धति, श्रीआनन्दवर्धन से आरंभ हुई होगी, ऐसा लक्षित होता है। श्रीमम्मटभट्ट ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है।

'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ में सूत्रों की रचना प्रायः 'अनुष्टुभ्' वृत्तों में की गई है, किन्तु दो जगह (प्रथम और सप्तम उल्लास में) 'गीति' वृत्तों में की गई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन दोनों वृत्तों में की गई पद्यों (कारिकाओं) की संख्या एक सौ बयालीस (१४२) है, उनमें से बारह (१२) गीतिवृत्त वाले पद्य हैं।

विषयों की दृष्टि से इन कारिकाओं के जो छोटे-बड़े भाग हैं, उनको 'सूत्र' संज्ञा दी गई है। ये छोटे-बड़े भाग, पद्यभाग-निरपेक्ष हैं। कहीं तो एक ही पद्य में अनेक 'सूत्र' हैं, और कहीं अनेक पद्यों में एक ही सूत्र है। सूत्रों के आद्यन्त का पद्य के आद्यन्तों से कोई सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् पद्य के किसी भी भाग में सूत्र का आरंभ होकर पद्य के किसी भी भाग में उसकी समाप्ति होती है। इससे ग्रन्थकार को लाभ यह हुआ कि कारिकाओं की रचना में कहीं भी उन्हें 'च वै तु हि' की तरह पूर्ति करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, न अनावश्यक शब्दों को ही भरना पड़ा, जैसा कि 'उद्भट' आदि ग्रन्थकारों को करना पड़ा है। उदाहरणार्थं उद्भट की एक कारिका—"प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया। आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा॥—(उद्भट २।२)। इसमें 'इति' शब्द के बाद का भाग अनावश्यक शब्दों से पूर्ण किया गया है। किन्तु श्रीमम्मटभट्ट ने प्रतिपाद्य विषय को अति-संक्षेप में बताने के लिए जितने शब्दों की आवश्यकता हुई उतने ही शब्दों की योजना; कारिका में की है। न एक शब्द, अधिक है और न एक शब्द, न्यून है। मम्मट की कारिकाओं को तो छन्दोबद्धसूत्रों का आदर्श ही कहना चाहिये।

लाघवपूर्ण वृत्ति-रचना—

मम्मटभट्टरचित कारिकाएँ और वृत्ति भी 'लघुसन्देशपदा सरस्वती' को बता रही हैं। इसे देखकर ऐसा लगता है कि श्रीमम्मटभट्ट कदाचित् स्वभाव से ही मितभाषी रहे होंगे। पञ्चम उल्लास में की गई ध्वनिमीमांसा, नवम में श्लेषमीमांसा और दशम में की गई अलङ्कारमीमांसा को छोड़कर शेष वृत्ति ग्रन्थ को सूत्र शैली से ही उन्होंने लिखा है। जो बात प्रकरण से, अनुवृत्ति से, अर्थापत्ति से अवगत होने योग्य रहती है, उसे वे कण्ठरव (प्रत्यक्ष शब्द) से नहीं कहते। 'काव्यप्रकाश' की 'कारिकाएँ' और 'वृत्ति' दोनों ही स्वतन्त्र रूप से स्वयं में पूर्ण नहीं कही जा सकतीं। क्योंकि केवल कारिकाओं को या वृत्ति को पढ़ने पर 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ समझ में नहीं आ सकता। अन्य ग्रन्थों और उनकी व्याख्याओं के समान यह ग्रन्थ नहीं है। अन्य ग्रन्थों के मूल में आये हुए प्रत्येक पद की व्याख्या होती है, तो कहीं जो व्याख्या में रहता है, वही मूल में भी होता है, कहीं व्याख्या में बड़े विस्तर के साथ बताया जाता है, तो कहीं व्याख्या में कुछ भी नहीं बताया जाता है। किन्तु इस ग्रन्थ में 'कारिका' का अर्थ, स्पष्ट रहने पर, वहाँ 'वृत्ति' को लिखा ही नहीं गया (जैसे—पूर्वार्ध १०।९, २२; सप्तम उल्लास की कई कारिकाएँ)। कारिका के किसी महत्त्वपूर्ण पद का या प्रकरण से अवगत न होने योग्य जो अर्थ हो, उसका, या किसी कठिन शब्द का ही विवरण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'वृत्ति' में किया गया है। जैसे, १—प्रथम उल्लासगत काव्यलक्षण की वृत्ति में 'क्वापि' इतने ही अंश का विवरण किया गया है। २—द्वितीय उल्लासगत 'तद्भूर्लाक्षणिकः' की वृत्ति में 'तद्भूः' का ही विवरण किया गया है, उसी तरह 'हेत्वभावान्न लक्षणा' की वृत्ति में 'हेतु' का ही विवरण किया गया है। ३—तृतीय उल्लास में 'अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्' की वृत्ति में 'तेषाम्' का ही विवरण किया गया है। कारिका का वाच्यार्थ स्पष्ट रहने पर वृत्ति में केवल सूचितार्थ बताया गया है।

लाघवपूर्ण कारिकाएँ—

वृत्ति की रचना करने में ही ग्रन्थकार ने शब्दों का उपयोग इतना कम किया है, तो कारिकाओं की रचना में शब्दों का अधिक उपयोग कैसे कर सकते हैं? प्रथम उल्लास में जहाँ काव्य के प्रयोजन आदि का विचार प्रस्तुत किया गया है, वहाँ 'काव्य' शब्द का प्रयोग केवल आरंभ में एक बार ही ग्रन्थकार ने किया है। उसके बाद उसका निर्देश 'तत्', 'इदम्' इन सर्वनामों से ही किया है। जैसे—'काव्यं यशसेऽर्थकृते', 'इति हेतुस्तदुद्भवे', 'तददोषौ शब्दार्थौ', 'इदमुत्तममतिशायिनि' इत्यादि अनेक स्थल बताये जा सकते हैं। काव्य के लक्षण में भी प्रत्यक्ष रूप से 'काव्य' शब्द का प्रयोग नहीं किया है। कहीं-कहीं तो एक ही शब्द से अनेक शब्दों का काम निकाल लिया है। जैसे—'इति हेतुस्तदुद्भवे'—(१।३)। यहाँ 'उद्भव' शब्द से 'निर्माण' और 'समुल्लास' दो शब्दों की विवक्षा की गई है। इस प्रकार मम्मटभट्ट ने अपने ग्रन्थ की रचना में 'लाघव' की ओर बहुत ध्यान दिया है। अतः लाघवपूर्ण रचना पर वैयाकरणों ने एकमात्र अपना ही अधिकार समझ कर जो कहा था—'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' उसे श्रीमम्मटभट्ट ने दूर कर दिखा दिया है कि 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते आलङ्कारिका अपि, न केवलं वैयाकरणाः'।

अन्वयमुखेन विवेचन—

श्रीमम्मटभट्ट ने अपने ग्रन्थ में जो विवेचन किया है वह अन्वयमुख से, यानी निर्णयात्मक किया है। इन निर्णयात्मक विधानों के लिए उनके आधारभूत ऊहापोह का प्रदर्शन नहीं किया। जैसे—ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रयोजनविशेषों को ही 'काव्यप्रयोजन' के रूप में क्यों कहा गया? उनकी निर्दिष्ट संख्या उतनी सीमित ही क्यों? काव्य के त्रिविध-कारण ही क्यों? ग्रन्थ में काव्य का लक्षण 'तददोषौ' कह कर ही क्यों किया गया? काव्य के तीन ही प्रकार क्यों? इत्यादि प्रश्नों के बारे में ग्रन्थकार मम्मट ने अपने आपसे ही स्वयं ऊहापोह कर लिया है, वाचकों से नहीं। कारिका और वृत्ति के रूप में सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' की रचना, सूत्रपद्धति से की गई है, तथापि कुछ स्थलों को अपवाद रूप भी कहा जा सकता है। जैसे दूसरे और पाँचवें उल्लास में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यञ्जना-व्यापार के स्वीकार करने की आवश्यकता पर विस्तृत चर्चा ग्रन्थकार ने की है।

इस प्रकार की अन्वयमुखी लेखन-पद्धति कतिपय शताब्दियों से चली आ रही थी, और वह सर्वमान्य भी थी। इन ग्रन्थों में अपेक्षणीय आवश्यक विषयचिकित्सा, चर्चा, ऊहापोह आदि की जो न्यूनता भासित होती थी, उसकी पूर्ति, व्याख्याकार विद्वान् किया करते थे। संस्कृत ग्रन्थ-रचनाओं की यही प्राचीन पद्धति रही। उस पद्धति के मर्मज्ञ विद्वान् व्याख्याकार उन ग्रन्थों की व्याख्या करते समय ऐसी प्रश्नात्मक अवतरणिका उपस्थित किया करते थे, जिसके उत्तर में लेखक के द्वारा प्रतिपादित अन्वयमुखी विधान ही आ सके।

काव्यप्रकाश में प्राकृत उदाहरणों की विपुलता—

काव्यप्रकाश का यह भी एक वैशिष्ट्य है कि उसमें प्राकृत भाषा के विपुल उदाहरण दिये गये हैं। काव्य का स्वरूप जैसे गद्य-पद्य-निरपेक्ष है, वैसे ही वह भाषा-निरपेक्ष भी है, इसकी साक्ष्य, प्राकृत उदाहरणों के देखने से उपलब्ध होती है। राजशेखर ने इसका समर्थन भी किया है। वे कहते हैं—'अर्थविशेषास्त एव शब्दास्त एव परिणमन्तोऽपि। उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति सा भवतु'–(कर्पू०मं०१।८)।

काव्यशास्त्र में प्राकृत उदाहरणों का संग्रह, आनन्दवर्धन से आरंभ हुआ होगा, ऐसा प्रतीत होता है। आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती काव्यमीमांसकों ने भी प्राकृतग्रन्थों को 'काव्य' शब्द से संबोधित किया है। भट्टकवि दण्डी ने कहा—"महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः। सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादियन्मयम् ॥"—(दण्डी १।३४)। काव्यप्रकाश में छह सौ उदाहरणों में से उनसठ उदाहरण यानी दस प्रतिशत उदाहरण प्राकृत के दिये गये हैं। मम्मट के उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने काव्यशाखा के ग्रन्थों में इस प्रथा का अनुसरण भी किया है। जो सम्बन्ध 'हिन्दी' से उसकी आवान्तर भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, अवधी, बिहारी आदि भाषाओं का है, उसी तरह महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी आदि प्राकृत भाषाओं का संस्कृतभाषा से सम्बन्ध है। अतः संस्कृत और प्राकृत भाषाओं का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह स्पष्ट होता है।

मम्मटभट्ट की वाक्यरचना—

मम्मट की वाक्य-रचना सरल, सुबोध, संक्षिप्त किन्तु अर्थगांभीर्य से परिपूर्ण है। परमत का खण्डन करने में निर्भयता तथा स्पष्टता लक्षित होती है। यही कारण है कि अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थों में 'काव्यप्रकाश' को आदर्शग्रन्थ माना जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काव्यप्रकाशकार के विषय में विद्वानों के विचार—

कुछ विद्वान् काव्यप्रकाशकार को वैयाकरण कहते हैं। उन्हें वैयाकरण कहने का आधार यह देते हैं कि—(१) द्वितीय उल्लास में 'संकेतित' अर्थ की चर्चा करते समय वैयाकरणों के जात्यादिवाद का प्रदर्शन प्रथमतः किया है। 'विरोध' अलंकार के प्रकारों को भी उन्होंने उक्तवाद के आधार पर ही बताया है। 'शब्द-व्यापार-विचार' में भी उन्होंने 'जात्यादिवाद' के पक्ष का ही अवलंबन कर मीमांसकों के 'जातिवाद' का खण्डन किया है।

(२) 'क्लिष्टत्व' पददोष के 'काव्यलिङ्ग' अलंकार के 'एकपदार्थगत प्रकार' के उदाहरणों को दीर्घसामासिक पदों के द्वारा बताये हैं। ये सब बातें वैयाकरणों की दृष्टि से ही उपपन्न हो पाती हैं, क्योंकि वैयाकरणों ने 'पद' का लक्षण 'सुप्तिङन्तं पदम्' किया है। समास कितना ही दीर्घ क्यों न हो, तथापि उसके अन्त में 'विभक्ति-प्रत्यय' एक ही रखा जाता है, तब इनके लक्षण के अनुसार वह एक ही 'पद' समझा जाता है।

इसके विपरीत नैयायिकों ने 'पद' का लक्षण 'शक्तं पदम्' किया है। अर्थात् 'जो शक्तियुक्त हो' उसे 'पद' कहा है। इसलिए नैयायिकों की दृष्टि से समास को 'एक पद' नहीं माना गया है।

(३) मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में अनेकत्र वैयाकरणों की परिभाषा का उपयोग किया है। जैसे, 'असंगति' अलंकार का विवेचन करते समय उन्होंने वैयाकरणों के 'उत्सर्गापवादन्याय' का उपयोग किया है। 'अलंकार' का लक्षण करते समय 'क्रिया' शब्द का प्रयोग 'कारण' के अर्थ में वैयाकरणों के अनुसार किया है, ऐसा प्रदीपकार का कहना है। 'उपमा अलंकार' के प्रकारों को व्याकरण के आधार पर ही बताया है। इस विषय में उद्योतकार ने वस्तुतः 'अयं पूर्णलुप्ता-विभागः शब्दशास्त्रव्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनपरत्वात् अत्र शास्त्रे न व्युत्पाद्यतामर्हति'' कहा है।

(४) बहुत-सी बातों में वैयाकरणों के मत को ही आलंकारिकों ने मान लिया है। जैसे—'परिसंख्या' में ही 'नियम' का अन्तर्भाव कर लेना, 'क्रिया' से संयुक्त 'इव' को 'उपमार्थक' न मानकर 'उत्प्रेक्षार्थक' स्वीकार करना, 'व्यंजना' को स्वतंत्र रूप में 'शब्दव्यापार' मानना। इसप्रकार कितनी ही जगह 'आलंकारियों' का ''वैयाकरणों'' के साथ 'मतैक्य' दृष्टिगोचर होता है।

(५) इसलिए 'अलंकारशास्त्र' को 'व्याकरणशास्त्र का पुच्छ' कहा गया है। इसे 'न्याय' अथवा 'मीमांसा का परिशिष्ट' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अलंकार-शास्त्र-संमत 'व्यंजना' नामक शब्दव्यापार का 'नैयायिकों' ने खण्डन किया है, और 'मीमांसा' में तो उसका नामोल्लेख तक नहीं है। मम्मट की विद्वत्ता जैसी व्याकरण में थी, वैसी ही अलंकारशास्त्र में भी थी। क्योंकि भरत से लेकर अभिनवगुप्त तक के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काव्यमीमांसकों के विचारों का यत्र-तत्र प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से अनुकरण तथा उनके विशिष्ट विचारों का खण्डन किया है।

भरत के 'नाटचशास्त्र', भामह के 'काव्यालंकार' आदि लक्षण-ग्रन्थों के समान ही 'रघुवंश', 'शाकुंतल' आदि लक्ष्य-ग्रन्थों का व्यासंग भी प्रचुर मात्रा में लक्षित होता है। काव्यप्रकाश में निर्दिष्ट अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद, संकेतित अर्थ के विषय में जातिवाद, अर्थापत्ति और उसके दो प्रकार, प्रकटता को ज्ञान का फल बताना, गौणी लक्षणा की बोध-प्रक्रिया के तृतीय म । में आधारभूत कुमारिलभट्ट के वचन का उद्धरण, पंचम उल्लास में ध्वनि का विवेचन करते हुए जैमिनिसूत्र 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य' का उल्लेख, 'लोहितोष्णीशा ऋत्विजः प्रचरन्ति' वाक्य के उल्लेखों से उनका 'मीमांसाशास्त्र' का पाण्डित्य भी स्पष्ट होता है।

'मंगलाचरणश्लोक' की वृत्ति में 'न्याय-वैशेपिकदर्शन' का परमाणु-कारणवाद, समवायी—असमवायी निमित्त कारणों का, जातिबाधक के परामर्श का, 'वाचक' शब्द के विवेचन के प्रसंग में 'न्यायदर्शन' के जातिविशिष्ट व्यक्तिवाद का, 'विशिष्ट-लक्षणा' के खण्डन में संवित्ति का, 'पर्यायोक्त' अलंकार के विवेचन में निर्विकल्पक और सविकल्पक प्रत्यक्ष की चर्चा और 'अनुमान' अलंकार के विवेचन में साध्य-साधन के स्वरूप का प्रदर्शन, आदि के उल्लेख से उनका 'न्यायशास्त्र' का पाण्डित्य दृष्टिगोचर होता है। उसी तरह 'मंगलाचरण' के श्लोक की वृत्ति में सुख-दुःख-मोह स्वभाव यानी त्रिगुणात्मक सृष्टि के निर्देश से 'सांख्यशास्त्र' का पाण्डित्य लक्षित होता है। उसी तरह 'संकेतित' अर्थ के विवेचन में निर्दिष्ट अपोहवाद, उसी तरह 'पर्यायोक्त' अलंकार के विवेचन में बौद्धों के प्रत्यक्ष-विषय-विचार का निर्देश, 'बौद्धदर्शन' के पाण्डित्य को सूचित कर रहा है। उसी तरह 'रस-विवेचन' में रसास्वाद की ब्रह्मास्वाद से तुलना की चर्चा से 'वेदान्तशास्त्र' का पाण्डित्य लक्षित होता है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि श्री मम्मटभट्ट बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। अतएव सुधासागरकार ने उन्हें 'वाग्देवतावतार' के रूप में माना है। श्रीमम्मटभट्ट, केवल वैयाकरण ही नहीं थे, अपितु वे सर्वज्ञ थे, यही निश्चय है।

काव्यप्रकाशकार श्रीमम्मटभट्ट का परिचय

सुधासागरकार 'भीमसेन दीक्षित' ने अपनी व्याख्या की प्रस्तावना में काव्यप्रकाशकार का परिचय इस प्रकार दिया है—

"शब्दब्रह्मसनातनं न विदितं शास्त्रैः क्वचित् केनचित्।
तद्देवी हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान्॥
श्रीमज्जयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुजः।
श्रीमन्मम्मटसंज्ञयाश्रिततनुं सारस्वतीं सूचयन्॥"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् शाश्वत् ब्रह्म का साक्षात्कार शास्त्रों के द्वारा किसी को नहीं हो पाया, यह देखकर, उसे स्वयं करा देने की इच्छा से भगवती सरस्वती स्वयं काश्मीर देश में श्रीमान् जैयट की पत्नी के उदर से पुरुष के रूप में प्रकट हुई। समस्त शास्त्रों की अवगति रहने पर भी लोकरीति के अनुसरणार्थ सरस्वती-स्वरूप 'मम्मट' ने काशी क्षेत्र में आकर समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया। तदन्तर उन्होंने लोक-कल्याणार्थ 'काव्यप्रकाश' नामक साहित्य-सूत्र ग्रंथ और उस पर वृत्ति ग्रन्थ की रचना की।

"श्रीमान् कैयट औवटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो।
भाष्याब्धि निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतः॥"

उस मम्मट से विद्याध्ययन कर उसके कनिष्ठ भ्राता कैयट और उव्वट ने भी क्रमशः महाभाष्य और वेद पर व्याख्या की रचना की। उस वाग्देवतावतार मम्मट की प्रशंसा अथवा उसके समस्त गुणों का वर्णन इस संसार में कौन कर सकता है।

'काव्यप्रकाश' के अतिरिक्त मम्मटभट्ट के नाम के दो ग्रंथ और भी हैं। (१) 'शब्दव्यापारविचार' (२) 'संगीतरत्नावली'। 'संगीत-रत्नावली' ग्रन्थ संगीत-विषयक है, जो आज अनुपलब्ध है, तथापि गजपतिनारायण देव (ई० १८ वीं शताब्दी) ने अपने 'संगीतनारायण' ग्रन्थ में मम्मटरचित 'संगीतरत्नावली' के कतिपय अंशों को उद्धृत किया है। जैसे—"मम्मटाचार्यकृत-संगीतरत्नावल्यां" कन्नाट 'नाट-मल्लार' आदि रागों की बहुत बड़ी नामावली, और एकजगह 'टक्करागलक्षणमाह मम्मटः'—"नाट-कर्णाटयोर्योगे टक्करागो नपुंसकः" इत्यादि। इसी तरह पुरुषोत्तम-पुत्र नारायणकवि-विरचित 'संगीतसरणि' ग्रन्थ में भी मम्मट की संगीत-रत्नावली के अनेक अशों को उद्धृत किया गया है।

'काव्यप्रकाश' पर व्याख्याओं की विपुलता—

मम्मट के काव्यप्रकाश पर सौ से भी अधिक व्याख्याओं के होने का उल्लेख श्री वामनाचार्य और म० म० पाण्डुरंग काणे और 'दे' महोदय ने किया है। आऊफ्रेख्ट के 'केटालागस केटालोगोरम' नामक बृहत् सूची में भी निर्दिष्ट—अनिर्दिष्ट-कर्तृक व्याख्याओं की सूची दी गई है। इस 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ पर इतनी अधिक व्याख्याओं के होने पर भी वह आज भी गूढ रहस्यों से पूर्ण ही बना हुआ है। अतएव 'आदर्श' व्याख्या के रचयिता महेश्वर भट्टाचार्यजी ने कहा है—

"काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे-गृहे टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः"

यह कथन पूर्णतया यथार्थ प्रतीत हो रहा है। 'काव्यप्रकाश' के व्याख्याकार कश्मीर से लेकर आन्ध्र, मद्रास तक और गुजरात से लेकर बंगाल तक भारत के सभी प्रदेशों में से हुए हैं। निष्कर्ष यह है कि यह 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ देश-काल-धर्म-पन्थ आदि की कक्षाओं का उल्लंघन कर विविध क्षेत्रों में ख्यातिप्राप्त कुशाग्र-बुद्धि विद्वन्मूर्धन्यों को सतत आकर्षित करता आ रहा है। ऐसे अनुपम प्रभावशाली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रंथ के रचयिता को 'वाग्देवतावतार' कहना सर्वथैव समुचित है, इसमें किसी का भी वैमत्य नहीं है।

'काव्यप्रकाश' ग्रंथ की एककतृ॑कता—

'काव्यप्रकाश' ग्रंथ की रचना के सम्बन्ध में कतिपय प्राचीन व्याख्याकारों के लेखों ने उसकी एक-कतृ॑कता के विषय में कुछ लोगों को सन्देह उत्पन्न कर दिया है।

उक्त ग्रंथ के प्राचीनतम व्याख्याकार राजानक रुय्यक (ई० स० ११५०) हैं। इनकी रचित व्याख्या का नाम 'संकेत' है। एक अन्य व्याख्याकार 'माणिक्यचन्द्र' (ई० स० ११६०) हैं। इन्होंने भी उक्त ग्रन्थ पर व्याख्या की है, जिसका नाम 'संकेत' ही रखा है। अर्जुनवर्मदेव (ई० स० १२००-५०) ने 'रसिकसंजीवनी' नाम की व्याख्या लिखी है। उसी प्रकार राजानक आनन्द (ई० स० १६६५) ने भी 'निदर्शना' नाम की व्याख्या लिखी है।

(१) इन सभी व्याख्याकारों ने उक्त ग्रन्थ को द्विकतृ॑क बताया है। अर्थात् मम्मट और अल्लट (अथवा अलट या अवक) दोनों ने मिलकर उक्त ग्रन्थ की रचना करके उसको पूर्ण किया है। इन लोगों का कहना है कि 'परिकर' अलंकार के आगे अवशिष्ट भाग को 'अल्लट' (अलट या अवक) ने पूर्ण किया है।

(२) काव्यप्रकाश 'निदर्शना' टीका के रचयिता ने एक अन्य पक्ष उपस्थित किया है। उसका कहना है कि 'काव्यप्रकाश' तो मम्मट और अल्लट दोनों की सम्मिलित कृति है।

(३) इसके अतिरिक्त एक पक्ष और भी उपलब्ध होता है। काव्यप्रकाश की 'संकेत' टीका के प्रथम तथा दशम उल्लास के अन्त की पुष्पिका "इति श्रीमद्-राजानकमल्ल-मम्मट-रुचक-विरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाश-संकेते प्रथम उल्लासः" में 'मल्ल', 'मम्मट' और 'रुचक' तीन नामों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार दशम उल्लास की पुष्पिका "राजानक-मम्मट-अलक-रुचकानाम्" तीन नामों का उल्लेख किया गया है। एवञ्च 'संकेत' टीकाकार 'काव्यप्रकाश' को, तीन लोगों की कृति मानते हैं।

(४) कतिपय वंगीय व्याख्याकारों ने एक अन्य दृष्टि से काव्यप्रकाश को द्विकतृ॑क सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनमें से 'आदर्श' (भावार्थ-चिन्तामणि) व्याख्याकार महेश्वर न्यायालंकार (ई० सन् १६००-५०) हैं, और दूसरे 'साहित्य-कौमुदी' व्याख्या के रचयिता बलदेव विद्याभूषण (ई० स० १७००) हैं। इन दोनों का कहना है कि काव्यप्रकाश के अन्तर्गत 'कारिकाग्रन्थ' की रचना, अग्निपुराण के आधार पर 'भरत' ने की है, और उसपर गद्यमय 'वृत्तिग्रन्थ' की रचना मम्मट भट्ट ने की है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महेश्वर न्यायालङ्कार का कहना है कि "सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्य-प्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुम् अग्निपुराणादिभ्यः उद्धृत्य काव्यरसास्वाद-कारणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्।......... मम्मट-भट्टस्तु ताः कारिकाः सोदाहरणं व्याख्यातुं कारिकाग्रन्थादिभूतां "नियतिकृत" इत्यादि-कारिकामुत्थापयति —"ग्रन्थारम्भे" इत्यादि।"

—(का० प्र० कल० सं० सरीज पृ० २)

उसी तरह बलदेव विद्याभूषण का कहना है कि "सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां कृतवपुषां कृतौ ममास्याम्" —(सा० कौमु०)। तथा "मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मितां साहित्यकौमुदीम्। वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात्"। व्याख्याकार बलदेव ने ही स्वयं अपनी व्याख्या 'साहित्यकौमुदी' पर 'कृष्णानन्दिनी' नाम की टिप्पणी लिखी है, उसमें वे लिखते हैं—"काव्य-रसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निबबन्ध। कारिकास्ताः व्याचिख्यासुः वृत्तिकृत् मङ्गलमाचरति"।

दूसरी बात यह है कि 'काव्यप्रकाश' की कुछ कारिकाएँ (का० प्र० ४।६–११) भरतमुनि के 'नाटचशास्त्र' में (ना०शा० ६।१५, १७–२१) जैसी की तैसी ही उपलब्ध होती हैं।

दूसरा तर्क यह भी है कि "ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति"—इस अवतरणिका में वृत्तिकार ने प्रथम-पुरुष की क्रिया के द्वारा कारिकाकार का निर्देश किया है। वृत्तिकार के द्वारा ही यदि कारिकाओं की रचना की गई होतीं तो उत्तमपुरुष में क्रियापद को रखा गया होता। इससे स्पष्टतया प्रतीत होता है कि काव्यप्रकाश की निर्मिति किसी एक के द्वारा न होकर दो लोगों के द्वारा की गई है।

एक तर्क यह भी है कि "समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा" (सू० १४०) इस सूत्र की वृत्ति लिखते हुए मम्मट लिखते हैं—'बहुवचनमविवक्षितम्' यानी 'बहु-वचन' की जगह 'द्विवचन' भी किया जा सकता है। यदि सूत्र (कारिका) और वृत्ति दोनों का कर्ता एक ही होता तो सूत्र (कारिका) में 'आरोपिताः' बहुवचन का प्रयोग करके पश्चात् 'बहुवचनम् अविवक्षितम्' ऐसी व्याख्या (वृत्ति) करने की आवश्यकता ही उसे क्यों होती? वह स्वयं ही 'श्रौतावारोपितौ यदि' यह भी लिख सकता था, किन्तु उसने वैसा नहीं किया, क्योंकि कारिका (सूत्र) उसकी (मम्मट की) बनाई हुई नहीं है, कारिका (सूत्र) भाग तो भरतमुनि का बनाया हुआ है। इस कारण उसकी वृत्ति (व्याख्या) करते समय मम्मट को 'बहुवचनमविवक्षितम्' कहना आवश्यक हो गया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिद्धान्तपक्ष—

काव्यप्रकाश ग्रन्थ को अनेककर्तृक माननेवाले व्याख्याकारों के तर्कों पर सूक्ष्म विचार करने पर उनके तर्क, उचित प्रतीत नहीं हो रहे हैं। तथाहि—

(१) 'अल्लट' को मम्मट का समकालिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मम्मट के पचास-पचहत्तर वर्ष के पश्चात् होनेवाले राजानक 'रुय्यक' के 'अलंकारसर्वस्व' ग्रन्थ के व्याख्याकार के रूप में उसकी (अल्लट की) प्रसिद्धि है। एवं च मम्मट का समकालिक न होने से उसे (अल्लट को) मम्मट का सहकारी नहीं कह सकते। दूसरी बात यह है कि काव्यप्रकाश ग्रन्थ, क्या सौ वर्षतक अपूर्ण ही रहा? सौ वर्ष के सुदीर्घ काल के पश्चात् क्या 'अल्लट' ने उसे पूर्ण किया होगा? अतः यह तर्क भी ठीक नहीं है, क्योंकि 'अल्लट' के पूर्ववर्ती राजानक 'रुय्यक' और 'माणिक्यचन्द्र' दोनों विद्वान्, समग्र काव्यप्रकाश ग्रन्थ की व्याख्या कर चुके थे। किञ्च—'कादम्बरी' के दो भागों की भिन्न शैली के समान काव्यप्रकाश को दो भागों में विभक्त मानने में शैली की भिन्नता भी लक्षित नहीं हो रही है। किञ्च कादम्बरी के उत्तरार्ध में 'बाणभट्ट' के पुत्र ने आरंभ करते समय स्वतंत्र मंगलाचरण किया है. वैसा मंगलाचरण, अल्लट ने नहीं किया है। किञ्च विद्वानों का अधिकपक्ष सम्पूर्ण ग्रन्थ को मम्मट-कर्तृक सुदीर्घ-दीर्घतर काल से मानता आ रहा है।

समस्तकारिका-भाग 'भरत'-कर्तृक नहीं है—

किञ्च 'वृत्ति' और 'कारिका' (सूत्र) भी एक-कर्तृक ही हैं। अर्थात् दोनों के कर्ता मम्मटभट्ट ही हैं। अन्यथा कारिका-रचना के पूर्व जिस तरह मंगलाचरण उपलब्ध हो रहा है, उसी तरह वृत्ति के आरंभ में भी मंगलाचरण अवश्य पाया जाता। किन्तु 'कारिका' ही मूल ग्रंथ रहने से उसमें किये गये मंगलाचरण से ही व्याख्याभूत 'वृत्ति' के आरम्भ करते समय ग्रंथकार 'मम्मट' ने पृथक् 'मंगलाचरण' की आवश्यकता नहीं समझी। क्योंकि कारिकाभाग और उसकी व्याख्याभूत वृत्तिभाग दोनों का कर्ता एक ही है।

वृत्ति और कारिका ग्रन्थ दोनों का कर्त्ता एक ही है—

जो विद्वान् इस ग्रन्थ के कारिका-भाग को भरत का बताते हैं, वह भी ठीक प्रतीत नहीं हो रहा है, क्योंकि सम्पूर्ण कारिका-ग्रन्थ यदि भरतप्रणीत होता तो भरत की कारिकाओं को जहाँ-कहीं मम्मट ने उद्धृत किया है, वहाँ उन्होंने 'तदुक्तं भरतेन' भी लिख दिया है। एवं च विशेष-विशेष स्थलों पर ही 'तदुक्तं' लिखने की उन्हें क्यों जरूरत पड़ी? अतः स्पष्ट है कि भरत के कुछ ही सूत्र या कारिकाएँ थीं, जिनका निर्देश 'तदुक्तं' के द्वारा मम्मट ने किया है। शेष सभी कारिकाएँ मम्मटभट्ट की ही हैं। रूपकालंकार के निरूपण में "साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्धं, माला तु पूर्ववत्" अर्थात् पूर्व-प्रतिपादित 'मालोपमा' के समान 'मालारूपक' भी होता है। कारिकाभाग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

को यदि भरतप्रणीत माना जाय तो उनकी 'कारिका' में 'मालोपमा' का निर्देश भी होना चाहिए था—लेकिन उसका उल्लेख किसी कारिका में न होकर 'वृत्ति' में किया गया है। अर्थात् मम्मट ने अपने वृत्तिभाग में जिस मालोपमा को बताया है, उसी का यहाँ कारिका में उसने निर्देश किया है। एवञ्च स्पष्ट है कि कारिका-भाग और वृत्ति-भाग दोनों का कर्तृत्व एक मम्मटभट्ट में ही स्थिर होता है। अतः कारिका-भाग का कर्ता 'भरत' और वृत्तिभाग का कर्ता 'मम्मट' हैं—यह कथन उचित नहीं है। अन्यान्य अनेक युक्तियाँ तथा तर्क और प्रमाण हैं, जिनके बल पर कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' मम्मट-कर्तृक ही है।

उपसंहार

इस ग्रन्थ में भरत से लेकर भोजराज तक १२०० वर्षों में अलंकारशास्त्र से सम्बन्धित जो विशाल साहित्य रचा गया, उसका खूब मन्थन करके नवनीत के रूप में यह 'काव्यप्रकाश' प्रकट हुआ है। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' की रचना की है। उस नाट्यशास्त्रात्मक क्षीरसागर से नवनीत के रूप में 'रससिद्धान्त' प्रादुर्भूत हुआ। 'भरतमुनि' के रचित 'रससूत्र' पर बारह सौ वर्षों में होते आये ऊहापोह का 'सार' इस ग्रन्थ में रख दिया गया है। भामह के 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इस काव्य-लक्षण को ही अधिकतया निर्दुष्ट, गुणयुक्त, और सालंकृत करते हुए परिष्कृत कर "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि" के रूप में उपस्थित कर दिया है।

बारह सौ वर्षों में निष्पन्न होते आये काव्य-लक्षणों के सारभूत तत्त्वों को मम्मट भट्ट ने अपने रचे काव्य-लक्षण में पूर्णरूप से भर दिया है।

भामह और दण्डी ने शब्द की शक्तियों का तो विवेचन किया, किन्तु 'रस' और 'ध्वनि' का नहीं किया। उनकी इस न्यूनता को समझकर मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में 'रस' और 'ध्वनि' का विस्तृत विवेचन कर उस न्यूनता को दूर कर दिया।

उसी तरह उद्भट भी इकतालीस 'अलंकारों' के निरूपण में ही रह गये। वामन ने 'रीति, गुण, दोष, अलंकारों' को तो बताया है किन्तु 'रस' के बारे में वे नीरस ही रहे। उन्होंने 'रीति' को ही सर्वस्व मान लिया। रुद्रट ने 'काव्यलक्षण, शब्दालंकार, अर्थालङ्कार' तथा दस प्रकार के 'रस' और 'नायक-नायिका भेदों' को बताया है। 'शब्दशक्ति, ध्वनि' आदि काव्य के अन्यान्य अंगों की उपेक्षा कर दी। उनके पश्चात् आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' का विशद विवेचन करके सहृदय विद्वानों को प्रसन्न तो कर दिया, किन्तु षड्विध रसों के विना जैसे तृप्ति नहीं हो पाती, उसी तरह काव्य के विविध तत्त्वों के निरूपण किये बिना काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ को पूर्ण नहीं कहा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जा सकता। किन्तु मम्मटभट्ट ने 'रीति, गुण, दोष, अलंकार' आदि सभी काव्य-तत्त्वों काअच्छी तरह विवेचन किया है।

'आनन्दवर्धन' का लक्ष्यबिन्दु एकमात्र 'ध्वनि-तत्त्व' ही रहा। अतएव वे सम्पूर्ण-तया काव्यशास्त्र का चित्रण नहीं कर पाये। आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि-तत्त्व' का परिचय कराया, और उसके प्रचार-प्रसार में भरसक प्रयत्न भी किया, किन्तु ध्वनि-विरोधी भट्टनायक और महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के 'ध्वनितत्त्व' को एक प्रकार से कुचल ही दिया था। इस 'ध्वनितत्त्व' को लेकर विद्वानों में घोर संग्राम चल रहा था। उस उग्र संघर्ष से उस 'ध्वनितत्त्व' को सकुशल बचाकर उसे अनेक युक्ति-संवलित पुष्ट तर्कों के आधार पर 'मम्मटभट्ट' ने अपने ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' में उसका सविस्तर निरूपण किया, जिससे विद्वत्समाज में उसका खूब प्रचार-प्रसार हुआ और दृढ़ता के साथ पुनः उसको प्रतिष्ठापित किया। इसी पुरुषार्थ को देखकर विद्वन्मूर्धन्यों के हृदय की वाग्देवी के मुख से 'मम्मटभट्ट' के लिए 'ध्वनिप्रतिष्ठापन-परमाचार्य' इत्यादि सम्मान-सूचक शब्द निकल पड़े।

किसी महत्त्वपूर्ण कार्य के करने में 'श्रम' और 'कला' दोनों की आवश्यकता होती है। जैसे 'मधुमक्षिका' बड़े परिश्रम-पूर्वक अनेक पुष्पों से 'मधु' का संचय करती है— यह उसका 'श्रम' पक्ष है, और 'छत्ता' बनाकर उस मधु को जैसे सजाकर, संभालकर उसमें रखती है—यह उसका 'कला' पक्ष है। 'मधु' से रसना को तृप्ति होकर जैसा आनन्द होता है, वैसे ही उसके छत्ते को देखकर नेत्रों को भी आनन्द होता है। दोनों का अपना-अपना निजी सौन्दर्य है। अतः उसके 'श्रमपक्ष' और 'कलापक्ष' दोनों ही प्रशंसा के पात्र रहते हैं। मम्मटभट्ट में भी ये दोनों पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। एक हजार वर्षों तक के सुदीर्घ काल में काव्यशास्त्रीय उपवन में पराग-सम्पन्न सैकड़ों पुष्पों से 'काव्यतत्त्वरूप-मधु' के संचय करने में मम्मटभट्ट ने महान् परिश्रम किया है— यह उनका 'श्रमपक्ष' अत्यन्त श्लाघनीय है, और उन तत्त्वों को यथाक्रम सजाकर सयुक्तिक तर्कों के आधार पर अपने 'काव्यप्रकाश' ग्रंथ में जिस प्रकार निरूपित किया है-यह उनका 'कलापक्ष' है। उनका विरचित समग्र 'काव्यप्रकाश' केवल एक सूत्र— "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"—के आधार पर परिभ्रमण कर रहा है।

इन समस्त तथ्यों से स्पष्ट प्रमाणित है कि अमितप्रतिभासम्पन्न बहुशास्त्रश्रुत परमपण्डित महामाहेश्वर राजानक 'श्रीमम्मटभट्ट' निःसन्देह वाग्देवतावतार थे एवं ध्वनिप्रतिष्ठापनपरमाचार्य परमालंकारिक थे। तथा उनके द्वारा प्रणीत 'काव्यप्रकाश' ग्रन्थ वास्तविक रूप से यथानाम काव्यविषयक अशेष-विषयों का प्रकाशक प्रतिष्ठापक अनुपमग्रन्थरत्न होने से साहित्यिक-जगत् में देदीप्यमान हो पाया है और यावच्चन्द्रदिवाकरौ पौर्वपाश्चात्य विद्वानों के मध्य सर्वत्र सर्वदा अबाधगति से देदीप्यमान होता रहेगा।

॥ इति शम् ॥ गजानन शास्त्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृतज्ञता-प्रकाशन

आनन्दकन्द सच्चिदानन्द श्रीकृष्णचन्द्र की अनुपम अनुकम्पा से 'काव्यप्रकाश' के प्रथम-भाग की 'रहस्यबोधिनी' नामक व्याख्या का लेखन-कार्य, प्रातःस्मरणीय श्रीपितृचरण एवं श्रीगुरुचरणों का प्रतीक्षण ध्यान करते हुए निर्विघ्नतया सम्पन्न हो सका, तदर्थ भगवच्चरणारविन्दों में तथा तत्स्वरूप श्रीमन्मातृ-पितृ-श्रीगुरुचरणों में पुनः-पुनः अपनी प्रणामपुष्पाञ्जलि को सादर सविनय भक्ति-भाव-पुरःसर अर्पण कर कृतज्ञता का निर्वाह यथाकथञ्चित् करके करबद्ध प्रार्थना कर रहा हूँ, कि मुझ-जैसे मूढमति किन्तु एकमात्र आपके चरणारविन्दों पर शरणागत हुए अपने प्रियपुत्र एवं प्रियशिष्य पर सर्वथा सर्वदा अपना वरदहस्त बनाये रखने की कृपा करते रहें।

इसके लिखते समय मेरे विद्यावंशीय और पितृवंशीय सन्तानों ने यथासमय मेरी सहायता की है। मेरे विद्यावंशीय सन्तानों में से उल्लेखनीय सहयोगी डॉ॰ विमला कर्नाटक, रीडर, बी॰ एच॰ यू॰; डॉ॰ कमलनयन शर्मा, प्रवक्ता, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद; डॉ॰ सोमनाथ नेने, प्रवक्ता, विक्रमविश्वविद्यालय, उज्जैन आदि को तथा पितृवंशीय सन्तानों में से उल्लेखनीय सहयोगी मेरे भ्रातुष्पुत्र डॉ॰ श्यामराव, चि॰ राजेश्वर बी॰ ए॰, कु॰ शुभा तथा सौ॰ मीना जोशी एम॰ ए॰, कु॰ अपर्णा, श्रीरामशास्त्री, श्री शेखरराव आदि सभी सन्तानों को हार्दिक शुभाशीर्वाद देकर उनके अभ्युदय की कामना भगवच्चरणारविन्दों में कर रहा हूँ।

पूर्ववर्ती व्याख्याकारों की संस्कृत टीकाओं का सम्यक् आलोडन कर, उनके अंश-विशेषों को यथास्थान सन्निविष्ट कर जिज्ञासु छात्रवर्ग के उपयुक्त बनाने में उन व्याख्याओं से मुझे बहुत सहायता प्राप्त हुई है, तथैव आधुनिक हिन्दी व्याख्याओं में से श्री विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि की व्याख्या का भी मुझे बड़ा उपयोग हुआ है, उनकी प्राञ्जलता और विषय-विवेचन-शैली सचमुच प्रशंसनीय है।

उसी तरह विद्वन्मूर्धन्य कृष्णश्रीनिवास अर्जुनवाड्कर और विद्वन्मूर्धन्य श्री अरविन्द मंगरूलकर जी के द्वारा लिखित 'उपन्यास' से भी मुझे बहुत अधिक सहायता प्राप्त हुई, तदर्थ मैं उन सबका हृदय से आभारी हूँ। अतः उनके चरणों पर प्रणामाञ्जलि को अर्पित करते हुए अपनी कृतज्ञता प्रकट रहा हूँ।

इस ग्रन्थ के सम्पादक श्री सत्यनारायणशास्त्री खण्डूड़ीजी साहित्याचार्य ने अथक परिश्रम और मनोयोग के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन कर मुझे यशोभाजन बना दिया है, यह निवेदन करते हुए महान् हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। सम्पादन कार्य का भार यदि ये न लेते तो इस ग्रन्थ का समुचित मुद्रण ही न हो पाता, यह यथार्थ तथ्य है। अतः ऐसे विद्वान् सम्पादक-महोदय के अभ्युदय एवं दीर्घायुष्य की प्रार्थना भगवान् से करता हूँ। और निरन्तर अनेकानेक ग्रन्थों का सम्पादन करने में दत्तचित्त होकर लेखकों का उत्साह-वर्धन सर्वदा करते रहेंगे, यह आशीर्वाद दे रहा हूँ, भगवान् मेरे इस आशीर्वाद को सफल बनायेंगे, यह मुझे विश्वास है।

अन्त में श्रीकृष्णदास अकादमी के सञ्चालक बन्धुवर्ग को इस ग्रन्थ के प्रकाशन के निमित्त अनेकानेक धन्यवादों को देते हुए उनके अभ्युदय की कामना कर रहा हूँ।

— गजानन शास्त्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रन्थ-विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
प्रथम उल्लास	
[काव्य-प्रयोजन-कारण-स्वरूप-निरूपण]	
अवतरणिका	१
ग्रन्थ का लक्षण	१
मङ्गलाचरण	२
मङ्गलाचारण का प्रयोजन	२
ब्रह्मदेव की सृष्टि की अपेक्षा कवि-सृष्टि की विशेषता	२
अनुबन्धचतुष्टय	२
विषय और प्रयोजन	३
काव्य-हेतु	४
काव्य-लक्षण	६
स्फुटालङ्कार-विरहविशिष्ट काव्य का उदाहरण	६
काव्य भेद	७
१. उत्तम काव्य	७
स्फोटवाद	८
ध्वनिकाव्य का उदाहरण	९
२. गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य मध्यम-काव्य और उसका उदाहरण	११
३. अधमकाव्य (चित्रकाव्य)	१२
शब्दचित्र का उदाहरण	१३
अर्थचित्र का उदाहरण	१४
प्रथम उल्लास का सारांश	१४
द्वितीय उल्लास	
[शब्दार्थ-स्वरूप-निरूपण]	
शब्दत्रैविध्य	१६
अर्थत्रैविध्य	१७
अर्थ का चौथा भेद तात्पर्यार्थ	१७
अभिहितान्वयवाद	१७
अन्विताभिधानवाद	१९
तीनों अर्थों का व्यञ्जकत्व	२१
वाच्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण	२१
लक्ष्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण	२२
व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जकता का उदाहरण	२३
वाचक शब्द का लक्षण (स्वरूप)	२४
संकेतयुक्त अर्थ के विषय में अनेक मत	२५
उपाधि के भेद से शब्दों का चतुर्विध विभाग	२६
केवल जाति में शक्तिग्रह कहने-वाले मीमांसकों का मत	३०
यदृच्छा शब्दों में जाति का उपपादन	३१
संकेतग्रह के सम्बन्ध में नैयायिक एवं बौद्धों का मत	३३
मम्मटभट्ट का अपना मत	३४
अभिधालक्षण	३५
लक्षणानिरूपण	३६
मुख्यार्थ बाध के दो रूप	३८
लक्षणा के दो उदाहरण	३९

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	पृष्ठ
शुद्धालक्षणा के दो भेद	४०
उपादानलक्षणा—लक्षणलक्षणा	४१
मुकुलभट्ट की उपादानलक्षणा के दो उदाहरण	४१
मुकुलभट्ट के द्वारा उपादान-लक्षणा का निरूपण	४२
मुकुलभट्ट के प्रथम उदाहरण का अनुवाद	४३
मुकुलभट्ट के प्रथम उदाहरण 'गौरनुबन्ध्यः' का खण्डन	४३
मुकुलभट्ट का दूसरा उदाहरण और उसका खण्डन	४४
'अर्थापत्ति' लक्षणारूप नहीं है	४५
अर्थापत्ति की द्विविधता	४५
लक्षणलक्षणा का उदाहरण	४६
'गङ्गायां घोषः' के उदाहरण पर विचारात्मक विश्लेषण	४६
न्यायशास्त्र में 'लक्षणलक्षणा' का उदाहरण	४७
लक्षणलक्षणा का अधिक स्पष्ट उदाहरण	४७
शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के संबंध में मम्मटभट्ट का मत	४८
शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के संबंध में मुकुलभट्ट का मत	४९
मुकुलभट्ट के 'ताटस्थ्य' सिद्धान्त का खण्डन	५०
सारोपा लक्षणा	५०
साध्यवसानिका लक्षणा	५१
सारोपा और साध्यावसाना दोनों के दो भेद	५१
गौणीसाध्यवसाना-विषयक तीन मत	५२
शुद्धा-सारोपा और शुद्धा-साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण	५३
लक्षणा तेन षड्विधा	५५
प्रस्तुत भेदों से युक्त लक्षणा के पुनः तीन प्रकार	५७
तदेषा कथिता त्रिधा	६१
लाक्षणिक-शब्द-लक्षण	६२
लक्षणामूलक-व्यञ्जना	६२
व्यञ्जनाया आवश्यकता	६३
प्रयोजन की वाच्यता का निराकरण	६३
प्रयोजन की लक्ष्यता का खण्डन	६४
प्रायोजन-विशिष्ट में लक्षणा का खण्डन	६८
न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त	६९
मीमांसकों का ज्ञातता सिद्धान्त	६९
अनुव्यवसाय और ज्ञातता में अन्तर	७१
विशिष्टे लक्षणा नैवम्	७२
विशेषाः स्युस्तु लक्षिते	७२
अभिधामूलक-व्यञ्जना का लक्षण	७२
श्रीभर्तृहरि की दो कारिकाओं का अर्थ	७३
व्यञ्जकशब्द-लक्षण	८०
शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ का सहयोग	८०

तृतीय उल्लास

[आर्थी-व्यञ्जना-स्वरूप-निरूपण]

विषय	पृष्ठ
द्वितीय और तृतीय उल्लास की संगति	८१
आर्थी व्यञ्जना के भेद	८१
आर्थी व्यञ्जना के दसों प्रकार के उदाहरण	८२
आर्थी व्यञ्जना में शब्द का सहयोग	९०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	पृष्ठ
चतुर्थ उल्लास	
[ध्वनिकाव्य भेद (उत्तमकाव्य) निरूपण]	
उल्लास-सङ्गति	९१
ध्वनि भेद	
१. अविवक्षितवाच्य-लक्षणामूल ध्वनि के दो भेद और उनके उदाहरण	९२
२. विवक्षितवाच्य-अभिधामूल ध्वनि और उसके दो भेद	९५
अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य का अष्टविधत्व	९७
रसस्वरूपनिष्पत्ति	९८
१. स्थायिभाव	९९
२. विभाव	१००
३. अनुभाव	१००
४. व्यभिचारिभाव	१०१
भरतमुनि का रससूत्र	१०१
भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद	१०२
भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में अरुचि का कारण	१०४
शंकुक आचार्य का अनुमितिवाद	१०४
'एव'कार का तीन प्रकार से प्रयोग	१०८
आचार्य शंकुक के अनुमितिवाद में अरुचि	१०९
भट्टनायक का भुक्तिवाद सिद्धान्त	११०
भट्टनायक के भुक्तिवाद में सांख्य-सिद्धान्त का अनुसरण	११३
भट्टनायक के मत में अरुचि	११३
अभिनवगुप्तपाद का अभिव्यक्तिवाद	११३
रस की अलौकिकता में एक और युक्ति	१२०
रससूत्र में विभावादिकों का सम्मिलित निर्देश करने में हेतु	१२१
उद्दीपन विभावमात्र से ही रसाभिव्यक्ति	१२२
अनुभावमात्र से ही रसाभिव्यक्ति	१२३
व्यभिचारिभावमात्र से ही रसाभिव्यक्ति	१२४
रसों का नामतः परिगणन	१२५
रसों के विशेषक्रम-निर्धारण पर विचार	१२५
शान्तरस के सम्बन्ध में विचार	१२६
भक्तिरस	१२७
वात्सल्यरस	१२७
मूलरस	१२८
एकरस का सिद्धान्त	१२८
रसों की सुख-दुःखरूपता	१२९
शृङ्गाररस और उसके भेद	१३०
नायिकारब्ध-संभोगशृङ्गार का उदाहरण	१३०
नायकारब्ध-संभोगशृङ्गार का उदाहरण	१३२
विप्रलम्भशृङ्गार के भेद एवं उदाहरण	१३४
हास्यरस का उदाहरण	१४०
करुणरस का उदाहरण	१४२
करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गार में भेद	१४३
रौद्ररस का उदाहरण	१४५
वीररस का उदाहरण	१४७
भयानक रस का उदाहरण	१४८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	पृष्ठ
बीभत्स रस का उदाहरण	१४९
हास्य तथा जुगुप्सा का आश्रय	१५०
अद्भुतरस का उदाहरण	१५१
रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ का ग्रंथकार से मतभेद	१५२
स्थायिभावों का क्रमशः नाम निर्देश	१५३
व्यभिचारिभावों का नामतः परिगणन	१५४
निर्वेद के प्रथम निर्देश में हेतु	१५७
शान्तरस का निरूपण	१५७
शान्तरस का उदाहरण	१५७
भाव-निरूपण	१६०
भाव का लक्षण	१६२
देवविषयक-रतिभाव का उदाहरण	१६२
मुनिविषयक-रतिभाव का उदाहरण	१६३
गुरुविषयक रतिभाव का उदाहरण	१६४
नृपविषयक-रतिभाव का उदाहरण	१६४
पुत्रादिविषयक-रतिभाव का उदाहरण	१६४
भाव के द्वितीय भेद—प्राधान्येन वर्णित व्यङ्ग्यव्यभिचारी का उदाहरण	१६४
रसध्वनि और भावध्वनि में पारस्परिक कुछ तारतम्य	१६५
रसाभास, भावाभासों का निरूपण	१६६
रसाभास का उदाहरण	१६८
भावाभास (ध्वनि) का उदाहरण	१६९
रौद्ररसाभास-ध्वनि का उदाहरण	१७०
भावान्तराभास का एक उदाहरण	१७०
भावशान्ति आदि चार ध्वनि	१७१
भावशान्ति का उदाहरण	१७१
भावोदय का उदाहरण	१७२
भावसन्धि का उदाहरण	१७३
भावशबलता का उदाहरण	१७४
इस विषय में ध्वन्यालोककी दृष्टि	१७५
भावस्थिति के सम्बन्ध में शंका-समाधान	१७६
अन्य शंका-समाधान	१७६
भावशान्ति आदि की भी क्वचित् प्रधानता	१७६
निरूपित अंश का सिंहावलोकन	१७७
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि और उसके मुख्य तीन भेद	१७८
उसके अवान्तर भेद	१७८
शब्दशक्त्युत्थध्वनि के दो भेद	१७९
और उसके उदाहरण	१७९
विरोधाभास-अलंकार के दो उदाहरण	१८१
१. सभङ्गपदमूलक-विरोधाभास-अलङ्कारध्वनि का उदाहरण	१८२
२. अभङ्गपदमूलक-विरोधाभास-अलंकारध्वनि का उदाहरण	१८३
शब्दशक्त्युत्थ-व्यतिरेकालंकार-ध्वनि का उदाहरण	१८४
शंका-समाधान	१८५
शब्दशक्तिमूलक-वस्तुध्वनि के दो उदाहरण	१८६
अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के बारह भेद और उनके उदाहरण	१८८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	पृष्ठ
उभयशक्त्युत्थ-ध्वनि का एक भेद और उदाहरण	२०५
ध्वनि के भेदों का परिगणन	२०६
रसादिध्वनि का एक ही भेद	२०८
उभयशक्त्युत्थ-ध्वनि की वाक्य-व्यङ्ग्यता	२०९
सत्रह ध्वनिभेदों की पद एवं वाक्य-व्यङ्ग्यता	२१०
पदप्रकाश्य-लक्षणामूल-ध्वनि के सत्रह उदाहरण	२११
१. लक्षणामूल-पदप्रकाश्य अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि	२११
२. लक्षणामूल-पदद्योत्य-अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्यध्वनि	२१२
अभिधामूल-पदद्योत्य-असंलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यध्वनि के दो उदाहरण	२१३
१. अभिधामूल-पदद्योत्य-असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि	२१३
२. अभिधामूल-पदद्योत्य-असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि	२१४
पदद्योत्य-संलक्ष्यक्रमशब्द-शक्त्युत्थध्वनि के दो उदाहरण	
१. पदद्योत्यवस्तु से अलंकार-ध्वनि	२१६
२. पदद्योत्यवस्तु से वस्तुध्वनि	२१७
पदद्योत्य-संलक्ष्यक्रम-अर्थशक्त्युत्थ स्वतःसंभवती ध्वनि के चार उदाहरण	२१८
१. स्वतःसम्भी वस्तु से पदद्योत्य-वस्तुध्वनि	२१८
२. स्वतःसम्भवी वस्तु से पदद्योत्य-अलंकारध्वनि	२२०
३. स्वतःसम्भवी अलंकार से पदद्योत्य-वस्तुध्वनि	२२२
४. स्वतःसंभवी अलंकर से पदद्योत्य-अलंकारध्वनि	२२३
अर्थशक्त्य-पदद्योत्यध्वनि	२२४
वस्तु से पदद्योत्य अलंकारध्वनि	२२५
अलंकार से पदद्योत्य वस्तुध्वनि	२२५
अलंकार से अलंकार की ध्वनि	२२७
कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध-पदद्योत्यध्वनि के चार उदाहरण	२२८
वस्तु से पदद्योत्य वस्तुव्यङ्ग्य	२२८
वस्तु से पदद्योत्य-अलंकारव्यंग्य	२२९
अलंकार से पदद्योत्य-वस्तुव्यंग्य	२३०
इसी प्रसंगमें उदाहरणान्तर	२३२
अलङ्कार से पदद्योत्य-अलङ्कार-व्यंग्य	२३३
प्रबन्ध में भी अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनि के बारह भेद	२३५
पदैकदेश-रचनावर्णादिव्यंग्यता	२३८
तिङन्तरूप-प्रकृत्यात्मक-पदैकदेश से संभोगशृङ्गाररसव्यङ्ग्य	२३९
सुबन्तरूप-प्रकृत्यात्मक पदैकदेश से संभोगशृङ्गाररसव्यङ्ग्य	२४०
तिङ्-सुप्-प्रत्ययरूप-पदैकदेश से सम्भोगशृङ्गाररसव्यंग्य	२४१
सुप्-तिङ्-प्रत्ययरूप-पदैकदेश से विप्रलम्भशृङ्गाररसव्यङ्ग्य	२४२
षष्ठी-विभक्तिरूप-प्रत्यात्मक-पदैकदेश का संभोगशृङ्गार-रस-व्यंजकत्व	२४४

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	पृष्ठ
प्रत्ययरूप-लङात्मकपदैकदेश की रौद्ररस-व्यञ्जकता	२४४
प्रत्ययरूप-वचनविशेषात्मक-पदैकदेश की विप्रलंभशृङ्गार-व्यञ्जकता	२४५
पुरुषव्यत्ययरूपपदैकदेश की शान्तरस-व्यञ्जकता	२४६
पूर्वनिपातरूप-पदैकदेश की भाव-व्यञ्जकता	२४७
उपपदविभक्तिविशेषरूप-पदैकदेश की भाव-व्यञ्जकता	२४८
प्रत्ययैकदेशभूत-तद्धित-प्रत्यय से विप्रलंभशृङ्गार-व्यञ्जकता	२४९
प्रत्ययैकदेशभूत-उपसर्ग से विप्र-लंभशृङ्गार-व्यञ्जकता	२५०
निपातरूप-पदैकदेश की वीररस-व्यञ्जकता	२५०
अनेकपदैकदेशरूप-प्रत्ययांशों की वीररसव्यञ्जकता	२५१
पदैकदेशरूप-अनेकप्रत्ययांशों की शृङ्गाररसव्यञ्जकता	२५२
ध्वनि-भेदों का उपसंहार	२५५
ध्वनि-भेदों का संकर तथा संसृष्टि	२५७
संकर तथा ससृष्टिकृतध्वनि के १०४०४ भेद	२५८
शुद्ध ५१ भेदों के साथ उपर्युक्त संख्या को जोड़ने पर १०४५५ ध्वनि के भेद	२५८
ध्वनिसांकर्य-विवेचन	२५८
संशयास्पद-ध्वनिद्वयसंकर का उदाहरण	२५८
अङ्गाङ्गिभावसंकर और एकाश्रयानुप्रवेशसंकर इन दोनों संकरों का और संसृष्टि का एक ही उदाहरण	२५९

पञ्चम उल्लास

[ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य (मध्यमकाव्य) भेदनिरूपण]

विषय	पृष्ठ
उल्लास-सङ्गति	२६३
गुणीभूतव्यङ्ग्य (मध्यमकाव्य) के आठ भेद	२६३
अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यरूप-व्यङ्ग्य की अगूढता	२६४
अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूप-व्यंग्य की अगूढता	२६६
अभिधामूलध्वनि के अर्थशक्ति-मूल-संलक्ष्यक्रमरूपव्यंग्य की अगूढता का उदाहरण	२६७
अपरांगव्यङ्ग्यरूप-गुणीभूतव्यंग्य	२६९
रस की भावांगता में अपरांग-व्यङ्ग्यनामक-मध्यमकाव्य	२७१
भाव की भावांगता में अपरांग-व्यङ्ग्यनामक-मध्यमकाव्य	२७३
रसाभास और भावाभास में भावांगता होने पर अपरांग व्यङ्ग्यनामक-मध्यमकाव्य	२७४
भावाङ्ग-भावशान्तिव्यङ्ग्यरूप-गुणीभूतव्यङ्ग्य	२७५
भावाङ्गभावोदयव्यङ्ग्यरूप-गुणीभूतव्यङ्ग्य	२७७
भावाङ्गभावसन्धिव्यंग्यरूप-गुणीभूतव्यङ्ग्य	२७८
भावाङ्गभावशबलताव्यङ्ग्यरूप-	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	पृष्ठ
गुणीभूतव्यंग्य	२७९
शब्दशक्तिमूलक-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-अलङ्कारध्वनि की वाच्याङ्गता	२८३
अर्थशक्तिमूलक-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य-वस्तुध्वनि की वाच्याङ्गता	२८५
वाच्यसिद्धयङ्गव्यंग्यरूप-मध्यम-काव्य का उदाहरण	२८८
वाच्यसिद्धयङ्गव्यंग्य का दूसरा उदाहरण	२८९
अस्फुटव्यंग्यनामक-मध्यमकाव्य का उदाहरण	२९०
सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्यनामक-मध्यमकाव्य का उदाहरण	२९१
तुल्यप्राधान्यव्यंग्यनामक-मध्यम-काव्य का उदाहरण	२९२
काक्वाक्षिप्तव्यंग्य का उदाहरण	२९२
असुन्दरव्यंग्यरूप-मध्यमकाव्य का उदाहरण	२९४
गुणीभूतव्यंग्यकाव्य के भेदोपभेदों को पूर्वोक्त ध्वनिभेदों के समान ही समझना चाहिए	२९५
गुणीभूतव्यंग्यके ४२ भेद	२९६
ध्वनिकाव्य के ५१ भेद	२९६
संसृष्टि और संकर	२९६
ससृष्टि और संकर के कारण भेदों की प्रचुरता	२९७
सुधासागरकार की गणना	२९८
काव्यप्रकाशकार की गणना	३००
व्यञ्जना की अपरिहार्यता	३००
रसप्रतीति के होने में व्यञ्जना की अनिवार्यता	३०२

विषय	पृष्ठ
लक्षणामूलध्वनि में व्यञ्जना की अनिवार्यता	३०४
अभिधामूल-शब्दशक्त्युत्थध्वनि में व्यञ्जना की आवश्यकता	३०५
अभिधामूलक-अर्थशक्त्युत्थध्वनि में व्यञ्जना की अपरिहार्यता	३०६
अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी दोनों के मत से भी व्यञ्जना की आवश्यकता	३०७
निरूपित अंश का सिंहावलोकन	३२१
नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते	३२२
मीमांसक भट्टलोल्लट की शंका	३२५
व्यञ्जनावादी की ओर से उसका समाधान	३२५
भूत-भव्य-समुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते	३२६
लोहितोष्णीशा ऋत्विजः प्रचरन्ति	३२७
उभयविधि का उदाहरण	३३१
त्रिविधि का उदाहरण	३३१
यत्परः शब्दः स शब्दार्थः	३३१
विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः	३३२
प्रश्न-उत्तर	३३५
श्रुति-लिङ्गादि छह प्रमाणों की चर्चा	३३६
'कुरु रुचिम्' के आधार पर अभिधा और व्यञ्जना की चर्चा	३४४
नित्य, अनित्य दोष व्यवस्था से भी व्यञ्जना की सिद्धि	३४५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	पृष्ठ
महाकवि कालिदास के प्रयोग में नित्य-अनित्य दोष की व्यवस्था	३४६
संख्या के भेद से वाच्यव्यङ्ग्य का भेद	३४७
स्वरूप भेद से वाच्य-व्यङ्ग्य के भेद के तीन उदाहरण	३४९
वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता को बताने वाले अन्य सात हेतु	३५२
सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरोऽभिधाव्यापारः	३५९
लक्षणावादी का पूर्वपक्ष	३६१
व्यङ्ग्यार्थ की लक्षणागम्यता	३६१
लक्षणावादी के पूर्वपक्ष का खण्डन	३६३
लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना-साधक-युक्तियों का निष्कर्ष	३६९
वैयाकरणों का अखण्डार्थतावाद	३७२
वेदान्तियों का अखण्डार्थतावाद	३७५
नैयायिक महिमभट्ट का मत	३७६
महिमभट्ट के अनुमानक	३३१

षष्ठ उल्लास

[चित्रकाव्य (अधमकाव्य) भेद निरूपण]

विषय	पृष्ठ
उल्लास-सङ्गति	३९०
चित्रकाव्य के दो भेद	३९०
चित्रार्थशब्दयोः पाठ की उपादेयता	३९१
शब्दचित्र का उदाहरण	३९६
अर्थचित्र का उदाहरण	३९७
शङ्का-समाधान	३९९

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

काव्यप्रकाशस्थ सूत्रों की अकारादि क्रम से सूची

सूत्र	संख्या	पृष्ठ
अ		
अगूढमपरस्याङ्गं	६६	२६३
अतादृशि गुणीभूत	३	११
अनुस्वानाभसंलक्ष्य	५२	१७८
अनेकार्थस्य शब्दस्य	३२	७३
अन्योन्ययोगादेवं	६९	२९७
अर्थव्यञ्जकतोच्यते	३६	८१
अर्थशक्त्युद्भवो	५४	१८८
अर्थाः प्रोक्ताः पुरा	३५	८१
अलंकारोऽथ वस्त्वेव	५३	१७९
अविवक्षितवाच्यो	३९	९२
इ		
इदमुत्तमतिशायिनि	२	७
ए		
एवमप्यनवस्था स्याद्	२७	६८
एषां भेदा यथायोगं	६७	२९५
क		
कारणान्यथकार्याणि	४३	९८
कोऽप्यलक्ष्यक्रम	४१	९६
ज्ञ		
ज्ञानस्य विषयो	२९	७१
त		
तच्च गूढमगूढं वा	१९	५७
तत्र व्यापारो	२२	६२
तददोषौ शब्दार्थौ	१	६
तदाभासा	४२	१६६
तदेषा कथिता	२०	६१
तद्भूर्लाक्षणिकः	२१	६२
तद्युक्तो व्यञ्जकः	३३	८०
तात्पर्यार्थोऽपि	७	१७
तेषां चान्योन्य	६३	२५७
तेषां अर्थव्यञ्जकतो	३६	८१
न		
नाभिधा समयाभावात्	२४	६४
निर्वेदग्लानि	४६	१५४
निर्वेदस्थायि	४७	१५७
प		
पदेऽप्यन्ये	५९	२१०
पदैकदेशरचना	६१	२३८
प्रबन्धेऽप्यर्थं	६०	२३५
प्रयोजनेन सहितं	२८	७१
भ		
भावस्य शान्तिरुदयः	५०	१७१
भेदा अष्टादशास्य	५६	२०६
भेदाविमौ च सादृश्यात्	१६	५१
भेदास्तदेकपञ्चाशत्	६२	२५५
म		
मुख्यार्थबाधे तद्योगे	१२	३६
मुख्ये रसेऽपि	५१	१७६
य		
यत्सोऽर्थान्तरयुक्	३४	८०
यस्य प्रतीतिमाधातु	२३	६३
र		
रतिर्देवादिविषया	४८	१६२
रतिर्हासश्च	४५	१५३
रसभावतदाभास	४२	९७
रसादीनामनन्तत्वाद्	५७	२०८

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	पृष्ठ
महाकवि कालिदास के प्रयोग में नित्य-अनित्य दोष की व्यवस्था	३४६
संख्या के भेद से वाच्यव्यङ्ग्य का भेद	३४७
स्वरूप भेद से वाच्य-व्यङ्ग्य के भेद के तीन उदाहरण	३४९
वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता को बताने वाले अन्य सात हेतु	३५२
सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरोऽभिधाव्यापारः	३५९
लक्षणावादी का पूर्वपक्ष	३६१
व्यङ्ग्यार्थ की लक्षणागम्यता	३६१
लक्षणावादी के पूर्वपक्ष का खण्डन	३६३
लक्षणा से भिन्न व्यञ्जना-	
साधक-युक्तियों का निष्कर्ष	३६९
वैयाकरणों का अखण्डार्थतावाद	३७२
वेदान्तियों का अखण्डार्थतावाद	३७५
नैयायिक महिमभट्ट का मत	३७६
महिमभट्ट के अनुमानक	३३१

षष्ठ उल्लास

[चित्रकाव्य (अधमकाव्य) भेद निरूपण]

विषय	पृष्ठ
उल्लास-सङ्गति	३९०
चित्रकाव्य के दो भेद	३९०
चित्रार्थशब्दयोः पाठ की उपादेयता	३९१
शब्दचित्र का उदाहरण	३९६
अर्थचित्र का उदाहरण	३९७
शङ्का-समाधान	३९९

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काव्यप्रकाशस्थ सूत्रों की अकारादि क्रम से सूची

सूत्र	संख्या	पृष्ठ
अ		
अगूढमपरस्याङ्गं	६६	२६३
अतादृशि गुणीभूत	३	११
अनुस्वानाभसंलक्ष्य	५२	१७८
अनेकार्थस्य शब्दस्य	३२	७३
अन्योन्ययोगादेवं	६९	२९७
अर्थव्यञ्जकतोच्यते	३६	८१
अर्थशक्त्युद्भवो	५४	१८८
अर्थाः प्रोक्ताः पुरा	३५	८१
अलंकारोऽथ वस्त्वेव	५३	१७९
अविवक्षितवाच्यो	३९	९२
इ		
इदमुत्तमतिशायिनि	२	७
ए		
एवमप्यनवस्था स्याद्	२७	६८
एषां भेदा यथायोगं	६७	२९५
क		
कारणान्यथकार्याणि	४३	९८
कोऽप्यलक्ष्यक्रम	४१	९६
ज		
ज्ञानस्य विषयो	२९	७१
त		
तच्च गूढमगूढं वा	१९	५७
तत्र व्यापारो	२२	६२
तददोषौ शब्दार्थौ	१	६
तदाभासा	४९	१६६
तदेषा कथिता	२०	६१
तद्भूर्लाक्षणिकः	२१	६२
तद्युक्तो व्यञ्जकः	३३	८०
तात्पर्यार्थोऽपि	७	१७
तेषां चान्योन्य	६३	२५७
तेषां अर्थव्यञ्जकतो	३६	८१
न		
नाभिधा समयाभावात्	२४	६४
निर्वेदग्लानि	४६	१५४
निर्वेदस्थायि	४७	१५७
प		
पदेऽप्यन्ये	५९	२१०
पदैकदेशरचना	६१	२३८
प्रबन्धेऽप्यर्थ	६०	२३५
प्रयोजनेन सहितं	२८	७१
भ		
भावस्य शान्तिरुदयः	५०	१७१
भेदा अष्टादशास्य	५६	२०६
भेदाविमौ च सादृश्यात्	१६	५१
भेदास्तदेकपञ्चाशत्	६२	२५५
म		
मुख्यार्थबाधे तद्योगे	१२	३६
मुख्ये रसेऽपि	५१	१७६
य		
यत्सोऽर्थान्तरयुक्	३४	८०
यस्य प्रतीतिमाधातुं	२३	६३
र		
रतिर्देवादिविषया	४८	१६२
रतिर्हासश्च	४५	१५३
रसभावतदाभास	४२	९७
रसादीनामनन्तत्वाद्	५७	२०८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सूत्र	संख्या	पृष्ठ
ल		
लक्षणा तेन षड्विधा	१७	५५
लक्ष्यं न मुख्यं	२६	६६
व		
वक्तृ-बोद्धव्य	३७	८१
वाक्ये द्वयुत्थः	५८	२०९
वाच्यादयस्तदर्थाः	६	१७
विवक्षितं चान्यपरं	४०	९५
विशिष्टे लक्षणा	३०	७२
विशेषाः स्युस्तु	३१	७२
विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन्	१५	५१
व्यंगेन रहिता	१८	५७
वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः	६४	२५८
श		
शब्दचित्रं वाच्यचित्रं	४	१२
शब्दप्रमाण	३८	९०
शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं	७०	३९०
शब्दार्थोभय	५५	२०५
शरेषुयुगखेन्दवः	६५	२५८
शृङ्गारहास्यकरुण	४४	१२५
स		
सङ्केतितश्चतुर्भेदो	१०	२६
स मुख्योऽर्थस्तत्र	११	३५
सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां	८	२१
साक्षात्सङ्केतितं	९	२८
सारोपान्या तु	१४	५०
सालङ्कारैः	६८	२९६
स्वसिद्धये पराक्षेपः	१३	४१
स्याद्वाचको लाक्षणकः	५	१६
ह		
हेत्वभावान्न	२५	६४

卐

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काव्यप्रकाशस्थ श्लोकों की अकारानुक्रमणिका

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
अ		
अइपिहुलं जलकुम्भं	१३	८२
अतन्द्रचन्द्राभरणा	७२	२०५
अत्ता एत्थ णिमज्जई	१३६	३६३
अत्युच्चाः परितः	११८	२७३
अत्रासीत् फणिपाश	११५	२६८
अदृष्टदर्शनोत्कण्ठा	१२८	२९०
अन्यत्र यूयं कुसुमा	२०	८८
अन्यत्र व्रजतीति का	३३	१३६
अभितः समितः प्राप्तैः	५६	१८३
अमुं कनकवर्णाभं	९६	२३७
अयं स रशनोत्कर्षी	११६	२७०
अलसशिरोमणि धुत्ताणं	६०	१९०
अलं स्थित्वा श्मशाने	९३	२३५
अविरलकरवाल	१२०	२७५
असोढा तत्कालो	१२२	२७८
अहो वा हारे वा	४४	१५७
आ		
आकुञ्च्य पाणिमशुचिं	३७	१४०
आगत्य संप्रति	१२५	२८६
आदित्योऽयं स्थितो	९५	२३६

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
उ		
उअ णिच्चलणिप्पंदा	८	२३
उत्कृत्योत्कृत्य कृत्ति	४२	१४९
उत्सिक्तस्य तपःपराक्रम	५२	१७३
उद्देशोऽयं सरसकदली	१७	८५
उन्निद्रकोकनदरेणु	११४	२६६
उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते	२४	९४
उल्लास्य कालकरवाल	५४	१८०
ए		
एकस्मिन् शयने	५१	१७२
एद्दहमेत्तत्थणिआ	११	७७
ओ		
ओण्णिद्दं दोब्बलं	१४	८३
ओल्लोल्लकरअरअण	७०	२०३
क		
कण्ठकोणविनिविष्टमीश	४५	१६२
कथमवनिप दर्पो	१३४	३५१
कस्स वा ण होइ रोसो	१३५	३५३
कृतं च गर्वाभिमुखं	१०८	२५०
कृतमनुमतं दृष्टं वा	३९	१४५
केसेसु बलामोडिअ	६५	१९७

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
कैलासस्य प्रथमशिखरे	६४	१९६
कैलासालयभाल	११७	२७२
क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः	५३	१७४
क्षणदाऽसावक्षणदा	८२	२२२
क्षुद्राः सन्त्रासमेते	४०	१४७
ख		
खणपाहुणिआ देअर	१११	२५८
खलववहारा दीसन्ति	७४	२१२
ग		
गच्छाम्यच्युतदर्शनेन	१२७	२८९
गाढकान्तदशनक्षत	६३	१९४
गाढालिंगणरहसु	६६	१९९
गाहारुहम्मि गामे	१०१	२४४
गुरुअणपरवस	२१	८८
ग्रामतरुणं तरुण्या	३	११
ग्रीवाभङ्गाभिरामं	४१	१४८
च		
चित्रं महानेष बतावतारः	४३	१५१
चिन्तयन्ती जगत्सूतीं	८१	२२०
ज		
जनस्थाने भ्रान्तं	१२४	२८४
जा ठेरं व हसन्ती	६७	२००
जाने कोपपराङ्मुखी	४७	१६४
जे लङ्कागिरिमेहलासु	६८	२०१
जोह्लाई महुरसेण	९२	२३३

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
ण		
णवपुण्णिमामिअङ्कस्स	८८	२२८
णोल्लेइ अणोल्लमणा	१८	८६
त		
तइआ महगण्डत्थल	१६	८५
तथाभूतां दृष्ट्वा	१५	८४
तदप्राप्तिमहादुःख	८०	२२०
तरुणिमनि कलयति	११०	२५२
तस्याः सान्द्रविलेपन	५०	१७२
ताणं गुणग्गहणाणं	१०२	२४५
तिग्मरुचिरप्रतापो	५५	१८२
तुह वल्लहस्स गोसम्मि	८३	२२३
ते दृष्टिमात्रपतिता	१४०	३१७
त्वं मुग्धाक्षि विनैव	३१	१३२
त्वामस्मि वच्मि विदुषां	२३	९३
त्वामालिख्य प्रणयकुपितां	३६	१३९
द		
दर्पान्धगन्धगज	६२	१९३
दूरादुत्सुकमागते	२९	१२४
दैवादहमद्यतया	२३	१०५
द्वारोपान्तनिरन्तरे	२२	८९
ध		
धन्यासि या कथयसि	६१	१९१
न		
न चेह जीवितः कश्चित्	९४	२३६

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
निरुपादानसम्भार	५७	१८४
निशितशरधिया	८५	२२५
नि:शेषच्युतचन्दनम्	२	९
प		
पथि पथि शुकचञ्चु	९९	२४१
पंथिअ ण एत्थ	५८	१८५
परिच्छेदातीत:	१०७	२५०
परिमृदितमृणालीम्लान	२८	१२३
पविसन्ती घरवारं	९०	२३०
पश्येत्कश्चिच्चल चपल	१२३	२७९
प्रथममरुणच्छाय:	१३९	३९६
प्रधनाध्वनि धीर धनु	१०५	२४८
प्रस्थानं वलयै: कृतं	३५	१३९
प्रेमार्द्रा: प्रणयस्पृश:	३२	१३५
प्रेयान् सोऽयमपाकृत:	९८	२४०
ब		
बन्दीकृत्य नृपद्विषां	११९	२७४
ब्राह्मणातिक्रमत्यागो	१३०	२९२
भ		
भद्रात्मनो दुरधिरोह	१२	७९
भम धम्मिअ वीसद्धो	१३८	३८०
भुक्तिमुक्तिकृदेकान्त	७८	२१७
भूयो भूय: सविध	१०६	२४९
भ्रमिमरतिमलस	१२६	२८८
म		
मथ्नामि कौरवशतं	१३१	२९३
महिलासहस्सभरिए	७१	२०४
माए घरोवअरणं	६	२१
मात्सर्यमुत्सार्य	१३३	३४९
मुखं विकसितस्मितं	९	५८
मुग्धे मुग्धतयैव	७६	२१४
य		
य: कौमारहर:	१	६
यस्य मित्राणि मित्राणि	७३	२११
यस्यासुहृत्कृततिरस्कृति	११३	२६५
येषां दोर्बलमेव दुर्बलं	१०४	२४७
र		
रहकेलिहिअणिअसण	९७	२३९
राईसु चन्दधवलासु	८४	२२४
राकासुधाकरमुखी	४९	१६९
रामोऽसौ भुवनेषु	१०९	२५१
रुधिरविसरप्रसाधित	७७	२१६
रे रे चञ्चललोचनाञ्चित	१०३	२४६
ल		
लावण्यं तदसौ कान्ति:	७५	२१३
लिखन्नास्ते भूमिं	१००	२४३
व		
वाणीरकुडंगुड्डीण	१३२	२९४
वारिज्जन्तो विपुणो	८६	२२५
विनिर्गतं मानदमात्म	५	१४
विपरिअरए लच्छी	१३७	३६८

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
वियदलिमलिनाम्बु	२७	१२२
विहलं खलं तुमं सहि	९१	२३२
श		
शनिरशनिश्च तमुच्चैः	५९	१८६
शून्यं वासगृहं	३०	१३०
श्रीपरिचयाज्जडा	१०	६०
स		
सहिणवणिहुवणसमरम्मि	८९	२२९
सहि विरइऊण माणस्स	६९	२०२
साकं कुरङ्गकदृशा	१२१	२७७
सा पत्युः प्रथमापराध	३४	१३७

विषय	श्लोकाङ्क	पृष्ठाङ्क
सायं स्नानमुपासितं	७९	२१९
साहेन्ती सहि सुहअं	७	३२
सुव्वइ समागसिस्सदि	१९	८७
सेयं ममाङ्गेषु सुधारस	२५	१०५
सो मुद्धसामलंगो	८७	२२७
स्तुमः कं वामाक्षि	४८	१६८
स्निग्धश्यामलकान्ति	११२	२६०
स्वच्छन्दोच्छलदच्छ	४	१३
ह		
हरस्यघं सम्प्रति	४६	१६३
हरस्तु किंचित्परिवृत्त	१२९	२९१
हा मातस्त्वरितासि	३८	१४२

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का व्य प्र का श

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

॥ श्रीः ॥

काव्यप्रकाशः

'रहस्यबोधिनी'-हिन्दीव्याख्याविभूषितः

प्रथम उल्लासः

(मङ्गलम्)

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय समुचितेष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति—

रहस्यबोधिनी

महामहोपाध्याय परम-माहेश्वर मम्मट भट्ट स्वनिर्मित कारिकाओं की व्याख्या करने की इच्छा से मङ्गलाचरण की अवतरणिका उपस्थित करते हैं—'ग्रन्थे'ति। सम्बन्ध और प्रयोजन के ज्ञान से आहित शुश्रूषाजन्यश्रुतिविषय-शब्द-सन्दर्भ को 'ग्रन्थ' कहते हैं, 'सम्बन्ध-प्रयोजनज्ञानाहितशुश्रूषाजन्यश्रुतिविषयशब्दसन्दर्भो ग्रन्थः'। और वाच्य - वाचकत्वरूप सम्बन्ध माना जाता है। शीघ्र विघ्न-विघात-सामर्थ्य-प्रतिपत्तिरूप प्रयोजनवती लक्षणा से तत्प्राक्काल अर्थ को 'आरम्भ' शब्द से समझना चाहिए। 'विघ्नविघातायेति। 'प्रतिबन्धक अदृष्टविशेष' को विघ्न कहते हैं, उसका विघात अर्थात् विशेष ध्वंस, तदर्थं समुचित अर्थात् प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप अपने मनोनुकूल कविभारती रूप इष्ट देवता का ग्रन्थकार मम्मटाचार्य 'परामृशति' स्मरण करते हैं, अर्थात् अपने इष्ट देवता की स्तुति करते हैं। तथा च 'ग्रन्थारम्भप्राक्कालिक-विघ्नविघातफलकसमुचितेष्टदेवताकर्मकग्रन्थकृदभिन्नमम्मटकर्तृकवर्तमानकालिकपरामर्शानुकूलोव्यापारः' इस प्रकार से अवतरणिकावाक्य का शाब्द-बोध किया जाता है।

विशेष विवरण—श्रीमम्मटभट्ट ने स्वनिर्मित कारिकाओं की व्याख्या स्वयं की है।

ग्रन्थ का लक्षणः—

रहस्यबोधिनी में बताये हुए ग्रन्थलक्षण के अतिरिक्त एक अन्य लक्षण भी सुना जाता है 'पञ्चाङ्गकम् वाक्यं ग्रन्थः'—अवयव-पञ्चक से युक्त वाक्य को ग्रन्थ कहते हैं, इन पांच अवयवों को ही मीमांसक लोग 'अधिकरण' शब्द से कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

**नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥**

वृत्तिः—नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा, न च हृद्यैव तैः, तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम् । एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिः । अत एव जयति, जयतीत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ॥१॥

भारतीय परम्परा के अनुसार कार्य प्रारम्भ के पूर्व मङ्गलाचरण के द्वारा परमेश्वर का स्मरण किया जाता है। उससे निर्विघ्नतापूर्वक कार्य की समाप्ति हुआ करती है। अतः मङ्गलाचरण का एक मुख्य प्रयोजन विघ्नविघात भी है। ग्रन्थकार 'काव्यप्रकाश' नामक ग्रन्थरचना का कार्य आरम्भ कर रहे हैं, उसके निर्विघ्न समाप्ति हेतु वाङ्मय की अधीश्वरी कविभारती का इष्ट देवता के रूप में स्मरण करना उचित समझते हैं। उनका विश्वास है कि ब्रह्मदेव के जगन्निर्माण की अपेक्षया कविवाङ्निर्माण उत्कृष्टतर है। इसी आशय को मङ्गलाचरण के द्वारा वे बता रहे हैं—'नियतिकृतेति'।

(१) नियति के द्वारा उत्पन्न किये गये बन्धनों से रहित, केवल आह्लादमय, अपने से अतिरिक्त अन्य किसी का भी अवलम्बन न करने वाली और नवरसों के कारण आकर्षक लगने वाली तथा सृष्टि का निर्माण करने वाली कविभारती (कविवाणी) अर्थात् कवि की सरस्वती विजय को प्राप्त होती हैं (उत्कृष्ट रहती हैं)।

ग्रन्थकार स्वयं ब्रह्मदेव की सृष्टि के स्वरूप का विवरण करते हुए अपनी मङ्गलाचरणकारिका की व्याख्या करते हैं—'नियतिशक्त्येति'।

ब्रह्मदेव की सृष्टि 'अदृष्ट' अथवा असाधारण धर्म रूप 'नियति' की शक्ति से जकड़ी रहती है। उसका स्वरूप सुख-दुःख और मोह से पूर्ण रहता है। वह 'परमाणु' आदि उपादान कारण तथा 'कर्म' आदि सहकारी कारणों के पराधीन रहती है। और वह छः रसों से युक्त होती है। तथापि उसकी हृदयङ्गमता अर्थात् मनोरमता निश्चित नहीं रहती, किन्तु कवि की वाक्सृष्टि ब्रह्मदेव की सृष्टि से भिन्न-स्वरूप की रहती हैं, इसीलिए वह विजय को प्राप्त होती है, अर्थात् श्रेष्ठ समझी जाती है। यहाँ 'जयति' पद के अर्थ से नमस्कार अभिव्यञ्जित होता है अर्थात् 'उसे मैं प्रणाम करता हूँ'—यह अभिप्राय प्रकट होता है ॥ १ ॥

विशेष विवरण—अनुबन्ध-चतुष्टय—

प्रथम कारिका के द्वारा मङ्गलाचरण करने के पश्चात् प्रस्तुत ग्रन्थ के विषय, प्रयोजन आदि अनुबन्धचतुष्टय का निरूपण कर्त्तव्य होता है। मनुष्य की प्रवृत्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(विषय-प्रयोजने)

इहाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

वृत्तिः—कालिदासादीनामिव यशः । श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम् ।

तभी हो पाती है कि जब उसे इष्ट-साधनता और कृति-साध्यता का ज्ञान रहता है। अर्थात् यह काम मेरे लिए हितकर है और मैं इस काम को अच्छी तरह कर सकता हूँ। ऐसा समझने पर ही मनुष्य उस कार्य में प्रवृत्त होता है, अन्यथा नहीं। 'इदं मत् इष्टसाधनम्' इस ज्ञान में 'इदं' शब्द से विषय, 'इष्ट' शब्द से प्रयोजन, 'साधनम्' शब्द से सम्बन्ध और 'मत्' शब्द से अधिकारी का ज्ञान होता है। इन चारों का ज्ञान ही मनुष्य को किसी कार्य में प्रवृत्त कराता है। अतएव 'प्रवृत्ति-प्रयोजकज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्' यह 'अनुबन्ध' का लक्षण विद्वानों ने किया है। इससे स्पष्ट है कि विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी इन चारों को 'अनुबन्ध' शब्द से कहा जाता है। प्रत्येक ग्रन्थ के आरम्भ में उक्त चारों अनुबन्धों का निरूपण करना ग्रन्थकार के लिए आवश्यक माना गया है। उक्त चार अनुबन्धों में से विषय तथा प्रयोजन ये दो अनुबन्ध मुख्य होते हैं। इसलिए इनका शब्द से निरूपण करना आवश्यक है। अवशिष्ट, अधिकारी तथा सम्बन्ध ये दो अनुबन्ध पूर्वोक्त दो अनुबन्धों की अपेक्षा गौण हैं। इनका ज्ञान, बिना शब्द के भी अर्थतः हो सकता है ॥ १ ॥

इसी अभिप्राय से परम-माहेश्वर मम्मटभट्ट ने अग्रिम कारिका में विषय और प्रयोजन का प्रतिपादन किया है।

विषय और प्रयोजन—

इस ग्रन्थ में प्रतिपादन किया जाने वाला 'विषय' अभिधेय है। वह सप्रयोजन है, अर्थात् काव्य का लक्षण, उसके भेद, गुण, दोष, अलंकार ये सब इस ग्रन्थ के विषय हैं और ये ही काव्य के प्रयोजन की सिद्धि में प्रधान साधन हैं। इसलिए अब काव्य के प्रयोजनों को बताते हैं—

(२) काव्य का निर्माण 'यश' के लिए, 'अर्थ (धन) प्राप्ति' के लिए, 'लोकव्यवहार के ज्ञान' के लिये, 'अनिष्ट (अकल्याण) के विनाश के लिये, और 'तत्क्षण (सद्यः) परम आनन्द की प्राप्ति के लिए' तथा स्त्री के समान रस भरे शब्दों से उचित उपदेश (कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य का उपदेश) के लिये होता है ॥२॥

काव्य रचना (निर्माण) से कवि को कालिदास आदि महाकवि के समान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम् । आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम् । सकलप्रयोजनमौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं प्रभुसम्मितशब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत्काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म, तत् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ॥ २ ॥

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

(काव्य-हेतुः)

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥

---

(१) यश की प्राप्ति, रत्नावली नाटिका के निर्माता राजा श्री हर्ष से धावक आदि विद्वानों के समान (२) धन की प्राप्ति होती है। यह काव्य ही (३) राजा आदि के साथ किये जाने वाले उचितव्यवहार का ज्ञान कराता है एवम् (४) सूर्य आदि ईश्वर की स्तुति से मयूर कवि के कुष्ट रोग निवारण के समान अनर्थ का निवारण करता है और समस्त प्रयोजनों में प्रधानभूत काव्य-पाठ या श्रवण से तत्काल ही समुत्पन्न हुए रसास्वाद से अन्यान्य विषयों के ज्ञान से रहित (५) परम आनन्द की अनुभूति कराता है। तथा राजाज्ञा के समान शब्द-प्रधान वेदादि शास्त्रों से विलक्षण, एवम् अर्थप्रधान पुराण, इतिहास आदि से भी विलक्षण, और शब्द तथा अर्थ दोनों के अप्रधान रहने से रस के साधक व्यञ्जना-व्यापार की प्रधानता के द्वारा लोकोत्तर वर्णन शैली में जो निपुण-कविकर्मरूप काव्य है, वह (६) स्त्री के समान बड़ी सरसता के साथ राम आदि के तुल्य आचरण करना चाहिए, रावण आदि के तुल्य नहीं। इस प्रकार कवि तथा सहृदय पाठक आदि दोनों को यथोचित उपदेश करता है। इसलिए काव्यनिर्माण तथा उसके अध्ययन में अवश्य प्रयत्न करना चाहिए ॥ २ ॥

काव्यनिर्माण में कारण

इस प्रकार 'काव्य' का प्रयोजन बताने के बाद स्वयं ग्रन्थकार ही काव्य निर्माण में कारणभूत तत्त्वों को बता रहे हैं—

(३) काव्य के निर्माण करने में कवि की स्वाभाविक प्रतिभारूप 'शक्ति', लोक व्यवहार, शास्त्र और काव्य आदि के अवलोकन से प्राप्त होने वाली कुशलता,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वृत्तिः—शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः, यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मकलोकवृत्तस्य, शास्त्राणां छन्दोव्याकरणाभिधानकोशकलाचतुर्वर्गगजतुरगखड्गादिलक्षणग्रन्थानां, काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्, आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद्व्युत्पत्तिः, काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ॥ ३ ॥

काव्यनिर्माण तथा काव्य की आलोचना करने की पद्धति को जानने वाले गुरु से प्राप्त की हुई शिक्षा के अनुसार किया जाने वाला अभ्यास, ये तीनों सामूहिकरूप से उस काव्य के निर्माण में हेतु (कारण) हैं ॥ ३ ॥

(१) कवित्व के बीजभूत संस्कार विशेष को 'शक्ति' (प्रतिभा) कहते हैं, जिस 'शक्ति' (प्रतिभा) के बिना काव्य बनता (निर्माण) ही नहीं है, यदि कदाचित् तुकबन्दी के रूप में बन भी जाय, तो वह उपहास के योग्य हो जाता है।

(२) लोक अर्थात् चर-अचर (जंगम-स्थावर) सृष्टि के व्यवहार (लोकवृत्त), और शास्त्र अर्थात् छन्दःशास्त्र तथा व्याकरण, अभिधान अर्थात् संज्ञा-शब्दों के कोश (अमरकोषादि), कला अर्थात् भरत, कोहल, मतंग आदि के विरचित नृत्य-गीत आदि चौसठ प्रकार की कलाओं के प्रतिपादक लक्षण ग्रन्थ, चतुर्वर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक ग्रन्थ, गज (हाथी), तुरग (अश्व= घोड़ा) आदि पशुओं के लक्षण-प्रतिपादक शालिहोत्रादि ग्रन्थ, तथा खड्गादि लक्षणग्रन्थों और महाकवि-संबन्धी अर्थात् महाकवियों द्वारा विरचित काव्यों के; 'आदि' शब्द के ग्रहण से इतिहासादि के पर्यालोचन से होने वाली व्युत्पत्ति (कुशलता), तथा—

(३) जो लोग काव्य की रचना और उसकी विवेचना करना जानते हैं, उनकी सूचनाओं (उपदेशों) के अनुसार स्वयं नवीन कविता (श्लोक आदि) के रचने में और उसी में पद योजना के सम्बन्ध में पुनः पुनः प्रवृत्ति अर्थात्—अभ्यास—ये तीनों समष्टि (समूह) के रूप में, पृथक्-पृथक् (अलग-अलग) नहीं, उस काव्य के उद्भव अर्थात् निर्माण और उसको उत्कृष्ट बनाने में हेतु (कारण) है अर्थात् तीनों तत्त्वों की समष्टि (समूह) काव्यनिर्माण में तथा उसकी उत्कृष्टता में हेतु है। ये तीनों स्वतन्त्र रूप से पृथक्-पृथक् कारण नहीं हैं ॥ ३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(काव्यलक्षणम्)

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

(सू० १) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणा-
वनलङ्कृती पुनः क्वापि ॥

वृत्तिः—दोषगुणालङ्कारा वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यनेनैतदाह, यत्सर्वत्र सालङ्कारौ, क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ १ ॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः। रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता।

काव्य का लक्षण

इस प्रकार काव्य निर्माण का हेतु बताकर उसके स्वरूप को बताते हैं—

(सू० १) वह (काव्य) दोषों से रहित, और गुणों के सहित तथा साधारणतया अलंकारसहित किन्तु कहीं-कहीं अलंकाररहित भी शब्द और अर्थ (दोनों के समूह) काव्य कहलाते हैं।

दोष, गुण और अलंकारों को आगे चलकर क्रमशः सात, आठ, नौ और दसवें उल्लासों में कहेंगे। "अनलंकृती पुनः क्वापि" इस वाक्यांश में प्रयुक्त 'क्वापि' अर्थात् 'क्वचित्' पद से ग्रन्थकार यह बताना चाहते हैं कि काव्य में 'शब्द' और 'अर्थ' सर्वत्र अलंकारों से विभूषित ही रहते हैं। किन्तु क्वचित् अलंकार के प्रकट न हो सकने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है।

जैसे—स्फुटालंकारविरहविशिष्ट काव्य का उदाहरण—'मेरी कौमार अवस्था का जिसने अपहरण किया वही प्रियतम पति अब भी है और चैत्र मास की चन्द्रिका-पूर्ण वे ही रात्रियाँ हैं, विकसित हुई मालती की सुगन्ध से पूर्ण और धूलिकदम्ब की कामोत्तेजक (उन्मादक) पवन भी वही वह रही है तथा मैं भी वही हूँ। (सभी सामग्री पुरानी हैं और दीर्घकाल तक उपभुक्त होने से उसके प्रति उत्सुकता के होने का कोई अवसर भी नहीं है) फिर भी न जाने क्यों आज वहाँ नर्मदा के तट पर उस वेंत की लता से वेष्टित वृक्ष के नीचे (जहाँ कितनी ही बार अपने प्रियतम के साथ सम्भोग कर चुकी हूँ) उसी काम-क्रीड़ा के विलासों के लिए मेरा मन उत्कण्ठित हो रहा है ॥ १ ॥

इस काव्य में अलंकार की स्पष्टता नहीं है और रस की प्रधानता होने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तद्भेदान् क्रमेणाह—

(उत्तमकाव्यम्)

(सू० २) इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये-
वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥ ४ ॥

वृत्तिः—इदमिति काव्यम् बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्य-

---

कारण उस (रस) को 'रसवत् अलंकार' के रूप में भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'रसवत् अलंकार' रस के प्रधान न रहने पर ही होता है। इस काव्य की रचना 'शार्दूल विक्रीडित' छन्द में की गयी है।

विशेष विवरण—इस काव्य में यद्यपि 'हरो' 'वरः' इत्यादि 'अनुप्रास' की स्पष्टता रहने पर भी प्रकृत शृङ्गार रस के प्रतिकूल वर्ण होने से उसे अलङ्कार के रूप में नहीं गिना जा सकता है। एवं 'कारण' के न रहने पर भी 'कार्योत्पत्तिकथनरूप विभावना' का लक्षण यहाँ घटित होने से 'विभावनालंकार' की स्पष्टता और कारण के रहने पर भी कार्याभाव के कथनरूप 'विशेषोक्ति' अलंकार का लक्षण घटित होने से 'विशेषोक्ति' अलंकार की स्पष्टता यद्यपि यहाँ प्रतीत होती है, तथापि अभाव बोधक 'नञ्' आदि शब्दों के उपादान करने पर ही उक्त दो अलंकारों की स्पष्टता स्वीकार की गयी है, आर्थिक प्रतीति पर नहीं। अतः दोनों में से किसी भी अलंकार की स्पष्टता (स्फुटता) न हो सकने से इस काव्य को अस्फुट अलंकार का उदाहरण कहा गया है। यदि यह कहें कि यहाँ पर विप्रलम्भ शृङ्गार रस की स्फुटता रहने से रसवदलंकार स्फुट हो रहा है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'रस की अप्रधानता' होने पर ही 'रसवदलंकार' होता है। पञ्चम उल्लास में 'रसवदलंकार' का उदाहरण 'अयं स रशनोत्कर्षी' दिया जायेगा ॥ १ ॥

काव्य के प्रयोजन, काव्यनिर्माण का हेतु (साधन) तथा काव्य का लक्षण बताने के पश्चात् अब अवसर प्राप्त काव्य के भेदों को कहते हैं—

उत्तम काव्य

(सू. २) 'वाच्य' अर्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्य अर्थ, जहाँ अधिक चमत्कारपूर्ण (रंजक) हो, वह काव्य 'उत्तम' है, विद्वानों ने उस काव्य को 'ध्वनि' (ध्वनि-काव्य) कहा है ॥ ४ ॥

सूत्र में प्रयुक्त 'इदम्'—पद 'काव्य' का ज्ञापक है अर्थात् 'यह काव्य'। उपर्युक्त सूत्र का अर्थ संस्कृत में इस प्रकार होगा—'वाच्याद्' अभिधावृत्ति-प्रतिपाद्यादर्थाद् व्यङ्ग्ये व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्येऽर्थे अतिशायिनि अतिचमत्कारजनके सति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।

इदम् एतत् काव्यं बुधैः पण्डितैः उत्तमं काव्यं कथितं स्वीकृतम्, तदेव बुधैः ध्वनिपण्डितैः ध्वनिः कथितः ध्वनिरित्युच्यते ॥ २ ॥

'बुधैः' वैयाकरणों ने मुख्य (प्रधान) 'स्फोट' (स्फुटयतिप्रकाशयति अर्थम् इति स्फोटः—जो अर्थ को प्रकाशित करता है उसे 'स्फोट' कहते हैं) रूप जो व्यङ्ग्य अर्थ है उसकी अभिव्यक्ति करने वाले शब्द को 'ध्वनि' कहा है। उन वैयाकरणों के मत का अनुसरण करने वाले (आनन्दवर्धन आदि) अन्य विद्वानों ने भी वाच्यार्थ को गौण (अप्रधान, अमुख्य) बना देने वाले और व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति करने में सशक्त (समर्थ) रहने वाले शब्द तथा अर्थ दोनों की जोड़ी (दोनों के लिये) के लिये भी अर्थात् शब्दार्थ युगलरूप उत्तम काव्य के लिये भी वही 'ध्वनि' संज्ञा दी है। अर्थात् वैयाकरणों के उक्त व्यवहार को ध्यान में रखकर आलंकारिकों ने भी वाच्यार्थ को अभिभूत करने में सशक्त रहने वाला जो व्यङ्ग्य अर्थ उसके अभिव्यञ्जक 'शब्द' तथा 'अर्थ' के लिए 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया।

आलंकारिकों की ध्वनि संज्ञा का मूल आधार—'ध्वनि' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग वैयाकरणों ने किया था। उसी को 'आनन्दवर्धन' आदि ध्वनिवादी आलंकारिक आचार्यों ने अपना लिया। कारण यह था कि व्याकरण के अनुसार प्रधानभूत 'स्फोट' की अभिव्यक्ति शब्द से होती है, इसलिए स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द को 'ध्वनि' शब्द से कहा जाता है।

स्फोटवाद—

वैयाकरणों का मुख्य सिद्धान्त 'स्फोटवाद' है। 'स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः' जिससे अर्थ प्रकाशित होता है उसे 'स्फोट' कहते हैं। यह 'स्फोट' आठ प्रकार का होता है। उनमें से पदार्थ की प्रतीति पदस्फोट से और वाक्यार्थ की प्रतीति वाक्यस्फोट से होती है। गकार, ओकार, विसर्ग के योग से निष्पन्न हुआ 'गौः' पद गाय का ज्ञान कराता है। 'गौः' यह पद, सुनाई देने वाली 'ध्वनि' नहीं है किन्तु उससे अभिव्यक्त एक मानस स्फोट है। क्योंकि कर्णगोचर होने वाली 'ध्वनि' तो क्षणिक है। एक 'ध्वनि' के उच्चारण के बाद जबतक दूसरी 'ध्वनि' का उच्चारण किया जाता है तब तक पहला 'ध्वनि' (वर्ण) नष्ट हो जाता है। इस कारण अनेक वर्णों के समुदायरूप पद की स्थिति एक साथ नहीं हो सकती। उसी प्रकार नानापदों के समुदायरूप वाक्य की भी एक साथ उपस्थिति नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में पदार्थ अथवा वाक्यार्थ की प्रतीति कराने के लिए वैयाकरणों ने स्फोटसिद्धान्त की कल्पना की है। वैयाकरणों का कथन है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा—

निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।

वर्णोच्चारण के समय पूर्व-पूर्व वर्ण के अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है। उस संस्कार के सहित अन्तिम वर्ण के श्रवण से तिरोभूत हुए वर्णों को ग्रहण करने वाली 'एक पद' की प्रतीति मन में उत्पन्न होती है, उसी को 'पदस्फोट' शब्द से कहा गया है। इसी 'पदस्फोट' के द्वारा पदार्थ की प्रतीति होती है, कान से सुने गये शब्द या ध्वनि से नहीं। क्योंकि उस समय तो अनेक वर्णों के समुदायरूप पद की निष्पत्ति होना असम्भव ही है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व पद के अनुभव से उत्पन्न होने वाले संस्कारों के सहित अंतिम पद के श्रवण से अविद्यमान पदों को भी ग्रहण करने वाली 'एक वाक्य' की प्रतीति मन में होती है। उसी को वैयाकरणों ने 'वाक्य-स्फोट' नाम दिया है। इसी से वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।

वैयाकरणों के उक्त स्फोटवाद का समर्थन नैयायिक विद्वान् नहीं करते, क्योंकि नैयायिकों के मत में 'शब्द' अनित्य है और 'स्फोट' को स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। किन्तु वैयाकरण 'स्फोट' को नित्य कहते हैं और उसी के आधार पर शब्द को नित्य मानते हैं। नैयायिक 'सत्-असत् अनेक वर्णावगाहिनी पदप्रतीति' तथा 'सत्-असत् अनेक पदावगाहिनी -वाक्यप्रतीति' को मानते हैं। किन्तु वे उसे स्फोट नहीं कहते और उसे नित्य भी नहीं मानते।

इसी तरह मीमांसकों ने भी वैयाकरणों के स्फोट-सिद्धान्त का समर्थन नहीं किया है। तथापि वे शब्द को नित्य मानते हैं।

वैयाकरणों के मत में 'स्फोट' की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वन्यात्मक शब्द से होती है। इसलिए उन्होंने 'प्रधानभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द' को 'ध्वनि' कहा है। उसी का अनुसरण कर आनन्दवर्धनाचार्यादि आलंकारिकों ने 'प्रधान-भूत व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ' के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।

ध्वनिकाव्य का उदाहरण—

जैसे—

तुम्हारे स्तन के अग्रभाग का चन्दन सम्पूर्णतया (बिल्कुल) मिट गया है। (यदि स्नान करने से यह चन्दन मिटा होता तो केवल अग्रभाग का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण स्तन पर से मिट जाता। किन्तु ऊपर उभरे हुए अग्रभाग पर से ही यह चन्दन मिटा हुआ है, इसलिए यह निश्चित ही है कि वह परपुरुष के आलिङ्गन से ही मिटा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे !
वापीं स्नातुमितो गताऽसि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥ २ ॥

(मध्यमकाव्यम्)

वृत्तिः—अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति प्राधान्येनाऽधमपदेन व्यज्यते ॥ ४ ॥

हुआ है।) अधर की रक्तिमा (राग) बिल्कुल छूट गयी है, आँखों का काजल बिल्कुल ही पुछ गया है और तुम्हारी यह कृश तनु (शरीर) रोमाञ्चयुक्त हो रही है। अपनी बान्धवरूप सहेली की पीड़ा को न समझने वाली और मिथ्याभाषण करने वाली अरे दूती ! तू यहाँ से बावली पर स्नान करने के लिए गयी थी, उस अधम (नायक) के समीप नहीं न गयी ॥ २ ॥

यह सब कहने वाली विदग्ध उत्तम नायिका है। वह अच्छी तरह से जान रही है कि यह दूती, नायक के साथ सम्भोग करके आयी है और जिससे यह सब कहा जा रहा है वह तो जानती ही है। इसलिए वक्ता तथा बोद्धा के वैशिष्ट्य से यह कहा जा रहा है कि 'तू उसी के पास गयी थी और रमण करने के लिए ही गयी थी', यह बात विशेषतया 'अधम' पद से अभिव्यक्त हो रही है। इसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ में अधिक चमत्कार है इसलिए उक्त काव्य को उत्तम काव्य या ध्वनिकाव्य के उदाहरण में उपस्थित किया गया है।

विशेष विवरण—इसमें (दूती से) विदग्ध उत्तम नायिका स्नान से होने वाले कार्यों को प्रकाशित. करने के बहाने उसके सम्भोग को अभिव्यक्त कर रही है। 'मिथ्यावादिनि' सम्बोधन देकर उस नायक के पास बिना गयी ही 'मैं उसके पास जाकर और विविध प्रकार से उसे मनाने पर भी वह नहीं आया' इस प्रकार झूठे ही बता रही हो, यह व्यञ्जित किया गया है। 'अज्ञातपीड़ागमे' सम्बोधन से 'स्वार्थपरायणता' व्यक्त की गयी है। 'दूति' सम्बोधन देकर उसकी 'मिथ्याभाषण-शीलता' व्यक्त की गयी है, इसीलिए नायिका ने उसे 'सखि' पद से सम्बोधित नहीं किया है क्योंकि वह नायिका की प्रतारणा कर रही है। 'स्तनतट' पद से स्तन के प्रान्तभाग (तट) पर मर्दन अधिक किये जाने से उस पर से चन्दन पुछ गया है, क्योंकि अन्यत्र नायक के हाथ का स्पर्श न होने से वहाँ का चन्दन यथास्थित बना हुआ है, यह बात सूचित की गयी है। 'अधर' पद से कामशास्त्र में अधरोष्ठ का ही चुम्बन करना कहा गया है। इसलिए अधरोष्ठ की ही रक्तिमा दूर हुई है, यह बताया गया है। 'दूरमनञ्जने' इससे प्रान्त भाग में ही नेत्रचुम्बन का विधान कामशास्त्र ने बताया है, इस कारण प्रान्त भाग की ही अञ्जनशून्यता हुई है, यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सू० ३) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

वृत्तिः—अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥ ३ ॥

बताया गया है, इन सब में प्रधानतया व्यञ्जक 'अधम' पद ही है। क्योंकि 'अन्य नायिकासम्भोग' विप्रलम्भ का उद्दीपक होने से वाच्यार्थ की अपेक्षा उसमें व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारयुक्त प्रतीत हो रहा है। यही उसमें प्रधानता है।

काव्य भेदः २—गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य—

इसके पूर्व 'ध्वनि-काव्य' का लक्षण और उदाहरण कहने के पश्चात् काव्य के 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक द्वितीय भेद का लक्षण बताते हुए उसका उदाहरण भी बता रहे हैं—

मध्यमकाव्य

(सू० ३)—'व्यङ्ग्यार्थ' वैसा न होने पर अर्थात् वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारपूर्ण न होने पर 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' नामक दूसरे प्रकार का काव्य होता है, जिसे 'मध्यम काव्य' कहते हैं।

'अतादृशि' का अर्थ, वाच्य की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ के अधिक उत्तम न होने पर'—किया गया है। इसी स्थिति में 'गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य होता है। जैसे—

अशोक वृक्ष की ताजी तोड़ी हुई मञ्जरी को हाथ में लिए हुए ग्राम के नवीन तरुण नायक को देख-देखकर तरुणी के मुख की कान्ति मलिन होती जा रही है ॥ ३ ॥

'यहाँ अशोक अथवा वेतस् के लतागृह में ग्रामतरुण के साथ मिलने और स्वयं संकेत देकर भी गृहकार्य में लगे रहने के कारण निकलने का समय न मिलने से तरुणी नायिका निश्चित समय पर वहाँ नहीं जा पाई, किन्तु ग्रामतरुण समय पर पहुँच गया। उसे देखकर तरुणी की मुखकान्ति मलिन हो रही है।'

यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारी प्रतीत हो रहा है। उस कारण यहां व्यङ्ग्यार्थ गुणीभूत हो गया है। इसलिये यह गुणीभूत व्यङ्ग्यार्थ-नामक मध्यम काव्य का उदाहरण है ॥ ३ ॥

विशेष विवरण—'ग्रामतरुण' पद से यह व्यक्त किया गया है कि ग्राम में एक ही तरुण है। अनेक युवतियों के द्वारा चाहे जाने के कारण उससे पुनर्मिलन होना बड़ा कठिन है। इसलिए पश्चात्ताप की अधिकता व्यक्त हो रही है। 'तरुणं तरुण्या' पद से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वृत्ति—अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसंकेता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतं, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ॥

(अधमकाव्यम्)

(सू० ४) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

वृत्तिः—चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम् । अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम् । अवरमधमम् ।

दोनों के तरुण रहने के कारण परस्परानुराग का उत्कर्ष अभिव्यक्त किया गया है। इस 'मध्यम' काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की अनतिशायिता (अधिक चमत्कारक न होना) दो प्रकार से होती है । (१)—वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थ जहाँ तुल्य हों, और (२)—वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ में चमत्कार जहाँ न्यून (कम) हो । प्रस्तुत उदाहरण व्यङ्ग्यार्थ के न्यून चमत्कार का है । दोनों अर्थों की तुल्यता का उदाहरण पञ्चम उल्लास में 'ब्राह्मणातिक्रमत्यागः' से दिया जायेगा ।

ग्रन्थकार के दिये उदाहरण में "वञ्जुललतागृह में स्वयं संकेत देने पर भी वह नहीं पहुंची" यह व्यङ्ग्यार्थ, गुणीभूत (गौण-अप्रधान) हो गया है, क्योंकि 'तरुणी की मुखकान्ति के मालिन्य को अधिकता रूप वाच्यार्थ' ही पूर्वोक्त व्यङ्ग्यार्थ से अधिक चमत्कारक (आस्वादजनक) है ॥ ३ ॥

काव्य-भेद-३—चित्रकाव्य (अधमकाव्य)—

इसके पूर्व काव्य के ध्वनि (उत्तम) तथा गुणीभूत व्यङ्ग्य (मध्यम) भेदों के लक्षण और उदाहरण प्रदर्शित किये गये । अब काव्य के तृतीय भेद 'चित्रकाव्य' का लक्षण और उदाहरण दे रहे हैं—

अधम काव्य

[सू० ४]—व्यङ्ग्यार्थ से रहित 'शब्दचित्र' और 'अर्थचित्र' दो प्रकार का अधमकाव्य बताया गया है ।

इस काव्य को 'गुण' तथा 'अलंकार' से युक्त होने के कारण 'चित्र' नाम दिया गया है । उसी तरह 'अव्यङ्ग्य' का अर्थ स्पष्टरूप से प्रतीयमान होने वाले व्यङ्ग्यार्थ से रहित किया गया है, क्योंकि 'व्यङ्ग्यार्थ-शून्य' काव्य का होना तो सम्भव ही नहीं है । अभिप्राय यह है कि जिस काव्य में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति स्फुट (स्पष्ट) नहीं हो पाती उसे अधम काव्य कहते हैं । 'अवर' का अर्थ अधम किया गया है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥ ४ ॥

शब्दचित्र का उदाहरण—

जैसे—

'मन्दाकिनी (गङ्गाजी) वः (तुम्हारे) मन्दताम् (पाप और अज्ञान को) अह्नाय (शीघ्र) भिद्यात् (दूर करे)'। यह उपर्युक्त उदाहरण का प्रधान वाक्य है, अवशिष्ट सभी मन्दाकिनी के विशेषण हैं।

उपर्युक्त श्लोक का भाव यह है कि गङ्गाजी तुम्हारे अज्ञान अथवा पाप को शीघ्र ही दूर करें। जो मन्दाकिनी स्वतन्त्ररूप से उछलती हुई, निर्मल (अच्छ) तट के गर्तों (कच्छ-कुहर) में अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली जो जल की धारा (छातेतराम्बुच्छटा), उससे जिनके अज्ञान का (मोह का) नाश हो गया है, ऐसे महर्षियों के द्वारा जिसमें प्रसन्नतापूर्वक सन्तोष के साथ स्नान तथा सन्ध्या-वन्दनादि आह्निक अर्थात् दैनिक कार्य किये जा रहे हैं, इस प्रकार की मन्दाकिनी तुम्हारी मन्दता (अज्ञान) को अथवा पाप को दूर करे।)

मन्दाकिनी के लिए दिये गये विशेषणों से उसकी महर्षियों के द्वारा सेवा किये जाने की योग्यता का प्रतिपादन और दूसरे तीर्थों की अपेक्षा उसका महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। इसके आगे अन्य नदियों से उसकी श्रेष्ठता बता रहे हैं—

'जिनमें बड़े-बड़े मेढक दिखलाई पड़ रहे हैं, ऐसी कन्दराओं से युक्त (उद्यन्तः प्रकाशमानाः उदाराः महान्तः दर्दुराः भेकाः यासु एवं विधाः दर्यः कन्दराः यस्यां सा) और दीर्घकाय तथा अदरिद्र अर्थात् बड़े ऊँचे एवं शाखा-पत्र-पुष्प आदि से लदे हुए जो वृक्ष उनके गिराने (द्रोह) के कारण ऊपर उठने वाली बड़ी-बड़ी लहरों से अत्यन्त गर्व का अनुभव करने वाली (मेदुरमदा) गङ्गाजी तुम्हारे पाप अथवा अज्ञान आदि को शीघ्र नष्ट करें ॥ ४ ॥

इस काव्य में कोई व्यङ्ग्यार्थ नहीं है, केवल छकार का, महर्षि-हर्ष का, आह्निकाह्नाय तथा मन्द मन्द में 'दकार' का शब्दालंकारअनुप्रासजन्य चमत्कार है। इसलिए इसें चित्रकाव्य कहा गया है। यद्यपि यहाँ मन्दाकिनी विषयक 'रति' भाव और अन्य तीर्थों की अपेक्षा इसका आधिक्य वर्णन करने के कारण व्यतिरेक-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥ ५ ॥

इति मम्मटभट्ट-विरचिते काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजन-कारण-स्वरूप-विशेषनिर्णयो नाम प्रथम उल्लासः ॥

अलंकार व्यङ्ग्य कहा जा सकता है तथापि कवि का तात्पर्य अनुप्रास में है। इसलिए उपर्युक्त व्यङ्ग्य अलंकार और रतिभाव तिरोहित हो जाता है। अतः यह काव्य अव्यङ्ग्य ही है ॥ ४ ॥

अर्थचित्र का उदाहरण—

'हयग्रीव वध' नाटक का यह पद्य है--शत्रुओं के अभिमान को नष्ट करने वाले जिस 'हयग्रीव' को विना उद्देश्य के ही परिभ्रमणार्थ अपने राजभवन से निकला हुआ सुनकर भी उद्विग्न हुए देवराज इन्द्र के द्वारा जिसकी अर्गला डाल दी गयी है उस अमरावती नगरी-रूप नायिका ने भय से द्वाररूप अपनी आँखों को मानों बन्द सा कर लिया ॥ ५ ॥

इस पद्य में 'नेत्रस्थानापन्न' द्वार हैं। भय होने पर नेत्रों को मूँद लेना स्त्रियों का स्वभाव होता है। इस पद्य में वंशस्थ छन्द है, और 'निमीलिताक्षीव' यह उत्प्रेक्षालंकार है। कवि का तात्पर्य उत्प्रेक्षालंकार के प्रदर्शन मे होने से यहाँ वीर रसादि के व्यङ्ग्य रहने पर भी वे तिरोहित हो जाते हैं। इसलिये यह अव्यङ्ग्य काव्य है।

प्रथम उल्लास का सारांश--

विशेष विवरण--प्रथम उल्लास में (१) मङ्गलाचरण (२) काव्य के प्रयोजन (३) काव्य के साधन (४) काव्य का लक्षण (५) काव्य के भेदों का वर्णन किया है। मुख्य रूप से काव्य के तीन भेद दिखाये गये हैं—(१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य, (३) चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य उसे कहते हैं, जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण हो। गुणीभूत व्यङ्ग्य-काव्य उसे कहते हैं जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक अथवा उसके तुल्य चमत्कारपूर्ण रहता है और चित्रकाव्य उसे कहते हैं जहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति स्फुट न होती हो। इन तीन भेदों में से 'ध्वनिकाव्य को' 'उत्तमकाव्य', गुणीभूत व्यङ्ग्यकाव्य' को 'मध्यमकाव्य' तथा 'चित्रकाव्य' को 'अधमकाव्य'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहा गया है। चित्रकाव्य की रचना में प्राथमिक विद्यार्थियों की प्रवृत्ति विशेषतया रहा करती है, महाकवियों की नहीं। महाकवियों की तो प्रधानतया ध्वनिकाव्य के निर्माण में ही प्रवृत्ति हुआ करती है। अतएव चित्रकाव्य को अधम या अवर काव्य कहा जाता है। यही कारण है कि आन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में "प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव प्राधान्येन काव्यमिति स्थितमेतत्।" कहा है।

मम्मटभट्टकृत-काव्यप्रकाश की रहस्यबोधिनी व्याख्या में काव्य के प्रयोजन-कारण तथा स्वरूप-विशेष निर्णय नामका प्रथम उल्लास समाप्त हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथ द्वितीय उल्लासः

(शब्दार्थ-स्वरूपनिरूपणात्मकः)

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

(शब्दत्रैविध्यम्)

(सू० ५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ॥

वृत्तिः—अत्रेति काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

द्वितीय उल्लास—

काव्य का लक्षण कहने के पश्चात् लक्षण में दिये गये 'शब्दार्थों' का विवेचन करने के लिए ग्रन्थकार अवसर प्राप्त होने के कारण शब्द तथा अर्थ के स्वरूप को बता रहे हैं—

शब्द की त्रिविधता—(तीन भेद)–

[सू० ५]—यहाँ (काव्य में) वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक-भेद से शब्द के तीन प्रकार होते हैं ।

'अत्र—यहाँ अर्थात् 'काव्य में' यह अर्थ समझना चाहिए । इन वाचक, लाक्षणिक, और व्यञ्जक तीन प्रकार के शब्दों का स्वरूप आगे कहा जायेगा ।

विशेष विवरण—शब्द के ये तीन भेद केवल साहित्य-शास्त्र में ही उपलब्ध होते हैं, अन्य शास्त्रों में वाचक और लक्षक इन द्विविध शब्दों का ही स्वीकार किया गया है । इसी कारण ग्रन्थकार को 'अत्र' शब्द का विशेषरूप से प्रयोग करना पड़ा और उसका अर्थ 'काव्य में' कहना पड़ा । क्योंकि यदि साहित्यिक विद्वान् अन्य शास्त्रो के समान 'व्यञ्जक' शब्द न बतावें तो काव्य में किसी प्रकार का चमत्कार ही न रहेगा । इन तीन प्रकार के शब्दों में 'वाचक' शब्द मुख्यार्थ को बताता है इसलिए उसे सर्वप्रथम रखा गया है । 'लाक्षणिक' शब्द 'वाचक' शब्द पर आश्रित रहने के कारण उसे वाचक के पश्चात् रखा गया तथा व्यञ्जक शब्द को पूर्वोक्त दोनों की अपेक्षा रहती है इसलिए उसे तृतीय स्थान दिया गया है । शब्द का यह त्रिविध भेद केवल उसकी उपाधि के कारण किया गया है । वह भेद शब्द का अपना निजी नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का विभाग शब्दों में निश्चित नहीं किया जा सकता कि अमुक शब्द केवल वाचक है, अमुक शब्द केवल लक्षक है अथवा अमुक शब्द केवल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0, In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अर्थत्रैविध्यम्)

(सू० ६) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः—

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।

(चतुर्थः तात्पर्यार्थः)

(सू० ७)—तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये

व्यञ्जक है। एक ही शब्द तीनों प्रकार के रूपों को धारण कर सकता है। अतः उक्त त्रिविध भेद शब्द के न होकर उसकी उपाधियों के हैं।

अर्थ के तीन भेद—

उपाधि के कारण शब्द के जैसे तीन भेद होते हैं उसी तरह अर्थ के भी तीन भेद होते हैं—

[सू० ६] उन वाचक, लक्षक और व्यञ्जक शब्दों के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं।

वाच्येति। 'वाच्य आदि' शब्द से वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य समझने चाहिएँ।

अर्थ का चौथा भेद—'तात्पर्यार्थ'—

[सू० ७] कुमारिलभट्ट आदि कतिपय मीमांसकों के मत में उक्त त्रिविध अर्थों के अतिरिक्त चौथे प्रकार का 'तात्पर्यार्थ' भी होता है ॥ ६ ॥

विशेष विवरण—अर्थ की विवेचना करते हुए मम्मटभट्ट ने 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' कहकर मीमांसकों के सिद्धान्त को बताया है। शब्दार्थ का विवेचन, व्याकरण, न्याय और मीमांसा इन तीन शास्त्रों में विशेषरूप से पाया जाता है। व्याकरणशास्त्र पद-पदार्थों का विवेचन करता है, इसलिए उसे 'पदशास्त्र' कहते हैं। न्यायशास्त्र प्रमाणों का विवेचन करता है इसलिए उसे 'प्रमाणशास्त्र' कहते हैं। मीमांसाशास्त्र वाक्यार्थ करने की पद्धति को बताता है इसलिए उसे 'वाक्यशास्त्र' कहते हैं। किसी भी वाक्य का वाक्यार्थ-बोध (शाब्द-बोध) करने में उक्त तीनों शास्त्रों का उपयोग होता है। यही कारण है कि शाब्द-बोध करने में कुशल विद्वानों को 'पद-वाक्य-प्रमाण-पारावारीण' इस अलङ्करण से विभूषित किया जाता रहा है।

वाक्यार्थ के सम्बन्ध में मीमांसकों की दो धारायें प्रसिद्ध हैं। कुमारिलभट्ट की धारा के अनुयायी विद्वान् 'अभिहितान्वयवाद' को मानते हैं और प्रभाकर 'गुरु' की धारा के अनुयायी विद्वान् 'अन्विताभिधानवाद' को मानते हैं।

अभिहितान्वयवाद—

इस सिद्धान्त में प्रथमतः पदों से पदार्थों की प्रतीति अभिधा-शक्ति से होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

तदनन्तर उन अभिहित पदार्थों का परस्पर सम्वन्ध वाक्यार्थ-मर्यादा से उपस्थित होता है, जो पदों से उपस्थित नहीं हुआ था। इसलिए प्रथमतः पद अपनी अभिधा-शक्ति के द्वारा पदार्थों का बोधन करते हैं। बाद में वक्ता के तात्पर्य के अनुरोध से उनका आपस में अन्वय (सम्बन्ध) होता है। तब उससे वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। इस रीति से वाक्यार्थ-बोध होने में अभिधा-शक्ति से अभिहित पदार्थों का अन्वय मानने के कारण कुमारिलभट्ट के सिद्धान्त को 'अभिहितान्वयवाद' कहते हैं। इस सिद्धान्त में पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है। इसी कारण उस सम्बन्ध (संसर्ग) को 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं तथा उसी को 'वाक्यार्थ' भी कहते हैं। उस वाक्यार्थ की बोधकशक्ति को 'तात्पर्याख्याशक्ति' कहते हैं। यह शक्ति पूर्वोक्त तीनों शक्तियों से भिन्न चौथी शक्ति है। इसका उल्लेख तन्त्रवार्तिक की व्याख्या न्यायसुधा में सोमेश्वरभट्ट ने किया है। ग्रन्थकार की दृष्टि से यद्यपि यह तात्पर्याशक्ति चौथी है तथापि मीमांसकों की दृष्टि से वह तीसरी ही है, क्योंकि मीमांसक व्यञ्जनाशक्ति को स्वीकार नहीं करते हैं।

ग्रन्थकार स्वयं अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद का परिचय करा रहे हैं—आकाङ्क्षेति। मूल ग्रन्थ की इस पंक्ति को सरलता से समझने के लिए पदों का अन्वय इस प्रकार करना चाहिए—'वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां आकांक्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद् समन्वये'। पदार्थों के होने वाले परस्पर सम्बन्ध को यद्यपि पदों के द्वारा नहीं बताया जाता तथापि आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधि के बल पर वह भासित होता है। उसी को तात्पर्यार्थ एवं वाक्यार्थ कहते हैं। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने 'तात्पर्यार्थो विशेषवपुः अपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति' शब्दों से कहा है। अब मूल पंक्ति का अर्थ यह हुआ कि जिन पदार्थों का स्वरूप आगे कहा जायेगा उन पदार्थों का आकाङ्क्षा-योग्यता और सन्निधि के बल से परस्पर सम्बन्ध (समन्वय) होने पर पदों से प्रतीत न होने वाला अर्थ भी वक्ता के तात्पर्य का विषय होने के कारण उसे विशेष प्रकार का तात्पर्यरूप वाक्यार्थ प्रतीत हुआ माना जाता है। यह अभिहितान्वयवादियों (कुमारिलभट्ट के अनुयायियों) का मत है।

विशेष विवरण—श्रोता की 'जिज्ञासा' को ही आकाङ्क्षा कहते हैं। जिन पदों के सुनने पर अन्य पदों की 'आकाङ्क्षा' होती है, उन पदों के समुदाय को ही वाक्य कहते हैं। जिन पदों के सुनने पर अर्थज्ञान के लिए अन्य पदों की आकाङ्क्षा जहाँ नहीं रहती, उन्हें वाक्य नहीं कहते। जैसे—'गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः ।

इस प्रकार के आकांक्षारहित पदसमुदाय को वाक्य नहीं कहा जाता। इसी प्रकार पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध होने में किसी प्रकार की बाधा का अभाव रहना ही **'योग्यता'** शब्द से कहा जाता है। पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध होने में जहाँ कोई बाधा होती है वहाँ उस पदसमुदाय को वाक्य नहीं कहते और न उससे वाक्यार्थबोध ही होता है। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' यहाँ पद-समुदाय तो है, किन्तु 'योग्यता' नहीं है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति 'वह्नि' से सिंचाई नहीं कर सकता। इस कारण 'वह्नि' और 'सिञ्चन' के सम्बन्ध में बाधा उपस्थित हो जाने से उपर्युक्त पदसमुदाय में योग्यता का अभाव है। इसलिए 'वह्निना सिञ्चति' को वाक्य नहीं कहा जाता। एक ही व्यक्ति के द्वारा विना विलम्ब किये अनेक पदों का उच्चारण करना **'सन्निधि'** शब्द से कहा जाता है। यदि कोई व्यक्ति विलम्ब से अर्थात् एक-एक, दो-दो, तीन-तीन घंटे के अन्तर से अनेक पदों का उच्चारण करे भी तो उसे वाक्य नहीं कहेंगे, क्योंकि उन पदों के उच्चारण में **'सन्निधि'** (आसत्ति) नहीं है। अतः **आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधि से युक्त पदसमुदाय** को ही वाक्य कहते हैं और उसी से वाक्यार्थ-बोध होता है। निष्कर्ष यह है कि—**अभिहितान्वयवाद** में पहले पदों से केवल पदार्थ (अनन्वित-पदार्थ) उपस्थित होते हैं। उसके पश्चात् पदों की परस्पराकाङ्क्षा, उनकी योग्यता और सन्निधि के बल से तात्पर्याशक्ति के द्वारा उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ का ज्ञान (बोध) होता है। तात्पर्या वृत्ति स्वीकार करने की आवश्यकता इसलिए होती है कि यदि विना वृत्ति के अर्थ-बोध माना जाय तो अतिप्रसङ्ग होने लगेगा। इसलिए वाक्यार्थरूप संसर्ग (सम्बन्ध) के लिए शब्द की **तात्पर्यावृत्ति** को मानना आवश्यक हो जाता है, और उस वृत्ति के द्वारा प्रतिपादित अर्थ 'तात्पर्यार्थ' कहलाता है।

अन्विताभिधानवाद—

पहले बता चुके हैं कि वाक्यार्थबोध (शाब्दबोध) के संबंध में दूसरी धारा **'अन्विताभिधानवाद'** के नाम से प्रसिद्ध है। यह धारा **प्राभाकरमत** के अनुयायियों की है। इस धारा में यह बताया जा रहा है कि प्रथमतः ही 'अभिधाशक्ति' के द्वारा वाक्यगत पद, 'अन्वित पदार्थों' को ही बताते हैं। इसी कारण इसे **अन्विताभिधान** कहा गया है, क्योंकि **'अन्वित अर्थ'** का ही इसमें अभिधान (अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतिपादन) होता है। इस सिद्धान्त में पदार्थों का अन्वय कराने के लिए 'तात्पर्या-शक्ति' मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि अर्थों का अन्वय तो पहले से ही सिद्ध है।

वाच्य एवेति। प्राभाकर के 'अन्विताभिधानवाद' को बताने वाली मूलपंक्ति का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थ इस प्रकार है—'पदार्थों का परस्पर सम्बन्धरूप वाक्यार्थ'–वाच्य ही होता है। अर्थात् उसे बताने के लिए तात्पर्याशक्ति की आवश्यकता नहीं होती। यह अन्विताभिधानवादियों का मत है।

विशेष विवरण—भाट्टमत में 'तात्पर्याशक्ति' मानने की आवश्यकता इसलिए होती है कि वाक्यगत प्रत्येक पद, 'अभिधाशक्ति' के द्वारा अपने-अपने अर्थ को ही केवल बताते हैं। अर्थात् पहले केवल पदार्थ ही अभिहित (अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतिपादित) होते हैं, और बाद में उन अभिहित पदार्थों का आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि (आसत्ति) के बल पर परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) किया जाता हैं। 'पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध', पदों के द्वारा उपस्थित न होने पर भी आकांक्षा आदि के द्वारा उस (सम्बन्ध) का भासित होना ही 'तात्पर्यार्थ' (वाक्यार्थ) है। यही दोनों मतों में अन्तर है। प्राभाकरमत में 'वाक्यार्थ और वाच्यार्थ' एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं है। 'अभिधा शक्ति' से जो अर्थ बताया जाता है उसे ही 'वाच्यार्थ' (शक्यार्थ, मुख्यार्थ) कहते हैं, और 'अन्वित अर्थ' को वाक्यार्थ कहते हैं। उस 'अन्वित अर्थरूप वाक्यार्थ' को ही जब अभिधाशक्ति के द्वारा बताया जाता है, तब उस वाक्यार्थ को ही वाच्यार्थ कहना पड़ता हैं। और भाट्टमत में वाक्यार्थ और वाच्यार्थ भिन्न-भिन्न हैं, दोनों एक नहीं हैं। क्योंकि 'पद' अपने-अपने शुद्ध (अनन्वित) अर्थ को ही अभिधाशक्ति के द्वारा बताते हैं, इसलिए वे 'शुद्ध अर्थ' ही वाच्यार्थ हैं। बाद में उन अभिहित अर्थों (वाच्यार्थों) का वक्ता के तात्पर्य (तात्पर्यावृत्ति) के अनुसार परस्पर आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के अनुरोध से 'अन्वय' (सम्बन्ध) होता है। तब अन्वितार्थ प्रतीत होता है, जो 'किसी पदका' अपना शुद्ध अर्थ नहीं है, वही 'वाक्यार्थ' कहलाता है। इसलिए इस मत में वाच्यार्थ और वाक्यार्थ भिन्न-भिन्न हैं।

प्राभाकर अपने 'अन्विताभिधानवाद' को पुष्ट करने के लिए यह तर्क उपस्थित करते हैं कि पदों से पदार्थों का ज्ञान संकेतग्रह के पश्चात् ही होता है। और वह संकेतग्रह (संकेत का ग्रहण=ज्ञान) 'लोक-व्यवहार' से होता है। जैसे—कोई छोटा बालक या बोलने वालों की भाषा (बोली) न समझने वाला कोई अन्य-भाषाभाषी व्यक्ति, जिसे यह ज्ञान नहीं है कि 'किस शब्द' का क्या अर्थ है ? वह देखता-सुनता रहता है कि किसी ने किसी से कहा कि 'पुस्तकम् आनय'। तब दूसरा व्यक्ति पुस्तक लाता है। किन्तु समीप बैठा हुआ बालक या अन्य-भाषा-भाषी व्यक्ति न 'पुस्तक' का अर्थ और न 'आनय' का अर्थ जानता है। तथापि उसने एक के 'शब्दों' को सुना है और दूसरे के 'व्यापार' (कार्य) को देखा है। उससे उसके मन पर एक संस्कार पैदा होता है। तदनन्तर कहने वाला व्यक्ति पुनः किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अर्थानां व्यञ्जकता)

(सू० ८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ॥

तत्र वाच्यस्य यथा—

(वाच्यार्थस्य व्यञ्जकता)

माए घरोवअरणं अज्ज हु णत्थित्ति साहिअं तुमए ।
ता भण किं करणिज्जं एमेअ ण वासरो ठाइ ॥ ६ ॥
(मातर्गृहोपकरणमद्य खलु नास्तीति साधितं त्वया ।
तद् भण किं करणीयमेवमेव न वासरः स्थायी) ॥ ६ ॥

से कहता है कि—'पुस्तकं नय, वस्त्रम् आनय'। तब सुनने वाला व्यक्ति पुस्तक ले जाता है और वस्त्र ले आता है। वहाँ बैठा हुआ बालक या अन्य-भाषाभाषी व्यक्ति 'बोलने वाले के शब्दों' को सुनता है। और 'दूसरे के द्वारा की जाती हुई क्रिया' को देखता है। उस कारण वह बालक या अन्य-भाषाभाषी व्यक्ति धीरे-धीरे 'पुस्तक ले जाओ, वस्त्र लाओ' उक्त शब्दों के भिन्न-भिन्न अर्थों को समझने लगता है। इस व्यवहार से उसे 'संकेतग्रह' होता है। यह संकेतग्रह केवल 'शुद्ध अर्थ' में न होकर उस 'अन्वित अर्थ' में ही होता है। अतः कहना होगा कि किसी भी 'पद' का 'अनन्वित अर्थ' में संकेतग्रह न होने से उस 'अनन्वित अर्थ' की उपस्थिति भी 'पद' से नहीं होती है। इसलिए 'अन्वित अर्थ' का ही बोधन 'अभिधा-शक्ति' के द्वारा किया जाता है। अतः अन्विताभिधानवाद का स्वीकार करना उचित ही है।

पूर्वोक्त तीनों अर्थों का व्यञ्जकत्व—

अभी तक ग्रन्थकार ने तीन प्रकार के शब्द और उनके तीन प्रकार के अर्थों का विवेचन किया। साथ ही अभिहितान्वयवादियों के मत में तात्पर्यार्थ भी होता है, यह बताया।

अब ग्रन्थकार यह कह रहे हैं कि उक्त तीनों प्रकार के अर्थों में व्यञ्जकत्व भी रहता है। अर्थात् वाच्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है और लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ भी व्यञ्जक हो सकता है।

अर्थों की व्यञ्जकता—

[सू० ८] प्रायः सभी अर्थों में व्यञ्जकत्व भी माना जाता है।

तत्रेति। उनमें से वाच्य अर्थ के व्यञ्जकत्व का (व्यञ्जक होने का) उदाहरण दे रहे हैं। जैसे—

माए इति। (मातरिति)। हे मातः! आज घर में सामग्री (दाल, चावल, आटा, ईन्धन आदि) नहीं है, ऐसा तुमने कहा है, तो अब बताओ कि क्या करना है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र स्वैरविहारार्थिनीति व्यज्यते ।

(लक्ष्यार्थस्य व्यञ्जकता)

लक्ष्यस्य यथा—

साहेन्ती सहि सुहअं खणे खणे दुम्मिआसि मज्झकए ।
सम्भावणेहकरणिज्जसरिसअं दाव विरइअं तुमए ॥ ७ ॥

क्योंकि दिन ऐसा ही तो नहीं बना रहेगा, अर्थात् थोड़ी ही देर में दिन ढल जायगा, तब क्या होगा ॥ ६ ॥

अत्र स्वैरविहारेति । यहाँ व्यभिचारिणी रूप वक्त्री के सम्बन्ध से 'यह स्वैर-विहारार्थिनी है' यह बात 'व्यंजना' से सामाजिकों के समक्ष में आ जाती है ।

विशेष विवरण—यहाँ कहने वाली के वैशिष्ट्य के कारण वाच्यार्थ, 'व्यञ्जक' बन गया है । उपनायक के साथ समागम की इच्छा रखने वाली 'कोई स्वैरिणी स्त्री' लकड़ी-इंधन, दाल, चावल आदि लाने के बहाने बाहर जाने के लिए अपनी 'सास' से कह रही है ।

इस काव्य में **'किं करणीयम्'** अर्थात् करने के लिए कुछ नहीं है, यह सूचित किया गया है । 'किम्' शब्द क्षेपार्थक है । दूसरी बात यह है कि **'वासर'** (दिवस) 'एवमेव' (इसी प्रकार से) 'स्थायी' (स्थिर) नहीं रहेगा । और **'मातः'** कहने से उसकी आज्ञा उल्लंघनीय नहीं है, यह सूचित किया गया है । **'गृहे'** कहने से आवश्यकता सूचित की गयी है । **'उपकरणम्'** कहने से अन्य प्रकार से उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है, यह सूचित किया गया है । इसी प्रकार **'अद्य'** कहने से आज ही जुटाना उचित है, **'साधितम्'** कहने से घर में कुछ होने की संभावना भी नहीं है, **'त्वया'** कहने से मेरी अपनी कल्पना नहीं है, **'तत्'** कहने से तुम्हें अवश्य बताना है, **'भण'** कहने से मैं तुम्हें पूछ रही हूँ, **'एवमेव'** कहने से दिन ढल जाने पर तुम कहोगी तो भी मुझ जैसी **'कुलाङ्गना'** का बाहर निकलना ठीक नहीं होगा अर्थात् मैं बाहर नहीं ही निकलूँगी—यह सूचित किया गया है ।

इस पद्य के द्वारा कहने वाली व्यभिचारिणी अर्थात् स्वैरविहारार्थिनी यह स्त्री है अर्थात् यह कहने वाली बहू स्वच्छन्द विहार करने के लिए उपपति के पास जाना चाहती है—इस व्यङ्ग्यार्थ को व्यञ्जना के द्वारा रसिक सामाजिक लोग समझ लेते हैं । इस वक्तृवैशिष्ट्य के कारण यहाँ वाच्यार्थ ही 'व्यञ्जक' हुआ है ॥ ६ ॥

लक्ष्यस्येति । बोद्धव्य के वैशिष्ट्य से लक्ष्यार्थ के व्यञ्जक होने का उदाहरण, जैसे—

साहेन्तीति । (साधयन्तीति) । हे सखि ! उस सुन्दर नायक के पास बार-बार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(साधयन्ती सखि ! सुभगं क्षणे क्षणे दूनासि मत्कृते ।
सद्भावस्नेहकरणीयसदृशकं तावद्विरचितं त्वया) ॥ ७ ॥

अत्र मत्प्रियं रमयन्त्या त्वया शत्रुत्वमाचरितमिति लक्ष्यं तेन च कामुकविषयं सापराधत्वप्रकाशनं व्यङ्ग्यम् ।

(व्यङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जकता)

व्यङ्ग्यस्य यथा—

उअ णिच्चलणिप्पंदा भिसिणीपत्तम्मि रहेइ बलाआ ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ सङ्खसुत्ति व्व ॥ ८ ॥

जाकर मेरे लिए उसकी अनुनय विनय करते हुए तुमने बड़ा कष्ट उठाया है । मेरे प्रति अपनी सद्भावना और स्नेह के उचित जो तुम्हें करना चाहिए था वह तुमने कर लिया ॥ ७ ॥

अत्र मत्प्रियमिति । इस पद्य में 'मेरे प्रियतम' के साथ 'रमण' करके तूने मेरे साथ 'शत्रुता' निबाही है—'यह लक्ष्यार्थ' है और उससे 'कामुक के अपराधी होने का प्रकाशन' व्यङ्ग्य है ।

विशेष विवरण—इस काव्य में सखी की थकान से अनुमित (कल्पित) 'स्वप्रियोपभुक्तत्व' रूप अर्थ से 'मित्रत्व' रूप मुख्यार्थ का बाध होने के कारण 'सदृश' पद से 'शत्रुत्वाचरण' रूप विसदृश अर्थ लक्षित होता है । 'मत्कृते' कहने से 'स्वकृते' और 'दूनासि' कहने से 'हृष्टासि' अर्थ लक्षित होता है । इस लक्ष्य रूप वाक्यार्थ से 'कामुकी और कामुक दोनों सापराध हैं'—इस व्यङ्ग्यार्थ को सहृदय लोग व्यञ्जना के द्वारा समझ लेते हैं ।

इस काव्य के द्वारा बताया हुआ 'वञ्चिता नायिका' का कथन प्रथम उल्लास के ध्वनि काव्य के उदाहरण 'निःशेषच्युतचन्दनं' के समान ही प्रतीत हो रहा है । उसमें भी 'विदग्ध उत्तम नायिका' के द्वारा भेजी हुई दूती ने उसका सन्देश उसके नायक से कहने के बजाय स्वयं उसके साथ स्वैर विहार (रति-क्रीड़ा) करके उत्तम नायिका की जैसे प्रतारणा की है, ठीक वैसे ही यहाँ पर भी इस 'वञ्चिता नायिका' की सखी ने स्वयं ही उसके प्रियतम के साथ रतिसुख का आनन्द लेकर उसकी प्रतारणा की है । यह बात वक्ता तथा बोद्धा (कहने वाले तथा समझने वाले) के वैशिष्ट्य से व्यञ्जित होती है । इस रीति से लक्ष्यार्थ के व्यञ्जक होने का उदाहरण दिखाया गया है ॥ ७ ॥

व्यङ्ग्यस्येति । अब व्यङ्ग्यार्थ के व्यञ्जक होने का उदाहरण दिखा रहे हैं । जैसे—

उअेति । (पश्येति) । देखो, कमलिनी के पत्र पर निश्चल और निष्पन्द (बिना हले-डुले) बैठी हुई यह बलाका (बगुली) निर्मल मरकत मणि के पात्र में रखी हुई शङ्खाकार सीप की तरह शोभा दे रही है ॥ ८ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव) ॥ ८ ॥

अत्र निष्पन्दत्वेन आश्वस्तत्वं । तेन च जनरहितत्वम्, अतः सङ्केतस्थानमेतदिति कयाचित्कञ्चित्प्रत्युच्यते । अथवा मिथ्या वदसि, न त्वमत्रागतोऽभूरिति व्यज्यते ॥

(वाचकशब्दलक्षणम्)

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

(सू० ९) साक्षात्सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥७॥

अत्र निष्पन्दत्वेनेति । यहाँ पर 'बलाका निष्पन्द, निश्चल बैठी है' यह 'वाच्यार्थ' है इस वाच्यार्थ से 'बलाका की आश्वस्तता' अर्थात् निर्भयता लक्षित होती है। और 'उस आश्वस्तत्व' रूप लक्ष्यार्थ से 'यह स्थान जनरहित है, एकान्त स्थान है', यह व्यंग्यार्थ निष्पन्न होता है। इस व्यंग्यार्थ से 'यह संकेत स्थान उत्तम है' यह दूसरा व्यङ्ग्यार्थ मिलता है। इस प्रकार से कोई नायिका अपने किसी कामुक प्रिय को सूचित कर रही है।

अथवा 'तुम मिथ्या बोल रहे हो। तुम यहाँ नहीं आये' ऐसा व्यङ्ग्यार्थ सूचित किया जा रहा है। क्योंकि 'यदि तुम आये होते तो यह बलाका ऐसी निश्चल-निष्पन्द कदापि नहीं रह सकती थी' अतः यह अर्थ, प्रथम-व्यंग्यार्थ से व्यंजना द्वारा सूचित होता है ॥ ८ ॥

विशेष विवरण—स्थानान्तर प्रापिका शरीर-क्रिया को 'चलन' कहते हैं और स्थानान्तर में अप्रापिका अवयव क्रिया को 'स्पन्द' कहते हैं। अतः 'निश्चल' 'निष्पन्द' कहने से 'पुनरुक्ति' नहीं समझनी चाहिए। संभोग की अपेक्षा विप्रलंभ की मधुरता अधिक रहने से ग्रन्थकार ने 'अथवा' कहकर जो व्यङ्ग्यार्थ बताया है कि संकेत स्थान पर बगुले की निष्पन्दता से स्पष्ट है कि वहाँ किसी के आने की आहट तक नहीं हो पायी है। इसलिए तुम झूठ कह रहे हो कि 'मैं आया था किन्तु तुम नहीं आयी।' इस व्यंग्यार्थ को मिथ्यावादी के प्रति वह व्यक्त कर रही है ॥ ८ ॥

वाचक शब्द का स्वरूप (लक्षण)—

वाचकादीनामिति। 'तीन प्रकार के शब्दों तथा अर्थों' को बताकर अब वाचक आदि त्रिविध शब्दों के स्वरूप को क्रमशः बताते हैं—

[सू० ९] साक्षात् संकेतित अर्थात् व्यवधान रहित 'संकेत-ग्रहण' जिसका किया गया हो, ऐसे अर्थ को जो शब्द, अभिधा शक्ति के द्वारा बताता है उसे 'वाचक' शब्द कहते हैं ॥ ९ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इहागृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात्सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।

इहागृहीत० इति । लोक-व्यवहार में संकेत-ग्रहण किये बिना शब्द के अर्थ की प्रतीति नहीं हुआ करती । इसलिए शब्द को अर्थ-विशेष का प्रतिपादन करने के लिए संकेत की सहायता लेनी पड़ती है । अतः जिस शब्द का जिस अर्थ में व्यवधान से रहित संकेत-ग्रहण किया जाता है, वह शब्द उस अर्थ का 'वाचक' कहा जाता है ।

विशेष विवरण—शब्द के अर्थज्ञान से रहित लोगों को संकेत-ग्रह कैसे हुआ करता है ? उसे हम अभी बता चुके हैं । 'किसी वस्तु को यहाँ रखो, वहाँ से उठाओ' इस प्रकार के व्यवहार में एक शब्द को हटाकर दूसरे शब्द का, वैसे ही एक अर्थ की जगह दूसरे अर्थ का रखा जाना इत्यादि प्रक्रिया को **'आवाप–उद्वाप'** कहते हैं । 'निष्कर्ष' यह है कि लोकव्यवहार में संकेत का ग्रहण आवाप-उद्वाप के द्वारा होता है । इसलिए संकेत ग्रहण का प्रधान साधन 'लोकव्यवहार' को ही समझा जाता है । लोक-व्यवहार के अतिरिक्त अन्यान्य उपाय भी निम्नलिखित कारिका में बताये गये हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष; विवृति अर्थात् व्याख्या और सिद्ध (ज्ञात) पद के सान्निध्य से 'संकेत' का ग्रहण होना बताया गया है ।

इनमें 'पठ्' पढ़ना आदि धातुपाठ से अथवा 'आधारोऽधिकरणम्' आदि सूत्रों से 'पठ्' धातु तथा 'अधिकरणम्' आदि पदों का 'संकेत-ग्रहण' 'व्याकरण' से होता है । यथा—'गौः तथा गवयः' यह 'उपमान प्रमाण' का उदाहरण है । इसकी सहायता से 'गवय' शब्द का संकेत-ग्रहण हो जाता है । 'कोष' तथा 'आप्तवाक्य' से नवीन वस्तुओं के नाम का ज्ञान होना सर्वानुभव-सिद्ध ही है । 'विवृति' (व्याख्या) से भी संकेत-ग्रह होता है । उसी तरह 'वाक्य-शेष' और 'सिद्ध-पद' (ज्ञात शब्द) की 'सन्निधि' से नवीन शब्द के अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है । ये सब संकेतग्रह के उपाय बताये गये हैं ॥ ९ ॥

संकेतयुक्त अर्थ के विषय में अनेक मत—

यह संकेतग्रह (शक्तिग्रह) किसमें होता है ? इस प्रश्न पर अनेक लोगों के अनेक विचार हैं—कुछ लोग 'जाति' में, कुछ लोग 'व्यक्ति' में और कुछ लोग **'जाति-विशिष्ट व्यक्ति'** में संकेत ग्रह (शक्तिग्रह) का होना मानते हैं । यद्यपि साधारणतया सम्पूर्ण लोकव्यवहार व्यक्ति से ही सम्बन्धित देखा जाता है तथापि प्रत्येक व्यक्ति में संकेत ग्रह मानने पर 'आनन्त्य' और एक व्यक्ति में मानने पर 'व्यभिचार' ये दो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सङ्केतितार्थे विप्रतिपत्तिः)

(सू० १०) सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव, तथाऽप्यानन्त्याद्व्यभिचाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यत इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव संकेतः ।

उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च । वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च । सिद्धोऽपि द्विविधः—पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषा-

---

दोष होते हैं। इसलिए 'व्यक्ति' में संकेतग्रह को न मानकर महाभाष्यकार ने शब्द के—'जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और यदृच्छाशब्द' ये चार विभाग किये हैं। यदि 'व्यक्ति' में ही संकेतग्रह मान लो महाभाष्यकार के द्वारा प्रदर्शित यह चार प्रकार का शब्दविभाग नहीं बन पायेगा, क्योंकि 'गौः' 'शुक्लः' 'चलः' 'डित्थः' इन चारों शब्दों से 'व्यक्ति' का ही वोध होगा। इसलिए 'व्यक्ति' में शक्ति न मानकर उसके उपाधिभूत 'जाति' 'गुण' 'क्रिया' और 'यदृच्छारूप' धर्मों में ही शक्तिग्रह मानना समुचित प्रतीत होता है। इस उपर्युक्त विचार से ही ग्रन्थकार इस प्रकार लिखते हैं—

[सू० १०]—'संकेतित अर्थ' जाति आदि (जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा) भेदों से चार प्रकार का होता है। अथवा—'मीमांसकों' के मत से केवल 'जाति' को ही संकेतित अर्थ माना जाता है।

यद्यप्यर्थेति। यद्यपि लाना, ले जाना आदि अर्थ-क्रिया का (सफल क्रिया का) निर्वाहक होने से प्रवृत्ति–निवृत्ति रूप व्यवहार के योग्य 'व्यक्ति' ही होता है। इसलिए व्यवहार को देखकर होने वाला 'संकेतग्रह' (शक्तिग्रह) व्यक्ति में ही होना चाहिए। किन्तु आनन्त्य और व्यभिचार–दोष के उपस्थित होने के कारण उसमें (व्यक्ति में) संकेतग्रह स्वीकार करना ठीक नहीं है। और 'गौः' जातिवाचक, 'शुक्लः' गुणवाचक, 'चलः' क्रियावाचक, 'डित्थः' संज्ञावाचक (यदृच्छावाचक), इन सब शब्दों से केवल व्यक्ति की ही उपस्थिति मानने पर उपर्युक्त चारों पदों का विषय–विभाग नहीं बनता है। इस कारण भी 'व्यक्ति' में शक्तिग्रह न मानकर व्यक्ति की उपाधिभूत 'जाति', 'गुण', 'क्रिया' और 'यदृच्छा' रूप धर्म में ही शक्तिग्रह होता है।

उपाधि के भेद से शब्दों का चतुर्विध विभाग—

उपाधिश्चेति। यह उपाधि मुख्यतया दो प्रकार का होता है। (१)—वस्तु का यथार्थ धर्म और (२)—वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा से उस अर्थ में आरोपित। वक्ता की यदृच्छा से सन्निवेशित उपाधि, यदृच्छात्मकरूढि शब्दों में रहता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये 'न हि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौरिति'। द्वितीयो गुणः शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते। साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः।

डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यते इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक

है। वस्तु धर्म भी दो प्रकार का होता है—(१)-सिद्धरूप (२)-साध्यरूप। सिद्धरूप वस्तुधर्म भी दो प्रकार का होता है—(१) पदार्थ का प्राणप्रद (जीवनाधायक), और (२) विशेषता का आधान कराने का कारण।

(१) तत्राद्य इति। इनमें से पहला अर्थात् वस्तु का प्राणप्रद सिद्धधर्म 'जाति' कहलाता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ग्रन्थ में कहा है कि—'गौ' स्वरूपतः न 'गौ' होती है और न 'अगौ' होती है। किन्तु 'गोत्व-जाति' के सम्बन्ध से ही वह 'गौ' कहलाती है। इसलिए वस्तु के प्राणप्रद अर्थात् जीवनाधायक वस्तु-धर्म को ही 'जाति' कहते हैं।

(२) द्वितीय इति। दूसरा अर्थात् वस्तु का विशेषाधानहेतुभूत सिद्ध वस्तु-धर्म 'गुण' कहलाता है। क्योंकि 'शुक्ल' आदि गुणों के कारण ही सत्ताप्राप्त वस्तु अपने सजातीय अन्य पदार्थों से भिन्नता को प्राप्त होती है। 'गौः' के साथ गुणवाचक 'शुक्ल' विशेषण दूसरी गौओं की अपेक्षा उसकी विशेषता को (भिन्नता को) सूचित करता है।

(३) साध्य इति। इनमें से साध्यरूप वस्तुधर्म 'क्रिया' कहलाता है। यह साध्यरूप वस्तुधर्म पूर्वापरीभूत समस्त व्यापार क्रियारूप होता है, अर्थात् चावलादि के पकाने में चूल्हा जलाकर उस पर बर्तन रखने से लेकर उसके उतारने तक पहले-पीछे किये जाने वाले सम्पूर्ण व्यापार-कलाप को 'क्रिया' शब्द से कहते हैं।

(४) डित्थेति। 'डित्थ' आदि किसी व्यक्ति-विशेष के वाचक रूढि शब्दों का पूर्व-प्रदर्शित स्फोट की प्रक्रिया के अनुसार पूर्व-पूर्व वर्णानुभव-जनित संस्कार के सहित अन्तिम वर्ण के श्रवण से गृहीत होने वाला गकार, ओकार, विसर्जनीय आदि के क्रम-भेद से रहित बुद्धि में एक साथ उपस्थित होने वाले पदस्फोटात्मक स्वरूप को वक्ता की अपनी इच्छा के अनुसार डित्थ आदि पदार्थों में उपाधि रूप से (वाचक रूप से) सन्नि-विष्ट किया जाता है। अर्थात् किसी वस्तु (व्यक्ति-विशेष) का नामकरण करने वाला व्यक्ति, संज्ञारूप रूढ़ि शब्द का उस वस्तु के साथ सम्बन्ध स्थापित कर देता है, अर्थात् यह व्यक्ति अमुक नाम से समझा जायेगा। इस प्रकार यह रूढ़ संज्ञारूप यदृच्छात्मक शब्द होता है।

इस रीति से मम्मटभट्ट ने यहाँ तक यह बताया कि संकेतग्रह 'व्यक्ति' में नहीं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति। गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति महा-

---

होता है किन्तु उसके उपाधिभूतधर्म—जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा आदि—में होता है। उसी के अनुसार शब्दों का चार प्रकार से विभाग किया जाता है। इस चतुर्विध विभाग की पुष्टि के लिए महाभाष्यकार पतञ्जलि की सम्मति भी उपस्थित कर रहे हैं—

गौः शुक्ल इति। 'सफेद रंग की', 'चलती हुई', 'डित्थ' नाम की, 'गाय' इत्यादि वाक्य में, **'जाति-शब्द'** के रूप में **'गौः'** पद का, **'गुण शब्द'** के रूप में **'शुक्ल'** पद का, **'क्रिया-शब्द'** के रूप में **'चल'** पद का, और **'यदृच्छा शब्द'** के रूप में **'डित्थ'** पद का प्रयोग करने के कारण शब्दों की प्रवृत्ति (प्रवृत्ति-निमित्त) चार प्रकार से होती है यह महाभाष्यकार ने कहा है।

'परम अणुपरिमाण' की गुणों में गणना करने का रहस्य—

विशेष विवरण—उपर्युक्त शब्दविभाजन के अनुसार वस्तु के प्राणप्रदधर्म का नाम 'जाति' और उसके **विशेषाधान हेतुभूत धर्म** को 'गुण' कहना चाहिए। किन्तु **वैशेषिक-दर्शन** में 'शुक्ल आदि रूप' के समान **'परिमाण'** को भी **'गुण'** माना है। उस दर्शन में रूप-रसादि चौबीस गुणों में **'परिमाण'** की भी गिनती की गयी है। यह **'परिमाण'** मुख्यरूप से **'अणु'** तथा **'महत्'** दो प्रकार का होता है। किन्तु उन दोनों के साथ **'परम'** शब्द को जोड़कर उनका एक-एक भेद और भी हो जाता है। यानी **अणुपरिमाण के दो भेद होते हैं**—(१) 'अणु परिमाण' और (२) 'परम अणुपरिमाण'। उसी प्रकार **'महत् परिमाण' के भी दो भेद होते हैं**—(१) 'महत् परिमाण' (२) 'परम महत्परिमाण'। इनमें से **'परम अणुपरिमाण'** केवल परमाणु-संज्ञक पदार्थ अर्थात् पृथ्वी आदि द्रव्यों के सबसे सूक्ष्म और अविभाज्य अवयव में रहता है। इस परम अणुपरिमाण को **'पारिमाण्डल्यपरिमाण'** भी कहते हैं। यह **'परम अणुपरिमाण'** 'परमाणुरूप सूक्ष्मतम पदार्थ' का **प्राणप्रद धर्म है;** विशेषाधान का हेतु नहीं। इस कारण आपकी दी हुई 'जाति की परिभाषा' के अनुसार 'परमाणु परिमाण शब्द' को 'जाति' शब्द से ही कहना चाहिए। किन्तु **वैशेषिक-दर्शन** में उसे गुणों के साथ पढ़ा गया है। अतः सन्देह होता है कि उसे 'जाति' शब्द से कहें या 'गुण' शब्द से कहें? इस सन्देह के निराकरणार्थ **मम्मटभट्ट** ने कहा कि—वस्तुतः यह **'परम-अणुपरिमाण'** शब्द **'जातिवाचक'** ही है। किन्तु जैसे **'लोक-व्यवहार में'** भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रसिद्ध **'गुण', 'वृद्धि', 'नदी'** आदि शब्दों का **'व्याकरणशास्त्र में'** स्वकल्पित **'विशेष अर्थ'** में प्रयोग किया है, उसी तरह **'वैशेषिक दर्शन'** में भी **'परमाणु-परिमाण'** की गणना **'गुणों'** में की गयी है। इसी अभिप्राय को **ग्रन्थकार स्वयं बताते हैं—**

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाष्यकारः । परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम् ।

परमाण्वादीनामिति । 'परम अणुपरिमाण' तथा 'आदि' शब्द से 'परम महत्-परिमाण' में 'प्राणप्रद धर्म' होने के कारण इन्हें 'जाति' शब्द से ही कहना उचित है, तथापि 'वैशेषिक-दर्शन' में उसका 'गुणों' के बीच पाठ कर देने से उस शास्त्र में, 'व्याकरण-शास्त्र' के नदी, गुण, वृद्धि आदि सांकेतिक संज्ञाओं के समान 'पारिभाषिक गुणत्व' समझना चाहिए । अर्थात् 'परमाणु-परिमाण' को गुण कहने में 'वशेपिक दर्शन' की अपनी एक परिभाषा है ।

विशेष विवरण—पूर्व कह चुके हैं कि 'व्यक्ति' में शक्तिग्रह मानने पर 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोप होते हैं । इसलिए 'व्यक्ति' में 'शक्तिग्रह' नहीं माना जाता । किन्तु 'व्यक्ति' के 'उपाधिभूत' 'जाति, गुण आदि धर्मों' में ही शक्तिग्रह को स्वीकार करना चाहिए । 'जातिरूप धर्म' में शक्तिग्रह स्वीकार करने पर 'लाभ' यह होता है कि 'सभी गोव्यक्तियों' में एक ही 'गोत्वजाति' समान रूप से रहती है, जिससे समस्त गोव्यक्तियों का ज्ञान हो सकता है । उसी प्रकार 'शुक्लादि गुण' भी सर्वत्र एक रूप से समान ही है । अतः एक बार शक्तिग्रह हो जाने पर समस्त शुक्ल वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है । प्रत्येक वस्तु (व्यक्ति) में पृथक्-पृथक् शक्तिग्रह (संकेतग्रह) की आवश्यकता नहीं है ।

इस पर कोई कह सकता है कि शङ्ख, दूध, वस्त्र, सीप, मोती, चाँदी आदि भिन्न-भिन्न शुक्ल वस्तुओं में रहने वाला शुक्लरूप अलग-अलग प्रतीत होता है । किसी की शुक्लता अधिक तो किसी की शुक्लता कम प्रतीत होती है, सबकी एक-सी नहीं । इसी तरह 'चावल' का पकाना, 'ईंटों' का पकाना आदि 'क्रियाओं' में 'पाकक्रिया' भी अलग-अलग ही होती है । इसलिए किसी एक 'शुक्ल' में 'शुक्ल' पद का संकेत-ग्रह हो जाने से सबका ज्ञान नहीं हो पायेगा । जैसे—अनेक 'गोव्यक्तियों' में से किसी एक 'गोव्यक्ति' में शक्तिग्रह मानने पर 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार'—दोष उपस्थित होते हैं । उसी प्रकार शङ्ख, दूध आदि वस्तुओं में आश्रित 'शुक्लादि गुणों' तथा 'पाक आदि क्रियाओं' में भी भेद होने से 'आनन्त्य' एवं 'व्यभिचार'-दोष उपस्थित होंगे । अतः एक जगह शक्तिग्रह मानने से काम नहीं चल सकता ।

उपर्युक्त शङ्का का समाधान भट्ट मम्मट ने यह दिया है कि—'शुक्ल' आदि गुण और 'पाक' आदि क्रियाओं का भिन्न-भिन्न पदार्थों में जो अलग-अलग रूप दिखलाई देता है, उसका कारण उन 'शुक्लादि गुणों' का वास्तविक भेद नहीं, बल्कि 'उपाधि' का भेद है । जैसे—'मुख' एक ही है, किन्तु चमकते हुए सफेद तलवार में, त्र्यस्र-वर्तुलाकार भिन्न-भिन्न प्रकार के शीशे में, अथवा तेल, पानी आदि वस्तुओं में उसका प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न प्रकार का दिखाई देता है । वस्तुतः 'मुख' में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात् ।

कोई भेद नहीं है। प्रतिबिम्ब में दृष्टिगत होने वाला भेद केवल उपाधिकृत है। उसी प्रकार 'शुक्लादि गुण' और 'पाकादि क्रियाएँ' भिन्न-भिन्न वस्तुओं में भिन्न-भिन्न प्रकार की भले ही दिखाई पड़ें, किन्तु उनकी यह भिन्नता वास्तविक नहीं है, अपितु 'उपाधिकृत' है। इसलिए गुण, क्रिया आदि में शक्तिग्रह मानने पर कोई दोष प्रतीत नहीं हो रहा है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार स्वयं लिख रहे हैं—

गुणक्रियेति। नानाविध वस्तुओं में अलग-अलग प्रकार से प्रतीत होने वाले 'गुण', 'क्रिया' और 'यदृच्छा' यद्यपि एक रूप हैं, तथापि आश्रय के भेद से उनमें भेद सा दिखाई देता है, वस्तुतः कोई भेद नहीं है। जैसे—एक ही मुख का खड्ग (तलवार), दर्पण तथा तेल आदि आश्रयों की भिन्नता के कारण उनमें पड़ने वाले प्रतिबिम्ब भिन्न-से प्रतीत होते हैं, किन्तु वह भेद वास्तविक न होकर औपाधिक हैं। उसी प्रकार 'गुण आदि' में प्रतीयमान भेद भी केवल औपाधिक है। अतः 'गुण आदि' में शक्तिग्रह मान लेने पर 'आनन्त्य' 'व्यभिचार' आदि दोषों की उद्भावना नहीं की जा सकती।

केवल 'जाति' में शक्तिग्रह कहने वाले मीमांसकों का मत—

विशेष विवरण—'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा' 'मीमांसकों' का कहना है कि 'अर्थ' में 'शब्द' की प्रवृत्ति का निमित्त केवल 'जाति' ही है। 'गुण' 'क्रिया' और 'संज्ञा-वाचक' शब्दों का भी अर्थ 'जाति' ही है। क्योंकि परस्पर भिन्न शुक्ल (सफेद रंग की) 'वस्तु—व्यक्तियों' में सर्वत्र अनुगत (व्याप्त) 'शुक्लत्व' जाति (सामान्य) ही है। जिसके प्रभाव से सर्वत्र एक ही 'शुक्ल' शब्द का प्रयोग किया जाता है और एक 'शुक्ल-गुण' का अनुभव भी सर्वत्र होता है। इसीप्रकार क्रिया-वाचक पाक आदि शब्द का अर्थ भी 'पाकत्व' जाति ही है। क्योंकि परस्पर भिन्न तण्डुलपाक, पायसपाक, गुड़पाक, आम्रपाक आदि पाक रूप वस्तु-व्यक्तियों के लिए एक ही 'पाक' शब्द का व्यवहार किया जाता है और उसी में सबकी प्रतीति भी होती है। इसी प्रकार 'डित्थ' आदि संज्ञा शब्दों का अर्थ भी 'डित्थत्व जाति' ही है। उसी कारण बालक, वृद्ध, शुक, सारिका आदि के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार की बोलियों में उनका भिन्न-भिन्न स्वरूप होने पर भी उसे 'डित्थ' आदि एकविध शब्द के रूप में पहचान लेते हैं। क्योंकि 'डित्थ' आदि द्रव्यों में भी 'डित्थत्व' जाति की प्रतीति होती है। यदि इसे न माना जाय तो जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रतिक्षण परिवर्तनशील वस्तुओं में डित्थादि रूप से एकरूपता कैसे प्रतीत होती ? अतः 'डित्थादि' संज्ञा शब्दों में 'डित्थत्व' जाति का रहना निर्विवाद सिद्ध हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा'—इसमें संकेतित अर्थ के विषय में 'जात्यादिः' और 'जातिरेव वा' इन दो पक्षों को दिखाया गया है। उनमें 'जात्यादि' पक्ष 'वैयाकरणों' और उसके अनुगामी 'आलंकारिकों' का है तथा 'जातिरेव वा' यह दूसरा पक्ष 'मीमांसकों' का है। 'जात्यादिः' कहने से 'जाति' 'गुण' 'क्रिया' और 'यदृच्छारूप' वस्तु के उपाधि-भूत चार धर्मों में संकेतग्रह होता है, यह कथन 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इस 'महाभाष्य' के आधार पर किया गया है। दूसरा पक्ष 'जातिरेव' वा मीमांसकों का है। अर्थात् मीमांसक शब्द का 'प्रवृत्ति-निमित्त' केवल 'जाति' को ही मानते हैं। उसी के समान 'गुण' 'क्रिया' और 'यदृच्छा' का भी 'जाति' में ही संकेतग्रह होना कहता है। 'अनुगत-प्रतीति' (एकाकार प्रतीति) के कारण को 'जाति' (सामान्य) कहते हैं। 'गुण', 'क्रिया' और 'यदृच्छा' शब्दों में भी 'जाति' का अनुसन्धान होता है, क्योंकि सभी शुक्ल पदार्थों में 'शुक्लः, शुक्लः' यह अनुगत प्रतीति (एकाकार प्रतीति) होती है। इस एकाकार प्रतीति के होने में कारण 'शुक्लत्व' जाति ही है। जाति (सामान्य) का लक्षण इस प्रकार है—'अनुवृत्तिप्रत्ययहेतुः सामान्यम्' अनुगत (एकाकार) प्रतीति के हेतु को सामान्य कहते हैं। जैसे—अनेक घट, पट आदि व्यक्तियों में 'घटः-घटः' या 'पटः-पटः' इस अनुवृत्तिप्रत्यय (एकाकार प्रतीति) का कारण 'घटत्व' या 'पटत्व' जाति ही है। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न वस्तुओं में रहने वाले 'शुक्ल गुण' में अयं शुक्लः–'अयं शुक्लः'–इस प्रकार होने वाली अनुगत (एकाकार) प्रतीति का कारण 'शुक्लत्व' जाति ही है। उसी प्रकार गुड़, तण्डुल आदि अनेक वस्तुओं के 'पाक' में रहने वाली 'पाक-क्रिया' में 'पाकः–पाकः' इस प्रकार अनुगत प्रतीति होने का कारण 'पाकत्व' जाति ही है। इसी प्रकार भिन्न–भिन्न व्यक्तियों के द्वारा उच्चरित 'यदृच्छा शब्द' का प्रतिक्षण परिणाम होते रहने के कारण भिद्यमान अर्थों में भी 'जाति' का अनुसन्धान होता है। अतः 'जाति शब्दों' के समान ही अन्य तीनों का भी जाति में ही संकेतग्रह स्वीकार करना चाहिए अर्थात् चारों प्रकार के शब्दों का प्रवृत्ति-निमित्त 'जाति' ही है। 'जाति' (सामान्य) का एक दूसरा लक्षण भी है—'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्' इसके अनुसार भी 'शुक्लत्व' आदि को 'जाति' या 'सामान्य' कह सकते हैं। क्योंकि 'शुक्ल गुण' उन-उन पदार्थों का अपना-अपना है। 'मीमांसक' अनेक पदार्थों में शुक्लादि गुणों को 'एक रूप नहीं मानते। वे भिन्न–भिन्न पदार्थों में शुक्लादि गुणों को भिन्न–भिन्न मानते हैं। शुक्लादिगुणों को एक रूप मानना अनुभव के विरुद्ध बतलाते हैं।

यदृच्छा शब्दों मे जाति का उपपादन—

जाति के लक्षण में 'अनेकसमवेतत्व' यह अंश भी है। 'यदृच्छा शब्द' तो एक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हिमपयः शङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यं गुडतण्डुला-

---

व्यक्ति का वाचक रूढ शब्द (संज्ञा शब्द) होता है। वह 'अनेक व्यक्तियों' का वाचक नही है। इसलिए उसमें 'अनेकसमवेतत्व' यह अंश न रहने के कारण उसका अर्थ 'जाति' कैसे कहा जाय ? क्योंकि 'जाति' तो 'अनेक—समवेत' हुआ करती है। और 'यदृच्छा शब्दों' में स्फोट रूप शब्द भी एक है, और उससे प्रतीत होने वाला अर्थ (वाच्यार्थ) 'व्यक्ति-विशेष' भी एक है। अतः उसे जातिवाचक कैसे कहा जाय ?।

इसका समाधान मीमांसकों ने यह दिया है कि 'डित्थ' आदि संज्ञा शब्द का उच्चारण करने वाले व्यक्ति भिन्न-भिन्न हैं। इस कारण 'डित्थादि' संज्ञाशब्दों में प्रतिक्षण वृद्धि अथवा ह्रास रूप परिवर्तन होता रहता है। अतः 'डित्थादि' शब्दों में भेद (अनेकत्व) मानना चाहिए। भले ही वह शब्द, एक 'डित्थ' अथवा 'देवदत्त' आदि व्यक्ति रूप अर्थ का वाचक हो। किन्तु उस 'अर्थ-व्यक्ति' के वाचक 'शब्द-व्यक्ति' में अनेकत्व (भेद) माना जा सकता है। वाचक बने हुए उन अनेक शब्दों (शब्द व्यक्तियों) में अनुगत (एकाकार) प्रतीति कराने वाली 'डित्थत्व' अथवा 'देवदत्तत्व' जाति ही है। इसी प्रकार 'प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वे भावाः-ऋते चितिशक्तेः' केवल (एकमात्र) चेतन (आत्मा) को छोड़कर संसार के समस्त पदार्थों में प्रतिक्षण परिणाम (परिवर्तन) होता रहता है, इस सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार 'यदृच्छा (संज्ञा) शब्दों' के वाच्यार्थ रूप 'व्यक्तियों' में भी परिवर्तन होने से भेद की कल्पना कर सकते हैं। और उनमें जो अनुगत प्रतीति (एकाकार प्रतीति) होती है, उसका कारण 'डित्थत्व, देवदत्तत्व' आदि 'जाति' ही है। इसलिए यदृच्छा शब्दों का संकेतग्रह जाति में ही कहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि वैयाकरण 'जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा' इन चारों में संकेतसंग्रह मानते हैं किन्तु मीमांसक उक्त चारों के बजाय 'केवल जाति' में ही उसे (संकेत-संग्रह को) कहते हैं।

ग्रन्थकार भट्ट मम्मट ने काव्यप्रकाश की कारिका में 'जातिरेव वा' लिखकर मीमांसकों का मत बताया है। किन्तु ग्रन्थकार को यह मत स्वीकार नहीं है। केवल मीमांसकों के मत को प्रदर्शित करने के लिए ही उन्होंने लिखा है।

उपर्युक्त अभिप्राय को ही ग्रन्थकार लिखते हैं—

हिमपय इति। 'हिम' (बर्फ) 'दूध' और 'शङ्ख' आदि पदार्थों के 'शुक्ल गुणों' में जिसके कारण 'शुक्लः, शुक्लः' इस प्रकार अभिन्नताभिधान (एकाकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिपाकादिष्वेवमेव पाकत्वादि, बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये ।

तद्वान् अपोहो वाशब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात्प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम् ।

कथन) और प्रत्ययोत्पत्ति (प्रतीति की उत्पत्ति) होती है, वह 'शुक्लत्वादि' सामान्य (जाति) है। 'गुड़' और 'तण्डुल' आदि के पाकों में भी इसी प्रकार पाकत्व आदि सामान्य (जाति) है। उसी प्रकार बालक, वृद्ध और शुक (तोता) आदि के द्वारा बोले गये 'डित्थादिशब्दों' में और प्रतिक्षण परिवर्तनशील 'डित्थ' आदि 'पदार्थों' में डित्थत्व आदि जाति (सामान्य) रहती है। इसलिए समस्त शब्दों की अपने-अपने अर्थों में प्रवृत्ति का निमित्त केवल एकमात्र जाति ही है।

संकेतग्रह के सम्बन्ध में नैयायिक एवं बौद्धों का मत—

तद्वान् अपोह इति। कुछ लोगों ने 'तद्वान्' (जातिविशिष्टव्यक्ति) और 'अपोह' (अतद्व्यावृत्ति या तद्भिन्नभिन्नत्व) को ही शब्द का अर्थ कहा है। 'तद्वान्' (जातिविशिष्ट व्यक्ति) पक्ष नैयायिकों का है और 'अपोह' (तद्भिन्नभिन्नत्व) पक्ष बौद्धों का है। ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से और प्रकृत में उसका अनुपयोग रहने से उक्त दोनों मतों का अधिक विस्तार नहीं किया है।

विशेष विवरण—संकेतग्रह के सम्बन्ध में वैयाकरण, आलंकारिक तथा मीमांसकों के मत का निरूपण अभी तक किया गया। अब नैयायिक और बौद्धों के मतों को बताया जायेगा, जो पूर्वोक्त तीनों से भिन्न है।

नैयायिक 'केवल जाति' में संकेतग्रह का होना जैसे नहीं मानते, उसी तरह वे 'केवल व्यक्ति' में भी संकेतग्रह का होना नहीं मानते। न मानने का कारण यह है कि 'केवल व्यक्ति' में संकेतग्रह मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष होते हैं। तथा केवल जाति में शक्तिग्रह (संकेतग्रह) मानने पर 'शब्द' से केवल 'जाति' की उपस्थिति होती है, 'व्यक्ति का भान' शब्द से नहीं होता है। यदि यह कहें कि 'जाति' में शक्ति मानकर 'आक्षेप' से 'व्यक्ति' का भान हो जायेगा, किन्तु यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि उसका शाब्दबोध में अन्वय नहीं हो पायेगा। 'शाब्दी आकांक्षा शब्देनैव पूर्यते' इस नियम के अनुसार शब्दशक्ति से प्राप्त हुए अर्थ का ही शाब्द-बोध में अन्वय होता है। आक्षेप से प्राप्त हुए अर्थ का शाब्द-बोध में अन्वय नहीं होता। अतः नैयायिकों का कहना है कि 'केवल जाति' या 'व्यक्ति' में शक्तिग्रह न मानकर 'जाति-विशिष्ट व्यक्ति' में शक्तिग्रह को मानना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नैयायिकों के इस मत को ग्रन्थकार ने 'तद्वान् शब्दार्थः' कहकर बताया है। 'तद्वान्' का अर्थ 'जातिमान्' है। एवञ्च नैयायिकों के मत से जाति-विशिष्ट-व्यक्ति में संकेतग्रह का होना माना जाता है।

बौद्धों के मत में शब्द का अर्थ 'अपोह' माना जाता है। 'अपोह' का अर्थ 'अतद्व्यावृत्तिः' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है। किन्तु नैयायिकों के अनुसार अनेक पदार्थों में एकाकार प्रतीति जो होती है, उसका कारण उन पदार्थों पर रहने वाला 'सामान्य' ही है। यह 'सामान्य' नित्य पदार्थ है, और अनेक में समवेत भी है। 'नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं सामान्यम्' यह सामान्य का लक्षण किया जाता है। अतः 'सामान्यवादी' दार्शनिकों का 'सामान्य' (जाति) 'नित्य' है। किन्तु बौद्धों का सिद्धान्त 'सर्वं क्षणिकं, सर्वं क्षणिकं' इस प्रकार 'क्षणभङ्गवाद' का है। इस कारण बौद्ध 'सामान्यरूप नित्य पदार्थ' को नहीं मानते। सामान्य-वादियों के यहाँ अनेक पदार्थों में अनुगत प्रतीति कराने में 'सामान्य' जैसे कारण होता है, उसी प्रकार बौद्धों के यहाँ सामान्य के स्थान पर 'अनुगत प्रतीति' कराने में कारण 'अपोह' होता है। 'अपोह' का अर्थ 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्न-भिन्नत्व' है। 'अनेक घट-व्यक्तियों' में 'घट, घटः' यह जो 'अनुगत प्रतीति' होती है, उसका कारण अघटव्यावृत्ति अथवा घटभिन्न-भिन्नत्व है। प्रत्येक घट 'अघट' से अर्थात् घटभिन्न जो सम्पूर्ण जगत्, उससे भिन्न है (व्यावृत्त है)। इस कारण 'उनमें' घटः-घटः यह एक-सी प्रतीति होती है। इसलिए बौद्धों के मत में 'शब्द' का अर्थ 'अपोह' ही माना गया है। उस 'अपोह' में 'संकेतग्रह' स्वीकार करना चाहिए। इस बौद्ध-सिद्धान्त को मम्मट ने 'अपोहो वा शब्दार्थः' कहकर बताया है।

मम्मटभट्ट का अपना मत—

संकेतग्रह के विषय में ग्रन्थकार ने चार मतों को प्रदर्शित किया है—पहला मत भाष्यकार का, दूसरे मत को 'इत्यन्ये', तीसरे और चौथे मत को 'केश्चित्' शब्द से कहा है। व्याकरणशास्त्र का अनुगामी साहित्यशास्त्र है, इस बात को ग्रन्थकार ने 'वुधैर्वैयाकरणैः' कहकर सूचित किया है। इससे स्पष्ट होता है कि साहित्यशास्त्र भी वैयाकरणों के अनुसार 'जात्यादि चारों' में संकेतग्रह का होना मानता है। भट्टमम्मट ने अपने एक अन्य 'शब्द-व्यापार-विचार' नामक ग्रन्थ में स्पष्ट लिखा है कि 'तत्र-मुख्यश्चतुर्भेदो ज्ञेयो जात्यादिभेदतः'—अभिधाशक्ति से प्रतिपादित मुख्य अर्थ, 'जाति' आदि के भेद से चार प्रकार का समझना चाहिए।

अभी तक 'वाच्य', 'लक्ष्य' और 'व्यङ्ग्य' ये तीन भेद 'अर्थ' के बताये गये हैं, उनमें से 'वाच्य-अर्थ' को 'मुख्यार्थ' के नाम से भी कहा जाता है। इस 'वाच्य-अर्थ'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अभिधालक्षणम्)

(सू०११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

स इति साक्षात्सङ्केतितः । अस्येति शब्दस्य ।

को 'मुख्य' कहने का कारण यह है कि 'मुखमिव मुख्यः'—शरीर के समस्त अवयवों में सबसे प्रधान 'मुख' होता है और वही सबसे पहले दृष्टिगोचर होता है। उसी तरह 'वाच्य', 'लक्ष्य', 'व्यङ्ग्य' इन तीनों अर्थों में से प्रधान और सबसे पहले उपस्थित होने वाला अर्थ 'वाच्यार्थ' ही है, वह 'मुख' के तुल्य होने से उसे मुख्यार्थ कहा जाता है। उस (वाच्यार्थ या मुख्यार्थ) को बताने वाला जो शब्द का व्यापार है उसे अभिधाव्यापार कहते हैं।

ग्रंथकार ने 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे' तथा 'मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः' इत्यादि अनेक स्थलों पर 'वाच्य-अर्थ' तथा 'वाचक-शब्द' के लिए 'मुख्यार्थ' तथा 'मुख्य-शब्द' का प्रयोग किया है। अतः यहाँ 'वाच्यार्थ' को ही 'मुख्यार्थ' कहा गया है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार मम्मटभट्ट कह रहे हैं।

(सू० ११) वह साक्षात् संकेतित अर्थ, 'मुख्यार्थ' कहलाता है और उसका बोधन कराने में 'शब्द' का जो व्यापार होता है, उसे 'अभिधाव्यापार' कहते हैं। इस संकेतितार्थ के बोधजनक व्यापार को 'शक्ति' भी कहते हैं ॥ ८ ॥

स इतीति। सूत्र में प्रयुक्त 'सः' पद से 'साक्षात्संकेतित' अर्थ का ग्रहण किया गया है। और 'अस्य' पद से 'शब्दस्य' यानी 'शब्द' का ग्रहण किया है। अतः 'अस्य' पद से मुख्यार्थ के परामर्श का भ्रम नहीं करना चाहिये।

विशेष विवरण—सूत्रकार को 'स मुख्योऽर्थः' कहने की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि किसी को यह भ्रम न रहे कि उक्त त्रिविध अर्थ के अतिरिक्त मुख्यत्वेन ('मुख्य' नाम से) प्रसिद्ध 'मुख्यार्थ' को क्यों नहीं बताया? उस भ्रम को दूर करने के लिए अवधारणगर्भित 'सः' पद का प्रयोग किया है। उससे निश्चित हो जाता है कि 'सः' वह यानी साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्यत्वेन प्रसिद्ध है, उसके अतिरिक्त कोई अन्य अर्थ नहीं है। 'साक्षात्संकेतित अर्थ' ही प्रथमतः प्रतीयमान होता है, उसका प्रथमतः प्रतीयमान होना ही उसकी 'मुख्यता' है। निष्कर्ष यह हुआ कि शब्दव्यापार से जो अर्थ अव्यवधानेन (बिना किसी व्यवधान के) ज्ञात होता है, वही 'मुख्य अर्थ' माना जाता है। जैसे शरीर के हस्तादि समस्त अवयवों से पूर्व 'मुख' दिखाई देता है, वैसे ही 'लक्ष्य, व्यङ्ग्य, तात्पर्यादि' समस्त अर्थों के प्रतीयमान होने से पूर्व इस 'साक्षात्संकेतित अर्थ' को प्रतीति होती है। इस कारण 'मुखमिव मुख्यः'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(लक्षणालक्षणम्)

(सू० १२) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।

निरुक्ति के बलपर उसे 'मुख्य' कहा जाता है। 'मुख्यः' मे 'शाखादिभ्यो यः'– (पा. सू. ५।३।१०३) सूत्र से 'य' प्रत्यय किया गया है।

उसी प्रकार 'मुख्यार्थ' को विषय करनेवाले 'शब्द' को भी 'मुख्य' बताया गया है। अत एव आगे चलकर ग्रंथकार ने अपनी वृत्ति में 'मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः' कहते हुए 'शब्द' को भी 'मुख्यशब्द' से कहा है।

किसी व्याख्याकार ने सू० ११ वें की अवतरणिका देते हुए जो कहा है कि 'मुख्यार्थबाधे तद्योगे' इस अग्रिम सूत्र के उपयुक्त होने से 'वाच्य' का नामान्तर 'स मुख्योऽर्थः' सूत्र से किया जा रहा है। किन्तु उस व्याख्याकार का यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि अग्रिम सूत्र 'मुख्यार्थबाधे' के बजाय 'वाच्यार्थबाधे' भी कहा जा सकता था। इस प्रकार कहने से भी अभीष्ट सूत्रार्थ की उपपत्ति हो जाती है। अतः उसके 'संज्ञान्तर' (नामान्तर) करने में गौरव होगा, इसलिए इस प्रकार कहना अनुचित है।

'स मुख्योऽर्थः' से साक्षात्संकेतित जो अर्थ यानी वाच्यार्थ, उसी को 'मुख्यार्थ' कहकर साक्षात्संकेतितार्थ-विषयक यानी साक्षात्संकेतितार्थ-बोधक जो 'शब्द' उसी को ग्यारहवें सूत्र में 'अस्य' पद से बताया गया है। तब अर्थ यह हुआ कि साक्षात्संकेतितार्थ-बोधजनक व्यापार (वृत्ति) को 'अभिधा' कहते हैं। उस अभिधा का ही पर्यायशब्द 'शक्ति' है। और शक्तिग्राहकसमय को 'संकेत' कहते हैं। उस समय (संकेत) का आकार 'अस्मात् अयमर्थो बोद्धव्यः' बताया जाता है। 'शक्ति' और 'संकेत' दोनों में यही अन्तर है। अत एव 'नाभिधा समयाभावात्' इस चौबीसवें सूत्र में दोनों (अभिधा और समय) का निर्देश किया गया है ॥ ८ ॥

लक्षणानिरूपण—

मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) की प्रतीति 'अभिधा' शक्ति से होती है। वही वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) को सबसे पहले बताती है। उसी की सहायता से 'शब्द' अपने 'वाच्य-अर्थ' को बता पाता है। इसीलिए उसे (शब्द को) 'वाचक' कहा गया है।

अब उद्देशक्रम के अनुसार 'वाचकशब्द' निरूपण करने के पश्चात् 'लाक्षणिक' शब्द का निरूपण करना उचित है। किन्तु 'लाक्षणिकशब्द' का निरूपण, लक्षणानिरूपण के अधीन होने से ग्रंथकार 'लक्षणा' का निरूपण पहले कर रहे हैं—

(सू० १२) (१) मुख्यार्थ का बाध (अन्वय की अनुपपत्ति अथवा तात्पर्य की अनुपपत्ति) होने पर, (२) उसके (मुख्यार्थ के) साथ (लक्ष्यार्थ—अन्य अर्थ का) सम्बन्ध रहने पर, (३) रूढि से (प्रसिद्धि से) अथवा प्रयोजनविशेष से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥९॥

जिस शब्दशक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह (मुख्यरूप से 'अर्थ' में रहने के कारण) शब्द का आरोपित व्यापार 'लक्षणा' कहलाता है ॥ ९ ॥

विशेष विवरण—निर्दिष्ट किये गये बारहवें सूत्र में 'लक्ष्यते यत् सा' में प्रयुक्त 'यत्' शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। एक व्याख्या अनुके सार-'यदिति' 'यया' इत्यर्थे लुप्तकरणं तृतीयान्तमव्ययम्' अर्थात् 'यत्' पद 'यया' के अर्थ में करणविभक्ति का लोप करके निष्पन्न हुआ तृतीयांत अव्ययपद है। अतः तदनुसार 'यया शब्दशक्त्या अन्योऽर्थो लक्ष्यते सा लक्षणा'—जिस शब्द-शक्ति से अन्य अर्थ लक्षित होता है वह 'लक्षणा' कही जाती है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार 'यत्' यह क्रियाविशेषण है, 'यत् लक्ष्यते' अर्थात् 'यत् प्रतिपाद्यते'—जो प्रतिपादित होता है, वह 'लक्षणा' है। इन दोनों व्याख्याओं में, विशेषतः दूसरी व्याख्या में 'लक्ष्यते' में 'णिच्' प्रत्यय लगाकर आख्यातान्त रूप बनाया गया है। 'णिच्' प्रत्यय का अर्थ प्रयोजक हेतु का व्यापार है। 'अन्योऽर्थो यत् लक्ष्यते' का अर्थ यह हुआ कि 'अन्यार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा'। किन्तु इस दूसरी व्याख्या के क्लिष्ट हो जाने से 'यत्' पद को 'यया' के अर्थ में लुप्तकरण तृतीयान्त अव्यय समझना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

कुछ व्याख्याकारों ने 'यत् प्रतिपाद्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' ऐसी भी व्याख्या की है। किन्तु यह व्याख्या अत्यन्त असंगत है। क्योंकि 'प्रतिपत्ति' अर्थात् ज्ञान 'लक्षणा' नहीं है, अपितु शब्द की शक्ति 'लक्षणा' है।

महामीमांसक श्रीकुमारिलभट्टपाद ने अपने तन्त्रवार्तिक में 'अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते' (तं० वा० १।४।२३) कहा है। किन्तु मूल कारिका के 'प्रतीति' पाठ के आधार पर कतिपय व्याख्याकारों ने यहाँ भी 'यत् लक्ष्यते सा प्रतिपत्तिरेव लक्षणा' ऐसी व्याख्या कर डाली है। पर जिस ग्रन्थ की ऐसी व्याख्या की है, उस ग्रन्थकार मम्मट का यह सिद्धान्त नहीं है। अतः लक्षणा के सम्बन्ध में काव्यप्रकाश की व्याख्या करने चले व्याख्याकारों को मूल ग्रन्थकार के सिद्धान्त को बिना जाने व्याख्या करना उचित नहीं है। काव्यप्रकाशकार तो 'शब्दव्यापार' को 'लक्षणा' मानते हैं। अतः 'यया' के अर्थ में ही 'यत्' अव्यय का प्रयोग है। किञ्च वहाँ भी 'प्रतीति' का अर्थ ज्ञान नहीं लिया गया है, अपितु 'प्रतीति का करणभूत व्यापार' अर्थ किया गया है। 'करण' अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय करके 'प्रतीयते अर्थः अनया इति प्रतीतिः' यह विग्रह किया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुख्यार्थबाध के दो रूप—

(१) बारहवें सूत्र में 'लक्षणा' का मुख्य कारण (हेतु) 'मुख्यार्थबाध' बताया है। उसकी भी व्याख्या दो प्रकार से की गई है। अधिकतर व्याख्याकार 'मुख्यार्थबाध' का अर्थ 'अन्वयानुपपत्ति' करते हैं। जैसे—'गंगायां घोषः' उदाहरण में 'गंगा' का अर्थ 'जलप्रवाह' है, और 'घोष' का अर्थ 'आभीरपल्ली' यानी ग्वालों की बस्ती है। तब गंगा के जल-प्रवाह पर ग्वालों की बस्ती रह नहीं सकती। अतः अन्वय के अनुपपन्न होने से 'गंगा' पद लक्षणा से 'तट' रूप अर्थ को बताता है।

(२) किन्तु नागेशभट्ट ने 'परमलघुमञ्जूषा' में 'अन्वयानुपपत्ति' के बजाय 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज बताया है। उसमें हेतु यह प्रदर्शित किया है कि यदि 'अन्वयानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज स्वीकार करेंगे तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस प्रयोग में लक्षणा नहीं हो सकेगी। क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' कहने वाले का तात्पर्य केवल कौवे (काक) से ही दही को बचाने में न होकर कुत्ते, बिल्ली आदि जितने भी दध्युपघातक प्राणी हों, उन सबसे दही की रक्षा करने में है। इस तात्पर्य की पूर्ति 'काक' पद की दध्युपघातक अर्थ में लक्षणा करने से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। यदि 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज न मानें तो 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वाक्य-प्रयोग में 'अन्वयानुपपत्ति' तो नहीं है, क्योंकि सभी पदों का अन्वय उपपन्न हो जाता है। अतः यदि 'अन्वयानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज कहें तो यहाँ लक्षणा होगी ही नहीं। इसी कारण नागेशभट्ट ने 'अन्वयानुपपत्ति' के बजाय 'तात्पर्यानुपपत्ति' को लक्षणा का बीज बताया है। तब अन्वय में किसी बाधा के न रहने पर भी 'काक' पद का 'मुख्यार्थ' मात्र लेने से वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति नहीं हो पाती। इसलिए 'लक्षणा' करना अनिवार्य हो जाता है। अतः 'तात्पर्यानुपपत्ति' को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिये—यह नागेशभट्ट का कथन है।

एवं च 'अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणा' अर्थात् 'अन्यार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दव्यापारो लक्षणा'—यह 'लक्षणा' का लक्षण है। नवम कारिका में निर्दिष्ट लक्षण के साथ पढ़े गये 'आरोपिता' और 'क्रिया' दोनों पद लक्षण-घटक नहीं हैं। वे लक्षणा के स्वरूप का प्रतिपादन करने के लिए पढ़े गये हैं। वह व्यापारस्वरूप लक्षणा, मुख्यार्थ से व्यवहित लक्ष्यार्थ को विषय करने के कारण 'शब्द' में कल्पित है, यानी आरोपित है। साक्षात्संबन्ध से तो वह 'मुख्यार्थ'-निष्ठ है, और परम्परासम्बन्ध से 'शब्द'-निष्ठ है। अभिप्राय यह है कि शब्द अपने 'मुख्यार्थ' के द्वारा 'अमुख्यार्थ' का प्रतिपादन करता है। 'वह प्रतिपादन' शब्द के आरोपित (काल्पनिक) व्यापार से सम्बन्धित है। इस व्यापार को शब्द का आरोपित व्यापार इस-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्मणि कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद् गङ्गायां घोष इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्याधारत्वासम्भवाद् मुख्यार्थस्य बाधे विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे रूढितः प्रसिद्धेः तथा गङ्गातटे घोषः इत्यादेः प्रयोगाद् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येनामुख्यो लक्ष्यते यत् स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा।

लिए कहना पड़ता है कि वस्तुतः वह 'मुख्यार्थ' का व्यापार है। लेकिन 'मुख्यार्थ' अपने आपमें अनुपपन्न (अविवक्षित) होने से अपने से सम्बन्धित 'अमुख्य अर्थ' (लक्ष्य अर्थ) का बोधन करता है। इस प्रकार शब्द के अमुख्यार्थबोधक इस व्यापार को अपने और शब्द के मध्य में 'मुख्यार्थ' का व्यवधान सहना पड़ता है। 'अभिधा व्यापार' तो शब्द का अव्यवहित (साक्षात्-निरन्तरार्थनिष्ठ) अर्थविषयक व्यापार है, और 'लक्षणाव्यापार' व्यवहित (परम्परया-सान्तरार्थनिष्ठ) अर्थ विषयक व्यापार है। 'सान्तरार्थनिष्ठ' यह व्यापार का विशेषण है। 'अन्तरं व्यवधानं तेन सह वर्तते इति सान्तरः' (मुख्यार्थबाधाद्युपस्थित्या) 'व्यवहितो योऽर्थः, लक्ष्यरूपः, तन्निष्ठः तद्विषयकः तद्बोधक इति यावत्।'

इस प्रकार लक्षणा का लक्षण और स्वरूप बताकर ग्रन्थकार उसे उदाहरण के द्वारा समझा रहे हैं।

लक्षणा के दो उदाहरण—

कर्मणीति। 'कर्मणि कुशलः' (चित्रकर्म आदि किसी विशेष) काम में कुशल है—इस स्थल में 'कुशान् लाति आदत्ते इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार कुशों (दर्भों) के ग्रहण करने का कोई सम्बन्ध न रहने से 'मुख्यार्थ का बाध' होता है। और 'गंगायां घोषः' इस स्थल में 'गंगा' (पद के भगीरथ-रथ-खातावच्छिन्न-जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ) में 'घोष' (ग्वालों की बस्ती) आदि का आधारत्व (अधिकरणत्व) सम्भव न हो पाने से मुख्यार्थ का बाध होता है। तब (पहले उदाहरण में) विवेचकत्वादि और (दूसरे उदाहरण में) सामीप्य सम्बन्ध रहने पर, (पहले उदाहरण में 'कुशल' पद के 'दक्ष=चतुर' अर्थ में रूढ=प्रसिद्ध होने के कारण) रूढ़िसे=प्रसिद्धि से, और (दूसरे उदाहरण में) 'गंगातटे घोषः' इत्यादि (मुख्य शब्द) के प्रयोग से जिन (शैत्य-पावनत्वादि धर्मों) की उस रूप में प्रतीति नहीं है, उन शैत्य पावनत्वादि धर्मों के प्रतिपादन स्वरूप प्रयोजन के लिए मुख्य अर्थ से जो अमुख्य अर्थ लक्षित होता है; वह शब्द का व्यवहितार्थ-विषयक आरोपित शब्द-व्यापार 'लक्षणा' कहा जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष विवरण—'गंगायां घोषः' यह उदाहरण 'प्रयोजनवती लक्षणा' का है। जिस प्रकार 'ध्वनि' शब्द को तथा 'चतुष्टयीशब्दानां प्रवृत्तिः' के सिद्धान्त को साहित्यशास्त्रियों ने व्याकरणशास्त्र से लिया है, उसी तरह 'गंगायां घोषः' उदाहरण को भी व्याकरणशास्त्र से ही लिया गया है। महाभाष्यकार ने 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४-१-४७) सूत्र के महाभाष्य में 'गंगायां घोषः' 'कूपे गर्गकुलम्' ये दो उदाहरण लक्षणा के दिये हैं। उसी उदाहरण को यहाँ दिखाया गया है, इससे भी साहित्यशास्त्र के व्याकरणशास्त्रानुगामी होने का प्रमाण उपलब्ध हो जाता है।

शुद्धा लक्षणा के दो भेद—

(१) श्रीमम्मटभट्ट ने 'उपादान-लक्षणा' और 'लक्षण-लक्षणा' नाम से 'लक्षणा' के दो भेद किये हैं। जहाँ शब्द अपने अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है, और स्वयं भी बना रहता है, उसे उपादान-लक्षणा कहते हैं। क्योंकि उसमें मुख्यार्थ का भी उपादान (ग्रहण) रहता है। अतः 'उपादानलक्षणा' यह सार्थक संज्ञा है।

जैसे उदाहरण के रूप में 'कुंताः प्रविशन्ति' 'यष्टयः प्रविशन्ति' दिये जा सकते हैं। 'कुन्त' और 'यष्टि' शब्द का अर्थ क्रमशः भाला और लाठी, अचेतन (जड़) पदार्थ हैं। इन जड़ पदार्थों का प्रवेशक्रिया में अन्वय नहीं बन पा रहा है। इसलिए यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो जाता है। तब 'कुन्त' और 'यष्टि' शब्द अपने अन्वय सिद्धि के लिए 'पुरुष' पद का या 'पदार्थ' का आक्षेप कर लेते हैं। और 'कुन्त' तथा 'यष्टि' शब्द 'कुन्तधारी' और 'यष्टिधारी' पुरुष के बोधक हो जाते हैं, जिससे उन शब्दों की प्रवेशक्रियान्वयानुपपत्ति दूर हो जाती है, तब 'कुन्ताः प्रविशन्ति' का अर्थ 'कुन्तधारी पुरुष प्रवेश कर रहे हैं'—यह सम्पन्न हो जाता है। यहाँ कुन्तधारी पुरुषों की बहुलता का सूचन करना ही लक्षणा का प्रयोजन है। अतः यह प्रयोजनवती उपादान लक्षणा का उदाहरण कहा जाता है।

(२) इसके ठीक विपरीत जहाँ वाक्यगत कोई शब्द, अपने साथ प्रयुक्त हुए दूसरे शब्द के अन्वय की सिद्धि के लिए अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर दूसरे अमुख्यार्थ का बोधक होता है, वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। जैसे—'गङ्गायां घोषः' उदाहरण में प्रयुक्त किये गये 'घोष' पद का आधेयत्वरूप से अन्वय कराने के लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जल-प्रवाह' रूप मुख्यार्थ का त्याग कर 'सामीप्य सम्बन्ध' से 'तट' रूप अन्य अर्थ को बोधित करता है, जिससे 'शीतलत्व-पावनत्व' रूप प्रयोजन की प्रतीति होती है। इसलिए यह प्रयोजनवती लक्षण-लक्षणा का उदाहरण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(उपादानलक्षणा—लक्षणलक्षणा च)

**(सू० १३) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥१०॥**

कुन्ताः प्रविशन्ति इत्यादौ कुन्तादिभिः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते, तत उपादानेनेयं लक्षणा ।

शुद्धा लक्षणा के इन्हीं दो भेदों को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

(सू० १३) वाक्य में प्रयुक्त हुए किसी शब्द के द्वारा अपने-अन्वय की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप करना 'उपादान' और दूसरे की अन्वयसिद्धि के लिए अपने मुख्यार्थ का परित्याग (समर्पण) करना 'लक्षण' कहलाता है। इस प्रकार 'शुद्धालक्षणा के ही ये दो प्रकार' बताये गये हैं। (ये भेद गौणी के नहीं हैं) ॥१०॥

उपादान लक्षणा के दो उदाहरण—

कुन्ता इति। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' भाले प्रवेश कर रहे हैं, और 'यष्टयः प्रविशन्ति' लाठियाँ प्रवेश कर रही हैं—ये दो उदाहरण 'उपादान लक्षणा' के हैं। इन वाक्यों में 'कुन्त' आदि शब्दों के द्वारा अपने अचेतन रूप से प्रवेश क्रिया में अन्वयसिध्यर्थ 'स्व-संयुक्त पुरुषों' का (कुन्तधारी पुरुषों का) आक्षेप कराया जाता है। एवं च 'स्वार्थ' को बिना त्यागे 'अन्य अर्थ' का ग्रहण करने से यह उपादान लक्षणा कहलाती है।

मुकुलभट्ट की उपादान लक्षणा के दो उदाहरण—

विशेष विवरण—उपादान लक्षणा के उदाहरण बताने के बाद लक्षणलक्षणा का उदाहरण बताना चाहिये, परन्तु उसे न बताकर मम्मटभट्ट ने 'मुकुलभट्ट' तथा 'मण्डन मिश्रादि' मीमांसकों के द्वारा प्रदर्शित किये गये उपादान लक्षणा के दो उदाहरणों का खण्डन किया है।

मुकुलभट्ट ने अपनी 'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रंथ में 'अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना' इन तीनों शक्तियों के स्थान पर केवल अभिधाशक्ति को ही माना है। 'जात्यादि चार प्रकार के अर्थों' की बोधक 'चार प्रकार की अभिधाशक्ति' तथा 'लक्षणा' के छह भेदों का भी 'अभिधा में ही अन्तर्भाव करके दस प्रकार की अभिधाशक्ति उन्होंने बताई है। व्यञ्जना के सब भेदों का अन्तर्भाव लक्षणा के छह भेदों में ही उन्होंने कर लिया है। और अपना सिद्धान्त घोषित कर दिया है कि दस प्रकार की अभिधाशक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं है। सन्दर्भ का उपसंहार करते हुए वे लिखते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'इत्येतदभिधावृत्तं दशधाऽत्र विवेचितम्'

अपने इस ग्रन्थ में 'गौरनुबन्ध्यः' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' ये दो उदाहरण उन्होंने उपादान लक्षणा के बताये हैं, जैसे—आलंकारिक आचार्य 'वैयाकरणों' के अनुयायी हैं, इसीलिए वे अन्य विषयों के साथ लक्षणा के उदाहरणों को भी 'व्याकरण शास्त्र' से लेते हैं। 'गंगायां घोषः, कुन्ताः प्रविशन्ति, यष्टयः प्रविशन्ति' इत्यादि सब उदाहरणों को काव्यप्रकाशकार ने 'महाभाष्य' से ही लिया है। उसी तरह मुकुलभट्ट 'मीमांसकों' के अनुयायी हैं, इन्होंने भी 'मीमांसा-शास्त्र' से उदाहरणों का संग्रह किया है। 'गौरनुबन्ध्यः' और 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इन दोनों उदाहरणों का संग्रह 'मुकुलभट्ट' ने मीमांसाग्रन्थों से ही किया है।

मुकुलभट्ट के द्वारा उपादानलक्षणा का निरूपण—

'गौरनुबन्ध्यः' यह वैदिक विधिवाक्य है। इसमें प्रयुक्त 'गो' शब्द का अर्थ क्या है? इस विचार के समय समस्या यह उपस्थित हुई कि 'गो' शब्द का मुख्यार्थ तो 'गोत्व' जाति है, क्योंकि मीमांसकों का सिद्धांत 'जातिवाद' का है। तब 'जाति' में अनुबन्धन=आलंभन क्रिया कैसे संभव हो सकेगी? अतः 'मुख्यार्थ का बाध' हो जाता है, और 'गो' शब्द 'अनुबन्धन'=आलम्मन क्रिया के साथ अपने मुख्यार्थ (गोत्वजाति) की अन्वयसिद्धि के लिए आक्षेप (लक्षणा) से 'गोव्यक्ति' का बोध करा देता है। अतः यहाँ पद में 'उपादानलक्षणा' हुई है।

मीमांसक विद्वान् 'अर्थवादवाक्यों' को 'प्राशस्त्य' का लक्षक मानकर वाक्य में भी लक्षणा मानते हैं। इसलिए 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' देवदत्त मोटा हो रहा है, परन्तु दिन में नहीं खाता है—इस लौकिक वाक्य-प्रयोग में वाक्य-लक्षणा का उदाहरण मीमांसकों ने दिया है। इस उदाहरण में दिन में न खाने वाला देवदत्त मोटा हो यह बात साधारणतः संभव नहीं है। अतः 'मुख्यार्थ' का बाध हो जाता है, तब यह वाक्य अपने 'अन्वय' की सिद्धि के लिए 'रात्रिभोजन का बोध' आक्षेप से (लक्षणा से) करा देता है। अतः यह भी उपादानलक्षणा का उदाहरण है।

मुकुलभट्ट ने 'उपादान-लक्षणा का लक्षण' और 'उसका समन्वय' करते हुए लिखा है—

'स्वसिध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत्।
उपादानं लक्षणन्तु तद्विपर्यासतो मतम्॥

यत्र स्वसिध्यर्थतया वस्त्वन्तरस्याक्षेपो भवति तत्रोपादानम्। यथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गौरनुबन्ध्य इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनोच्यते।

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्क्षीणशक्तिर्विशेषणे।'

इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्त्तव्या, न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, यथा क्रियता-

---

'गौरनुबन्ध्यः' इति। अत्र हि गोत्वस्य यागं प्रति साधनत्वं शाब्दं व्यक्त्याक्षेपमन्तरेण नोपपद्यत इति तत्सिध्यर्थतया व्यक्तेराक्षेपः।

यथा च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति। अत्र हि पीनत्वं दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयावगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिध्यर्थत्वेन कारणभूतं रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति।

अत्र 'रात्रौ भुङ्क्ते' इत्येतच्छब्दाक्षेपपूर्वकतया प्रमाणस्यापरिपूर्णस्य परिपूरणात् श्रुतार्थापत्तित्वं भवत्वथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति। सर्वथा स्वसिध्यर्थत्वेनार्थान्तरस्याक्षेपपूर्वकतयान्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते।

इस प्रकार मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा के जो दो उदाहरण दिये हैं उनका क्रम से निरसन करने के लिए प्रथमतः मीमांसकमत का अनुवाद कर देते हैं।

मुकुलभट्ट के प्रथम उदाहरण का अनुवाद—

गौरिति। 'गौरनुबन्ध्यः' इस वैदिक वाक्य के द्वारा बताया गया 'अनुबन्धन' मेरा ('गो' शब्द के मुख्यार्थ 'गोत्व' जाति का) कैसे सम्भव हो सकेगा ? उसके उपपादनार्थ 'गो' शब्द (पद) अपने मुख्यार्थरूप गोत्व 'जाति' से अमुख्यार्थभूत गो 'व्यक्ति' का आक्षेप करता है। क्योंकि 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिविशेषणे' 'गोत्व' रूपी विशेषण का बोध कराने में क्षीण हुई 'अभिधाशक्ति' किसी भी प्रकार से 'गो' व्यक्तिरूपी विशेष्य का बोध नहीं करा सकती। अतः इस विशेष्य भूत 'गो' व्यक्ति का बोध 'उपादान-लक्षणा' से ही हो सकता है।

इस प्रकार मुकुलभट्ट के मन्तव्य का अनुवाद करके अब ग्रन्थकार उसका खण्डन कर रहे हैं—'इत्युपादानलक्षणे'ति।

मुकुलभट्ट के प्रथम उदाहरण 'गौरनुबन्ध्यः' का खण्डन—

इत्युपादानलक्षणा त्विति। मुकुलभट्ट को 'गौरनुबन्ध्यः' यह वाक्य 'उपादान-लक्षणा' के उदाहरण में नहीं रखना चाहिये। क्योंकि यहाँ 'लक्षणा' के प्रयोजक दो मुख्य हेतुओं (रूढि तथा प्रयोजन) में से कोई भी नहीं है। न विशेष 'प्रयोजन ही है और न रूढि' ही है। किन्तु जाति के विना कभी भी व्यक्ति रह नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मित्यत्र कर्ता, कुर्वित्यत्र कर्म, प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते। श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

सकता, अर्थात् 'अविनाभाव' के कारण 'जाति' से 'व्यक्ति' का आक्षेप (अनुमान) कर लिया जाता है। अतः यहाँ 'लक्षणा' है ही नहीं। तब लक्षणा का उदाहरण इसे कैसे कह सकते हैं?

जैसे कोई कहे 'क्रियताम्' करो, तब समझना होगा कि कोई भी 'क्रिया' कर्ता के बिना नहीं होती है, इसलिए ऐसी जगह 'कृतिः (यत्नः) साश्रया गुणत्वात्' इस अनुमान से 'कर्ता' (त्वया) को उपलब्धि कर ली जाती है। तथा 'कुरु' करो—यहाँ पर 'कृतिः सविषया कृतित्वात्' इस अनुमान से ही 'पाकम्' आदि 'कर्म' का लाभ हो जाता है। तथा 'प्रविश' प्रवेश करो, और 'पिण्डीम्' गुड़ की भेली, इन दो शब्दों का प्रयोग करने पर 'अविनाभाव' से क्रमशः प्रविश=प्रवेश करो 'घर में' और पिण्डीं=गुड़ को भेली को 'खाओ' इत्यादि को प्रतीति होती है। इनमें से किसी भी स्थल में लक्षणा नहीं की जाती। इसी प्रकार 'गौरनुबन्ध्यः' में भी लक्षणा नहीं है। इसलिए 'उपादान-लक्षणा' के उदाहरण में 'गौरनुबन्ध्यः' को नहीं रखना चाहिये।

विशेष विवरण—'क्रियताम्' 'कुरु' 'प्रविश' 'पिण्डीम्' ये सब अपूर्ण वाक्यों के प्रयोग हैं। इनकी पूर्ति करने के लिए अपेक्षित 'अन्य अंशों' को 'अध्याहार' या 'आक्षेप' से लिया जाता है। 'अश्रुतपदानामनुसन्धानमध्याहारः' अश्रुत पदों के अनुसंधान को अध्याहार कहते हैं। अतः ये दोनों 'शब्दाध्याहार' के उदाहरण हैं। मम्मटभट्ट ने इन उदाहरणों को इसलिए यहाँ पर प्रदर्शित किया है कि जैसे 'कर्ता' या 'कर्म' के बिना 'क्रिया' का अन्वय सम्भव नहीं है, किन्तु 'अविनाभाव' के द्वारा उन 'शब्दों' का या 'अर्थों' का अध्याहार या आक्षेप कर लिया जाता है, उसी तरह 'गौरनुबन्ध्यः' आदि उदाहरणों में भी 'व्यक्ति' के बिना 'जाति' नहीं रह सकती, इसलिए 'अविनाभाव' के द्वारा 'जाति' से 'व्यक्ति' का 'अध्याहार' या 'आक्षेप' किया जाता है। 'व्यक्ति' का बोध 'लक्षणा' से नहीं किया जायेगा। अतः 'उपादानलक्षणा' के उदाहरण में इसे प्रदर्शित करना उचित नहीं है।

मुकुलभट्ट का दूसरा उदाहरण और उसका खण्डन—

पीन इति। मुकुलभट्ट ने उसी प्रकार 'उपादानलक्षणा' का दूसरा उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' दिया है। प्रथम दिये गये 'उदाहरण' से इस उदाहरण में अन्तर यह है कि यह 'पदलक्षणा' के बजाय 'वाक्यलक्षणा' का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदाहरण है। मीमांसक विद्वान् 'अर्थवादवाक्यों' की 'प्राशस्त्य' में लक्षणा मानकर 'वाक्य' में भी लक्षणा मानते हैं। 'गौरनुबन्ध्यः' के 'गोपद' में लक्षणा थी किन्तु यहाँ 'सम्पूर्ण वाक्य' में लक्षणा है। यह दिखाने के लिए ही यह दूसरा उदाहरण दिया गया है।

इस उदाहरण में 'लक्षणा' का खण्डन करते हुए मम्मटभट्ट ने 'रात्रिभोजन' को 'श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थार्थापत्ति' का विषय बताया है। अभिप्राय यह है कि यहाँ 'रात्रिभोजन' का 'बोध' लक्षणा से न होकर 'अर्थापत्ति' प्रमाण से होता है। इसलिए यह भी उपादानलक्षणा का उदाहरण नहीं है।

'अर्थापत्ति' लक्षणारूप नहीं है—

विशेष विवरण—मीमांसक विद्वान् 'प्रत्यक्ष, अनुमान' आदि प्रमाणों के समान 'अर्थापत्ति' को भी स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। उन्होंने 'अर्थापत्ति' का लक्षण 'अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनम् अर्थापत्तिः' किया है। किसी अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना जिस प्रमाण के द्वारा की जाती है, उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यहाँ पर 'देवदत्त मोटा है'—यह 'अनुपपद्यमान अर्थ' है, और 'रात्रि भोजन' उसका 'उपपादक अर्थ' है। क्योंकि देवदत्त यदि 'दिन' में न खाय और 'रात' में भी न खाय तो वह मोटा नहीं हो सकता। दिन में न खाने वाला व्यक्ति 'रात्रि भोजन' के बिना मोटा (पीन) हो ही नहीं सकता। इसलिए यहाँ पर अनुपपद्यमान अर्थ (दिवा अभुञ्जान व्यक्ति का पीनत्व) को देखकर उसके उपपादक अर्थ 'रात्रि भोजन' की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा कर ली जाती है।

'अर्थापत्ति' की द्विविधता—

यह 'अर्थापत्ति' दो प्रकार की होती है—एक 'दृष्टार्थापत्ति' और दूसरी 'श्रुतार्थापत्ति'। जहाँ 'अनुपपद्यमान अर्थ' को स्वयं अपने नेत्रों से देखकर उसके 'उपपादक अर्थ' की कल्पना की जाती है, उसे 'दृष्टार्थापत्ति' कहते हैं और जहाँ किसी के मुख से 'अनुपपद्यमान अर्थ' को सुनकर उसके 'उपपादक' अर्थ की कल्पना की जाती है, उसे 'श्रुतार्थापत्ति' कहते हैं। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह उदाहरण दोनो 'अर्थापत्तियों' का हो सकता है।

मम्मटभट्ट ने 'दृष्टार्थापत्ति' शब्द का प्रयोग न कर 'अर्थार्थापत्ति' शब्द का प्रयोग किया है। यह प्रयोग 'अर्थाध्याहार' की दृष्टि से किया गया है। 'श्रुतार्थापत्ति' पक्ष में रात्रिभोजन का ज्ञान 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस शब्द के अध्याहार से होता है;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गङ्गायां घोष इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा ।

और 'अर्थार्थापत्ति' पक्ष में 'शब्द' का 'अध्याहार' न करके साक्षात् 'रात्रि-भोजन' रूप अर्थ का आक्षेप से ज्ञान होता है। इस प्रकार भट्ट और गुरु दोनों मीमांसकों के सिद्धान्त की दृष्टि से ही मम्मटभट्ट ने 'श्रुतार्थापत्तेरर्थार्थापत्तेर्वा' इस प्रकार 'श्रुतार्थापत्ति' तथा 'अर्थार्थापत्ति' शब्दों का प्रयोग किया है।

'देवदत्त मोटा हो रहा है, परन्तु वह दिन में नहीं खाता है' यहाँ पर 'रात्रिभोजन' की उपस्थिति लक्षणा से नहीं हो रही है, क्योंकि उसकी उपस्थिति तो श्रुतार्थापत्ति या अर्थार्थापत्ति से ही हो जाती है।

लक्षण लक्षणा का उदाहरण—

मुकुलभट्ट के द्वारा उपस्थित किये गये उपादानलक्षणा के दोनों उदाहरणों का खण्डन हो चुका। ग्रन्थकार ने अपने मत के अनुसार उपादानलक्षणा के 'कुन्ताः प्रविशन्ति' आदि उदाहरण बता दिये। अब क्रमप्राप्त 'लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' दे रहे हैं। मुकुलभट्ट ने भी लक्षण-लक्षणा का यही उदाहरण अपने ग्रन्थ में दिया है।

गंगायामिति। 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में प्रयुक्त 'घोष' के अधिकरणत्व की सिद्धि के लिए 'गङ्गा' शब्द अपने 'जलप्रवाह' रूप स्वार्थ (मुख्यार्थ) का परित्याग कर देता है। इसलिए इस प्रकार के उदाहरणों में 'लक्षणेन स्वार्थसमर्पणेन उपलक्षिता' लक्षणरूप स्वार्थसमर्पण से उपलक्षित होने से यह 'लक्षणा' 'लक्षण-लक्षणा' कहलाती है।

'गङ्गायां घोषः' के उदाहरण पर विचारात्मक विश्लेषण—

विशेष विवरण—इस 'लक्षण-लक्षणा' को ही वेदान्ती लोग 'जहत्स्वार्था लक्षणा' कहते हैं। उक्त दोनों ही नामों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस लक्षणा में 'लक्षक पद' दूसरे पदों के अन्वय सिद्धि के लिए अपने मुख्यार्थ का त्याग कर देता है। इस 'जहत्स्वार्था' या 'लक्षणलक्षणा' के अनेक उदाहरणों में 'गङ्गायां घोषः' यह उदाहरण अत्यन्त प्रसिद्ध है।

मुकुलभट्टने भी इसी उदाहरण को दिखाया है। और उसमें 'लक्षणलक्षणा' के लक्षण का समन्वय कर दिखाया है। वे कहते हैं कि 'गंगा' शब्द से जो 'तट' अर्थ की उपस्थिति होती है, वह केवल 'तटत्वेन' तटरूप से होती है। गंगा से सम्बद्ध तट के रूप में नहीं। गंगा शब्द के प्रयोग से केवल इतनी विशेषता हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात् ।

जाती है कि यमुना नदी का तट उपस्थित नहीं होता है । मुकुलभट्ट का यह सिद्धांत 'ताटस्थ्य' सिद्धांत कहलाता है । काव्यप्रकाशकार इस सिद्धांत का खण्डन आगे करेंगे ।

न्यायशास्त्र में 'लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण—

परम्परा सम्बन्ध से की जाने वाली 'लक्षणा' का 'लक्षण-लक्षणा' कहते हैं। उसका उदाहरण 'द्विरेफ:' दिया गया है। 'द्विरेफ' शब्द का वाच्यार्थ तो दोरेफ से युक्त 'भ्रमर' शब्द होता है। उससे पुनः लक्षणा द्वारा 'भौंरा' अर्थ ज्ञात होता है। अतः परम्परया 'द्विरेफ' शब्द 'भ्रमर' अर्थ को लक्षित करता है। इसलिए यह 'लक्षण-लक्षणा' का उदाहरण है।

लक्षण-लक्षणा का अधिक स्पष्ट उदाहरण—

ग्रन्थकार ने 'गंगात्वेन' अर्थात् गंगा के साथ अभेद संबंध से ही 'तट' की उपस्थिति बताई है। तब 'गंगा' शब्द ने अपने वाच्यार्थ को सर्वथा त्याग दिया, यह कैसे कहा जायगा ? क्योंकि 'गंगा' का ही वह तट है, यमुना का नहीं। इस प्रतीति में गंगारूप 'लक्षक' पद की तटरूप 'लक्ष्यार्थ' के साथ सम्बन्ध की प्रतीति तो हो ही रही है। ऐसी परिस्थिति में इसे जहत्स्वार्था (लक्षण-लक्षणा) का उदाहरण कैसे कहा गया है ?

अतः स्पष्ट बोधार्थ चतुर्थ उल्लास के सू० २९ में लक्षणामूलध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक भेद के उदाहरण 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' को 'लक्षण-लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था लक्षणा' का स्पष्ट उदाहरण कह सकते हैं।

यहाँ पर 'शब्द' अपने 'वाच्यार्थ' (मुख्यार्थ) को सर्वथा त्याग कर केवल 'लक्ष्यार्थ' को ही बता रहा है। यहाँ पर 'उपकृतम्' का मुख्यार्थ बाधित हो रहा है, इसलिए 'अपकृतम्' अर्थ को लक्षण-लक्षणा (जहत्स्वार्था लक्षणा) से वह बता रहा है। उसीप्रकार 'सुजनता' 'सखे' 'सुखितमास्स्व' आदि शब्द भी अपने वाच्यार्थ का सर्वथा त्यागकर अपने से विपरीत 'दुर्जनता' 'शत्रो' 'दुःखितमास्स्व' आदि अर्थों को लक्षणा से बता रहे हैं। उससे 'अपकारातिशय' को व्यञ्जित किया गया है।

उभयरूपेति। यह दोनों प्रकार की लक्षणा 'उपचार' से मिश्रित न रहने के कारण 'शुद्धा' कहलाती है।

विशेष विवरण—दोनों लक्षणाओं में 'उपचार' का (सादृश्य सम्बन्ध से दो भिन्न वस्तुओं में अभेद ज्ञान के अभिप्राय का) मिश्रण नहीं रहता है। 'उपादान' और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'लक्षणलक्षणा' दोनों प्रकार की शुद्धा लक्षणाओं के सम्बन्ध में यह जो सिद्धान्त किया गया है कि वाच्यार्थ, 'लक्ष्यार्थ' से सर्वथा तटस्थ (उदासीन) रहता है क्योंकि— 'लक्ष्यार्थ' की प्रतीति होने में 'वाच्यार्थ' की प्रतीति का कोई सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। क्योंकि इस 'शुद्धा-लक्षणा' के द्विविध प्रकारों में भी 'वाच्यार्थ' से 'लक्ष्यार्थ' की अभिन्नता (उपरक्तता) की प्रतीति होती है। तभी उसका प्रयोग करने वाले के अभीष्ट प्रयोग का प्रकाशन सम्भव हो पाता है। जैसे—'गङ्गायां घोषः' इस प्रयोग में 'लक्षण-लक्षणा' की गई है। यहाँ पर 'गङ्गा' शब्द से 'तटरूप' लक्ष्यार्थ का बोधन किया जाता है। अतः यह समझ में आता है कि जबतक 'गङ्गा' शब्द के 'प्रवाहरूप' वाच्यार्थ से 'तटरूप' लक्ष्यार्थ को सम्बद्ध न माना जाय तब तक 'शैत्य-पावनत्वादि' प्रयोजन, जो वक्ता को अभीष्ट हैं, उसकी कभी भी प्रतीति नहीं हो सकती, क्योंकि 'गङ्गा' शब्द के वाच्यार्थ (प्रवाह) और लक्ष्यार्थ (तट) दोनों में जो अभेद प्रतीति होती है, उसी के बल पर 'प्रयोजन' की प्रतीति हो पाती है। अर्थात् 'वाच्यार्थ रूप प्रवाह' में रहने वाली पवित्रता और शीतलता, लक्ष्यार्थ 'तट' से भी सम्बद्ध प्रतीत हो जाती है। यदि यहाँ पर 'तटरूप' लक्ष्यार्थ का 'प्रवाहरूप' वाच्यार्थ से केवल सामीप्य सम्बन्ध ही प्रतीत होता तो 'गङ्गायां घोषः' इस लक्षणा के बदले 'गङ्गातटे घोषः' इस वाचक शब्द का ही प्रयोग कर लिया जाता, किन्तु 'गङ्गायां घोषः' कहने पर जिस प्रयोजन की प्रतीति होती है वह 'गङ्गातटे घोषः' कहने पर नहीं होती। लाक्षणिक प्रयोग में 'शैत्य-पावनत्वादि' प्रयोजन-विशेष की 'अभिव्यक्ति' प्रयोक्ता को अपेक्षित है। वह (अपेक्षा) वाचक-प्रयोग में पूर्ण नहीं हो पाती। निष्कर्ष यह है कि—'शुद्धा' और 'गौणी' दोनों लक्षणाओं में 'वाच्यार्थ' और 'लक्ष्यार्थ' के अभेद के कारण परस्पर समानता है। किन्तु 'शुद्धा' में उपचार का 'अमिश्रण' और 'गौणी' में उपचार का 'मिश्रण' रहता है। इसी से 'शुद्धा' 'गौणी' को एक दूसरे से भिन्न माना जाता है।

शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के सम्बन्ध में मम्मटभट्ट का मत—

इस प्रकार 'शुद्धालक्षणा' के उपादान तथा लक्षण दो नाम से दो प्रकार बताये गये। दोनों प्रकार की 'शुद्धा-लक्षणा' से भिन्न 'गौणी-लक्षणा' भी हुआ करती है। यहाँ प्रश्न यह होता है कि 'शुद्धा' तथा 'गौणी' लक्षणाओं का परस्पर 'भेदकधर्म' क्या होता है? इस विषय में मुकुलभट्ट तथा मम्मटभट्ट का मतभेद है। मम्मटभट्ट 'शुद्धा' और 'गौणी' का भेदक धर्म 'उपचार' कहते हैं। अर्थात् मम्मटभट्ट के अनुसार 'उपचार' से रहित लक्षणा 'शुद्धा' है और 'उपचार' से युक्त लक्षणा 'गौणी' है। 'उपचार' का लक्षण यह है—'उपचारो हि नाम अत्यन्तं विशकलितयोः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पदार्थयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्'—अत्यन्त भिन्न दो पदार्थों में अतिशय सादृश्य के कारण उनमें भेद की प्रतीति का न होना ही 'उपचार' है। जैसे किसी बालक में वीरता, क्रूरता आदि के अत्यन्त सादृश्य के कारण 'सिंहो माणवकः' आदि प्रयोग, उपचार-मूलक ही किये जाते हैं। इसीलिए उन्हें 'गौण-प्रयोग' कहते हैं। अर्थात् 'औपचारिक प्रयोग' (गौण-प्रयोग) यहाँ पर किया गया है। ऐसे 'औपचारिक प्रयोगों' में गौणीलक्षणा की जाती है। एवञ्च उपचार (सादृश्य सम्बन्ध) के अतिरिक्त 'सामीप्य' आदि किसी अन्य सम्बन्ध से जो लक्षणा होती है उसे 'शुद्धा लक्षणा' कहते हैं। अभिप्राय यह है कि मम्मटभट्ट ने 'उपचार' के 'अमिश्रण को 'शुद्धा' और 'उपचार' के मिश्रण को 'गौणी' कहा है। ये मिश्रण और अमिश्रण ही उन 'दो लक्षणाओं' के भेदक धर्म हैं।

शुद्धा तथा गौणी लक्षणा के सम्बन्ध में मुकुलभट्ट का मत—

किन्तु मुकुलभट्ट ने 'उपचार' को शुद्धालक्षणा और गौणीलक्षणा का भेदक धर्म नहीं माना है। वे शुद्धा और गौणी दोनों में 'उपचार के मिश्रण' को ही मानते हैं। अतएव मुकुलभट्ट ने 'उपचारमिश्रा लक्षणा' के शुद्धोपचार और गौणोपचार दो भेद किये हैं। तदनन्तर उनके सारोपा और साध्यवसाना दो भेद किये। इस रीति से 'उपचारमिश्र-लक्षणा' के चार भेद तथा 'शुद्धालक्षणा' के 'उपादानलक्षणा' और 'लक्षण लक्षणा' दो भेद किये हैं—इस प्रकार कुल मिलाकर उन्होंने लक्षणा के छह भेद किये हैं। उनके मत में 'उपचार' का अर्थ है—'अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग'। जहाँ 'सादृश्य' के कारण अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग हो वहाँ 'गौणोपचार' कहा जाता है। और जहाँ 'अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग' सादृश्य के कारण न होकर किसी अन्य कार्य-कारण, जन्य-जनक आदि सम्बन्ध के कारण होता है, उसे 'शुद्धोपचार' कहते हैं। 'आयुर्घृतम्' यह शुद्धोपचार का उदाहरण है। यहाँ पर 'आयु के' कारणभूत 'घृत' के लिए 'आयु' शब्द का प्रयोग किया गया है तथा 'गौर्वाहीकः' इस उदाहरण में 'वाहीक' के लिए 'गौ' पद का प्रयोग गुणों के सादृश्य को देखकर किया गया है। इसलिए यह गौणोपचार का उदाहरण है। वाहीक देश (पंजाब देश) में रहने वाले मनुष्य में 'गौ' के सदृश जाड्य, मान्द्य आदि गुणों (धर्मों) का योग (सम्बन्ध) है। तात्पर्य यह है कि उपचार का भी शुद्ध और गौण रूप हैं। इस कारण 'शुद्धा' और 'गौणी' का भेदक धर्म 'उपचार' नहीं हो सकता। मुकुलभटट 'शुद्धा' और 'गौणी' का भेद दिखाने के लिए 'ताटस्थ्य' को उनका भेदक धर्म मानते हैं। वे 'उपचार' को उनका भेदकधर्म नहीं मानते। 'ताटस्थ्य' का अर्थ है—'लक्ष्यार्थ तथा लक्षकार्थ का भेद'। मुकुलभट्ट के मत में 'सादृश्य' की अत्यधिकता से 'लक्ष्य और लक्षक' का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यं तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

(सारोपा लक्षणा)

(सू०१४) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

अभेद, गौणीलक्षणा में प्रतीत होता है। जैसे 'गौर्वाहीकः' में 'गो' और 'वाहीक पुरुष' दोनों अर्थों का अभेद प्रतीत होता है। और उसी कारण उन दोनों पदों में सामानाधिकरण्य का प्रयोग किया गया है। किन्तु 'शुद्धालक्षणा' (उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा) में लक्ष्य और लक्षक का अभेद नहीं है। वहाँ भेद (ताटस्थ्य) रहता है। 'उपादान-लक्षणा' के 'कुन्ताः प्रविशन्ति' उदाहरण में और 'लक्षण-लक्षणा' के 'गङ्गायां घोषः' उदाहरण में 'लक्ष्य और लक्षक' अर्थों का अभेद नहीं है, बल्कि भेद (ताटस्थ्य) है। अर्थात् 'शुद्धालक्षणा' में ताटस्थ्य (लक्ष्य और लक्षक अर्थों का भेद) प्रतीत होता है। और 'गौणीलक्षणा' में सादृश्य (लक्ष्य तथा लक्षक अर्थों का अभेद) प्रतीत होता है। यही शुद्धा और गौणी में भेद है। यह मुकुल भट्ट का सिद्धान्त है।

मुकुलभट्ट के 'ताटस्थ्य' सिद्धान्त का खण्डन—

मम्मटभट्ट इस 'ताटस्थ्य-सिद्धान्त' के समर्थक नहीं हैं। वे 'अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च' ग्रन्थ से 'ताटस्थ्य' सिद्धान्त का खण्डन कर रहे हैं—

अनयोरिति। 'शुद्धालक्षणा' के दोनों भेदों (उपादान-लक्षणा और लक्षण-लक्षणा) में 'लक्ष्य' अर्थ और 'लक्षक' अर्थ का यानी गङ्गा के 'जलप्रवाहरूप' लक्षक अर्थ का, तथा 'तटरूप' लक्ष्य अर्थ का भेदप्रतीतिरूप 'ताटस्थ्य' नहीं कह सकते, क्योंकि लक्ष्यार्थरूप 'तट' आदि अर्थों को 'गङ्गा' आदि शब्दों से बताने पर ही 'तत्त्वप्रतिपत्ति' अर्थात् गंगात्व को (लक्ष्य तथा लक्षक यानी तट तथा जलप्रवाह के) अभेद की प्रतीति होने पर ही शैत्य-पावनत्वादि धर्मों के 'अतिशयरूप अभिलषित प्रयोजनों' की प्रतीति हो सकती है। यदि 'तट' में 'तत्त्व' अर्थात् गङ्गात्व (गंगा शब्द के मुख्यार्थ जलप्रवाह) के साथ अभेद की प्रतीति न होकर केवल 'गंगा का सम्बन्धमात्र' प्रतीत होता हो तो 'गंगायां घोषः' इस लाक्षणिक शब्द के स्थान पर 'गङ्गातटे घोषः' गंगा के तट पर घोष है—इस मुख्य शब्द के द्वारा बताने में और लक्षणा के द्वारा बताने में क्या भेद रहेगा ?

सारोपा-लक्षणा

(सू० १४) जिस पदार्थ का आरोप किया जाता है, वह विषयी और जिस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आरोप्यमाणः आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते, सा लक्षणा सारोपा।

(साध्यवसानिका लक्षणा)

(सू०१५) विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका ॥

विषयिणाऽऽरोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति साध्यवसाना स्यात्।

(सारोपासाध्यवसानिकयोः प्रत्येकं द्वैविध्यम्)

(सू०१६) भेदाविमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ—

(तयोः सादृश्यमूलौ भेदौ)

पदार्थ पर आरोप किया जाता है, वह विषय, इन दोनों का (सामानाधिकरण्य से) जिसमें निर्देश किया रहता है, उसे 'सारोपा' लक्षणा कहते हैं।

आरोप्येति। 'विषयी' और 'विषय' (आश्रय) की पृथकता जहाँ स्पष्ट रहती है, यानी जहाँ पर दोनों को समान विभक्तिवाले पदों से दिखाया जाता है, उसे 'सारोपा' लक्षणा कहते हैं।

साध्यवसानिका-लक्षणा

(सू० १५) जब दूसरे को (आरोप के 'विषय' आश्रय को) यानी 'उपमेय' को 'आरोप्यमाण' (आरोपित किया जाने वाला 'विषयी') अर्थात् उपमान के द्वारा अपने में समाविष्ट यानी निगल लिया जाता है (अपने भीतर अन्तर्भूत कर लिया जाता है) तब उसे साध्यवसाना-लक्षणा कहते हैं ॥ ११ ॥

विषयिणेति। 'उपमान' (आरोप्यमाण विषयी) के द्वारा जब 'उपमेय' (आरोप के विषय) को निगीर्ण कर लिया जाता है, तब साध्यवसाना-लक्षणा होती है। अर्थात् विषयिवाचक पद से ही विषय का प्रतिपादन (अध्यवसान) किये जाने पर साध्यवसाना-लक्षणा होती है।

सारोपा और साध्यवसाना-दोनों के दो भेद—

(सू० १६) सारोपा और साध्यवसाना में से प्रत्येक के (मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के) दोनों भेद जब सादृश्य पर आधारित हों तब उन्हें 'गौण', और जब अन्य किसी सम्बन्ध पर आधारित हों तब उन्हें 'शुद्ध' समझना चाहिये।

गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसाना के सादृश्यमूलक दो भेदों के उदाहरण—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ गौर्वाहीक इत्यत्र गौरयमित्यत्र च। अत्र हि स्वार्थसहचारिणो गुणाः जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणाः अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्। स्वार्थसहचारिगुणाऽभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते, न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे।

सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित 'सारोपा' और 'साध्यवसाना' (साध्यवसानिका) लक्षणा के ये दो भेद, क्रमशः 'गौर्वाहीकः' वाहीक देश का निवासी पुरुष 'गो' (बैल) है, और 'गौरयम्' यह 'गो' (बैल) है, इन दो उदाहरणों से स्पष्ट किये गये हैं। अर्थात् 'गौर्वाहीकः' यह उदाहरण 'सारोपा लक्षणा' का है, और 'गौरयम्' यह उदाहरण 'साध्यवसाना लक्षणा' का है।

गौणी साध्यवसाना-विषयक तीन मत—

'गौरयम्' आदि गौणी साध्यवसाना के उदाहरणों में लक्षणावृत्ति से बोध्य लक्ष्य अर्थ क्या है ? इस विषय में काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट ने 'तीन पक्षों' का उल्लेख किया है।

(१) अत्र हीति। कुछ विचारकों का कहना है कि यहां पर अर्थात् 'गौरयम्' आदि 'गौणी लक्षणा' के उदाहरणों में अपने अर्थ के सहचारी 'जाड्य, मान्द्य' (मूर्खता, आलस्य) आदि गुण, लक्षणा के द्वारा बोधित होकर भी, वे 'गो' शब्द के द्वारा 'वाहिक' रूप 'अन्य अर्थ' को अभिधा से बोधित करने में प्रवृत्तिनिमित्त बन जाते हैं। अर्थात् मुख्यार्थ 'गो' के साथ एक अधिकरण (समानाधिकरण) में रहने वाले 'मन्दता, मूर्खता' आदि गुण यद्यपि लक्षणा के द्वारा व्यक्त होते हैं, तथापि 'गो' (बैल) शब्द से 'वाहीक' रूप अन्य वस्तु का अभिधा से बोध करा देने में कारणीभूत होते हैं।

(२) स्वार्थेति। 'गो' शब्द के 'स्वार्थ-सहचारी' (अपने अर्थ के सहचारी) 'जाड्य, मान्द्य' आदि गुणों से अभिन्न रूप में 'वाहीक' गत गुण ही 'लक्षित' होते हैं, किन्तु वे अभिधा के द्वारा 'वाहीक' अर्थ के बोधन में प्रवृत्तिनिमित्त नहीं होते हैं। अर्थात् मुख्यार्थ के समानाधिकरण रहने वाले गुणों के साथ जो उनकी एकरूपता (अभिन्नता) है, उससे अन्य वस्तु (वाहीक) के 'गुणों' का ही लक्षणा से बोध होता है, उस अन्य वस्तु (वाहीक) का अभिधा से बोध नहीं होता है, ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है।

(३) साधारणेति। 'गौ' तथा 'वाहीक' दोनों के समान गुणों के आश्रयरूप से 'वाहीक' अर्थ ही 'लक्षणा' से उपस्थित होता है, ऐसा मुकुलभट्ट और मीमांसक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उक्तञ्चान्यत्र—

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥' इति ।

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम् । तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ न लक्षणा स्याद् । अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम् ।

आदि अन्य लोग मानते हैं। इस अन्तिम पक्ष के साथ 'इत्यपरे' पद का प्रयोग ग्रन्थकार ने किया है। व्याख्याकारों ने इस 'अपरे' पद का 'न परे' इति 'अपरे' ऐसा नञ् समास करके उसका अर्थ 'स्वीयाः' किया है ॥

उक्तञ्चेति। अन्यत्र कुमारिलभट्टपाद के श्लोकवार्तिक में कहा भी है—

विशेष विवरण—इस विषय में तीसरे पक्ष (मुकुलभट्ट के मत) को उपयुक्त समझकर उसके समर्थनार्थ कुमारिलभट्टपाद के 'श्लोकवार्तिक' ग्रन्थ से 'अभिधेयाविनाभूत' कारिका को उद्धृत किया गया है। इस कारिका का 'पूर्व अंश' जो ग्रंथकार ने दिया नहीं है, वह इस प्रकार है—'मानान्तरविरुद्धे हि मुख्यार्थस्य परिग्रहे ।' सबको मिलाकर अर्थ इस प्रकार होगा—

अभिधेयेति। मुख्यार्थ का अन्य प्रमाणों से बाध होने पर अभिधेयार्थ (मुख्यार्थ) से सम्बद्ध (अविनाभूत) अर्थ की प्रतीति (बोध) कराने वाली शक्ति, 'लक्षणा' कही जाती है, और लक्ष्यमाण जाड्य-मान्द्यादि गुणों के योग (संबंध) से अर्थात् वाहीक में रहने से इस लक्षणावृत्ति की गौणता हो जाती है, अर्थात् इसे 'गुणेभ्यः आगतत्वात्' गौणी लक्षणा कहा जाता है।

अविनाभाव इति। उक्त कारिका में प्रयुक्त 'अविनाभाव' शब्द से 'सम्बन्ध-मात्र' (सामान्य) ही समझना चाहिये, 'नान्तरीयकत्व' (व्याप्ति) नहीं। क्योंकि 'नान्तरीयकत्व' (व्याप्ति) अर्थ मानने पर 'मञ्चाः क्रोशन्ति' मंच पुकारते हैं—इत्यादि स्थलों में 'मञ्च' पद की 'मञ्चस्थित पुरुषों' के अर्थ में लक्षणा नहीं हो सकेगी। तथा अविनाभाव (व्याप्ति) अर्थ करने पर तो आक्षेप (अनुमान) से ही लक्ष्यमाण अर्थ की सिद्धि हो जायगी, उसके लिए लक्षणा की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। ग्रन्थकार ने इस तीसरे मत में अपनी रुचि प्रदर्शित की है, अन्यथा वे उसका खण्डन अवश्य करते ॥

शुद्धा सारोपा और शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण—

ऊपर गौणी सारोपा तथा गौणी साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरणों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(तयोः सम्बन्धान्तरमूलौ भेदौ)

आयुर्घृतम् आयुरेवेदमित्यादौ च सादृश्यादन्यत्कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम्। एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने।

अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाऽभेदावगमश्च प्रयोजनम्। शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि।

बताने के पश्चात् अब 'शुद्धा सारोपा' तथा 'शुद्धा साध्यवसाना' लक्षणा के उदाहरण दे रहे हैं—

आयुर्घृतमिति। 'आयुर्घृतम्' घी आयु है और 'आयुरेवेदम्' यह (घी) आयु ही है—इत्यादि उदाहरणों में ('आयुः' के लक्ष्यार्थ और वाच्यार्थ में) सादृश्य-सम्बन्ध के अतिरिक्त (सादृश्य से भिन्न) 'कार्य-कारणभाव' आदि अन्य सम्बन्ध 'लक्षणा' के प्रयोजक हैं। अर्थात् इस प्रकार के उदाहरणों में 'सारोपा' और 'साध्यवसानिका' लक्षणा, 'कार्यकारणभावादि' जैसे सम्बन्धों पर आधारित रहती हैं। अर्थात् 'आयुर्घृतम्' में 'आरोप्यमाण पदार्थ' 'आयु' है, तथा 'आरोपविषयपदार्थ' 'घृत' है। दोनों के अनपह्नुत-स्वरूप उपात्त होने से (शब्दतः दोनों को बताने से) यह 'शुद्धा सारोपा' लक्षणा का उदाहरण है। तथा 'आयुरेवेदम्' में आरोप विषय 'घृत' को शब्दतः उपात्त नहीं किया है अर्थात् आरोप विषय का स्वरूप अपह्नुत होने से यह 'शुद्धा साध्यवसाना' लक्षणा का उदाहरण है।

किसी विद्वान् का कहना है कि 'आयुरेवेदम्' में 'इदं' सर्वनाम से आरोप विषय का संकेत हो ही जाता है, अतः वह 'साध्यवसाना' का ठीक उदाहरण नहीं बनता है। 'आयुः पिबामि' यह अधिक अच्छा उदाहरण है।

अत्रेति। यहाँ इन चारों उदाहरणों में से गौणी के (गौणी सारोपा और गौणी साध्यवसानिका के) दोनों भेदों ('गौर्वाहीकः' तथा 'गौरयम्') में आरोप्यमाण 'गौ' तथा आरोपविषय 'वाहीक' का भेदज्ञान होने पर भी उन दोनों के 'तादात्म्य' की प्रतीति लक्षणा से होती है। उन दोनों के 'सर्वथा अभेद' का बोध करना ही इस गौणी लक्षणा का प्रयोजन है। किन्तु 'शुद्धा सारोपा' और 'शुद्धा साध्यवसानिका' इन शुद्धा के दो भेदों में अन्य वस्तु की अपेक्षया विलक्षण रीति से एवं निश्चित रूप से विशिष्ट परिणाम पैदा करा देने का बोध कराना ही उसका फल है।

विशेष विवरण—सादृश्य सम्बन्ध के अतरिक्त (भिन्न) सम्बन्ध रहने पर शुद्धा लक्षणा होती है, यह पहले बता चुके हैं। उस 'शुद्धालक्षणा' के दो उदाहरण 'आयुर्घृतम्' और 'आयुरेवेदम्' भी प्रदर्शित किये थे, उसी प्रकार के कुछ अन्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कचित् तादर्थ्यादुपचारः, यथा—इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः। कचित् स्वस्वामिभावाद्, यथा—राजकीयः पुरुषो राजा। क्वचिदवयवावयविभावाद्, यथा—अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्तः। कचित् तात्कर्म्याद्, यथा—अतक्षा तक्षा।

(लक्षणाया भेदसंकलनम्)

(सू०१७) लक्षणा तेन षड्विधा ॥ १२ ॥

आद्यभेदाभ्यां सह।

उदाहरण भी दिखा रहे हैं, जिनमें 'सादृश्यसम्बन्ध' से भिन्न 'अन्यान्य सम्बन्ध' भी लक्षणा के प्रयोजक हो रहे हैं, अतः ये सब **शुद्धा लक्षणा** के उदाहरण हैं।

क्वचिदिति। कहीं पर तादर्थ्य से 'उपचार' होता है, अर्थात् 'उसके लिए' होने से अन्य के लिए अन्य के वाचक शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे 'यज्ञ में इन्द्र' की पूजा करने के लिए बनाई गई स्थूणा (स्तम्भ) भी 'तादर्थ्यसंबंध' से 'इन्द्र' कही जाती है। अर्थात् 'इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः' में 'इन्द्र' और 'स्थूणा' में 'उपकार्योपकारकभावसम्बन्ध' है।

कहीं पर 'स्व-स्वामिभावसम्बन्ध' से अन्य शब्द का अन्यत्र भी प्रयोग किया जाता है। जैसे 'राजकीयः पुरुषो राजा' राजा का विशेष कृपा-पात्र 'पुरुष' भी 'राजा' कहलाता है।

कहीं पर 'अवयवावयविभावसम्बन्ध' से औपचारिक प्रयोग (अन्य शब्द का अन्यत्र प्रयोग) किया जाता है। जैसे 'अग्रहस्तः' यहाँ पर हाथ के केवल आगे के भाग (अंगुलि) के लिए 'हस्त' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

कहीं पर उस कर्म के करने के कारण अर्थात् 'तात्कर्म्यसम्बन्ध' से औपचारिक शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे अतक्षा 'तक्षा' = बढ़ई का काम करने वाला 'अतक्षा' अर्थात् बढ़ई के अतिरिक्त (भिन्न) ब्राह्मण आदि किसी व्यक्ति के लिए भी 'तक्षा' बढ़ई शब्द का प्रयोग 'तात्कर्म्यसम्बन्ध' से किया जाता है।

(सू० १७) इसलिए 'लक्षणा' छः प्रकार की हुई ॥ १२ ॥

आद्यभेदाभ्यामिति। आद्य दोनों भेदों (शुद्धा उपादान-लक्षणा तथा शुद्धा लक्षण-लक्षणा) के साथ 'शुद्धा' तथा 'गौणी' दोनों में से प्रत्येक के सारोपा तथा साध्यवसाना के दो-दो भेद, कुल चारों भेदों को मिलाकर 'लक्षणा' के छह भेद होते हैं।

लक्षणा	उदाहरण
१ उपादान सारोपा	कुन्ताः पुरुषाः प्रविशंति।
२ उपादान साध्यवसाना	कुन्ताः प्रविशंति।
३ लक्षणलक्षणा सारोपा	आयुर्घृतम्।
४ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना	आयुरेवेदम्। गंगायां घोषः।
५ गौणी सारोपा	गौर्वाहीकः।
६ गौणी साध्यवसाना	गौरयम्।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लक्षणा-षड्विधा

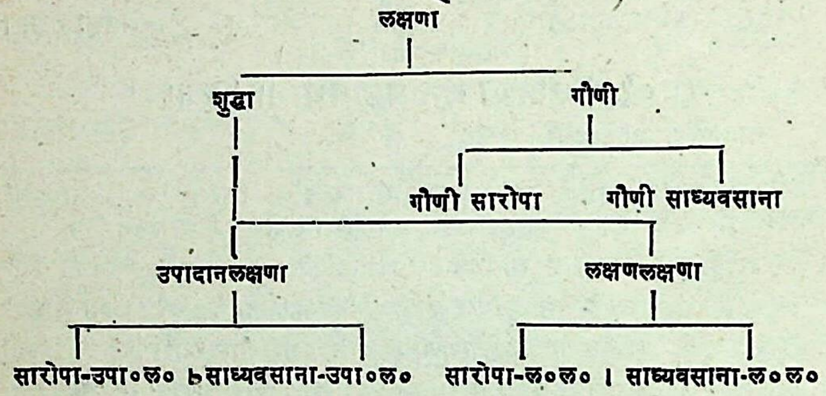

कुछ विद्वानों का कहना है कि शुद्धात्वादि छह उपाधियों के द्वारा लक्षणा के छह भेद बताना ठीक नहीं है, क्योंकि (१) निरूढात्व और (२) प्रयोजनवत्त्व इन दो भेदों को भी मिलाना चाहिये, जिससे लक्षणा के आठ भेद (अष्टविधत्व) बताने चाहिये। इसका समाधान यह है कि प्रथमतः लक्षणा के निरूढा और प्रयोजनवती दो विभाग होंगे। तदनन्तर प्रयोजनवती के शुद्धात्वादि उपाधियों से छह विभाग करने होंगे। अतः इसे विभक्त-विभाग ही कहना होगा। इसलिए षड्विधत्व कहने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि 'व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ' (सू० १८) इस अग्रिम ग्रन्थ को देखने से स्पष्ट प्रतीति होता है कि 'रूढि और प्रयोजन' की दृष्टि से भेद को यहाँ कहा भी नहीं है, इसलिए रूढि-प्रयोजन-कृत अधिक भेदों की कल्पना करना उचित नहीं है। यद्यपि 'रूढितोऽथ प्रयोजनात्' (सू० १२) से रूढि और प्रयोजन बताये गये हैं, तथापि उन्हें विभाजक के रूप में नहीं बताया गया है, अपितु हेतु के रूप में बताया गया है। अन्यथा पुनरुक्ति होगी।

अन्य आलङ्कारिक विद्वान् लक्षणा के षड्विध विभाग को अनुपपन्न बताते हैं, क्योंकि गौणी के भी उपादान और लक्षणलक्षणारूप दो भेद हो सकते हैं। जैसे—गोर्वाहीकसाधारण्येन 'गावः एते समानीयन्ताम्' और 'गावः समानीयन्ताम्' इसप्रकार उपादान सारोपा एवं साध्यवसाना के दो उदाहरण संभव हैं। इसलिए 'षड्विधा' का अर्थ वे इस प्रकार करते हैं—'षड्भिरुपाधिभिः कल्पिता विधाः प्रकाराः यस्यां सा षड्विधा'। अर्थात् छह उपाधियों से उसके अनेक प्रकार कल्पित किये जाते हैं।

किन्तु ऐसा समझना केवल भ्रममात्र है, क्योंकि तेरहवें सूत्र में 'शुद्धैव' में 'एव' शब्द का प्रयोग और 'सारोपान्यां तु' (सू० १४) में 'तु' शब्द का प्रयोग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(उक्तभेदाया लक्षणायाः पुनः प्रकारत्रयम्)

सा च—

(सू०१८) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव ॥

(सू०१९) तच्च गूढमगूढं वा—

किया गया है। ग्रन्थकार के 'एव' और 'तु' शब्द की ओर ध्यान न पहुँच पाने से यह भ्रम होना संभव है। किंच 'स्वसादृश्य' कभी स्वधृत्ति नहीं होता है अतः उपादानादि का संभव ही नहीं है, और संबंधांतर से मानने पर उसमें गौणत्व नहीं कह सकते।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लक्षणा के सोलह भेद बताये हैं। लक्षणा के विभाग करते समय दर्पण में 'षोडश-भेदिता लक्षणा' बताया गया है। इस प्रकार रूढि-लक्षणा और प्रयोजनवती-लक्षणा के दो भेद पहले किये। दोनों के उपादान और लक्षण भेद से दो-दो भेद कर चार भेद बताये। बाद चारों के सारोपा—साध्यवसाना भेद से आठ भेद किये। फिर आठों के शुद्धा तथा गौणी भेद से दो-दो भेद किये। सब को मिलाने से कुल १६ भेद लक्षणा के प्रदर्शित किये।

किन्तु ग्रन्थकार मम्मटभट्ट और मुकुलभट्ट दोनों ने 'उपादन और लक्षण-लक्षणा' ये दो भेद केवल 'शुद्धा' के ही माने हैं, 'गौणी' के नहीं, इसलिए इन के छः ही भेद होते हैं। विश्वनाथ ने गौणी के भी ये दोनों भेद माने हैं। मम्मट के छह भेदों में जोड़ देने से आठ (८) भेद हो जाते हैं। पुनः उसके रूढि—प्रयोजन से दो भेद कर दिये हैं। इसलिए विश्वनाथ के मत में लक्षणा के १६ भेद हो जाते हैं।

प्रस्तुत भेदों से युक्त लक्षणा के पुनः तीन प्रकार—

सा चेति। और वह—

(सू० १८) 'रूढि' पर जब आधारित हो तब उसमें व्यङ्ग्यार्थ नहीं रहता है किन्तु जब वह 'प्रयोजन' पर आधारित रहती है, तब उसमें व्यङ्ग्यार्थ रहता है। अर्थात् 'रूढि' के कारण होने वाले भेदों में व्यङ्ग्य से रहित तथा 'प्रयोजन' के कारण होने वाले भेदों में व्यङ्ग्य के सहित वह होती है॥

प्रयोजनं हीति। क्योंकि 'व्यञ्जना' का व्यापार होने पर ही प्रयोजन को जाना जा सकता है। अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणा में व्यङ्ग्य प्रयोजन अवश्य रहता है, इसलिए वह व्यङ्ग्यसहित ही हुआ करती है।

(सू० १९) और वह 'व्यङ्ग्य प्रयोजन' कहीं पर 'गूढ' अर्थात् दुर्बोध,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तच्चेति व्यङ्ग्यम् । गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः ।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥ १ ॥

(सहृदयैकमात्रगम्य) और कहीं पर 'अगूढ' अर्थात् स्पष्ट (सर्वजनसंवेद्य) होता है।

तच्चेति। और 'वह' अर्थात् व्यङ्ग्य। 'तच्च' में 'तत्' सर्वनाम पूर्वप्रयुक्त व्यङ्ग्य का परामर्शक है।

गूढमिति। गूढ व्यङ्ग्य का उदाहरण। जैसे—

मुखं विकसितेति। किसी युवती को देखकर किसी युवक की यह उक्ति है—बड़ी प्रसन्नता की बात है कि इस चन्द्रमुखी के अङ्गों में यौवन का उदय मुदित हो रहा है। इसके मुख पर 'स्मित' (मुसकान) विकसित है। 'वक्रिमा' (वंकता) को वश करनेवाला 'कटाक्षपात' है। 'गति' में 'विलासों' (विभ्रमों) की उछाल है। 'बुद्धि' में 'परिमित विषयता' का त्याग है। 'कुच' अधखिली कली हैं। 'जघनस्थल' अवयवों के पुष्ट होने से उभर रहा है अर्थात् जघन प्रदेश रतिक्रीडा के योग्य हुआ है ॥ १ ॥

विशेष विवरण—कवि ने ऊपर के उदाहरण में यौवन से ओत-प्रोत हुई युवती के स्मित (मुसकान) से, उसकी दृष्टि से, उसकी हाव-भाव भरी गति से, उसके अंग-प्रत्यंग से, यौवन के प्रस्फुटित होने का सहृदयगम्य हृद्य चित्र खींच दिया है। किन्तु यह 'व्यङ्ग्यार्थ' गूढ है, इसे सहृदय काव्यमर्मज्ञ ही जान सकते हैं। यहाँ लक्षणा-मूला व्यञ्जना है। काव्यप्रकाशकार ध्वनिवादी आचार्यों के अनुयायी होने से इन्होंने भी प्रयोजनवती लक्षणा में 'प्रयोजन' को व्यञ्जनागम्य ही माना है।

उक्त उदाहरण में आये हुए शब्द, मुख्यार्थ का बाध हो जाने से लक्षणा के विषय निम्नांकित प्रकार से हो रहे हैं—

'यौवन' (तरुणिमोद्गम) कोई चेतन वस्तु नहीं है। वह मुदित (हर्षित) नहीं हो सकता है। इस कारण यहाँ मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। इसका लक्ष्यार्थ है—यौवन अवस्था-जनित उत्कर्ष, अर्थात् अत्यन्त सौन्दर्य। तथा व्यङ्ग्यार्थ है—'नायिका में अभिलाषा का होना'।

'विकसित' का अर्थ है 'प्रफुल्लित होना', किन्तु 'प्रफुल्लित होना' (खिलना) तो पुष्पों का धर्म है, न कि मुख की मुसकान (स्मित) का। इस कारण मुख को विकसित करने में मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। अतः 'विकसित' का लक्ष्यार्थ है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्कर्ष। मुख्यार्थ 'विकसित' के साथ लक्ष्यार्थ 'उत्कर्ष' का 'असङ्कोचरूप' सादृश्य सम्बन्ध है, क्योंकि विकास और आधिक्य दोनों में 'असङ्कोच' रहता है। और 'विकसित' का व्यङ्ग्यार्थ है—'मुख को पुष्पों के समान सुगन्धित सूचित करना।'

इसमें सादृश्य सम्बन्ध होने से 'गौणी', 'मुख' एवं 'विकसित' दोनों का कथन होने से 'सारोपा' और 'विकसित' ने अपना मुख्यार्थ त्याग दिया है, इस कारण 'लक्षण-लक्षणा' है।

'वशीकृत' का मुख्य अर्थ है—'किसी को अपने वश में कर लेना', किन्तु यह चेतन का धर्म है। 'कटाक्षों' द्वारा 'वक्रिमा' (बाँकेपन) को वश में करना असम्भव है। अतः मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। 'वशीकृत' का लक्ष्यार्थ 'स्वाधीन करना' यहाँ पर स्वीकार किया गया है। अपने अभिलषित विषय में 'प्रवृत्तिरूप सम्बन्ध' है। और 'अपने प्रेमी में अनुराग सूचित करना' ही उसका प्रयोजन व्यंग्य है।

'विभ्रम' अर्थात् युवतियों के हाव-भाव, यह कोई उछलनेवाली वस्तु नहीं है। 'उछलना' धर्म तो जल आदि का है। अतः मुख्यार्थ का बाध है। यहाँ पर 'विभ्रम' (उछलने) का लक्ष्यार्थ 'अधिकता' स्वीकार किया गया है। 'प्रेर्य-प्रेरकभावसम्बन्ध' है। 'मनोहरता' व्यङ्ग्य है।

'मति' में मर्यादा का लोप कहने में मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि 'मर्यादा' का त्याग करना 'चेतन' का धर्म है। यहाँ पर लक्ष्यार्थ 'अधीरता' है। 'कार्य-कारणभावसम्बन्ध' है। 'अनुराग का आधिक्य' व्यङ्ग्य है।

'मुकुलित' का मुख्यार्थ अधखिला रहना है। कुचों (स्तनों) को अधखिला कहने में मुख्यार्थ का बाध है। क्योंकि 'आधा खिलना' पुष्पों का होता है, न कि मनुष्य के अंगों का। अतः इसका लक्ष्यार्थ 'काठिन्य' (उभार) है। अवयवों की 'सघनतारूप सादृश्य सम्बन्ध' है। 'मनोहरता' या आलिंगन योग्यत्व को सूचित करना व्यङ्ग्य है।

'उद्धुरत्व' का मुख्य अर्थ 'उत्कृष्टधुरात्व' (धुरा को उठाया हुआ) है। जघनस्थल को 'उद्धुर' कहने में मुख्यार्थ का बाध होता है। 'उद्धुरत्व' का लक्ष्यार्थ 'रमणीयत्व' है। 'भार' को सहन कर पाना रूप 'सादृश्य सम्बन्ध' है। 'विलक्षणरति-योग्यता' को सूचित करना व्यङ्ग्य है।

इनमें जहाँ-जहाँ 'सादृश्य सम्बन्ध' है, वहाँ गौणी लक्षणा है, और जहाँ अन्य सम्बन्ध है, वहाँ शुद्धा लक्षणा है। इस प्रकार इस पद्य (काव्य) में जो व्यङ्ग्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अगूढं यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥ १० ॥

अर्थ है, वह गूढ़ है अर्थात् वह सर्वजन-संवेद्य नहीं है । साधारण व्यक्ति इस व्यंग्यार्थ को सहज में नहीं समझ सकता है । इस व्यंग्यार्थ को 'काव्यमर्मज्ञ सहृदय' ही समझ सकता है । इसलिए 'इस पद्य' को गूढ़-व्यङ्ग्य के उदाहरणरूप में प्रदर्शित किया गया है । अतः यहाँ गूढव्यंग्या लक्षणा है ।

काव्यप्रकाश की संस्कृत टीका 'प्रदीप' के लेखक ने गूढव्यंग्या लक्षणा के उदाहरण-रूप में स्वरचित पद्य प्रस्तुत किया है—

'चकोरीप्राण्डित्यं मलिनयति दृग्भङ्गिमहिमा
हिमांशोरद्वैतं कवलयति वक्त्रं मृगदृशः ।
तमोवैदग्ध्यानि स्थगयति कचः, किंच वचनं
कुहूकण्ठीकण्ठध्वनिमधुरिमाणं तिरयति' ॥

इस मृगनयनी (हरिणाक्षी) के नेत्र-कटाक्षों का प्रभाव चकोरी की चतुराई को तिरस्कृत (फीका) कर देता है, इसका वदन (मुख) चन्द्रमा की अनुपमता (अद्वितीयता—बेजोड़पन) को ग्रस लेता है, इसका केशकलाप अन्धकार की सघनता को मात (तिरस्कृत) करता है, और इसकी ध्वनि (आवाज) कोयल के कण्ठ से निकलनेवाली ध्वनि के माधुर्य को फीका बना देती है ।

इस छन्द में चार क्रियापद 'मलिनयति, कवलयति, स्थगयति, और तिरयति' हैं, ये सब लाक्षणिक हैं । ये चारों क्रियापद 'लक्षणलक्षणा' के उदाहरण रूप हैं ॥

अगूढ-व्यङ्ग्या लक्षणा—

जहाँ ऐसा व्यङ्ग्यार्थ हो, जो सहज ही में समझा जा सकता हो, वहाँ अगूढ व्यङ्ग्या लक्षणा होती है ।

अगूढमिति । 'अगूढ' व्यङ्ग्य का उदाहरण । जैसे—

श्रीपरिचयादिति । लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर (श्री से परिचय हो जाने पर) मूर्ख (जड) अर्थात् मन्दबुद्धि के मनुष्य भी चतुरों के व्यवहारों के (विदग्धों के चरित्रों के) यानी रीति-रिवाजों के जानकार (अभिज्ञ) हो जाते हैं । (उपर्युक्त कथन का समर्थन अर्थान्तरन्यास अलंकार के द्वारा कर रहे हैं) यौवन का मद ही युवतियों को विलास का पाठ पढ़ा देता है ॥ १० ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्रोपदिशतीति ।

(व्यङ्ग्यगर्भिताया लक्षणायास्त्रैविध्यप्रतिपादनम्)

(सू०२०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥ १३ ॥

अत्रेति । इस पद्य में 'उपदिशति' पद का मुख्यार्थ है—'अज्ञात अर्थ को शब्द द्वारा बताना' अर्थात् 'उपदिशति' का अर्थ सिखाना यानी शिक्षा देना है । किन्तु इस प्रकार उपदेश करना तो चेतन का धर्म है (कार्य है) । 'यौवन' तो जड है, उसके द्वारा उपदेश दिया जाना असंभव है । अतः मुख्यार्थ का बाध हो जाता है । इसलिए 'उपदिशति' का लक्ष्यार्थ—'आविष्करोति' (प्रकट करता है) है ।

विशेष विवरण—'प्रकट करना' यह सामान्य वाक्य है, और 'उपदेश देना' (सिखाना) यह विशेष वाक्य है । अतः यहाँ 'सामान्य-विशेषभावसम्बन्ध' है, इस कारण यहाँ शुद्धा लक्षणा है । अनायास 'लालित्य का ज्ञान होना' यह व्यंग्य अर्थ है 'अनाचार्योपदिष्टं स्याल्ललितं रतिचेष्टितम्'—बिना शिक्षा प्राप्त किये ही रतिचेष्टाओं के ज्ञान को 'ललित' कहते हैं । यह व्यंग्यार्थ 'गूढ' नहीं है, सहज ही में ज्ञात हो सकता है । अतः अगूढ व्यंग्य का यह उदाहरण है । 'उपदिशति' पद ने अपने 'मुख्यार्थ' को त्याग दिया है । अतः यहाँ लक्षण-लक्षणा है । 'अगूढ गुणीभूतव्यंग्य मध्यम काव्य' में यही लक्षणा होती है । 'गूढ' के समान 'अगूढ व्यंग्य' भी सभी लक्षणाओं के भेदों में हो सकता है । 'विदग्ध' (वि+दह्+क्त) का मुख्य अर्थ, विशेषरूप से पका हुआ । जैसे मिट्टी का घड़ा खूब अच्छी तरह से पका हुआ टन-टन आवाज करने वाला, टिकाऊ, व्यवहार योग्य होता है, उसी प्रकार काव्यशास्त्र में परिपक्व हुआ सहृदय व्यक्ति, व्यवहार-कुशल होता है । अतएव 'विदग्ध' शब्द से उसका निर्देश किया जाता है । इस 'विदग्ध' प्रयोग को 'सादृश्य-मूलकरूढसाध्यवसाना लक्षणा' का उदाहरण कह सकते हैं । 'प्रयोजन' की दृष्टि से लक्षणा के जो तीन प्रकार कहे गए हैं, उनमें से 'गूढव्यंग्य' संज्ञक प्रथम प्रकार 'उत्तम काव्य' अर्थात् ध्वनिकाव्य में समझा जाता है, और जब व्यंग्यार्थ 'अगूढ' या 'अतिगूढ' (क्लिष्ट) हो, तब वह काव्य गुणीभूतव्यंग्य अर्थात् मध्यम काव्य के रूप में कहलाता है । अत एव किसी कवि ने कहा है—

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः ।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित् सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ॥

यहाँ पर कवि ने काव्य के 'व्यंग्यार्थ' का स्वरूप विशद करने में स्त्रियों की वेषभूषा से संबंधित उनके उत्तरीय वस्त्रपरिधान के वैशिष्ट्य का चतुराई से निरूपण किया है ।

(सू० २०) इस प्रकार यह 'लक्षणा' व्यंग्य की दृष्टि से तीन प्रकार की बताई गई ॥ १३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च ।

(लाक्षणिक-शब्दलक्षणम्)

(सू०२१) तद्भूर्लाक्षणिकः—

शब्द इति सम्बध्यते, तद्भूस्तदाश्रयः ।

(लक्षणामूला व्यञ्जना)

(सू०२२) तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

अव्यङ्ग्येति । (१) 'अव्यङ्ग्या' व्यंग्यार्थ से रहित, (२) 'गूढव्यङ्ग्या' गूढव्यंग्यार्थ के सहित, (३) 'अगूढव्यङ्ग्या' प्रकट व्यंग्यार्थ वाली–यह कहकर उक्त तीन प्रकारों को स्पष्ट किया है ।

द्वितीय उल्लास के आरंभ में दी गई 'स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' (सू० ५) कारिका में 'वाचक' 'लाक्षणिक' और 'व्यञ्जक' तीन प्रकार के शब्दों का उल्लेख किया गया था । उनमें से 'वाचक' शब्द को 'साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः' (सू० ९) से बता दिया गया है । लक्षणा का विवेचन करने के बाद, उसके आश्रयभूत लाक्षणिक शब्द का लक्षण अब कर रहे हैं—

(सू० २१) लक्षणा के 'आश्रयभूत शब्द' को 'लाक्षणिक' शब्द कहते हैं ।

शब्द इतीति । द्वितीय उल्लास को प्रथमकारिका अर्थात् सूत्र ५ से 'शब्द' पद का सम्बन्ध 'मण्डूकप्लुतिन्याय' से यहाँ पर किया गया है । 'तद्भूः' का अर्थ है—उस लक्षणा का आश्रय ।

लक्षणामूलक व्यञ्जना

(सू० २२) उस व्यङ्ग्यार्थरूप प्रयोजन की प्रतीति कराने में 'लाक्षणिक' शब्द का लक्षणा व्यापार से भिन्न (पृथक्) व्यञ्जनारूप व्यापार होता है ।

प्रयोजन की प्रतीति में व्यञ्जनाव्यापार की अनिवार्यता—

विशेष विवरण—मुकुलभट्ट ने 'रूढि' तथा 'प्रयोजन' को 'लक्षणा' का प्रयोजक हेतु कहा है । 'रूढेः प्रयोजकाद्वापि व्यवहारे विलोक्यते ।' कारिका भाग की व्याख्या में उन्होंने 'लक्षणा' का प्रयोजन, 'पुण्यत्व, मनोहारित्वादि का प्रतिपादन' माना है । क्योंकि उक्त प्रयोजन की प्रतीति, 'स्व' शब्द से अभिधा के द्वारा नहीं हो पाती । किन्तु ध्वनिवादी आचार्य तो प्रयोजन की प्रतीति 'व्यंजना-व्यापार' से ही मानते हैं । लेकिन मुकुलभट्ट को 'व्यञ्जनाव्यापार' मान्य नहीं है । इनके मत में प्रयोजन की प्रतीति 'लक्षणावृत्ति' से ही होती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कुत इत्याह—

(व्यञ्जनाया आवश्यकता)

(सू०२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।

इस पर ध्वनिवादी का प्रश्न है कि यदि 'लक्षणावृत्ति' से ही 'प्रयोजन' की प्रतीति कहें तो वह दो प्रकार से कही जा सकती है—एक प्रकार यह होगा कि उस 'प्रयोजन' को ही लक्ष्यार्थ कहा जाय। और दूसरा प्रकार यह होगा कि 'प्रयोजन' को यदि 'लक्ष्यार्थ' से भिन्न कहें तो 'प्रयोजन-विशिष्ट तट' की उपस्थिति 'लक्षणा' से कही जायगी।

मुकुलभट्ट के ग्रन्थ—"अत्र हि गंगा-शब्दाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्य घोषाधिकरणत्वानुपपत्त्या मुख्यशब्दार्थबाधे सति योऽसौ समीप-समीपि-भावात्मकः सम्बन्धस्तदाश्रयेण 'तटं' लक्षयति।" से प्रतीत होता है कि संभवतः वे 'तट' को लक्ष्यार्थ मानते होंगे, अतः 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ मानने की संभावना नहीं कर सकते। तब 'पुण्यत्व, मनोहारित्व' आदि 'प्रयोजन' की प्रतीति, 'गंगा' शब्द से तभी हो सकती है कि जब 'प्रयोजन-विशिष्ट तट' की उपस्थिति 'लक्षणा' के द्वारा मानी जाय। परन्तु मुकुलभट्ट ने इसको स्पष्ट नहीं किया है। किन्तु काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट ने उक्त दोनों पक्षों की आलोचना करते हुए १६ वीं तथा १७ वीं कारिका के पूर्वार्ध में 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ मानने की संभावना का और १७ वीं कारिका के उत्तरार्ध तथा १८ वीं कारिका में 'प्रयोजन-विशिष्ट तट' में लक्षणा मानने का निरसन किया है। उनके निरसन करने का अभिप्राय यह है कि यदि 'प्रयोजन' को 'लक्षणा' का प्रयोजक मानते हैं, तो उस 'प्रयोजन की प्रतीति' 'अभिधा' अथवा 'लक्षणा' से तो हो नहीं सकती। अतः उसकी (प्रयोजन की) प्रतीति के लिए व्यंजना को अवश्य ही मानना होगा। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार मम्मटभट्ट 'कुत इत्याह' ग्रन्थ से बता रहे हैं।

प्रयोजन की वाच्यता का निराकरण—

कुत इत्याहेति। व्यञ्जनाव्यापार ही क्यों होता है? इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं—

(सू० २३) जिस किसी 'प्रयोजन' की प्रतीति कराने के लिए लक्षणा (लाक्षणिक शब्द) का सहारा स्वीकार किया जाता है ॥ १४ ॥ केवल शब्द से गम्य (अनुमान आदि से नहीं) उस प्रयोजन (फल) की प्रतीति के लिए 'व्यञ्जना' के अतिरिक्त शब्द का और कोई व्यापार नहीं हो सकता है ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिः, अपि तु तस्मादेव शब्दात् । न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः ।

तथा हि—

(प्रयोजनप्रत्यायने अभिधाया अनुपयोगः)

(सू०२४) नाभिधा समयाभावात्—

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः ।

(नापि लक्षणाविषयः)

(सू०२५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ १५ ॥

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः ।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषयेति । 'प्रयोजन विशेष' के प्रतिपादन करने की इच्छा से जहाँ लक्षणा से (लाक्षणिक) शब्द का प्रयोग किया जाता है, वहाँ अनुमानादि अन्य किसी उपाय (साधन) से उस प्रयोजन की प्रतीति नहीं हुआ करती, अपितु 'उसी शब्द' से होती है । उसके बोधन में 'शब्द' का व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं होता है । इसी बात को और अधिक स्पष्ट किया जा रहा है ।

तथा हीति । क्योंकि—

(सू० २४) संकेतग्रह के न होने से 'अभिधावृत्ति' प्रयोजन का बोधन नहीं करा सकती ।

गंगायामिति । 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थलों में 'पावनत्व, शीतलत्व' आदि जो धर्म 'तट' में प्रतीत होते हैं, उनमें 'गङ्गा' आदि शब्दों का संकेतग्रह (शक्तिग्रह) नहीं है । अतः उन धर्मों का ज्ञान 'अभिधा' से नहीं हो सकता है ।

प्रयोजन की लक्ष्यता का खण्डन—

(सू० २५) लक्षणा के प्रयोजक 'मुख्यार्थबाध आदि' हेतुओं के न होने से 'लक्षणा' भी प्रयोजन को नहीं बता सकती ॥ १५ ॥

मुख्यार्थबाधादिति । 'मुख्यार्थ का बाध' और उसके साथ-साथ 'मुख्यार्थ से सम्बन्ध' तथा 'रूढि' अथवा 'प्रयोजन' में से कोई एक—ये 'तीन कारण' 'लक्षणा' करने में कारण हुआ करते हैं । वे तीनों कारण यहाँ नहीं हैं । अतः प्रयोजक सामग्री के न होने से 'प्रयोजन' का ज्ञान 'लक्षणा' से भी नहीं हो सकता है ।

विशेष विवरण—२५ वें सूत्र में बताया है कि लक्षणा के प्रयोजक तीन हेतुओं (मुख्यार्थ बाध; मुख्यार्थ से सम्बन्ध, रूढ़ि या प्रयोजन में से कोई एक) में से कोई भी हेतु न होने से लक्षणा के द्वारा प्रयोजन का बोध नहीं कराया जा सकता । अग्रिम कारिका में इन्हीं हेतुओं के अभाव का उपपादन किया जायगा ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१) अभिप्राय यह है कि 'गङ्गा' पद से 'तट' रूप अर्थ की प्रतीति होने के बाद जो 'शैत्य-पावनत्वादि धर्मों' की प्रतीति होती है, 'उसे' यदि लक्ष्यार्थ मान लें तो उससे पूर्व उपस्थित होने वाले 'तट' रूप अर्थ को मुख्यार्थ कहना होगा, किन्तु वह तो लक्ष्यार्थ है, अतः उसे मुख्यार्थ नहीं कह सकते, कथञ्चित् यदि उसे मुख्यार्थ मान भी लें तो 'लक्षणा' होने के पूर्व उसका बाध होना चाहिये, लेकिन उसका 'बाध' भी नहीं हो रहा है, क्योंकि 'तट' पर 'घोष' होता ही है। इसलिए भी 'लक्षणा' नहीं होगी। इस रीति से अगली कारिका (सूत्र २६) के 'लक्ष्यं न मुख्यं' 'नाऽप्यस्य बाधः' इस प्रथम चरण से 'मुख्यार्थबाध' रूप लक्षणा के प्रथम कारण का अभाव बताया गया है।

(२) 'लक्षणा' होने में दूसरा कारण 'लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध' है। यदि 'शैत्य-पावनत्व' आदि धर्मों (प्रयोजन) को लक्ष्यार्थ कहा जाय तो 'तट' को मुख्यार्थ कहना होगा तब मुख्यार्थ रूप 'तट' के साथ लक्ष्यार्थ रूप 'शैत्य-पावनत्व' आदि का (प्रयोजन का) सम्बन्ध बताना होगा, किन्तु 'शैत्य-पावनत्व' का सम्बन्ध तो 'गंगा' शब्द के मुख्यार्थ रूप 'जलप्रवाह' के साथ है, 'तट' के साथ नहीं है। इसलिए 'मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध' रूप दूसरा हेतु भी नहीं है। इस बात को अगली कारिका के 'योगः फलेन नो' इस द्वितीय चरण के अंश से बताया गया है। तात्पर्य यह है कि 'लक्ष्यार्थ रूप' में कल्पित किये गये 'शैत्यपावनत्व आदि' फल (प्रयोजन) के साथ कल्पित मुख्यार्थ रूप 'तट' का सम्बन्ध भी न होने से 'लक्षणा' के दूसरे हेतु (कारण) का भी अभाव बताया गया है।

(३) अब 'लक्षणा' में तीसरा हेतु (कारण) 'रूढि या प्रयोजन में से किसी एक की स्थिति' है। किन्तु इन दोनों में से कोई एक भी यहाँ नहीं है। क्योंकि 'गङ्गा' शब्द 'शैत्य-पावनत्वादिधर्मों' में रूढ़ नहीं है। यदि 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ कहें तो पुनः उसका कोई 'अन्य प्रयोजन' कहना होगा। किन्तु 'शैत्य पावनत्वादि प्रयोजन' का कोई 'अन्य प्रयोजन' नहीं माना जा सकता। यदि 'अन्य प्रयोजन' मानने का आग्रह ही किया जाय तो उस 'प्रयोजन' का भी 'प्रयोजन', पुनः उसका भी 'प्रयोजन' कहना होगा, तब तो 'अनवस्था' दोष उपस्थित हो जायगा। अतः 'प्रयोजन' का पुनः प्रयोजन मानना उचित नहीं है। इसलिए 'रूढि और प्रयोजन' में से किसी एक (अन्यतर) की उपस्थितिरूप तीसरे कारण का भी अभाव है। इस कारण 'प्रयोजन की प्रतीति' 'लक्षणा' से नहीं करायी जा सकती। इस बात को कारिका के उत्तरार्ध के 'न प्रयोजनमेतस्मिन्' इस अंश से कहा गया है। यह अभिप्राय २६ वीं कारिका के तीन चरणों का है।

'प्रयोजन' को यदि 'लक्ष्यार्थ' कहें तो उसके विषय में 'शब्द' का 'स्खलद्-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(प्रयोजनप्रतिपादने लक्षणाया असामर्थ्यम्)

तथा च—

(सू०२६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः॥ १६॥

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वत् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत्, न च तटं मुख्योऽर्थः, नाप्यत्र बाधः, न

गति' होना जरूरी है। अन्यथा मुख्यार्थ बाध, मुख्यार्थ संबंध आदि के पश्चात् ही उस अर्थ का बोध होना चाहिये। 'लक्षणा' के प्रयोजक 'मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं' के बिना यदि उस शब्द से 'अर्थ प्रतीति' न हो सके, तब उस 'अर्थ' को 'लक्ष्यार्थ' कहा जाता है। जैसे—'गङ्गा' शब्द का 'लक्ष्यार्थ' 'तट' है, क्योंकि मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं के उपस्थित हुए बिना 'गङ्गा' शब्द 'तट' रूप अर्थ को बताने में समर्थ नहीं है। अर्थात् वह 'गङ्गा' शब्द 'तट' रूप अर्थ का बोध कराने में 'स्खलद्गति' है। इसलिए उस 'तट' रूप अर्थ को वह 'गंगा' शब्द 'लक्षणा' के द्वारा बता देता है। किन्तु 'शैत्य-पावनत्व' आदि प्रयोजन को बताने में 'गङ्गा' आदि लाक्षणिक शब्द 'स्खलद्गति' (असमर्थ) नहीं है। तात्पर्य यह है कि शैत्य-पावनत्वादि धर्मों को (प्रयोजन को) 'मुख्यार्थबाध' के बिना भी वह शब्द बता देने में समर्थ है, क्योंकि 'गंगा' शब्द के 'जल-प्रवाहरूप अर्थ' के साथ वे धर्म स्वयं ही उपस्थित होते हैं। इसलिए प्रयोजन रूप अर्थ के प्रतिपादन करने में वह 'शब्द' स्खलद्गति नहीं है। अतः 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' का बोध कराने के लिए 'लक्षणा' की आवश्यकता नहीं है। उस अर्थ को बताने के लिए तो 'व्यञ्जनाव्यापार' को ही मानना होगा।

तथा चेति। इसी अभिप्राय को मम्मटभट्ट २६वीं कारिका के द्वारा बता रहे हैं। (सू० २६) लक्ष्यार्थ (तट) 'मुख्यार्थ' नहीं है, और न उसका यहाँ बाध होता है, तथा न उसका 'फल' (शैत्य-पावनत्व) के साथ 'सम्बन्ध' है, और उस 'प्रयोजन को लक्ष्यार्थ' मानने में कोई 'प्रयोजन' (फल) भी नहीं है, और न 'प्रयोजन' के विषय में 'लाक्षणिक शब्द' स्खलद्गति ही है। अर्थात् मुख्यार्थबाधादि हेतुओं के बिना 'प्रयोजन' का बोध कराने में वह असमर्थ भी नहीं है। 'मुख्यार्थबाधादि' के बिना भी वह 'गंगा शब्द' शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन को अभिव्यक्त कर सकता है। 'मुख्यार्थ बाध' होने पर तो वह गंगा शब्द 'तट' को ही बताता है, 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' को नहीं॥ १६॥

यथेति। जैसे—'गंगायां घोषः' इस उदाहरण में 'घोष' का आधार बनने के लिए 'गङ्गा' अपने 'जलप्रवाहरूप' मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) में बाधित होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

च गंगाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः, नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम् , नापि गंगाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः ।

इसलिए वह (गङ्गाशब्द) 'लक्षणाव्यापार' की सहायता से 'तट' रूप लक्ष्यार्थ को बताता है, उसी प्रकार यदि 'तट' में भी वह (गङ्गाशब्द) बाधित हो, तब वह (गङ्गाशब्द) 'शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजन' को लक्षणा व्यापार से बता सकता है। अर्थात् पहले तो 'तट' को 'गङ्गा' शब्द का मुख्यार्थ माना जाय, और उसमें (तट में) 'घोष' का आधार बनने की योग्यता का न होना समझा जाय, तब कहीं मुख्यार्थ का बाध कहा जायेगा और तब 'लक्षणा' से प्रयोजन का बोध कहा जा सकेगा। किन्तु न तो 'तट' रूप अर्थ 'गङ्गा' शब्द का मुख्यार्थ है, और न उसका बाध होता है। एवं च मुख्यार्थबाध रूप प्रथम हेतु नहीं है। और यदि 'तट' रूप अर्थ को 'गङ्गा' शब्द का मुख्यार्थ, हठात् मान भी लें, तब भी 'गङ्गा' शब्द के 'तट' रूप 'कल्पित मुख्यार्थ' का उस लक्ष्यार्थ (जिसे आप लक्षणा से बताना चाह रहे हैं) 'शैत्य-पावनत्वादि' के साथ संबंध भी नहीं है। क्योंकि 'शैत्य-पावनत्वादि' का संबंध तो जलप्रवाह से है, 'तट' से नहीं। इसलिए 'मुख्यार्थ' के साथ 'लक्ष्यार्थ' का सम्बन्धरूप द्वितीय हेतु भी नहीं है। अब लक्षणा का तीसरा हेतु 'रूढ़ि' अथवा 'प्रयोजन' में से किसी एक की उपस्थिति होना आवश्यक है। किन्तु यहाँ उसका भी अभाव है। क्योंकि 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ मानने में कोई 'अन्य प्रयोजन' भी नहीं दिखाई देता, और उस प्रयोजन को बताने में 'गङ्गाशब्द' असमर्थ (स्खलद्गति) भी नहीं है, क्योंकि वह (गङ्गाशब्द) 'तट' रूप अर्थ को बताने में जैसा समर्थ है, वैसे ही वह 'प्रयोजन' को भी बताने में समर्थ है। इसलिए 'प्रयोजन का बोध' लक्षणा से नहीं हो सकता। इस रीति से 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ समझना संभव नहीं है ॥ १६ ॥

फिर भी व्यञ्जना-विरोधी 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ ही मानना चाहें और उसके लिए 'प्रयोजन' में भी कोई 'अन्य प्रयोजन' बताने का प्रयत्न भी करें, तो भी वह निरर्थक होगा, क्योंकि उस दशा में वह 'अन्य प्रयोजन' भी 'लक्ष्य' ही होगा, तब उस प्रयोजन के लिए 'किसी तीसरे प्रयोजन' की आवश्यकता रहेगी, पुनः उस तीसरे प्रयोजन के लिए 'चौथे प्रयोजन' की, इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रयोजन की आवश्यकता होने से 'अनवस्था' उत्पन्न होगी। इस प्रकार का अनवस्था दोष 'मूल' का ही विनाशक हो जाता है। इसलिए मूल-विनाशक अनवस्था दोष के भय से भी 'प्रयोजन' को लक्ष्यार्थ नहीं कह सकते। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार २७ वें सूत्र से अब बता रहे हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(लक्षणाप्रयोजनस्य लक्षणाविषयत्वे दोषः)

(सू०२७) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी ।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताऽप्रतीतिकृद् अनवस्था भवेत् ।

(प्रयोजनविशिष्टे लक्षणाया अनुपपत्तिः)

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते, गङ्गायास्तटे घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा । तत्किं व्यञ्जनयेत्याह—

(सू० २७) इस प्रकार भी अनवस्था दोष होगा, जो मूल का ही नाशक हो जाता है ।

एवमिति ।—इस प्रकार यदि 'प्रयोजन लक्षित' होता है—यह कहें, तो वह 'अन्य प्रयोजन' से, और वह भी 'अन्य प्रयोजन' से लक्षित मानना होगा । इस प्रकार 'प्रयोजन' की अविश्रान्त परम्परा की कल्पना करते रहने के कारण मूलभूत प्रथम प्रयोजनरूप प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति में भी बाधा पहुँचाने वाली मूलक्षयकारिणी अनवस्था होगी ।

प्रयोजनविशिष्ट में लक्षणा का खण्डन—

विशेष विवरण—यहाँ तक मम्मटभट्ट ने यह बताया कि 'प्रयोजन' का ज्ञान लक्षणा से नहीं हो सकता । 'प्रयोजन' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'व्यञ्जना' को स्वीकार करना ही होगा । किन्तु 'विशिष्ट' में लक्षणा माननेवाला एक पक्ष अभी शेष है । 'विशिष्ट-लक्षणा' कहने का तात्पर्य यह है कि 'तट' रूप लक्ष्यार्थबोध के साथ ही साथ 'शैत्य-पावनत्व' आदि प्रयोजन का भी बोध हो जाता है । अभिप्राय यह है कि 'लक्षणा' से केवल 'तट' का ही नहीं, अपितु 'शैत्य-पावनत्व' आदि प्रयोजन-विशिष्ट तट का बोध होता है । इसलिए उसके बोध के लिए 'लक्षणामूला व्यञ्जना' को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है । इस विशिष्ट लक्षणावादी का खण्डन मम्मटभट्ट ने १७ वीं कारिका के उत्तरार्ध तथा १८ वीं कारिका से किया है । इस अवसर पर विशिष्टलक्षणावादी के खण्डनार्थ ग्रन्थकार के द्वारा दी गई युक्ति का अभिप्राय यह है कि 'ज्ञान का विषय' तथा 'ज्ञान का फल'—ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं । उनको एक साथ मिलाया नहीं जा सकता । 'लक्षणाजन्य ज्ञान' का विषय 'तट' है, और उसका 'फल' (प्रयोजन) शैत्य-पावनत्व आदि का बोध होना है । अतः इन दोनों को एक साथ न मिलाकर अलग-अलग ही उनकी प्रतीति कहनी होगी, क्योंकि 'विषय' और 'फल' में कार्य-कारणभाव हुआ करता है । 'ज्ञान का विषय' ज्ञान को पैदा करता है अर्थात् 'ज्ञान' का कारण होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और 'ज्ञान का फल' (प्रयोजन) 'ज्ञान' का 'कार्य' होता है। इसलिए उन दोनों (कार्य-कारण) की उत्पत्ति एक-काल (समकाल) में नहीं हो सकती। निष्कर्ष यह है कि 'ज्ञान का विषय' और 'ज्ञान का फल' दोनों अलग-अलग हैं। यह बात न्यायमीमांसादर्शन की प्रक्रिया से समझी जा सकती है। 'घट-पट' आदि विषयों का जो ज्ञान होता है, उसका विषय 'घट-पट' आदि होते हैं, और वे 'ज्ञानोत्पत्ति' के 'कारण' कहलाते हैं, इसलिए उनकी सत्ता ज्ञानोत्पत्ति के पूर्व रहती है, इसमें किसी भी दार्शनिक का मतभेद नहीं है। किन्तु 'ज्ञान' के 'फल' के विषय में न्याय और मीमांसा दर्शन के सिद्धान्त अलग-अलग हैं।

न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त—

'घट' या 'नील' आदि 'विषयों' (वस्तुओं) का ज्ञान, 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों' से हो जाता है। अर्थात् 'विषय' (वस्तु) को देखते ही पहले उसका 'ज्ञान' उत्पन्न होता है। किन्तु 'ज्ञान' का ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ नैयायिकों ने 'अनुव्यवसाय' की कल्पना की है। 'अनुव्यवसाय' का अर्थ है 'ज्ञान का ज्ञान'। प्रथमतः 'घट' को देखने पर 'अयं घटः' यह ज्ञान होता है। तदनन्तर 'घटज्ञानवान् अहम्' अथवा 'घटमहं जानामि' यह ज्ञान होता है। इन दो ज्ञानों में से 'अयं घटः' यह घट है—इस प्रकार का पहला ज्ञान 'व्यवसायात्मक' (व्यवसाय) ज्ञान है। और तदनन्तर होनेवाला 'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवान् अहम्' मैं घट को जानता हूँ या मुझे घट का ज्ञान है—यह दूसरा ज्ञान 'अनुव्यवसाय' है। 'अयं घटः' इस 'प्रथम ज्ञान' का विषय 'घट' है। और 'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवान् अहम्' इस 'दूसरे ज्ञान' का विषय 'घटज्ञान' है। जैसे पहला 'व्यवसायात्मकज्ञान' अपने 'विषय घट' से पैदा होता है, उसी प्रकार 'दूसरा ज्ञान' अपने विषय 'व्यसायात्मक घटज्ञान' से उत्पन्न होता है। अत एव उसे 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। यह 'अनुव्यवसाय', 'व्यवसायात्मक घटज्ञान' का फल है। अर्थात् घटज्ञान के विषयरूप 'घट' से उस 'घटज्ञान' का फलरूप 'अनुव्यवसाय' भिन्न है। इसलिए 'विषय' तथा 'ज्ञान के फल' को अलग-अलग मानना होगा। अतः 'विषय' और 'फल' दोनों की समकालीन (एक ही काल में) उत्पत्ति नहीं मान सकते। यह न्यायदर्शन का सिद्धान्त है।

मीमांसकों का ज्ञातता-सिद्धान्त—

मीमांसकों का सिद्धान्त उपर्युक्त 'न्यायसिद्धान्त' से कुछ भिन्न है। क्योंकि नैयायिकों ने 'अयं घटः' इस प्रकार ज्ञान होने के बाद उससे 'घटमहं जानामि' या 'घटज्ञानवान् अहम्' इस प्रकार 'अनुव्यवसायज्ञान' की उत्पत्ति मानी है।

किन्तु मीमांसक 'अनुव्यवसाय' के स्थान पर 'ज्ञातता' नामक 'धर्म' की उत्पत्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानते हैं। मीमांसकों का कहना है कि 'अयं घटः' इस प्रकार का ज्ञान होने के बाद 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति में 'घट' में रहनेवाला 'ज्ञातता' नामक धर्म भासित होता है। यह 'ज्ञातता' धर्म, 'अयं घटः' इत्याकारक ज्ञान होने के पूर्व 'घट' में नहीं था। 'अयं घटः' इस ज्ञान के बाद ही वह 'ज्ञातता' धर्म उसमें आया है। इसलिए वह ज्ञान से उत्पन्न हुआ है—यह मानना होगा। 'पूर्वज्ञान' ही उक्त 'धर्म' की उत्पत्ति में कारण है। 'कारण' के बिना कोई भी 'कार्य' उत्पन्न नहीं होता है। अतः 'ज्ञान' के बिना 'ज्ञातता' धर्म भी 'घट' में उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु 'ज्ञातता' धर्म 'घट' में उत्पन्न तो हुआ है और 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रतीति में वह भास भी रहा है। अतः उसका कारण 'पूर्व ज्ञान' है—यह अवश्य ही मानना होगा। इस रीति से 'ज्ञातता' की अन्यथा अनुपपत्ति होने के कारण (अर्थापत्तिप्रमाण से) 'ज्ञातता' से ही ज्ञान का ग्रहण (ज्ञान) होता है—यह मीमांसादर्शन का सिद्धान्त है।

अनुव्यवसाय और ज्ञातता में अन्तर—

नैयायिकों के सिद्धान्त में 'ज्ञान' का ग्रहण (ज्ञान) 'अनुव्यवसाय' से होता है, और मीमांसकों के सिद्धान्त में 'ज्ञान' का ग्रहण (ज्ञान) 'ज्ञातता' से होता है। नैयायिक का 'अनुव्यवसाय' भी 'अयं घटः' इस ज्ञान से उत्पन्न होता है, और मीमांसक की 'ज्ञातता' भी 'अयं घटः' इस ज्ञान से ही उत्पन्न होती है। तब उन दोनों के सिद्धान्तों में मौलिक भेद क्या है ? दोनों के अलग-अलग सिद्धान्त क्यों माने जाँय ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि नैयायिकों का 'अनुव्यवसाय' 'आत्मा' में रहनेवाला (आत्मनिष्ठ) धर्म है, और मीमांसकों की 'ज्ञातता' 'घट-पट-नील' आदि विषयों में रहनेवाला (विषयनिष्ठ) धर्म है। इस भिन्नता के कारण इन दोनों के अलग-अलग सिद्धान्त माने गये हैं।

प्रकृत प्रसंग में इसकी चर्चा करने का प्रयोजन यह है कि जब यह स्वीकार हो चुका है कि 'ज्ञान' का 'विषय' और उसका 'फल'—पुण्यत्व, मनोहरत्व, शीतलत्व, पावनत्वादि भी अलग-अलग ही स्वीकार करने होंगे, किन्तु उनकी 'उत्पत्ति' को समानकालीन मानना उचित नहीं होगा। इसलिए 'विशिष्ट-लक्षणा' का कथन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(पूर्वपक्ष) ननु पावनत्वादीति। अच्छा, यदि यह कहें कि पावनत्वादि धर्म से समन्वित हुआ 'तट' ही लक्षणा के द्वारा उपस्थित किया जा रहा है, और 'गङ्गायास्तटे घोषः' गंगा के तट पर घोष है, इस 'प्रतीति' की अपेक्षा अधिक अर्थ (पावनत्वादि से विशिष्ट तट) की प्रतीति कराना ही 'लक्षणा' का प्रयोजन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सू०२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥ १७ ॥

कुत इत्याह—

(लक्ष्यप्रयोजनयोर्भिन्नत्वम्)

(सू०२९) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।

प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलं च प्रकटता संवित्तिर्वा ।

है। अतः 'पावनत्वादिविशिष्ट' में लक्षणा हो सकती है। तब 'व्यञ्जना' को स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है ? तात्पर्य यह है कि विशिष्ट में लक्षणा मान लेने से ही यदि काम चल जाता है तो एक अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति मानना व्यर्थ है। इस प्रकार पूर्वपक्षी ने पूर्वपक्ष उपस्थित किया है। उक्त पूर्वपक्ष के समाधानार्थ सू० २८ कारिका १७ को उपस्थित किया जा रहा है—

(सू० २८) प्रयोजन के सहित अर्थात् 'शैत्य-पावनत्वादि-विशिष्ट' तीर को 'लक्ष्यार्थ' (लक्षणीय) कहना उचित नहीं है ॥ १७ ॥

कुत इति। क्यों उचित नहीं है, उसे बताते हैं—

(सू० २९) क्योंकि ज्ञान का विषय 'घट-पट' आदि अलग हैं और 'ज्ञान' का फल (प्रयोजन) नैयायिक के मत से 'अनुव्यवसाय' तथा मीमांसक के मत से 'ज्ञातता' अलग बताया गया है। अभिप्राय यह है कि 'नैयायिक' तथा 'मीमांसक' दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि ज्ञान का 'विषय' और उसका 'फल' दोनों भिन्न-भिन्न हैं। दोनों के मत में 'ज्ञान' का 'विषय' तो समान है, किन्तु 'फल' के विषय में मतभेद है।

प्रत्यक्षादेरिति। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न (जन्य) हुए ज्ञान का विषय 'घट-पट-नील' आदि हैं; किन्तु 'फल' मीमांसक के मत में 'ज्ञातता' (प्रकटता) और नैयायिक के मत में 'अनुव्यवसाय' (संवित्ति) है।

विशेष विवरण—दोनों के ही मतों में 'ज्ञान' का विषय 'ज्ञान' के फल से भिन्न है। ज्ञान का कारण 'विषय' होता है। अतः उसकी अवस्थिति भी 'ज्ञान' के पूर्व रहती है। और 'फल' तो ज्ञान का कार्य है। अतः उसकी उत्पत्ति ज्ञान के बाद होती है। इसलिए 'लक्षणाजन्य ज्ञान' के विषय-'तटादि' और उसके फल-'पुण्यत्व, मनोहरत्व आदि' अथवा 'शीतलत्व-पावनत्व आदि' की स्थिति भी अलग-अलग है। उन दोनों की 'समानकालीन उत्पत्ति' नहीं हो सकती। इसलिए 'प्रयोजन' के सहित 'तट' आदि को लक्ष्यार्थ कहना उचित नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

(प्रयोजनविशिष्टे लक्षणाभावः)

(सू०३०) विशिष्टे लक्षणा नैवम्—

व्याख्यातम् ।

(लक्ष्यार्थानन्तरं प्रयोजनप्रतीतिः)

(सू०३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः । तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम् ।

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम् ।

(सू० ३०) इस प्रकार विशिष्ट में लक्षणा नहीं कह सकते ।

व्याख्यातमिति । इसकी व्याख्या सूत्र के शब्दों से ही (निगदेनैव) हो जाती है । अर्थात् इसका विवेचन कारिका के शब्दों से ही हो जाता है ।

(सू० ३१) किन्तु लक्षित अर्थों में 'विशेष' हो सकते हैं । अर्थात् 'विवक्षित धर्म' (गुण), 'लक्षित वस्तु' में 'लक्षणा से भिन्न व्यापार' के द्वारा प्रतीत होंगे । अभिप्राय यह है कि 'लक्षणा' से केवल 'तट' की उपस्थिति होने के बाद 'लक्षणा मूलक व्यञ्जना' से उस 'तटादिरूप' लक्ष्यार्थ (लक्ष्यवस्तु) में शैत्य-पावनत्वादि प्रयोजनों की प्रतीति हो सकती है ॥ १८ ॥

तटादाविति । 'तट' आदि लक्ष्यार्थ में जो पावनत्वादि विशेष (प्रयोजन रूप धर्म) प्रतीत होते हैं, वे 'अभिधा, तात्पर्या (अभिहितान्वयवादी कुमारिल भट्ट के द्वारा स्वीकृत) तथा लक्षणा से भिन्न व्यापार' के द्वारा प्रतीत होते हैं । अतः व्यञ्जन, ध्वनन, द्योतनादि शब्द से कहे जाने वाले उस व्यञ्जनाव्यापार को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये । उसको स्वीकार किये बिना 'प्रयोजन' का ज्ञान नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

एवमिति । इस प्रकार लक्षणामूला (लक्षणा पर अविष्ठित) व्यञ्जना का विवेचन किया गया ।

अभिधामूलक व्यंजना का लक्षण—

विशेष विवरण—इस प्रकार से मीमांसकों के व्यंजनाविरोधी मत का खण्डन करके ग्रंथकार मम्मटभट्ट ने अभिधा, लक्षणा से पृथक् व्यञ्जनावृत्ति के स्वीकार करने की आवश्यकता का सिद्धान्त बताया और उसका अच्छी तरह उपपादन भी किया । उस व्यञ्जनावृत्ति के भी दो भेद हैं—एक 'शाब्दीव्यञ्जना' और दूसरी 'आर्थी-व्यञ्जना' । पुनः शाब्दी व्यञ्जना के भी 'अभिधामूला' तथा 'लक्षणामूला' व्यञ्जना ये दो भेद होते हैं । लक्षणा का निरूपण करते समय प्रसंगतः प्राप्त 'प्रयोजन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिधामूलन्त्वाह—

(अभिधामूलव्यञ्जनालक्षणम्)

(सू० ३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १९ ॥

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

बोध' के लिए 'व्यञ्जना' की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब लक्षणामूला-व्यञ्जना का निरूपण भी उसी के साथ ग्रन्थकार ने कर दिया। अब शाब्दी व्यञ्जना के द्वितीय भेद 'अभिधामूला व्यञ्जना' का निरूपण अगली कारिका के द्वारा किया जा रहा है।

अभिधामूलमिति। ग्रन्थकार अभिधावृत्ति पर अधिष्ठित व्यञ्जकत्व को बताते हैं—

(सू० ३२) 'संयोग-विप्रयोगादि' के द्वारा अनेकार्थक शब्दों के 'वाचकत्व' का किसी 'एक अर्थ' में नियन्त्रण कर दिये जाने पर उससे भिन्न 'अवाच्य अर्थ' (अभिधावृत्ति से ज्ञात न होने वाले अर्थ) की प्रतीति कराने वाला जो शब्द व्यापार होता है, उसे 'व्यञ्जना' (अभिधामूला व्यञ्जना) कहते हैं ॥१९॥

विशेष विवरण—अभिप्राय यह है कि जब 'अनेकार्थक शब्द' किसी एक अर्थ में 'संयोगादि' कारणों से नियन्त्रित हो जाते हैं, तब भी उनसे किसी 'अन्य अर्थ' की जो प्रतीति होती रहती है, वह प्रतीति 'जिस शब्द व्यापार' से होती है, उस 'शब्दव्यापार' को ही 'अभिधामूला व्यञ्जना' कहते हैं—यही 'अभिधामूला व्यञ्जना' का लक्षण है। अनेकार्थक शब्दों का किसी एक ही अर्थ में नियन्त्रण करने वाले 'संयोग, विप्रयोग' आदि के अभिप्राय को समझाने के लिए श्रीभर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ से दो कारिकाओं को उद्धृत कर रहे हैं।

श्रीभर्तृहरि की दो कारिकाओं का अर्थ—

अनेकार्थक शब्द के 'वाच्यार्थ' का निश्चय (निर्णय) न हो पाने पर 'विवक्षित (विशेष) अर्थ' का निर्णय अग्रिम १४ कारणों से किया जाता है—

संयोग इति। (१) संयोग, (२) विप्रयोग, (३) साहचर्य, (४) विरोधिता, (५) अर्थ, (६) प्रकरण, (७) लिङ्ग, (८) अन्य शब्द की सन्निधि, (९) सामर्थ्य, (१०) औचित्य, (११) देश, (१२) काल, (१३) पुँल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्गादि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्युक्तदिशा ।

सशङ्खचक्रो हरिः अशङ्खचक्रो हरिरित्युच्यते। रामलक्ष्मणाविति दाशरथी। रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गवकार्त्तवीर्ययोः। स्थाणुं भज भवच्छिदे

विशिष्ट व्यक्ति और (१४) स्वर आदि अर्थात् उदात्त-अनुदात्त आदि स्वर इत्यादि १४ कारण हैं।

इत्युक्तदिशेति। भर्तृहरि के द्वारा दर्शित इस पद्धति से 'अग्रिम उदाहरणों' में अनेकार्थक शब्दों का किसी 'एक अर्थ' में 'संयोग आदि' के बल पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

उक्त चौदह कारणों में से प्रत्येक का उदाहरण देते हुए समझा रहे हैं। सबसे पहले 'संयोग' और 'विप्रयोग' के उदाहरण दे रहे हैं—

संयोग और विप्रश्लेष की नियन्त्रकता—

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु॥

पुंल्लिङ्ग में प्रयुक्त 'हरि' शब्द—यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, विष्णु, सिंह, किरण, घोड़ा, तोता, सर्प, मेढ़क का वाचक होता है। और पीत (कपिल) अर्थ में 'हरि' शब्द का तीनों लिङ्गों में प्रयोग किया जा सकता है। इस कोश के अनुसार 'हरि' शब्द अनेकार्थक है, परन्तु उसके साथ जब शंख-चक्र के संयोग अथवा विप्रयोग को बताया जाय तो वहाँ पर 'हरि' शब्द 'विष्णु' अर्थ का ही वाचक होगा। क्योंकि शंख-चक्र का संयोग तथा विप्रयोग उसी के साथ हो सकता है।

सशंखचक्र इति। इसलिए सशंखचक्रो हरिः—शंख-चक्र के सहित हरि—यहाँ 'संयोग' से और अशंखचक्रो हरिः—शंख-चक्र से रहित हरि—यहाँ 'विप्रयोग' से यह 'हरि' शब्द 'अच्युत'—विष्णु के अर्थ में ही नियन्त्रित होता है।

साहचर्य और विरोध की नियन्त्रकता—

रामः पशुविशेषे स्याज्जामदग्न्ये हलायुधे।
राघवे चासिते श्वेते मनोज्ञेऽपि च वाच्यवत्॥

इस कोश के अनुसार 'राम' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी जब 'लक्ष्मण' के साथ 'रामलक्ष्मणौ' इस रूप में 'राम' शब्द का प्रयोग किया जाता है। तब 'साहचर्य' के कारण उससे 'दशरथपुत्र राम' का ही ग्रहण किया जाता है। किन्तु जब 'रामार्जुनौ' इस प्रकार का प्रयोग होता है, तब 'परशुराम' तथा 'कार्तवीर्य अर्जुन' का विरोध रहने से 'विरोधिता' के कारण उसका 'परशुराम' अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति हरे। सर्वं जानाति देव इति युष्मदर्थे। कुपितो मकरध्वज इति कामे। देवस्य पुरारातेरिति शंभौ। मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते। पातु वो दयि-

---

रामलक्ष्मणाविति। 'राम-लक्ष्मणौ' इस प्रयोग में 'साहचर्य' के कारण 'राम-लक्ष्मण' दोनों शब्दों का 'दशरथ के पुत्रों' में नियन्त्रण हो जाता है। और 'रामार्जुनगतिस्तयोः' इस प्रयोग में 'राम' और 'अर्जुन' इन दोनों शब्दों का 'विरोधिता' के कारण क्रमशः 'परशुराम' तथा 'कार्तवीर्य अर्जुन' के अर्थ में नियन्त्रण होता है।

अर्थ एवं प्रकरण की नियन्त्रकता—

इसी प्रकार 'स्थाणु' शब्द के अनेक अर्थ कोश में बताये गये हैं—

स्थाणुर्ना ध्रुवः शंकुः स्थाणू रुद्र उमापतिः

'स्थाणु' शब्द के वृक्ष का ठूठ या स्थिर खड़ा हुआ खूंटा तथा 'शिव' आदि अनेक अर्थ होते हैं।

किन्तु 'स्थाणुं भज भवच्छिदे' इति। इसमें 'स्थाणु' का प्रयोग जब संसार से पार उतारने की प्रार्थना में किया जाय तो वह कार्य (अर्थ) केवल 'शिव' से ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए उस दशा में 'अर्थ' (प्रयोजन) के कारण 'स्थाणु' शब्द 'शिव' के अर्थ में ही नियन्त्रित किया जाता है।

इसी प्रकार सर्वमिति। 'सर्वं जानाति देवः'–देव सब जानते हैं। यहाँ पर 'प्रकरण' से अनेकार्थक 'देव' शब्द का 'आप' अर्थ मे नियन्त्रण हो जाता है। यह नियंत्रण 'प्रकरण' के कारण हुआ है।

कुपित इति। 'कुपितो मकरध्वजः' यहाँ पर 'मकरध्वज' शब्द के समुद्र, ओषधि-विशेष, कामदेव आदि अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु 'मकरध्वज' कुपित हो रहा है यहाँ पर 'लिङ्ग' अर्थात् 'कोप' रूप चिह्न से 'मकरध्वज' शब्द को कामदेव के अर्थ में नियंत्रित किया जाता है। यह नियंत्रण 'लिङ्ग' (चिह्न) के कारण हुआ है।

देवस्येति। 'देवस्य पुरारातेः'—पुरारि देव का। यहाँ पर अनेकार्थक 'देव' शब्द को 'पुराराति' इस अन्य शब्द की 'सन्निधि' रहने से 'शंभु' अर्थ में नियंत्रित किया जाता है। अतः यह नियंत्रण 'सन्निधि' के कारण हुआ है।

मधुनेति। 'मधुना मत्तः कोकिलः'–कोकिल मधु से मत्त हो रही है। यहाँ पर कोकिल को उन्मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसंत में होने से 'मधु' शब्द को वसंत के अर्थ में नियंत्रित किया जाता है। यह नियंत्रण 'सामर्थ्य' को देखकर किया गया है। अर्थात् यह नियंत्रण 'सामर्थ्य' के कारण हुआ है।

पात्विति। 'पातु वो दयिता मुखम्'–पत्नी का मुख तुम्हारी रक्षा करे। यहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तामुखमिति साम्मुख्ये। भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपाद् देशाद्राजनि। चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ। मित्रं भातीति सुहृदि। मित्रो भातीति रवौ। इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव, न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत्।

पर अनेकार्थक 'मुख' शब्द को 'औचित्य' के कारण आनुकूल्य (साम्मुख्य) अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है। यह नियन्त्रण 'औचिती' (औचित्य) के कारण हुआ है।

भातीति। 'भात्यत्र परमेश्वरः'–यहाँ परमेश्वर सुशोभित होते हैं। यहाँ पर अनेकार्थक 'परमेश्वर' शब्द को राजधानी रूप 'देश' के कारण 'राजा' अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है। यह नियन्त्रण 'देश' के कारण हुआ है।

चित्रभानुरिति। 'चित्रभानुर्विभाति'–चित्रभानु चमक रहा है। यहाँ पर अनेकार्थक 'चित्रभानु' शब्द दिन में 'सूर्य' के अर्थ में और रात्रि में 'अग्नि' के अर्थ में नियन्त्रित किया जाता है। यह नियंत्रण 'काल' के कारण हुआ है।

मित्रमिति। 'मित्रम्भाति' – मित्र सुशोभित होता है। यहाँ पर अनेकार्थक 'मित्र' शब्द नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है, इसलिए उसका नियन्त्रण 'सुहृत्' अर्थ में होता है। किन्तु 'मित्रो भाति' – इस प्रकार जब 'मित्र' शब्द का पुँल्लिङ्ग में प्रयोग किया जाता है, तब उसका नियन्त्रण 'सूर्य' अर्थ में किया जाता है। यह नियन्त्रण 'व्यक्ति' – लिङ्ग के कारण हुआ है।

श्रीभर्तृहरि ने ऊपर प्रदर्शित की गई दो कारिकाओं में अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ में नियन्त्रण करनेवाले संयोग, विप्रयोग आदि चोदह कारण बताये हैं। उनमें से अभी तक तेरह के उदाहरण दिखाये गये हैं। चौदहवाँ हेतु (कारण) 'स्वर' कहा गया है। उसे उदात्त, अनुदात्त आदि स्वरभेद से वेद में ही अर्थ-भेद का नियामक माना गया है, काव्य में नहीं। इसलिए अन्य उदाहरणों के साथ उसे नहीं दिखाया गया।

इन्द्रशत्रुरिति। इसी अभिप्राय से ग्रंथकार ने कहा है कि, 'इन्द्रशत्रुः' इसमें स्वर-विशेष के द्वारा अर्थ-विशेष का ज्ञान जो होता है वह वेद में ही होता है, काव्य में नहीं। इसीलिए स्वर सम्बन्धि लौकिक उदाहरण नहीं बताया गया।

विशेष विवरण—ग्रंथकार ने 'इन्द्रशत्रुः' इस वैदिक प्रयोग में स्वर-भेद से अर्थ-भेद कैसे होता है ? उसे बताने के लिए व्याकरण के महाभाष्य से यहाँ उद्धृत किया है। महाभाष्यकार ने व्याकरण के अध्ययन के चौदह मुख्य प्रयोजन बताये हैं। उनमें से 'दोष-दूषित शब्द का प्रयोग न करना' भी एक प्रयोजन बताया है। महाभाष्यकार कहते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं ।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥ ११ ॥

'दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्' ॥

यहाँ पर 'इन्द्रशत्रुः' पद से सम्बन्धित घटना का संकेत जो किया गया है उसका उल्लेख तैत्तिरीयसंहिता के द्वितीय कांड के पंचम प्रपाठक में इस प्रकार किया गया है—

त्वष्टा का पुत्र विश्वरूप असुरों का भांजा भी था और देवताओं का पुरोहित भी था। अतः वह प्रत्यक्ष रूप से तो देवताओं का कार्य करता था किन्तु परोक्ष रूप से असुरों का भी कार्य करता रहता था। यह जानकर इन्द्र को बड़ा क्रोध हुआ और उसने वज्र से उसका सिर काट दिया। उसके मारे जाने पर त्वष्टा ने इन्द्र को मारने वाले दूसरे पुत्र को उत्पन्न करने की इच्छा से एक यज्ञ आरम्भ किया। उस यज्ञ में उसने 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' आदि मन्त्र का 'ऊह' करके पाठ किया। उसका अभिप्राय यह था कि, 'इन्द्र को मारने वाले पुत्र की वृद्धि हो'। यहाँ पर 'शत्रु' शब्द 'शातयिता' मारनेवाले के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'इन्द्रशत्रु' पद में दो प्रकार के समास हो सकते हैं। एक 'इन्द्रस्य शत्रुः शातयिता = इन्द्रशत्रुः' अर्थात् इन्द्र को मारनेवाला—इस अर्थ में 'षष्ठीतत्पुरुष' समास हो सकता है। और दूसरा 'इन्द्रः शत्रुः शातयिता यस्य सः = इन्द्रशत्रुः' इन्द्र जिसका मारनेवाला है—इस विग्रह में 'बहुव्रीहि' समास हो सकता है। इन दोनों समासों से शब्द का अर्थ बिलकुल उलटा हो जाता है। 'षष्ठीतत्पुरुष' समास करने पर 'इन्द्र को मारनेवाले पुत्र की वृद्धि हो' यह अर्थ होता है और 'बहुव्रीहि' समास में 'इन्द्र जिसको मारे' अर्थात् जिसकी मृत्यु इन्द्र के हाथ से हो उस पुत्र की उत्पत्ति हो—यह अर्थ हो जाता है। इन दो समासों में से 'षष्ठीतत्पुरुष' समासवाला अर्थ यजमान को अभीष्ट था। उस 'षष्ठीतत्पुरुष' समास में 'अन्तोदात्त' स्वर का प्रयोग होना चाहिये था, परन्तु मन्त्र पढ़ते समय उसने 'इन्द्रशत्रु' शब्द को 'आद्युदात्त' स्वर से उच्चारण किया यह 'आद्युदात्त' स्वर 'बहुव्रीहि' समास में होता है। इस स्वर के कारण अर्थ ही उलटा हो गया। इस प्रकार 'अन्तोदात्त' और 'आद्युदात्त' स्वर के भेद से अनेकार्थक 'इन्द्रशत्रु' शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थों में नियन्त्रण वेद में ही हुआ है।

आदिग्रहणादिति। कारिका में कहे गये 'स्वरादयः' में 'आदि' पद के ग्रहण करने से अभिनयादिकृत संकेत भी नियन्त्रक होते हैं। जैसे—

एद्दहमिति (एतावदिति)। इतने बड़े स्तनों वाली; और इतनी बड़ी आँखों वाली तरुणी, इतने दिनों में, इतनी अवस्था की, हो गई॥ ११ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम् ।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः ॥)

इत्यादावभिनयादयः ।

इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधा नियमनात्तस्याः। न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावाद् अपि त्वञ्जनं व्यञ्जनमेव व्यापारः। यथा—

इत्यादाविति। इस पद्य में अभिनय आदि ने भी एक अर्थ में नियन्त्रण कर दिया है। अर्थात् अभिनयादि भी विशेष स्मरण कराने में कारण होते हैं।

विशेष विवरण—बुद्धिस्थित तत्तदर्थों के प्रतिपादन में शक्त रहनेवाले नानार्थक 'एतत्' आदि शब्दों की वाचकता 'अभिनय' के द्वारा स्तनादिगत परिमाण-विशेष रूप अर्थ में नियमित की गई है। 'आमलक मुकुलादि आकार' के अभिनय से स्तनप्रदर्शन, इसी प्रकार 'पद्मपलाशादि के आकार' के अभिनय से अक्षिप्रदर्शन, उच्चता पुष्टि आदि का प्रदर्शन करने के अभिनय से अवस्था का प्रदर्शन, 'अंगुल्यग्रधारणादि' के अभिनय से दिवस प्रदर्शन किया गया है। 'हस्तादि क्रिया के द्वारा नायिका आदि की अवस्था' के अनुकरण करने को 'अभिनय' कहते हैं। अथवा 'आकारादि प्रदर्शक हस्तादि चेष्टा' को 'अभिनय' कहते हैं। 'अभिनयादयः' में जो 'आदि' शब्द दिया गया है, उससे 'अपदेश' का ग्रहण करना चाहिये। 'हृदय आदि पर रखे हुए हस्तादि' के द्वारा अपने अभिमत (अभीष्ट) के निर्देश करने को 'अपदेश' कहते हैं। वह भी अभिधा का नियामक होता है। जैसे—

इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीर्नेत एवार्हति क्षयम्।
विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्॥ (कु० सं० २।५५)

इस पद्य में नानार्थक 'इतः' शब्द बुद्धि-स्थित अर्थ का परामर्शक होने से उसका वाचकत्व, हृदयनिहित हस्तरूप 'अपदेश' के द्वारा 'वक्ता' में नियमित किया गया है। 'अपदेश' में अनुकरण न होने से, उसको 'अभिनय' नहीं कहा जा सकता।

इत्थमिति। इस प्रकार संयोग विप्रयोग आदि के द्वारा अर्थान्तर के बोधकत्व का निरसन हो जाने पर भी अनेकार्थक शब्द, जो कहीं अर्थान्तर को बताता है वहाँ अभिधा नहीं हो सकती, क्योंकि उसका नियन्त्रण (नियमन) हो चुका है। और मुख्यार्थबाध आदि के न होने से लक्षणा भी नहीं हो सकती है। किन्तु अञ्जन अर्थात् व्यञ्जना-व्यापार ही हो सकता है।

यथेति। जैसे—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशाल-वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसङ्ग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लवगतेः परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभगः सततं करोऽभूत् ॥ १२ ॥

भद्रात्मन इति । सुन्दर आकृतिवाले, दूसरों से अपराजेय शरीर वाले, उच्चकुल में पैदा हुए, जिसने बाणों का संग्रह अथवा अभ्यास किया है, जिसकी गति (ज्ञान) अनुपप्लुत अर्थात् अबाधित है और जो पर अर्थात् शत्रुओं का निवारण करने वाला है उस राजा का हाथ (कर) हाथी के सूँड़ के समान सर्वदा दान के (मदके) संकल्प बोलकर छोड़े जाने वाले जल से सुन्दर रहता था ॥ १२ ॥

विशेष विवरण—उक्त श्लोक में किसी राजा की प्रशंसा की जा रही है। अतः उक्त पद्य में जितने 'अनेकार्थक शब्द' हैं, उन सबका 'प्रकरण' को देखते हुए 'एक ही अर्थ' में नियन्त्रण हो जाता है। तथापि उक्त पद्य से 'गज (हाथी) परक' दूसरे अर्थ और उसके साथ 'उपमान-उपमेय-भाव' की भी प्रतीति होती है। 'राजा' के समस्त विशेषण 'हाथी' के पक्ष में भी लगते हैं। अतः यह 'दूसरी प्रतीति' जो हो रही है, 'अभिधामूलक व्यञ्जना' से ही होती है, उसे बताने के लिए ही यह उदाहरण दिया गया है।

गज पक्ष में उक्त पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा—भद्र जाति वाले, जिसकी पीठ पर चढ़ने में कठिनाई होती है, अर्थात् बहुत ऊँचे, जिसकी पीठ की हड्डी (वंश) बहुत विशाल और उन्नत है, जिसकी गति धीर (अनुपप्लुत) है, और जिसने अपने मद-जल के कारण बहुत-से भ्रमरों का संग्रह कर रखा है, ऐसे उत्तम हाथी (परवारण) की सूँड़ (करके समान राजा का हाथ) मदजल के बहने से सर्वदा सुन्दर प्रतीत होती है ॥ १२ ॥

विशेष विवरण—उक्त पद्य में प्राकरणिक अर्थ 'राजा' के पक्ष में है, और अप्राकरणिक अर्थ 'गज' के पक्ष में है। क्योंकि 'राजा' वाच्य है और 'गज'—हस्ती, प्रतीयमान है। यहाँ पर अनेकार्थक 'भद्रात्मनः' इत्यादि शब्दों की 'अभिधा' का राजा में और तदन्वय योग्य अर्थ में 'प्रकरण' के द्वारा नियन्त्रण किये जाने पर भी सहृदयों को वासना वशात् (प्रतिभा के बल पर) 'गज' की और 'तदन्वय योग्य अर्थ' की जो प्रतीति होती है, वह 'व्यञ्जना' से ही होती है।

यद्यपि द्वितीय अर्थ तात्पर्य का विषय है, तथापि 'तात्पर्यग्राहक—प्रकरण' आदि के न होने से उसे 'व्यङ्ग्यबोध का ही विषय' समझना चाहिए। यहाँ पर उक्त 'विशेषण-विशिष्ट गज' की प्रतीति में 'राजा' और 'गज' के अर्थों का परस्पर सम्बन्ध अवगत होता है उसमें उपमानोपमेयभाव भी व्यंग्य हो रहा है। अन्यथा परस्पर असम्बद्ध अर्थद्वय का बोधक होने से वाक्यभेद मानना होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(व्यञ्जकशब्दलक्षणम्)

(सू०३३) तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः—

तद्युक्तो व्यञ्जनयुक्तः ।

(शब्दस्य व्यञ्जकत्वे अर्थस्य सहकारित्वम्)

(सू०३४) यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।

अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥२०॥

तथेति व्यञ्जकः ।

इति मम्मटभट्टविरचिते काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः ॥ २ ॥

शाब्दी व्यञ्जना में अर्थ का सहयोग—

इस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना के लक्षणामूला तथा अभिधामूला दोनों भेदों का निरूपण करने के पश्चात् उसमें अर्थ की सहकारिता का प्रतिपादन ग्रंथकार कर रहे हैं-–

(सू० ३३) उस व्यञ्जना व्यापार से युक्त शब्द को 'व्यञ्जक शब्द' कहते हैं।

तद्युक्त इति। उस से युक्त अर्थात् व्यञ्जना व्यापार से युक्त।

(सू० ३४) क्योंकि वह व्यञ्जक शब्द दूसरे अर्थ के योग से अर्थात् अपने मुख्यार्थ का बोधन करने के पश्चात् उस प्रकार के दूसरे अर्थ का व्यञ्जक होता है। इसलिए उसके साथ सहकारी के रूप में (अप्रधान रूप से) अर्थ भी व्यञ्जक होता है ॥ २० ॥

तथेति। सूत्रगत 'तथा' का अर्थ 'व्यञ्जक' किया गया है।

विशेष विवरण—'भद्रात्मन' इस उदाहरण में केवल 'शब्द' की व्यञ्जकता रहने पर भी शब्दार्थयुगलरूप काव्य की व्यञ्जकता न रहने से काव्य में 'ध्वनि' का व्यवहार कैसे हो सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर ग्रन्थकार ने दिया है—

—"यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः।"

सहकारी होने से 'अर्थ' भी व्यञ्जक माना जाता है। शब्द में परिवृत्ति (परिवर्तन) सहिष्णुता न रहने से इस व्यञ्जना को शब्दमूलक व्यञ्जना कहते हैं। 'अर्थोऽपि' यहाँ 'अपि' शब्द से 'शब्द' का भी समुच्चय किया गया है। सूत्रस्थित 'तथा' शब्द का अर्थ है 'व्यञ्जक'।

मम्मटभट्टकृत काव्यप्रकाश की रहस्यबोधिनी व्याख्या में काव्य के शब्द और अर्थ के स्वरूप-निरूपण नाम का द्वितीय उल्लास समाप्त हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तृतीय उल्लासः

(पूर्वोक्तरसमन्वयः)

(सू० ३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्—

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः। तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम्।

(सू० ३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते।

कीदृशीत्याह—

(अर्थनिष्ठव्यञ्जनालक्षणम्)

(सू० ३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥२१॥

(द्वितीय और तृतीय उल्लास की संगति)

द्वितीय उल्लास में ग्रन्थकार ने 'शब्द' तथा 'अर्थ' के स्वरूप का निर्णय करते हुए 'वाचक' 'लक्षक' और 'व्यञ्जक' तीन प्रकार के शब्दों का तथा 'वाच्य' 'लक्ष्य' और 'व्यङ्ग्य' तीन प्रकार के अर्थों का निरूपण किया था। 'लाक्षणिक' शब्द निरूपण के प्रसङ्ग में 'प्रयोजन' की प्रतीति होने के लिए 'व्यञ्जनावृत्ति' की अत्यन्त आवश्यकता बताई थी। वह 'व्यञ्जनाशक्ति' भी 'शाब्दी व्यञ्जना' और 'आर्थी व्यञ्जना' के भेद से दो प्रकार की होती है। उक्त 'शाब्दी व्यञ्जना' के भी 'अभिधामूला व्यञ्जना' और 'लक्षणामूला व्यञ्जना' नाम के दो भेद होते हैं। 'शाब्दी व्यञ्जना' के दोनों भेदों का प्रतिपादन द्वितीय उल्लास में कर दिया गया है।

अब इस तृतीय उल्लास में 'आर्थी व्यञ्जना' के समस्त भेदों के उदाहरणों का निरूपण किया जा रहा है। इस उल्लास के आरम्भ में पूर्वोक्त विषयों का स्मरण दिलाकर 'आर्थी व्यञ्जना' का निरूपण किया जा रहा है।

(सू० ३५) अर्थों का वर्णन पूर्व ('वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः' सू० ६ में) किया जा चुका है।

अर्था इति। उनके अर्थात् वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों के अर्थ— 'वाच्य' 'लक्ष्य' और 'व्यङ्ग्य' तीन प्रकार के बताये गये थे।

(सू० ३६) 'उनकी अर्थव्यञ्जकता' (अर्थात् उन अर्थों पर आश्रित आर्थी व्यञ्जना) का वर्णन अब कर रहे हैं।

आर्थी व्यञ्जना के भेद—

कीदृशीति। वह 'आर्थी व्यञ्जना' कैसी होती है? उसे बताते हैं—

(सू० ३७) १. वक्ता, २. बोद्धा (बोद्धव्य), ३. काकु, ४. वाक्य,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः । काकुर्ध्वनेर्विकारः । प्रस्तावः प्रकरणम् । अर्थस्य वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यात्मनः ।

क्रमेणोदाहरति—

अइपिहुलं जलकुंभं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम् ॥ १३ ॥
(अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि ! त्वरितम् ।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥)

अत्र चौर्यरतगोपनं गम्यते ।

---

५. वाच्य, ६. अन्यसन्निधि, ७ प्रस्ताव, ८. देश, ९. काल, १०. अन्यविध आदि के वैशिष्ट्य से प्रतिभाशाली सहृदयों को अर्थान्तर (अन्य अर्थ) की प्रतीति कराने वाला 'अर्थ' का जो व्यापार होता है उसे आर्थी व्यञ्जना कहते हैं ॥ २२ ॥

बोद्धव्य इति । 'बोद्धव्य' का अर्थ प्रतिपाद्य है, अर्थात् जिससे बात कही जाय वह है । 'काकु' ध्वनि के विकार को कहते हैं । 'काकु' का लक्षण भी इसी प्रकार किया गया है कि, 'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' । 'प्रस्ताव' का अर्थ प्रकरण है । अर्थ का यानी वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप अर्थ का व्यापार 'आर्थी व्यञ्जना' के नाम से कहा जाता है ॥२२॥

विशेष विवरण—इस आर्थी व्यञ्जकता को भी 'सर्वेषां प्रायशोऽर्थानाम् ०'—सू० ७ पर बता चुके हैं । इसलिए यहाँ पर 'कीदृशी' कहकर उसका स्वरूप पूछा जा रहा है । अर्थात् जैसे 'शब्दव्यञ्जना' का स्वरूप 'नियन्त्रितार्थयोजनकत्व' है, वैसे ही इस 'अर्थव्यञ्जकता' का कोई स्वरूप बताना चाहिये । इसलिए सू० ३७ वक्तृबोद्धव्य० इत्यादि से बताया गया है । एवं च 'वक्त्रादिवैलक्षण्यहेतुका, या प्रतिभाशालिनामन्यार्थधीः तद्धेतुव्यापारत्वम्'—ही अर्थव्यञ्जकता का स्वरूप है, ऐसा उद्योतकार ने कहा है ।

क्रमेणेति । 'आर्थीव्यञ्जना' के दसों प्रकार के उदाहरण क्रम से दे रहे हैं ।

(१) वक्ता की उक्ति के वैशिष्ट्य में (वक्तृवैशिष्ट्य के कारण) व्यञ्जना—

अइपिहुलमिति (अतिपृथुलमिति) । हे सखि ! मैं पानी से (जल से) भरे हुए बहुत बड़े घड़े को लेकर बड़ी तेजी से चली आ रही हूँ । परिश्रम के कारण निःश्वास और पसीने से परेशान हो गई हूँ, इसलिए थोड़ी देर यहाँ बैठकर सुस्ताऊँगी ॥ १३ ॥

अत्रेति । उक्त पद्य में वक्ता के (वक्ता की उक्ति के) वैशिष्ट्य के कारण चौर्य-रत (गुप्त संयोग) छिपाने की प्रतीति होती है ॥१३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ओण्णिद्दं दोव्वल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम् ।
मम मन्दभाइणीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवइ ॥ १४ ॥
(औन्निद्रयं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति ॥)

अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते ।

विशेष विवरण—अभिप्राय यह है कि कोई स्त्री पानी भरने के बहाने उपनायक के पास गई और उसके साथ संभोग करके आ रही है। छिपकर किये गये संभोग के चिन्ह पसीना आदि उसके मुख पर स्पष्टरूप से झलक रहे हैं। उन चिन्हों को देखकर कदाचित् यह मेरी सखी, चोरी से किये गये मेरे संभोग की शंका न करे, इसलिए वह कहने वाली स्त्री संभाव्यमान शंका के निवारणार्थ पहले ही स्वयं कह दे रही है कि पानी से भरा हुआ घड़ा लेकर और जल्दी-जल्दी चलकर आने से यह पसीना, सांस फूलना आदि ये सब कष्ट हो रहे हैं। इस प्रकार वह अपने चौर्य रति को छिपाने का प्रयत्न कर रही है। यह बात वक्ता के उक्ति-वैशिष्ट्य से व्यङ्ग्य है। यहाँ शब्द में परिवृत्तिसहत्व होने से अर्थ का ही व्यापार (वृत्ति) है ॥ १३ ॥

(२) बोद्धा (बोद्धव्य) के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

ओण्णिद्दमिति (औन्निद्र्यमिति)। हे सखि, मुझ मंदभागिनी के कारण नींद का न आना, दुर्बलता, चिन्ता, आलस्य और निःश्वास आदि तुमको भी भोगने पड़ रहे हैं, यह बड़े दुःख की बात है ॥ १४ ॥

अत्रेति। इस पद्य में 'दूती का' उस नायिका के कामुक के साथ 'उपभोग व्यंग्य' है। यह 'आर्थी व्यञ्जना' का उदाहरण है।

(३) काकु के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

'आर्थी व्यञ्जना' में 'वक्ता' तथा 'बोद्धा' के वैशिष्ट्य के दो उदाहरण बताने के बाद अब 'काकु' के द्वारा आर्थी व्यञ्जना का तीसरा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

विशेष विवरण—'काकु' शब्द का अर्थ है 'विशेष प्रकार की कण्ठध्वनि'। अर्थात् एक विशेष प्रकार का बातचीत का लहजा। बोलने के इस विशेष लहजे से (ढंग से) भी अर्थ की व्यञ्जना होती है। उसे बताने के लिए नारायणभट्टकृत 'वेणीसंहार' नाटक के प्रथम अंक में से 'भीमसेन' की उक्ति को उदाहरण के रूप में दिया गया है। 'भीमसेन' और 'सहदेव' के संवाद का प्रसंग है। 'भीमसेन' के क्रोध को देखकर 'सहदेव' उनसे (भीमसेन से) कहते हैं कि आप के इस प्रकार के व्यापार को (विचार को) सुनकर 'कदाचित् खिद्यते गुरुः' शायद गुरु (युधिष्ठिर) नाराज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥ १५ ॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काका प्रकाश्यते। न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यं, प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः।

हो जायेंगे। उसके उत्तर में 'भीमसेन' कह रहे हैं कि 'गुरुः खेदमपि जानाति' अच्छा 'गुरु' (युधिष्ठिर) नाराज होना भी जानते हैं ?

तथाभूतामिति। उस राज-सभा में 'पाञ्चाली' (द्रौपदी) की उस प्रकार की (केश तथा वस्त्र खींचे जाने की) अवस्था को देखकर (गुरु नाराज नहीं हुए, उनको क्रोध नहीं आया) फिर वन में वल्कल धारण कर दीर्घ काल तक (बारह वर्ष तक) व्याधों (बहेलियों) के साथ रहते रहे (तब भी उनको क्रोध नहीं आया) फिर विराट के घर में (रसोइया आदि के) अनुचित कार्यों को करके छिप कर (अज्ञात रूप में) जो हम रहे (उस समय भी गुरु को क्रोध नहीं आया) और आज भी उनको कौरवों पर तो क्रोध नहीं आ रहा है, पर मैं कौरवों पर क्रोध करता हूँ तो मेरे ऊपर वे नाराज होते हैं ॥१५॥

अत्रेति। यहाँ पर मेरे ऊपर क्रोध करना (नाराज होना) उचित नहीं है। कौरवों पर नाराज होना उचित है। यह अभिप्राय 'काकु' के द्वारा प्रकाशित हो रहा ॥१५॥

'काकु' से आक्षिप्त अर्थ की ध्वनि-रूपता में शंका-समाधान

विशेष विवरण—शंका—ग्रंथकार ने इस ग्रन्थ के पंचम उल्लास में 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य' काव्य के आठ भेदों को बताया है। उनमें 'वाच्यसिध्यङ्गव्यङ्ग्य' और 'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य' नाम से 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य' के दो भेद गिनाये गये हैं। वहाँ भी 'वेणीसंहार नाटक' से उद्धृत की गई भीमसेन की इसी प्रकार की निम्नलिखित उक्ति को 'काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्य' के उदाहरण में प्रस्तुत किया है—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥

यदि तुम्हारे राजा (युधिष्ठिर) किसी शर्त पर 'कौरवों' से सन्धि कर भी लें, तो क्या मैं 'सौ कौरवों' का युद्ध में क्रुद्ध होकर नाश नहीं करूँगा ? अथवा 'दुःशासन' की छाती का रुधिर (खून) क्या नहीं पीऊँगा ? अथवा 'सुयोधन' की रुओं को गदा से क्या नहीं तोड़ूँगा ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तइआ मह गण्डत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो ।
एण्हिं सच्चेअ अहंतेअ कवाला ण सा दिट्ठि ॥ १६ ॥
(तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र ।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः ॥)

अत्र मत्सखीं कपोलप्रतिबिम्बितां पश्यतस्ते दृष्टिरन्यैवाभूत्, चलितायान्तु तस्यामन्यैव जातेत्यहो प्रच्छन्नकामुकत्वं ते इति व्यज्यते ।

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः ।

इस पद्य का उपर्युक्त अर्थ 'वाच्यार्थ' है। परन्तु 'भीम' के बोलने के ढंग से अर्थात् 'काकु' के द्वारा यह प्रकट हो रहा है कि 'युधिष्ठिर' भले ही उनसे सन्धि कर लें किन्तु 'मैं' तो अपनी सब इच्छाएँ पूर्ण करके ही रहूँगा। यहाँ पर यह 'प्रतीत होने वाला अर्थ' 'काकु' से आक्षिप्त होने के कारण इस पद्य को 'गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य' माना गया है। 'तथाभूताम्' इत्यादि प्रकृत उदाहरण भी उसी प्रकार का है। अतः इसे भी 'काक्वाक्षिप्त' होने से अथवा 'वाक्यसिद्धि का अंग' होने से 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' मानना ही उचित है। तब इसे 'ध्वनि काव्य' के उदाहरण रूप में कैसे दिया जा रहा है?

न चेति। समाधान—यहाँ पर 'काकु' (से लभ्य अर्थ) 'वाच्य की सिद्धि' में अंग है, इसलिए गुणीभूतव्यङ्ग्य (काव्य) है, (ध्वनि काव्य नहीं है)—यह 'शंका' नहीं करनी चाहिए। क्योंकि 'प्रश्नमात्र' से भी काकु की विश्रान्ति हो सकती है। अर्थात् यहाँ 'काकु' केवल प्रश्नमात्र में ही विश्रान्त हो जाता है। उससे 'व्यङ्ग्य' आक्षिप्त नहीं हो रहा है।

(४) वाक्यवैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

तइ आ इति (तदा ममेति)। उस समय मेरे कपोल (गाल) पर गड़ाई हुई (अपनी) दृष्टि को कहीं और (अन्यत्र) नहीं ले जा रहे थे। किन्तु अब मैं भी वही हूँ, मेरे गाल भी वे ही हैं, किन्तु तुम्हारी (मेरे गाल पर ही टिकी रहने वाली) दृष्टि वैसी नहीं है ॥ १६ ॥

अत्रेति। यहाँ मेरे गाल पर प्रतिबिम्बित मेरी सखी को देखते हुए तुम्हारी दृष्टि कुछ और ही थी, उसके चले जाने पर कुछ और ही हो गई है। इसलिए तुम्हारी प्रच्छन्न कामुकता पर आश्चर्य हो रहा है—यह अर्थ नायिका के वाक्य से प्रकट होता है।

(५) वाच्यवैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण —

उद्देशोऽयमिति। हे तन्वि! (हे कृशोदरि) (इस विशेषण से नायिका की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किञ्चैतस्मिन्सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता
येषामग्रे सरति कलिताऽकाण्डकोपो मनोभूः ॥ १७ ॥

अत्र रतार्थं प्रविशेति व्यङ्ग्यम् ।

णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।
खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥ १८ ॥

मदन-वेदना-ग्रस्तता सूचित होती है) सरस हरी-हरी कदली (केले) के वृक्षों की कतार से अत्यन्त सुशोभित (मनोहर) प्रतीत होने वाला और कुञ्जों के उत्कर्ष के कारण सुन्दरियों के हाव-भावों को अङ्कुरित कर देने वाला यह नर्मदा का ऊँचा प्रदेश (स्थान) है । अभिप्राय यह है कि केवल यह सामान्य नदी नहीं है, अपितु 'नर्म= रतिसुखम् ददाति इति नर्मदा' जो असाधारण रतिक्रीड़ा के सुख को देने वाली है उसी का यह ऊँचा प्रदेश है । और यहाँ 'सुरत' के मित्र (पुनः-पुनः सुरत-क्रीड़ा के लिए उत्तेजना देने वाले) वे पवन बहते हैं, जिसके आगे-आगे (वसन्तादि ऋतु का) अवसर न होने पर भी धनुष धारण किये हुए अत्यन्त उग्र रूप में उत्तेजना देने वाला कामदेव चलता रहता है ॥ १७ ॥

अत्रेति । यहाँ 'सुरत-क्रीडा' के लिए कुञ्ज के भीतर प्रवेश करो (चलो) । यह अर्थ नायक के उक्तिवैशिष्ट्य से अभिव्यञ्जित होता है ॥ १७ ॥

विशेष विवरण—यहाँ 'नर्मदा' के उन्नत प्रदेश (स्थानविशेष) तथा उसके विशेषणीभूत वायु; कुंज आदि 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति 'वाच्य के वैशिष्ट्य' से होती है । इसलिए यह 'वाच्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण है ।

वाक्य और वाच्यवैशिष्ट्य में भेद—

'वक्ता' और 'बोद्धा' के वैशिष्ट्य के कारण जैसे 'आर्थी व्यञ्जना' के दो भेद होते हैं उसी प्रकार 'वाक्य' और 'वाच्य' के वैशिष्ट्य के कारण होने वाले भेद से भी 'आर्थी व्यञ्जना' के दो भेद माने जाते हैं । किन्तु दोनों भेदों का एक ही उदाहरण बन सकता है । उनमें केवल प्राधान्य-अप्राधान्य की विवक्षा से ही अन्तर हो जाता है । जब 'वक्ता' का प्राधान्य विवक्षित रहता है तब वही पद्य 'वक्तृ-वैशिष्ट्य' का उदाहरण हो जाता है । और जब 'बोद्धा' का प्राधान्य विवक्षित रहता है तब वही पद्य 'बोद्धव्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण बन जाता है । उसी प्रकार जहाँ 'वाक्य' की प्रधानता विवक्षित हो वहाँ वही पद्य 'वाक्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण हो जाता है । और जहाँ उसके 'वाच्य' अर्थ का प्राधान्य विवक्षित रहता है वहाँ वही 'वाच्य-वैशिष्ट्य' का उदाहरण बन जाता है । यह भेद केवल विवक्षा के अधीन है ।

(६) अन्य-सन्निधि के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का उदाहरण—

णोल्लेइ इति (नुदतीति) । निर्दय (अनार्द्रमनाः) सास घर के सम्पूर्ण कार्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले ।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥)

अत्र सन्ध्यासङ्केतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते ।

सुव्वह समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमे अ क्किति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ॥ १९ ॥

(श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत्सखि ! सज्जय करणीयम् ॥)

अत्रोपपतिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुता न युक्तमिति कयाचिन्निवार्यते ।

मुझसे ही कराती है, इसलिए समय कभी मिलता भी है तो सायंकाल के समय क्षण-मात्र (थोड़ा बहुत) विश्राम मिल जाता है, और कभी वह भी नहीं मिलता है ॥१८॥

अत्रेति । यहाँ सायंकाल का समय 'संकेत काल' है—यह बात (गुरुजनों की सन्निधि के वैशिष्ट्य के कारण दूत आदि किसी) तटस्थ के प्रति किसी (नायिका) के द्वारा प्रकट की जा रही है ॥ १८ ॥

विशेष विवरण—यहाँ अन्य लोगों के समीप रहने के कारण स्पष्ट रूप से संकेत काल आदि के सम्बन्ध में बात करना सम्भव नहीं है । अतः इस प्रकार से तटस्थ दूत आदि से 'संध्या के समय मिलने का अवसर निकल सकता है'—यह बात सन्निधि के वैशिष्ट्य के कारण व्यञ्जना से सूचित की गई है ।

(७) प्रकरणरूप प्रस्ताव के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना का (वाच्यार्थ की व्यञ्जकता का) उदाहरण—

सुव्वह इति (श्रूयते इति) । हे सखि, सुना जाता है कि, तुम्हारे प्रिय पति आज एक प्रहर के भीतर ही आवेंगे, तो तू योंही क्यों बैठी है, उनके लिए खाने पीने की व्यवस्था अथवा अपने शृङ्गार आदि करने योग्य कार्यों की तयारी कर ॥ १९ ॥

अत्रेति । यहाँ उपपति के पास जाने के लिए उद्यत हुई किसी अभिसारिका को उसकी सखी मना कर रही है, कि अब यह अभिसार करना इस समय उचित नहीं है ॥ १९ ॥

विशेष विवरण—यहाँ पर 'अद्यैव' से सूचित किया है कि 'कालान्तर' से नहीं । 'प्रहरमात्रेण' से बताया है कि 'विलम्ब' से नहीं । 'समागमिष्यति' से सूचित किया है कि 'अपना काम पूरी तरह सम्पन्न करने के कारण पुनः उसे कहीं जाना नहीं है' इस प्रकार अभिसरणोपयोगि-वेषविन्यासादि के प्रसंग में उस रहस्य को जाननेवाली उसकी सखी पति के आगमन की सूचना देकर उसके अभिसरण का निषेध कर रही है । प्रसंग जाननेवाले सामाजिक इस व्यंग्यार्थ को समझ जाते हैं ॥ १९ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥ २० ॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्यतामिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ॥

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मंदभाइणी अहकम् ।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जम् ॥ २१ ॥
(गुरुजनपरवश प्रिय ! किं भणामि तव मन्दभागिनी अहकम् ।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥)

---

(८) देश के वैशिष्ट्य में व्यञ्जना (वाच्यार्थ को व्यंजकता) का उदाहरण—

सखीवेषधारी स्वामी के साथ आई हुई अपनी सहचरी को देखकर अन्य सखियों के प्रति नायिका की यह उक्ति है—

अन्यत्रेति । हे सखियों तुम कहीं अन्यत्र जाकर फूल तोड़ो, और यहाँ मैं तोड़ रही हूँ । मैं दूर तक चलने में समर्थ नहीं हूँ । इसलिए तुम्हें हाथ जोड़ती हूँ, मुझ पर कृपा करो, अर्थात् आप और कहीं जाकर अपना काम करो । यहाँ मुझे अपना काम करने दो ॥ २० ॥

अत्रेति । यहाँ यह एकान्त स्थान है, इसलिए प्रच्छन्न कामुक को तुम यहीं भेज दो—यह बात अपनी किसी विश्वस्त सखी से कोई कह रही है ॥ २० ॥

विशेष विवरण—सखियों के अन्यत्र चले जाने से यह स्थान (देश) एकान्त का है, इसलिए प्रच्छन्न कामुक (सखी-वेषधारी कामुक) को तुम प्रेरित करो—इस प्रकार विश्वासपात्र प्रिय सखी के प्रति देश-वैशिष्ट्य के कारण व्यञ्जित किया जा रहा है । यहाँ पर 'वाच्यार्थ' तो सामान्य सखियों को विषय कर रहा है, किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ' प्रिय सखी को विषय कर रहा है । यहाँ पर 'कुसुमावचाय' को उद्देश्य कर अन्यदेशाधिकरणकत्व की विधेयता होने से प्रधानता है । अतः 'देश वैलक्षण्य' से ही व्यञ्जकत्व है । और पूर्व निर्दिष्ट 'उद्देशोऽयम्' (श्लो० १७) उदाहरण में 'देश' की विशेषणता होने से अप्रधानता थी, इसलिए प्रधानीभूत वाच्य की ही विलक्षणता होने से उसी में व्यञ्जकत्व माना गया था । यही दोनों में भिन्नता है ॥ २० ॥

(९) काल के वैशिष्ट्य में वाच्यार्थ की व्यञ्जना का उदाहरण—

गुरुअणेति (गुरुजनेति) । गुरुजनों के परवश रहने वाले हे प्रिय ! मैं मन्दभागिनी तुम से क्या कहूँ (वास्तव में तो न 'तुम' जाना चाहते हो और न 'मैं' भेजना चाहती हूँ । परन्तु माता-पिता आदि गुरुजनों के आदेश के कारण) आज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्राद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदाऽहं तावद् न भवामि तव तु न जानामि गतिमिति व्यंज्यते ।

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।
आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते ॥ २२ ॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते ।

निराकाङ्क्षत्वप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते । वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन ।

अनेन क्रमेण लक्ष्य-व्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्यम् ।

(इस वसन्त ऋतु के समय में) यदि जा रहे हो तो जाओ, (आगे) क्या करना चाहिए यह बात (मेरी मृत्यु के बाद) तुम स्वयं सुन लोगे ॥ २१ ॥

अत्रेति । यहाँ आज 'वसंत' के समय यदि तुम जा रहे हो तो जाओ, मैं तो जीवित नहीं रहूँगी, और तुम्हारी क्या गति होगी यह मैं नहीं जानती—यह अभिव्यक्त हो रहा है ॥ २१ ॥

(१०) 'आदि' पद से ग्राह्य 'चेष्टा' का व्यञ्जकत्व—

आदीति । कारिका में दिये गये 'आदि' पद के ग्रहण से 'चेष्टा' आदि का ग्रहण करना चाहिये । उनमें से 'चेष्टा' के वैशिष्ट्य में व्यञ्जकत्व का उदाहरण—

द्वारोपान्तेति । दरवाजे के समीप मेरे पहुँचने पर उस अनिन्द्य सुन्दरी ने अपनी दोनों ऊरुओं को फैलाकर फिर एक दूसरे से चिपका लिया, सिर पर घूँघट काढ़ लिया, आँखें नीची कर लीं, बोलना बन्द कर दिया और अपनी भुजाओं को सिकोड़ लिया ॥ २२ ॥

अत्रेति । यहाँ चेष्टा से प्रच्छन्न कान्त-विषयक अभिप्राय-विशेष व्यंग्य है ॥ २२ ॥

निराकांक्षेति । निराकांक्षता (जिज्ञासा की निवृत्ति) के लिए और प्रसङ्ग प्राप्त होने से सब भेदों के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये गये हैं । वक्ता आदि के परस्पर संयोग से दो-दो तीन-तीन आदि के भेद से मिलकर भी इनके उदाहरण हो सकते हैं ।

अनेनेति । इसी क्रम से लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों के व्यञ्जकत्व के उदाहरणों को भी समझना चाहिये ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(शब्दस्यापि सहकारितया व्यञ्जकत्वम्)

(सू० ३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति । न हि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः ।

इति मम्मटभट्टविरचिते काव्यप्रकाशेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम
तृतीय उल्लासः ॥ ३ ॥

आर्थी व्यञ्जना में शब्द का सहयोग—

शाब्दी व्यञ्जना के निरूपण के अन्त में यह कहा गया था कि उसमें (शाब्दी व्यञ्जना में) 'शब्द' मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है और 'अर्थ' उसका सहकारी होता है । उसी प्रकार आर्थी व्यञ्जना में 'अर्थ' मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है और 'शब्द' उसका सहकारी होता है, इसी बात को ग्रन्थकार बता रहे हैं ।

(सू० ३८) क्योंकि शब्द-प्रमाण से गम्य होने वाला 'अर्थ' ही अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है । इसलिए उसके (अर्थ के) व्यञ्जकत्व में शब्द भी सहकारी होता है ॥ २३ ॥

शब्देति । 'शब्द-प्रमाण' से गम्य हुआ अर्थ, 'अर्थान्तर' को व्यक्त करता है—इस कथन से यह सूचित किया जा रहा है कि 'अनुमानादि अन्य प्रमाणों' से वेद्य अर्थ, 'व्यञ्जक' नहीं होता है ॥ २३ ॥

इस 'तृतीय उल्लास' में 'वक्ता बोद्धा आदि के वैशिष्ट्य' से 'आर्थी व्यञ्जना' के दस भेद और उनके उदाहरण प्रदर्शित किये गये । इसके पूर्व 'द्वितीय उल्लास' में 'शाब्दी व्यञ्जना' का निरूपण किया गया था । अतः 'व्यञ्जना के दोनों भेदों' के विवेचन के साथ 'ध्वनि-काव्य' का सामान्य निरूपण समाप्त हुआ है । इसके आगे चतुर्थ उल्लास में 'ध्वनि-काव्य' तथा 'गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य' का निर्वचन किया जायगा ।

मम्मटभट्टकृत काव्यप्रकाश की रहस्यबोधिनी व्याख्या में अर्थव्यञ्जकता-
निर्णयनामक तृतीय उल्लास समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चतुर्थ उल्लासः

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयं तथाऽपि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह—

(उल्लास-सङ्गति)

विशेष विवरण—ग्रन्थकार ने प्रथम उल्लास में 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणौ अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इस प्रकार 'काव्य' का लक्षण किया है। इस लक्षण में 'शब्दार्थौ' यह पद 'विशेष्य' है, और 'अदोषौ' तथा 'सगुणौ' और 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' ये तीन पद उसके विशेषण रूप में दिये हैं। 'काव्य-लक्षण' को स्पष्ट करने के लिए लक्षणगत इन चारों पदों की व्याख्या के रूप में ही ग्रन्थ के अवशिष्ट भाग की रचना की गई है। अत एव ग्रन्थकार ने द्वितीय उल्लास में सबसे पहले 'शब्द' और 'अर्थ' के स्वरूप का निर्णय किया है। उसी प्रसङ्ग में शब्द (वाचक, लक्षक, व्यञ्जक) तथा अर्थ (वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य) के भेदों का निरूपण किया है, और अन्त में 'शाब्दी व्यञ्जना' के भेदों को बताकर तृतीय उल्लास में 'आर्थी व्यञ्जना' का निरूपण किया है। तात्पर्य यह है कि काव्य-लक्षण के विशेष्य भाग 'शब्दार्थौ' की व्याख्या तीसरे उल्लास तक समाप्त हो जाती है। अब इसके बाद क्रम-प्राप्त 'अदोषौ' आदि विशेषणों की व्याख्या ग्रन्थकार को करनी चाहिए थी परन्तु 'अदोषौ' 'सगुणौ' आदि विशेषणों के अवयव-स्वरूप उन दोष, गुण आदि का निरूपण न करके इस चतुर्थ उल्लास में ध्वनि-काव्य के भेदों का निरूपण ग्रन्थकार आरम्भ कर रहे हैं।

ग्रन्थकार के द्वारा इस क्रम-भेद का कारण यह है कि 'गुण' 'दोष' 'अलङ्कार' आदि सब काव्य के 'धर्म' हैं। और 'काव्य' 'धर्मी' है। जब तक 'काव्यरूप धर्मी' का पूर्ण ज्ञान न हो तब तक उसके 'धर्मों' का स्वरूप या हेयता या उपादेयता आदि का ज्ञान भी यथार्थ रूप में नहीं हो सकता। अतः गुण, दोष आदि धर्मों का निरूपण करने के पूर्व, भेद-प्रभेद सहित काव्य का सम्पूर्ण स्वरूप समझा देना आवश्यक है। 'काव्य का लक्षण' और उसके 'ध्वनि, गुणीभूत-व्यङ्ग्य तथा चित्रकाव्य' ये तीन मुख्य भेद प्रथम उल्लास में बता दिये गये हैं, तथापि उनके प्रभेदों का निरूपण करना अवशिष्ट है। उसे चतुर्थ, पञ्चम और षष्ठ इन तीन उल्लासों में ग्रन्थकार करेंगे, इस चतुर्थ उल्लास में 'ध्वनिकाव्य' के अवान्तर भेदों का वर्णन विस्तार के साथ किया जा रहा है। पञ्चम उल्लास में 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के भेदों का और षष्ठ उल्लास में 'चित्र काव्य' के भेदों का वर्णन किया जायगा। इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ध्वनिभेदाः)

(सू०३९) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥२४॥

प्रकार तीन उल्लासों में काव्य के भेद-प्रभेदों का निरूपण करने के पश्चात् सप्तम उल्लास से 'दोष', 'गुण', 'अलंकार' आदि का विचार करेंगे, इस प्रकार दशम उल्लास तक काव्यलक्षण की व्याख्या पूर्णरूप से समाप्त हो जायगी।

क्रम-परिवर्तन करने की आवश्यकता को दिखाते हुए ग्रन्थकार इस चतुर्थ उल्लास का आरम्भ कर रहे हैं—

यद्यपीति । यद्यपि (काव्यलक्षण के विशेष्य भाग) शब्द तथा अर्थ का निर्णय कर चुकने पर (क्रमप्राप्त) दोष, गुण तथा अलङ्कारों के स्वरूप को कहना चाहिए था, किन्तु धर्मी (मुख्यभूत-काव्य) का निरूपण करने पर ही (दोष, गुण आदि) धर्मों की हेयता अथवा उपादेयता का ज्ञान हो सकता है, इसलिए (दोष आदि का निरूपण न करके पहले धर्मी रूप) काव्य के भेदों को कह रहे हैं।

स्मर्त्तव्य—

विशेष विवरण—ग्रन्थकार 'ध्वनि-काव्य' के भेदोपभेदों को बता रहे हैं। उन्हें समझने के लिए प्रथम उल्लास में किये गये काव्य-भेदों का स्मरण करना होगा। ग्रन्थकार ने वहाँ पर काव्य के 'ध्वनि', 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' और 'चित्रकाव्य' नाम से तीन प्रकार के भेद किये थे। इन तीनों मुख्य भेदों के अन्य अवान्तर भेद भी होते हैं। इन सभी 'भेदोपभेदों' का क्रमशः निरूपण होगा। अतः प्रसङ्ग-प्राप्त सब से पहले 'ध्वनि-काव्य' के अवान्तर भेदों का विभाजन इस चतुर्थ उल्लास में किया जा रहा है।

अविवक्षितवाच्य-लक्षणामूलध्वनि के दो भेद—

यद्यपि 'ध्वनि-काव्य' के भेदोपभेदों का भी बहुत बड़ा विस्तार है, तथापि उसके मुख्य दो भेद हैं—एक 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' और दूसरा 'विवक्षितवाच्य-ध्वनि'। 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' का दूसरा नाम 'लक्षणामूलध्वनि' तथा 'विवक्षित-वाच्यध्वनि' का दूसरा नाम 'अभिधामूलध्वनि' भी है। लक्षणामूलध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा नहीं की जाती। इसीलिए उसको 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' कहते हैं। इसके भी पुनः दो अवान्तर भेद होते हैं—१ 'अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य' और २ 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'। अब 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' (लक्षणामूल ध्वनि) के दोनों भेदों के लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

(सू० ३९) 'अविवक्षितवाच्य' (लक्षणामूल) जो ध्वनि है उस ध्वनि में 'वाच्य' (वाच्यार्थ) 'अर्थान्तर में सङ्क्रमित[1] (हो जाता है) या 'अत्यन्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र स ध्वनौ इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः। तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्। यथा—

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥ २३॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति॥

तिरस्कृत' हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अविवक्षितवाच्यध्वनि के 'अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'—ये दो भेद होते हैं॥ २४॥

लक्षणामूल० इति। अविवक्षितवाच्य-ध्वनि को ही 'लक्षणामूल-ध्वनि' भी कहते हैं, इसलिए 'लक्षणामूल-गूढव्यङ्ग्य' जहाँ प्रधान रहता है, वहीं पर 'वाक्य की विवक्षा नहीं' होती है। यह 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' का ही एक प्रकार है।

ग्रन्थकार ने कारिका में यद्यपि 'अविवक्षितवाच्यो ध्वनिः' ऐसा विशेष्य के रूप में प्रथमान्त 'ध्वनि शब्द' का प्रयोग न कर उसी का 'ध्वनौ' ऐसा सप्तम्यन्त पद का प्रयोग किया है, अतः उसी प्रयोग से पूर्व भी 'ध्वनिः' ऐसा प्रथमान्त पद का आक्षेप कर लेना उचित है। वृत्तिकार ने इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया है कि 'ध्वनौ' इस सप्तम्यन्त प्रयोग से पूर्व कथित 'ध्वनि' का अनुवाद कर लिया जाता है, और अनुवाद करने के कारण ही पूर्व वाक्य में 'ध्वनिः' इस प्रथमान्त विशेष्य पद का अध्याहार भी कर लिया जाता है। इस 'अविवक्षितवाच्य-ध्वनि' में कहीं पर 'वाच्यार्थ' यथाश्रुत रूप से अन्वित होने में उपयुक्त नहीं रहता, इसलिए वह किसी अर्थान्तर में परिणत हो जाता है। उस समय उसे 'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य-ध्वनि' कहते हैं।

अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य का उदाहरण—

त्वामस्मीति। मैं तुम्हें बता रहा हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय बैठा है, इसलिए अपनी बुद्धि को जरा सम्भाल कर रहना॥ २३॥

अत्रेति। यहाँ 'वच्मि' का साधारण अर्थ 'कथन', प्रकृत में अनुपयुक्त है। इसलिए वह 'उपदेश' के अर्थ में परिणत हो जाता है। अतः यह 'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य-ध्वनि' का उदाहरण है॥ २३॥

विशेष विवरण—ऊपर कही हुई उक्ति में कोई विद्वान् अपने पुत्र या शिष्य से कहता है कि 'देख, मैं तुझसे कहता हूँ'। यहाँ कहने वाला और सुनने वाला (वक्ता और बोद्धा) दोनों एक दूसरे के सामने हैं। ऐसी स्थिति में 'त्वां वच्मि' पदों को विना कहे भी बात कही जा सकती है। अतः 'त्वाम्' पद का प्रयोग अन्य लोगों से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम्। यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वदति।

व्यावृत्त किये हुए पुत्र या शिष्य को 'विशेषता' को सूचित करता है। वह विशेषता 'कृपापात्रता' रूप अथवा 'अनुभवहीनता' रूप आदि हो सकती है। इसी प्रकार 'वच्मि' इस क्रिया पद से उसके कर्त्ता 'अहम्' का भी ज्ञान हो सकता है, तब 'अस्मि' अर्थात् 'अहम्' इस विशेष पद का प्रयोग करना अनावश्यक है, किन्तु 'अस्मि' (अहम्) पद प्रयोग कहने वाले की 'विशेष-हितकामना' और 'अनुभवशीलता' आदि को सूचित कर रहा है। इसी प्रकार 'वच्मि' पद अपने 'कथन रूप साधारण अर्थ' को छोड़कर 'उपदेश करता हूँ' (उपदिशामि) इस 'विशेष अर्थ' को बता रहा है। इस रीति से उक्त पद्य के 'अनेक पद' अपने वाच्यार्थ को बताने में अनुपयुक्त रहने के कारण अर्थान्तर में संक्रमित हो जाते हैं। इसलिए यह 'लक्षणामूल-ध्वनि' (अविवक्षितवाच्यध्वनि) के 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि' संज्ञक अवान्तर भेद (उपभेद) का उदाहरण है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि का उदाहरण—

'अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) ध्वनि' का दूसरा भेद 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' है। जहाँ 'वाच्यार्थ' का वाच्यतावच्छेदक रूप से अन्वय संगत नहीं होता है, वहाँ 'शब्द' अपने 'सामान्य अर्थ' को छोड़कर 'स्व-सम्बद्ध किसी विशिष्ट अर्थ' को बताता है, वहाँ 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' होता है। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

क्वचिदिति। कहीं वाच्यार्थ अनुपपद्यमान होने से अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है। (उसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-ध्वनि कहते हैं)। जैसे—

उपकृतमिति। आपने बड़ा उपकार किया है, कहाँ तक प्रशंसा की जाय। हे मित्र! हमेशा ऐसा ही करते हुए तुम सैकड़ों वर्ष तक सुखी होकर इस संसार में रहो॥ २४॥

एतदिति। कोई अपकृत व्यक्ति अपने अपकार करने वाले से विपरीत-लक्षणा के द्वारा यह कह रहा है॥ २४॥

विशेष विवरण—किसी मित्र ने अपने मित्र का जब बहुत अपकार किया तब उस अपकार करने वाले मित्र के प्रति उस दुखी हुए अपकृत व्यक्ति का यह कथन है। इसमें 'उपकृतम्' आदि शब्दों के मुख्य अर्थ की कोई भी संगति नहीं लग रही है। अतः विपरीतलक्षणा (वैपरीत्यसम्बंधमूलक-लक्षणा) से उन शब्दों का अत्यन्त-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सू०४०) विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।

विपरीत (अत्यन्त उलटा) अर्थ होता है। इस प्रकार 'वाच्यार्थ' का अत्यन्त तिरस्कार करके 'उपकृतम्' आदि शब्द 'अपकृतम्' आदि अर्थों को बता देते हैं। तब इस विपरीत-लक्षणा के द्वारा उक्त पद्य का अर्थ बदल जाता है, जो इस प्रकार है—

तुमने बड़ा धोखा (विश्वासघात) दिया, बड़ा अपकार किया; उसकी निंदा जितनी भी की जाय कम है। तुमने सचमुच अत्यन्त दुष्टता का परिचय दिया है। अरे मित्रद्रोही अपकार करने वाले, तेरे जैसा व्यक्ति जितनी जल्दी इस संसार को छोड़ दे उतना ही अच्छा है ॥ २४ ॥

विवक्षितवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के भेद—

विशेष विवरण—'अविवक्षितवाच्यध्वनि' (लक्षणामूल-ध्वनि) के दो भेद उदाहरण के साथ बताए जा चुके हैं। अब ध्वनि-काव्य का जो दूसरा मुख्य भेद 'विवक्षितवाच्यध्वनि' (अभिधामूलध्वनि) है, उसके भेद बातवेंगे। इस विवक्षित-वाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के भी दो भेद होते हैं, उनमें से पहला 'असंलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्य' है, और दूसरा भेद 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' के नाम से प्रसिद्ध है। 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य'—रसादि ध्वनि को कहते हैं। इस ध्वनि के यदि अवांतर भेद (छोटे-छोटे भेद) किये जाँय तो उनकी संख्या का आकलन करना बड़ा कठिन हो जायगा। इसलिए असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के भेदों का अधिक विस्तार न कर केवल गिनती के लिए उसका एक ही भेद बताया गया है। दूसरा भेद जो 'संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य' के नाम से प्रसिद्ध है, उसके पुनः १. 'शब्दशक्त्युत्थ' २. 'अर्थशक्त्युत्थ' और ३. 'उभयशक्त्युत्थ' ये तीन अवांतर भेद किये जाते हैं। इनमें पहला भेद जो 'शब्दशक्त्युत्थध्वनि' है, उसके पुनः १. 'वस्तुध्वनि' और २. 'अलङ्कारध्वनि'— ये दो अवांतर भेद होते हैं। 'अर्थशक्त्युत्थध्वनि' के बारह (१२) अवांतर भेद होते हैं, तथा 'उभयशक्त्युत्थध्वनि' का एक ही भेद होता है। निष्कर्ष यह है कि 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि' के कुल १५ भेद और 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि' का एक भेद जोड़कर १६ भेद 'अभिधामूलध्वनि' के होते हैं। इस प्रकार 'अविवक्षितवाच्य' (लक्षणामूल) ध्वनि के दो भेद, और 'विवक्षित-वाच्य' (अभिधामूलध्वनि) के १६ भेद होते हैं। कुल मिलाकर ध्वनि काव्य के २+१६ = १८ भेद होते हैं। इनमें से 'लक्षणामूलध्वनि' के २ भेदों को पहले बताया जा चुका है अब अभिधामूल (विवक्षितवाच्य) ध्वनि के १६ भेदों का वर्णन किया जायगा।

(सू० ४०) जहाँ पर वाच्यार्थ विवक्षित (वाच्यतावच्छेदक रूप से अन्वय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम् ।

स एष च ।

(सू० ४१) कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥२५॥

अलक्ष्येति न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः, अपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः स तु लाघवान्न लक्ष्यते ।

तत्र—

के योग्य) होने पर भी वह अन्यपर (व्यङ्ग्यनिष्ठ) होता है, उसे 'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' (अभिधामूलध्वनि) कहते हैं । यह ध्वनिकाव्य का दूसरा भेद है ॥ ४० ॥

अन्यपरमिति । 'अन्यपर' शब्द का अर्थ है 'व्यङ्ग्यनिष्ठ' । और यह अर्थात् 'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य' भी ।

विशेष विवरण—विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य में वाच्यार्थ विवक्षित तो अवश्य रहता है, किन्तु वह स्वनिष्ठ अर्थात् अपने आप में विश्रान्त नहीं रहता, बल्कि व्यंग्यनिष्ठ यानी व्यंग्यार्थ में रहता है । अभिप्राय यह है कि यहाँ वाच्यार्थ, व्यंग्यार्थ के लिए ही रहता है ।

(सू० ४१) विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के भी दो भेद हैं । उनमें से पहला 'कोई' अर्थात् अनिर्वचनीय अनुभवैकगोचर 'रसध्वनि' रूप अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य), जिसमें 'वाच्य अर्थ' और 'व्यङ्ग्य अर्थ' के क्रम का ज्ञान नहीं हो पाता है । ऐसा यह 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नाम का ध्वनि है । और दूसरा 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' नाम का ध्वनि है, उसमें 'वाच्य' तथा 'व्यङ्ग्य' अर्थों का क्रम लक्षित रहता है ॥ २५ ॥

अलक्ष्येति । 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' इस नाम से यह बताया गया है कि विभाव-अनुभाव-व्यभिचारीभाव की प्रतीति ही 'रस' नहीं है, किन्तु उन विभावादि की प्रतीति से 'रस' उत्पन्न (अभिव्यक्त) होता है, अतः 'रस' की प्रतीति में भी 'क्रम' तो अवश्य है, परन्तु अत्यन्त शीघ्रता के कारण उसका अनुभव नहीं हो पाता है ॥ २५ ॥

विशेष विवरण—'विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिकाव्य' भी दो प्रकार का होता है—यह अभी कह चुके हैं । उनमें पहला प्रकार 'अलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनिकाव्य' है, जिसे 'कोऽपि' शब्द से निर्दिष्ट करके उसकी अनिर्वचनीय चमत्कारकारिता सूचित की है । और दूसरा प्रकार 'लक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनिकाव्य' है ।

तत्रेति । उस 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि' के अनेक भेदों में से—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अलक्ष्यक्रमव्यंग्यस्य अष्टविधत्वम्)

(सू०४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥२६॥

आदिग्रहणाद्भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानि ।

प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः । यथोदाहरिष्यते । अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितादयोऽलङ्काराः । ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्ते ।

(सू० ४२) रस, भाव, तदाभास यानी रसाभास तथा भावाभास और भावशान्ति आदि (आदि शब्द से १. भावोदय, २. भावशान्ति, ३. भावसन्धि, ४. भावशबलता) 'अलक्ष्यक्रम' (ध्वनिप्रधान होने से) अलङ्कार्य हैं । ये 'रसवत्' आदि (अर्थात् रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्विन्, समाहित इन चारों) अलङ्कारों से भिन्न हैं ॥ २६ ॥

विशेष विवरण—रस—शृङ्गारादि, भाव-रति आदि, तदाभास—रसाभास, भावाभास और भावशान्ति यानी व्यभिचारी भाव की शान्ति है आदि में (प्रथम) जिसके ऐसा 'अक्रम' यानी अलक्ष्यक्रम, 'रसादि' अलंकार से यानी रसवदादि अलंकार से भिन्न है, क्योंकि अलंकार्य रूप से यानी प्रधान रूप से वह स्थित है । इस प्रकार का 'रसादि' जिस ध्वनि में हो उसे 'अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' कहते हैं ।

आदिग्रहणादिति । 'भावशान्त्यादिरक्रम' में दिये गये 'आदि' पद से १. भावोदय, २. भावसन्धि और ३. भावशबलत्व को बताया गया है । जहाँ रस आदि प्रधान रहते हैं, वहाँ वे 'अलङ्कार्य' कहलाते हैं । जैसे कि उनके उदाहरण 'शून्यं वासगृहं' आदि आगे देंगे । और जहाँ अन्य (वस्तु या अलंकार आदि वाक्यार्थ) के प्रधान होने पर 'वे रसादि' (उन वस्तु या अलंकार आदि के) 'अंग' होते हैं । उन रसादि के गुणीभूतव्यङ्ग्य होने पर १. रसवत् २. प्रेय ३. ऊर्जस्विन् और ४. समाहित आदि चार प्रकार के अलंकार होते हैं । गुणीभूत व्यङ्ग्य का जब निरूपण करेंगे तब उनके उदाहरण देंगे । जैसे—'अयं स रशनोत्कर्षी' में 'रस' 'अंग' हो जाने से 'रसवदलङ्कार' है । 'भाव' जब अंग होता है, तब 'प्रेय' अलंकार होता है । 'रसाभास' या 'भावाभास' जब अंग हो जाते हैं तब 'ऊर्जस्विन्' अलंकार होता है । 'भावशान्ति' जब अंग होता है तब 'समाहित' अलंकार होता है । 'आदि' पद से भावोदय आदि 'अंग' होने पर अन्य-अन्य अलंकार हो जाते हैं, जिन्हें पंचम उल्लास में बताया जायगा ॥ ४२ ॥

विशेष विवरण—इसी रीति से 'विवक्षितान्यपरवाच्य' या 'अभिधामूल' ध्वनि के दो भेद—१. असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा २. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नाम से किये हैं । उनमें से १. रस २. भाव ३. रसाभास ४. भावाभास ५. भावोदय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(रसस्वरूपनिष्पत्तिः)

तत्र रसस्वरूपमाह—

(सू०४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥२७॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥२८॥

६. भावसन्धि ७. भावशबलत्व ८. भावशान्ति—'ये आठों' जब काव्य में प्रधान रहते हैं, तब 'रसादिरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि-काव्य' कहा जाता है। और जब ये किसी 'वस्तु' या 'अलंकार' आदि के अंग बन जाते हैं, तब 'गुणीभूत-व्यङ्ग्य' नामक काव्य का दूसरा भेद हो जाता है। इस प्रकार 'असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य' के स्वरूप का सामान्य रूप से निरूपण किया गया है ॥ ४२ ॥

तत्रेति। इनमें से 'रस' की प्रधानता रहने से उसी के स्वरूप का निरूपण प्रथम किया जा रहा है—

रसनिरूपण—

(सू० ४३) लोक-व्यवहार में 'रति' आदि स्थायी भाव के जो कारण, कार्य, और सहकारी होते हैं, उनका नाटक या काव्य में प्रयोग किये जाने पर उन्हें क्रमशः 'विभाव' 'अनुभाव' और 'व्यभिचारीभाव' कहते हैं। और उन विभाव (आलंबन या उद्दीपन रूप कारण) आदि (कार्य और सहकारी) के योग से अभिव्यक्त 'रति' आदि स्थायी भाव ही 'रस' कहलाता है ॥ २७–२८ ॥

विशेष विवरण—उपर्युक्त कारिकाओं के द्वारा 'विभाव' 'अनुभाव' 'व्यभि-चारिभाव' तथा 'स्थायिभाव' से 'रस' की निष्पत्ति बताई गई है। और यह भी बताया है कि 'रति' आदि स्थायिभाव की उत्पत्ति के जो कारण हैं उन्हें 'विभाव' और कार्य को 'अनुभाव' तथा सहकारी को 'व्यभिचारिभाव' के नाम से कहा जाता है। 'रति' आदि स्थायिभाव के कारण को 'विभाव' कहा गया है। 'रति' आदि के कारण दो प्रकार के होते हैं। एक 'आलम्बन' और दूसरा 'उद्दीपन'। शकुन्तला-दुष्यन्त, सीता-राम आदि परस्पर एक दूसरे के प्रेम (रति) के 'आलम्बन' रूप कारण हैं। क्योंकि शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में और सीता को देखकर राम के मन में 'रति' स्थायिभाव की उत्पत्ति होती है। अतः वे दोनों परस्पर आलम्बन विभाव कहलाते हैं। क्योंकि वे परस्पर 'रति' (प्रेम) की उत्पत्ति में 'कारण' हैं। इस 'रति' (प्रेम) को उभाड़नेवाली (उद्बुद्ध करनेवाली) 'चन्द्रिका, उपवन, नदीतट, शीतल-मन्द-सुरभित पवन' आदि सामग्री को 'उद्दीपन' विभाव कहा जाता है। क्योंकि वे पूर्वोत्पन्न 'रति' को उद्दीप्त करते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहते हैं। इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन (विभाव) दोनों मिलकर 'स्थायी भाव' को अभिव्यक्त करते हैं। अभिव्यक्त होने पर उसे ही 'रस' कहते हैं।

(१) स्थायिभाव—

'आलम्बन' और 'उद्दीपन' दोनों विभाव रस-निष्पत्ति के बाह्य कारण हैं। 'रस' की अनुभूति का आन्तरिक कारण (मुख्य कारण) तो 'स्थायीभाव' है। मन के भीतर स्थिर (स्थायी) रूप से रहनेवाले सुप्त संस्कार को 'स्थायी भाव' कहते हैं। वह मानसिक सुप्त संस्कारस्वरूप 'स्थायी भाव' अनुरूप 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन' भावरूप उद्बोधक सामग्री के पाते ही अभिव्यक्त होता है। और मन (हृदय) में अद्भुत आनन्द का संचार कर देता है। स्थायी भाव' की यह अभिव्यक्ति ही 'रस' शब्द से कही जाती है, क्योंकि वह अभिव्यक्ति ही रसास्वाद-जनक (रस्यमान) होती है। अत एव 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' कहा गया है। सबका सार यह है कि पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से अभिव्यक्त होनेवाले 'स्थायिभाव' को 'रस' कहते हैं।

मनुष्य के व्यावहारिक अनुभवों को ध्यान में रखकर साहित्यशास्त्रकारों ने प्रायः आठ प्रकार के स्थायी भाव माने हैं। मम्मटभट्ट ने अपने काव्यप्रकाश में उनकी गणना इस प्रकार की है :—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥ (सू० ४५)

(१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा (घृणा) और (८) विस्मय—ये आठ स्थायी भाव कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त (९) निर्वेद को भी नौवाँ स्थायी भाव माना गया है। मम्मटभट्ट ने कहा है—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। (सू० ४७)

इस रीति से नौ स्थायी भाव हैं, और उनके अनुसार ही नौ रस माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) श्रृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स, (८) अद्भुत और (९) शान्त।

श्रृङ्गार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः

उपर्युक्त नौ भाव मनुष्य के हृदय में स्थायी रूप से सर्वदा हैं। इसी कारण इन्हें 'स्थायी भाव' कहते हैं। मनुष्य के हृदय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रहने वाले ये स्थायी भाव, यथासमय अपने-अपने अनुकूल विभावादि उद्बोधक कारण-सामग्री के प्राप्त होने पर अभिव्यक्त हो उठते हैं। और आस्वाद्यमान (रस्यमान) होकर वे 'रस' संज्ञा को प्राप्त करते हैं।

(२) विभाव—

रसानुभूति के कारणों को 'विभाव' कहते हैं। वे विभाव दो स्वरूपों में विभक्त हैं—(१) आलम्बन विभाव और (२) उद्दीपन विभाव। 'आलम्बन विभाव' उसे कहते हैं कि जिसको आलम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है। जैसे—जानकी को देखकर श्रीरामचन्द्र के मन (हृदय) में और श्रीरामचन्द्र को देखकर श्रीजानकी (सीता जी) के मन में 'रति' स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् 'रति' की उत्पत्ति होती है। और उन दोनों को देखकर सामाजिक (दर्शक) के मन में 'रस' की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण जानकी (सीता)-श्रीराम आदि 'शृंगाररस' के 'आलम्बन विभाव' माने जाते हैं। चन्द्रिका (चांदनी), बगीचा (उपवन-उद्यान), एकान्त (निर्जन) स्थान, शीतल मन्द समीर (हवा), सुगन्ध आदि के द्वारा उस 'रति' का उद्दीपन होता है। इस कारण इनको शृङ्गाररस के 'उद्दीपन विभाव' कहते हैं। प्रत्येक रस के 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन' विभाव भिन्न-भिन्न होते हैं।

(३) अनुभाव—

रसानुभूति का अन्तरंग कारण (प्रयोजक) 'स्थायिभाव' है। और 'आलम्बन' तथा 'उद्दीपन ये दोनों उसके बहिरंग कारण हैं। इसी प्रकार 'अनुभाव' तथा 'व्यभिचारिभाव' (सञ्चारिभाव), उस आन्तरिक रसानुभूति से उत्पन्न हुए की बाहर अभिव्यक्ति कराने में प्रयोजक व्यापार (शारीरिक तथा मानसिक) हैं। इन विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों को लोक-व्यवहार में 'कारण' 'कार्य' तथा 'सहकारी' कहते हैं। अर्थात् अपने-अपने आलम्बन तथा उद्दीपन कारणों से सीता-राम, दुष्यन्त-शकुन्तला आदि के मन में उद्बुद्ध हुए 'रति' आदि स्थायिभाव को जो बाहर प्रकट करता है उसे 'रति' आदि स्थायिभाव का 'कार्य' कहते हैं, और उसे ही काव्य और नाट्य में 'अनुभाव' कहते हैं। इसी बात को साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने कहा है—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्य-नाट्ययोः॥

आन्तरिक रसानुभूति की बाह्य अभिव्यञ्जना के साधन 'अनुभाव' हुआ करते हैं और उनमें शारीरिक व्यापार की प्रधानता रहती है। इन अनुभावों का अभिनय, अभिनेता नट कृत्रिमरूप से करता है किन्तु अनुकार्य 'राम'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आदि की आभ्यन्तर रसानुभूति की बाह्य अभिव्यक्ति वास्तविक रूप में इन्हीं साधनों से होती है। वह रसानुभूति के पश्चात् (बाद) होती है—'अनु पश्चात् भवन्ति इति अनुभावाः।' अर्थात् वे अनुभाव रसानुभूति के कार्यस्वरूप होते हैं। इस कारण उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं। अथवा अनुकार्य 'राम' आदि की आन्तरिक रसानुभूति का अनुमित्यात्मक अनुभव सामाजिकों को कराते हैं इसलिए उन्हें 'अनुभाव' कहते हैं।

(४) व्यभिचारिभाव—

उद्दीपन कारणों (विभावों) से उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों को पुष्ट करने में तथा उनके उपचय में जो सहकारी होते हैं, उन्हें 'व्यभिचारिभाव' कहते हैं। अर्थात् रसों में जो नाना रूपों से विचरण करते हैं और उन्हें पुष्ट कर आस्वाद के योग्य बनाते हैं, उन्हें 'व्यभिचारिभाव' कहते हैं। 'विविधम् आभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः'। भरतमुनि ने रसों के हिसाब से उनका अलग-अलग वर्गीकरण करके उनको गिना दिया है—

निर्वेद-ग्लानि-शङ्काख्यास्तथासूया मदः श्रमः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ १८ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ १९ ॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ २० ॥
त्रासश्चैवं वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ २१ ॥

भरतमुनि का रससूत्र—

रस-निष्पत्ति का सर्वप्रथम उल्लेख भरत मुनि ने किया है। उत्तरवर्ती अनेक आचार्यों ने उसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। व्याख्याओं के कारण ही 'रस' के सम्बन्ध में चार सिद्धान्त प्रचलित हुए—(१) उत्पत्तिवाद, (२) अनुमितिवाद, (३) भुक्तिवाद, (४) अभिव्यक्तिवाद। उपर्युक्त भरतसूत्र में जो 'निष्पत्ति' शब्द दिया गया है, उसके चार अर्थ होते हैं। भट्टलोल्लट के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' है। श्री शंकुक के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अनुमिति' है। भट्टनायक के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' है। और अभिनवगुप्तपाद के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है। उक्त प्रमुख चार आचार्यों की रससूत्रव्याख्या को ग्रन्थकार ने यहाँ पर संक्षेप में उद्धृत कर दिया है। ग्रन्थकार सर्वप्रथम भरतमुनि के 'रससूत्र' को उपस्थित कर रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(भरतस्य रससूत्रम्)

उक्तं हि भरतेन—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरि'ति।

(भट्टलोल्लटमतम्)

एतद्विवृण्वते—विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणै रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसंधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लटप्रभृतयः।

उक्तमिति। भरतमुनि ने कहा भी है—

'विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है'।

एतदिति। उपर्युक्त चार प्रमुख आचार्य इस रससूत्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—

भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद—

विशेष विवरण—रस सूत्र के व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट 'रस' की उत्पत्ति के पक्ष में हैं, अतः इनका उत्पत्तिवाद है। इनका कथन है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोग से 'राम' आदि अनुकार्य (असली राम आदि) में 'रस' की उत्पत्ति होती है। उक्त त्रिविध 'भावों' में भी 'सीता' आदि—आलम्बन-'विभाव' रस के मुख्य उत्पादक हैं। उस उत्पन्न हुए 'रस' का 'बोधन' 'अनुभाव' कराते हैं। तथा उस उत्पन्न हुए रस का 'पोषण' 'व्यभिचारिभाव' करते हैं। इसलिए 'रति' आदि स्थायिभाव के साथ 'विभावों' का 'उत्पाद्य-उत्पादकभाव' सम्बन्ध, और 'अनुभावों' का स्थायिभाव के साथ 'गम्य-गमकभाव' सम्बन्ध, तथा व्यभिचारिभावों का 'स्थायिभाव' के साथ 'पोष्य-पोषकभाव' संबन्ध होता है। इसलिए भरत के रससूत्र में आये हुए 'संयोग' शब्द के भी तीन अर्थ भट्टलोल्लट के अनुसार हैं। विभावों के साथ संयोग यानी उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध, और अनुभावों के साथ संयोग यानी गम्य-गमकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावों के साथ संयोग यानी पोष्य-पोषकभाव सम्बन्ध। इस प्रकार 'संयोग' शब्द का अर्थ इनके मत में होता है। इसी उक्त अभिप्राय को ग्रन्थकार ने अपने शब्दों में बताया है—

विभावैरिति। ललना आदि रति के कारण-स्वरूप 'आलम्बन विभावों' से 'रति' आदि स्थायिभाव की उत्पत्ति हुई। उस उत्पन्न हुए 'स्थायी' (रति आदि) भाव को, 'उद्यान' आदि कारणभूत 'उद्दीपन विभावों' ने उद्दीपित किया। तदनन्तर उत्पन्न हुई 'रति' के कार्यस्वरूप कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि 'अनुभावों' ने उस स्थायी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(रति आदि) भाव को प्रतीति के योग्य (अभिव्यक्त) कर दिया। तदनन्तर रति आदि के सहकारी 'निर्वेदादि' व्यभिचारिभावों के द्वारा उस स्थायी (रति आदि) को पुष्ट किया गया, और मुख्यरूप से अनुकार्यरूप 'राम' आदि में, तथा उनके स्वरूप का अनुकरण करने से 'नट' में प्रतीयमान (आरोप्यमाण) 'रति' आदि स्थायी भाव ही 'रस' है—यह भट्टलोल्लट आदि का मत है।

विशेष विवरण—ग्रन्थकार के द्वारा प्रदर्शित किये गये 'भट्टलोल्लट' के मत में 'स्थायी' (रति आदि) भाव के साथ 'विभावों' का संयोग अर्थात् 'उत्पाद्य-उत्पादकभाव' सम्बन्ध रहता है, और 'अनुभावों' का संयोग अर्थात् 'गम्य-गमक-भाव' संबन्ध रहता है, तथा 'व्यभिचारिभावों' का संयोग अर्थात् 'पोष्य-पोषक भाव' सम्बन्ध रहता है। इस रहस्य को ध्यान में रखकर ही ग्रन्थकार ने 'रससूत्र' का विवरण देते हुए क्रमशः 'जनितः', 'प्रतीतियोग्यः कृतः' तथा 'उपचितः' पदों का प्रयोग किया है।

भट्टलोल्लट के मतानुसार अनुकार्य 'राम' आदि में 'रस' की स्थिति मुख्य-रूप से रहती है, उसका अनुकरण करने वाले 'नट' में भी 'रस' की स्थिति गौणरूप से मानी जाती है। किन्तु सामाजिक (दर्शक) में 'रस' की उत्पत्ति नहीं होती।

भरत-सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' शब्द के तीन (त्रिविध) अर्थों के समान, उसी सूत्र में प्रयुक्त 'निष्पत्ति' शब्द के भी तीन अर्थ होते हैं। जैसे—विभाव और स्थायी भाव में—'उत्पाद्य-उत्पादकभाव' सम्बन्ध होने पर 'रस' की 'निष्पत्ति' यानी 'उत्पत्ति' होती है। यहाँ पर 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' किया गया है। अनुभाव और स्थायी भाव में 'गम्य-गमकभाव' सम्बन्ध होने पर 'रस' की निष्पत्ति यानी 'प्रतीति' होती है। यहाँ पर 'निष्पत्ति' का अर्थ 'प्रतीति' किया गया है। तथा व्यभिचारि-भाव और स्थायिभाव में 'पोष्य-पोषकभाव' सम्बन्ध होने पर 'रस' की निष्पत्ति यानी 'पुष्टि' होती है। यहाँ पर 'निष्पत्ति' का अर्थ 'पुष्टि' किया गया है।

व्याख्याकारों ने भट्टलोल्लट की उक्त व्याख्या को मीमांसा-सिद्धान्त के अनुसार बताया है। यहाँ पर 'मीमांसा' कहने का अभिप्राय उत्तर-मीमांसा यानी वेदान्तशास्त्र से है, जैमिनीयमीमांसा से नहीं। उत्तरमीमांसा यानी वेदान्तशास्त्र में 'जगत्' की प्रतीति 'आध्यासिक' मानी गई है। जैसे—रज्जु में 'सर्प' की आध्यासिक (आरोपित) प्रतीति के समय वहाँ 'सर्प' का अस्तित्व न रहने पर भी उसकी प्रतीति और उससे भय-कम्पादि कार्यों की उत्पत्ति होती है। वैसे ही अनुकार्य राम के हृदय में स्थित सीताविषयक अनुरागरूपा रति, अभिनय के समय नट में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(शंकुकमतम्)

राम एवायम् अयमेव राम इति न रामोऽयमित्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति रामः स्याद्वा न वाऽयमिति रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे ।

विद्यमान न रहने पर भी उसमें उसके अभ्यास-कौशल के फलस्वरूप विद्यमान-सी प्रतीत होती है। इस कारण सामाजिकों (दर्शकों) के हृदय में चमत्कारानुभूति रूप कार्य की उत्पत्ति होती है । इसी समानता के आधार पर भट्टलोल्लट के उत्पत्तिवादी सिद्धान्त को मीमांसा-शास्त्रानुसारी कहते हैं ।

भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में अरुचि का कारण—

भट्टलोल्लट ने रस की उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि को अनुकार्य राम में तो 'मुख्यरूप से' और अनुकर्ता नट में 'गौणरूप से' स्वीकार किया है। किन्तु सामाजिक दर्शकों को रसानुभव कैसे होता है ? इस समस्या का समाधान नहीं किया है ।

किञ्च—अनुकार्य भगवान् राम और जानकी सीता, ये दोनों ही आज के युग में नहीं हैं और अभिनय तो आज के युग में हो रहा है । अतः इस अभिनय से उन अनुकार्य राम-सीता में 'रसोत्पत्ति' का होना कदापि संभव नहीं है । अत एव उनका अनुकरण-करने वाले नट में भी 'रस की उत्पत्ति' कैसे हो सकेगी ? अर्थात् वह भी संभव नहीं है। इस कमी के कारण भट्टलोल्लट का रसोत्पत्ति का सिद्धान्त अन्य आचार्यों को मान्य नहीं है ।

शङ्कुक आचार्य का अनुमितिवाद—

शङ्कुक ने न्यायशास्त्र के मतानुसार उक्त रससूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—इन्होंने रस का सम्बन्ध सामाजिक के साथ इस प्रकार बताया है—'अनुकर्ता नट' कृत्रिम अनुभाव आदि को प्रदर्शित जब करता है, तब उसके द्वारा किये जाने वाले अनुभाव आदि उसके अभ्यास-कौशल के बल पर उसमें वास्तविक-से प्रतीत होते हैं। कृत्रिम होने पर भी वास्तविक-से प्रतीयमान होने वाले अनुभाव आदि को देखकर दर्शक (सामाजिक) लोग उस (अनुकर्ता नट) में वस्तुतः विद्यमान् न रहते हुए भी रस का अनुमान कर लेते हैं। और वे सामाजिक अपनी-अपनी वासना (संस्कार) के वशीभूत होकर उस अनुमीयमान रस का आस्वाद लेते रहते हैं। 'शंकुक' के द्वारा की गई इस व्याख्या को 'ग्रन्थकार' उपस्थित कर रहे हैं—

राम एवेति । (१) 'यह राम ही है' अथवा 'यह ही राम है'—इस आकार की सम्यक् प्रतीति । (२) 'यह राम नहीं है' इस तरह उत्तर काल में (अगले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः ।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥ २५ ॥
दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च ।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥ २६ ॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्त्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानै-र्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगाद् गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्य-मानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः ।

क्षण में) बाधित होने वाली, 'यह राम है'—इस प्रकार की मिथ्या प्रतीति । (३) 'यह राम है या नहीं'—इस प्रकार की संशयात्मक प्रतीति । और (४) 'यह राम के समान है'—इस प्रकार की सादृश्य प्रतीति कराने वाले चार ज्ञान हैं । इन (१) सम्यक्-प्रतीति, (२) मिथ्या-प्रतीति, (३) संशय-प्रतीति तथा (४) सादृश्य-प्रतीतियों से भिन्न प्रकार की 'चित्र-तुरग-न्याय' से होने वाली पाँचवें प्रकार की प्रतीति से ग्राह्य जो नट, उसमें अनुमीयमान होने पर भी वस्तुसौन्दर्य के कारण तथा आस्वाद्य होने से अन्य अनुमीयमान वस्तुओं से विलक्षण पदार्थ का अपने संस्कार के बल पर जो आस्वाद किया जाता है, वही रस है ।

सेयं ममाङ्गेष्विति । मेरे अंगों में सुधारस के समान आनन्द देने वाली, नेत्रों के लिए कपूर की सलाई के समान शीतलता पहुँचाने वाली और मनके लिए मूर्ति-मती मनोरथश्री के समान वह प्राणेश्वरी मुझे दिखाई दे रही है ॥ २५ ॥

दैवादहमिति । चञ्चल और विशाल नयनों वाली उस अपनी प्रिया से दैववश आज ही मैं वियुक्त हुआ, और आज ही निरन्तर उमड़ते हुए बादलों से घिरा हुआ यह पीडादायक यानी मन को झक-झोरने वाला वर्षाकाल आ पहुँचा ॥ २६ ॥

इत्यादीति । इत्यादि काव्यों के अनुसन्धान (अनुशीलन) के बलपर—शिक्षा के अभ्यास से निष्पन्न हुए अपने अनुभाव आदि कार्य से, नट के ही द्वारा किये जाने वाले, उनके कृत्रिम होने पर भी अकृत्रिम के समान (स्वाभाविक से) लगने वाले अर्थात् कृत्रिम न समझे जाने वाले, विभाव आदि शब्दों से बोले जाने वाले, कारण, कार्य और सहकारी कारणों के साथ 'संयोग' यानी 'गम्य-गमक भावरूप' सम्बन्ध के कारण चित्रतुरगन्याय की प्रतीति से पूर्वोक्त नट में अनुमीयमान होने पर भी वस्तु के अपने निजी सौन्दर्य के कारण आस्वाद्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(रसनीय) यानी आस्वाद का विषय बनजाने के कारण अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण स्थायी के रूप में संभाव्यमान 'रति' आदि भाव, तत्र=वहाँ अर्थात् 'नट' में वस्तुतः विद्यमान न रहने पर भी सामाजिकों के अपने संस्कार के कारण (स्वात्मगत होकर) आस्वाद्यमान (चर्व्यमाण) होता है, यानी नट में अनुमीयमान रति को ही सामाजिक स्वात्मगत समझ कर उस का आस्वाद लेते हैं। अतः स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक के द्वारा उपर्युक्त प्रक्रिया के बल पर आस्वाद्यमान स्थायी भाव ही 'रस' कहलाता है। यही श्रीशङ्कुक का मत है।

विशेष विवरण—उपर्युक्त शंकुक के मत को हृदयंगम करने के लिए निम्नांकित छह (६) बातों को स्मरण रखना होगा।

(१) शङ्कुक के मत के अनुसार 'नट' में 'रस' की अनुमिति होती है, यानी इनके मत में 'रस अनुमेय' है। रंगमंच पर 'नट' के आते ही दर्शक (सामाजिक) उसे प्रत्यक्ष 'राम' समझने लगते हैं। इस प्रकार सामाजिकों की 'नट' में जो रामबुद्धि होती है, वह 'चित्रतुरगन्याय' के ही तुल्य है। यही प्रतीति (बुद्धि-ज्ञान), सामाजिकों को 'नट' में स्थायी भाव (रति आदि) का अनुमान कराती है। अर्थात् 'नट' में होने वाली सामाजिकों की 'रामबुद्धि' ही उनके अनुमान का कारण है। 'चित्र-तुरगन्याय' का स्वरूप इस प्रकार है—जब हम कहीं पर घोड़े (तुरग) का चित्र देखते हैं, तब उसे हम 'घोड़ा' (तुरग) ही कहते हैं। क्योंकि चित्र को देखकर 'घोड़े' का ज्ञान हो रहा है। तथापि उस तुरग (घोड़े के) ज्ञान को हम (१) 'सत्यज्ञान' (सम्यक् प्रतीति) नहीं कह सकते। और उसे (२) न 'मिथ्याज्ञान' कह सकते हैं। तथा उसे (३) न 'संशयज्ञान' कह सकते हैं। और (४) न 'सादृश्यज्ञान' ही कह सकते हैं। किन्तु 'ज्ञान' तो हो रहा है। अतः चित्रस्थित तुरग (अश्व=घोड़े के) ज्ञान को उक्त चतुर्विध ज्ञानों से भिन्न ही कहना होगा। एवं च (१) सम्यक्, (२) मिथ्या, (३) संशय, (४) सादृश्य—इन चारों ज्ञानों (प्रतीतियों) से यह 'ज्ञान' विलक्षण ही है।

(२) 'रस' की अनुमति करने में 'चित्र-तुरगन्याय' से राम-सीता आदि विभावों की प्रतीति होती ही है, किन्तु वह प्रतीति चतुर्विध प्रतीतियों में से किसी के अन्तर्गत नहीं हो पाती, अपितु उसे विलक्षण प्रतीति ही कहना पड़ता है।

उसी तरह जिन-जिन 'अनुभाव' और 'व्यभिचारिभावरूप' लिङ्गों (हेतुओं) से राम-सीता के रतिमान् होने का जो अनुमान—'इयं सीता, रामविषयकरतिमती, तस्मिन् विलक्षणस्मित-कटाक्षादिमत्वात्'—किया जाता है, उसके लिङ्ग (हेतु) भी यथार्थ (वास्तविक) नहीं हैं। क्योंकि वास्तविक स्मित-कटाक्षादि अनुभाव तो सीता-राम आदि अनुकार्यों में ही रहे होंगे। किन्तु यहाँ मञ्च पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'चित्रतुरगन्याय' से उपस्थित हुए सीता-राम का स्वरूप धारण किये 'नट' में वे वास्तविक (यथार्थ) स्मित-कटाक्षादि तो हैं ही नहीं। रंगमंच पर आया हुआ 'नट' तो अपनी प्राप्त शिक्षा और उसके अभ्यास के बल पर उन 'कृत्रिम स्मित-कटाक्षादिकों' को 'अकृत्रिम' जैसा प्रदर्शित करता रहता है। यहाँ पर 'सीता-राम' आदि जो आलंबन विभाव हैं, वे भी 'कृत्रिम' हैं, और उनके द्वारा प्रदर्शित किये जाने वाले 'अनुभाव-व्यभिचारिभाव भी कृत्रिम' ही हैं। तथापि वह नट अपने अभ्यास-कौशल से उनको ऐसी सफाई से प्रदर्शित करता है कि देखने वालों को वे बिलकुल असली (अकृत्रिम) की तरह प्रतीत (भासित) होते हैं। जिस कारण दर्शक, प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले 'नट' में तत्तत् स्थायी भाव का अनुमान—'इयं सीता रामविषयक-रतिमती' अथवा 'अयं रामः सीताविषयक-रतिमान्', तत्र विलक्षणस्मित-कटाक्षादिमत्त्वात्'—करने लगते हैं। इस प्रकार 'अनुमीय-मान स्थायी भाव' ही 'रस' संज्ञा को प्राप्त करता है। अर्थात् सामाजिकों को 'आनुमानिक रस' की प्रतीति होती है।

(३) अत एव भरत के 'रस-सूत्र' में प्रयुक्त 'संयोग' शब्द का अर्थ 'गम्य-गमकभाव सम्बन्ध' किया गया है।

(४) यही कारण है कि 'सामाजिक' (दर्शक) उस आनुमानिक रस की प्रतीति का आधार (आश्रय) भी नहीं है। वह तो 'नट' (कृत्रिम राम और सीता) में 'कृत्रिम रूप से' स्थित रहती हुई भी 'अकृत्रिमरूप' से भासित होने वाली 'रति' अथवा 'रस' का अनुमान मात्र करता है।

(५) 'सामाजिक' को उस 'अनुमित रस' का भी आस्वाद प्राप्त होता है। क्योंकि इस 'रसानुमिति' में यही तो 'विलक्षणता' है कि वह 'अनुमितिरूप' होने पर भी 'अन्य अनुमितियों' से भिन्न और 'अपरोक्ष' (प्रत्यक्ष) रूप होती है। सामान्य नियम तो यही है कि 'अनुमानादि प्रमाणों' से उत्पन्न ज्ञान 'परोक्ष' होता है, और केवल 'प्रत्यक्ष प्रमाण' से उत्पन्न ज्ञान ही 'अपरोक्ष' कहलाता है। किन्तु 'नाटक' में 'अनुमान प्रमाण' से किया जाने वाला यह 'अनुमिति ज्ञान' भी 'अपरोक्ष' रहने से सामाजिक उसका रसास्वाद ले पाता है। यही उसकी विशेषता है।

(६) उस 'रसास्वाद' में सामाजिक की 'अपनी वासना' और 'रसप्रतीति में विलक्षण अपरोक्षता' की कल्पना ही कारण होती है। तथ्य की बात तो यह है कि वह 'अनुमित रस' न 'सामाजिक' में रहता है और न 'कृत्रिम राम' आदि में ही रहता है। तथापि 'अपने' में अविद्यमान एवं 'नट' में भी अविद्यमान उस अनु-मीयमान रस का आस्वाद केवल 'वासना' के कारण 'सामाजिक' को प्राप्त होता रहता है। यह शंकुक आचार्य का सिद्धान्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शंकुक के इस 'अनुमितिवाद' के सिद्धान्त को 'न्यायमतानुसारी' कहते हैं। क्योंकि वह 'अनुमिति-प्रधान' है। अर्थात् 'अनुमान प्रमाण' से उसकी प्रतीति होती है। 'न्यायशास्त्र' को 'अनुमिति-प्रधान शास्त्र' कहते हैं। इसी के सहारे 'शंकुक' ने अपने 'रस-सिद्धान्त' को स्थापित किया है। इस कारण शंकुक के सिद्धान्त को न्याय-मतानुसारी कहा जाता है।

शंकुक ने 'चतुर्विध प्रतीतियों' में से 'सम्यक् प्रतीति' को 'राम एवाऽयम्' और 'अयम् एव रामः'—इन दो वाक्यों से बताया है। इन दो वाक्यों में 'राम' पद का प्रयोग 'विशेषण' के रूप में किया गया है, और 'अयम्' पद का प्रयोग 'विशेष्य' के रूप में है। प्रथम वाक्य 'राम एव अयम्' में विशेषण के रूप में प्रयुक्त 'राम' पद के साथ 'एव' का प्रयोग है, और दूसरे वाक्य 'अयम् एव रामः' में विशेष्य के रूप में प्रयुक्त 'अयम्' पद के साथ 'एव' का प्रयोग किया गया है। दो प्रकार से 'एव' कार के प्रयोग का रहस्य यह है कि 'विशेषणसङ्गतः एवकारः अयोगव्यवच्छेदकः'—इस नियम के अनुसार वह 'एवकार' विशेष्य के रूप में प्रयुक्त 'अयम्' के अर्थ में 'रामत्व' के अयोग का व्यवच्छेद करता है। और उसमें 'रामत्व' को नियन्त्रित कर देता है। तब 'राम एवायम्' इस प्रथम वाक्य का अर्थ हो जाता है कि 'यह राम से भिन्न नहीं है'। एवं दूसरे वाक्य 'अयम् एव रामः' में 'विशेष्यसङ्गतः एवकारः अन्ययोगव्यवच्छेदकः' इस नियम के अनुसार विशेष्य के रूप में प्रयुक्त 'अयम्' पद के साथ किया गया 'एवकार' का प्रयोग अन्ययोग का व्यवच्छेद कर देता है। उसका परिणाम यह हुआ कि विशेष्यभूत 'अयम्' पद के अर्थ से भिन्न अर्थ में 'रामत्व' के सम्बन्ध का निवारण हो जाता है। और 'यही राम है, इस से भिन्न अन्य कोई राम नहीं है।' इस रीति से 'अयम्' इस विशेष्य में 'रामत्व' को नियन्त्रित कर देता है। इस प्रकार 'राम एवाऽयम्' और 'अयमेव रामः' दोनों मिलकर 'सम्यक् प्रतीति' करा रहे हैं।

'एवकार' का तीन प्रकार से प्रयोग—

'एवकार' का तीन प्रकार से प्रयोग करने पर उसके अर्थ में भी भिन्नता हो जाती है। 'एवकार' का प्रयोग कभी विशेषण के साथ, कभी विशेष्य के साथ और कभी क्रिया के साथ भी दृष्टिगोचर होता है। विशेष्य के साथ जब उसका प्रयोग होता है, तब वह अन्य-योग का व्यवच्छेद कर देता है। जैसे 'पार्थ एव धनुर्धरः'—यहाँ पर 'पार्थ' विशेष्य है। उसके साथ 'एव' का प्रयोग विवक्षित है। इसलिए वह यहाँ पर 'अन्ययोग' का व्यवच्छेद कर रहा है। तब उसका अर्थ यह हुआ कि 'पार्थ एव धनुर्धरः, नान्यः' पार्थ ही एकमात्र धनुर्धर है, दूसरा कोई नहीं। अर्थात् विशेष्यभूत पार्थ से भिन्न किसी अन्य योद्धा के साथ 'धनुर्धरत्व' धर्म का सम्बन्ध (योग) नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं विशेषण के साथ 'एव'कार का प्रयोग जब विवक्षित रहता है, तब वह 'अयोग' का व्यवच्छेद कर देता है। जैसे--'पार्थो धनुर्धर एव' में विशेषण-भूत 'धनुर्धर' के साथ 'एव'कार का प्रयोग किया गया है। अतः उसने विशेष्यभूत 'पार्थ' में विशेषणभूत धनुर्धरत्व धर्म के सम्बन्धाभाव (अयोग) का व्यवच्छेद (निषेध) कर दिया है। तब उपर्युक्त वाक्य का अर्थ यह हुआ कि 'पार्थ धनुर्धर ही है'। इस प्रकार पार्थ रूप विशेष्य में 'धनुर्धरत्व' धर्म को नियन्त्रित कर दिया है।

एवं जब क्रिया के साथ 'एव'कार का प्रयोग किया जाता है, तब वह 'अत्यन्त अयोग' का व्यवच्छेद (निषेध) करता है। जैसे--'नीलं कमलं भवत्येव' में 'भवति' क्रिया के साथ 'एव'कार का प्रयोग किया गया है। अतः उसने 'कमल' के साथ 'नीलत्व' धर्म का जो अत्यन्त असम्बन्ध (अत्यन्त अयोग) है, उसका व्यवच्छेद (निषेध) कर दिया है। और किसी विशेष कमल में 'नीलत्वधर्म' को उसने नियन्त्रित कर दिया है। इस प्रकार 'एव'कार के तीन प्रकार से प्रयोग किये जाते हैं—

'अयोगमन्ययोगञ्चात्यन्तायोगमेव च।
व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः॥'

आचार्य शंकुक के अनुमितिवाद में अरुचि—

आचार्य शंकुक के सिद्धान्त में सर्वत्र कृत्रिमता का ही साम्राज्य है। उनके मत के अनुसार विभाव तो कृत्रिम, अनुभाव भी कृत्रिम, व्यभिचारिभाव भी कृत्रिम। उनके साथ स्थायिभाव का सम्बन्ध भी कृत्रिम। उस कृत्रिम सम्बन्ध से अनुकर्ता नट में राम-सीता आदि विषयक 'रति' भी कृत्रिम। और उस कृत्रिम रति का ही अनुमान बताया जा रहा है। ऐसे अनुमान से दर्शक को रस का अनुभव कैसे हो सकता है। बुभुक्षा के उद्दीप्त होने पर 'बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते, तथा पिपासितैः काव्यरसो न पीयते'—भूख-प्यास लगने पर तो अन्न और जल का प्रत्यक्ष अनुभव ही होना चाहिए, तभी बुभुक्षा और पिपासा की शान्ति का आनन्द प्राप्त होता है। उसी तरह सामाजिक तो 'रस' का साक्षात्कार चाहता है। साक्षात्कारात्मक प्रतीति, केवल अनुमान से होना संभव नहीं। क्योंकि अनुमान प्रमाण से होने वाला 'ज्ञान' तो परोक्ष होता है, साक्षात्कारात्मक नहीं। अतः अनुमितिवाद के सहारे रसास्वाद के साक्षात्कार की संगति नहीं होती है। इस अरुचि के कारण तीसरे व्याख्याकार 'भट्टनायक' अपने 'भुक्तिवाद' सिद्धान्त को उपस्थित कर रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(भट्टनायकमतम्)

न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते, अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते इति भट्टनायकः।

भट्टनायक का भुक्तिवाद-सिद्धान्त—

न ताटस्थ्येनेति। भट्टनायक का कहना है कि 'अनुकर्ता नट' में या 'अनुकार्य राम' में अर्थात् तटस्थरूप में रस की अनुमिति (प्रतीति) नहीं होती है। तटस्थ (अनुकर्ता या अनुकार्य) में रस की उत्पत्ति या अनुमिति होती है—ऐसा यदि कहें तो रसास्वाद सामाजिक को नहीं हो पायेगा। यदि यह कहें कि सामाजिक के अन्तःकरण में 'रस की अभिव्यक्ति' होती है, तो वह भी उचित नहीं है, क्योंकि 'अभिव्यक्ति' उसी पदार्थ (वस्तु) की होती है, जो पदार्थ (वस्तु) पहले से स्थित (विद्यमान) हो। 'रस' तो केवल अनुभूति मात्र है। अनुभूतिकाल के अतिरिक्त काल (समय) में 'रस' की स्थिति ही नहीं है। इस रीति से भट्टनायक ने 'न प्रतीयते' कहकर आचार्य शंकुक के सिद्धान्त (अनुमितिवाद) का खण्डन कर दिया। 'नोत्पद्यते' कहकर भट्टलोल्लट के सिद्धान्त (उत्पत्तिवाद) का खण्डन कर दिया। और 'नाभिव्यज्यते' कहकर आचार्य अभिनवगुप्तपाद के सिद्धान्त (अभिव्यक्तिवाद) का खण्डन कर दिया है। इस प्रकार तीनों के रससिद्धान्त सम्बन्धी मतों का खण्डन कर अब रस के सम्बन्ध में अपना सिद्धान्त बता रहे हैं।

अपीति। भट्टनायक का कहना है कि, सामाजिक को रस का आस्वाद तीनों व्याख्याकारों के कथनानुसार नहीं हो पाता, अपितु काव्य या नाटक में सामाजिक को रसास्वाद की प्राप्ति का प्रकार यह है—

किसी काव्य या नाटक में अभिधा, लक्षणा नामक शब्द व्यापार से भिन्न, **विभावादि का साधारणीकरणरूप जो 'भावकत्व'** नाम का व्यापार है, उससे **'साधारणीकृत' हुए रत्यादिस्थायिभाव का आस्वाद, सत्त्वगुण के उद्रेक से** प्रकाश और आनन्दमय अनुभूति (संवित्) के समान **'भोग'** (भोजकत्व) **व्यापार से किया जाता है, यह भट्टनायक का मत है।**

इनके मत में **'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' और 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध' कहा जाता है।**

विशेष विवरण—भरत-कृत **'रससूत्र'** के तृतीय व्याख्याकार भट्टनायक हैं। इन्होंने 'सामाजिक' को साक्षात्कारात्मक रसानुभूति कराने की एक नवीन प्रक्रिया का आविष्कार किया है। इनकी इस प्रक्रिया को **'भुक्तिवाद'** की संज्ञा दी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गई है। विचारणीय विषय यह है कि हमारी बुद्धि (ज्ञान) में 'अनुकर्ता' 'अनुकार्य' और 'सामाजिक' ये तीन लोग उपस्थित हैं। तो क्या इन तीनों को रसानुभूति होती है, या इनमें से किसी एक को? यदि 'एक' को तो किसको? यही विचारणीय प्रश्न है। इस प्रश्न के समाधान में 'भट्टनायक' कहते हैं कि 'रस' की निष्पत्ति न 'अनुकार्य' में होती है और न 'अनुकर्ता' में होती है। 'अनुकार्य और अनुकर्ता' दोनों ही 'तटस्थ' हैं। अर्थात् दोनों ही 'उदासीन' हैं। उन दोनों में से 'किसी को' भी रसानुभूति नहीं होती। वस्तुतः 'रसानुभूति' तो 'सामाजिक' को ही होती है। किन्तु इसका उपपादन किसी 'व्याख्याकार' के द्वारा नहीं किया गया है। भट्टलोल्लट ने तो 'तटस्थ जो अनुकार्य' 'राम' है, उसमें 'मुख्य रूप' से और 'तटस्थ' जो 'अनुकर्ता' हैं, उसमें 'गौणरूप' से रस की उत्पत्ति का होना बताया है। 'भट्टलोल्लट' के इस व्याख्यान में सामाजिक की कोई चर्चा नहीं की गई है। अतः 'ताटस्थ्येन रसोत्पत्ति' को बताने वाले 'भट्टलोल्लट' का रसोत्पत्ति सिद्धान्त उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। उसके बाद श्रीशंकुक ने 'तटस्थ' में 'रस' की 'अनुमिति' यानी प्रतीति का होना बताया है। और उस 'अनुमिति' के द्वारा सामाजिक को 'अपने संस्कारवश' रसचर्वणा का उपपादन किया है। किन्तु इस 'अनुमितिवाद' के सिद्धान्त में भी विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अनुमिति' तो केवल परोक्षज्ञानरूप है। अतः उससे भी साक्षात्कारात्मक रसानुभूति नहीं हो पाती। इसलिए 'शंकुक' का यह अनुमितिवाद का सिद्धान्त भी उचित प्रतीत नहीं हो रहा है। इसी अभिप्राय से 'भट्टनायक' ने स्पष्ट कह दिया कि 'न ताटस्थ्येन रसः उत्पद्यते, न प्रतीयते।' अर्थात् 'तटस्थ' में (तटस्थ का अर्थ उदासीन है। ऐसे तटस्थ प्रकृत में दो हैं, एक 'अनुकार्य' और दूसरा 'अनुकर्ता') न 'रस' की उत्पत्ति होती है और न प्रतीति (अनुमिति) ही होती है। एवं च 'न उत्पद्यते' कहकर 'भट्टलोल्लट' के उत्पत्तिवाद का और 'न प्रतीयते' कहकर 'शंकुक' के अनुमितिवाद का खण्डन किया गया है। तदनन्तर अभिनवगुप्तपाद के 'अभिव्यक्तिवाद' के सिद्धान्त का भी 'भट्टनायक' ने खण्डन करने का प्रयत्न किया है। किन्तु 'भट्टनायक' के द्वारा आविष्कृत प्रक्रिया का खण्डन करते हुए काव्यप्रकाशकार भट्टमम्मट ने 'अभिनवगुप्तपाद' के 'अभिव्यक्तिवाद' को ही सिद्धान्त के रूप में निश्चित किया है।

'अभिनवगुप्तपाद' के मतानुसार 'सामाजिक' में रसकी अभिव्यक्ति होती है। इनके मत में 'रस' की स्थिति, तटस्थ (राम या नट) में नहीं है, अपितु 'आत्मगत' यानी 'सामाजिक' में उसकी स्थिति मानी गई है। और उस स्थिति को 'उत्पत्तिरूप या अनुमितिरूप' न मानकर 'अभिव्यक्ति' के रूप में माना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थात् सामाजिक में 'रस' की अभिव्यक्ति होती है। यह अभिनवगुप्तपाद का सिद्धान्त है।

किन्तु भट्टनायक उक्त 'अभिव्यक्तिवाद' के सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नहीं है। उसे न मानने में भट्टनायक अपना 'तर्क' देते हैं कि 'पहले से विद्यमान रहनेवाली वस्तु की ही अभिव्यक्ति हमेशा हुआ करती है।' किन्तु 'रस' तो अनुभूति रूप है। अनुभूतिकाल से पहले या पीछे उसकी सत्ता ही नहीं है। 'अभिव्यज्यमान (अभिव्यक्त होनेवाली) वस्तु' का अस्तित्व (सत्ता), अभिव्यक्ति के पूर्व भी रहता है और पश्चात् भी रहता है। परन्तु 'रस' की स्थिति ऐसी नहीं है। वह (रस) तो अनुभूतिकाल में ही रहता है। 'अनुभूतिकाल के पूर्व' या 'पश्चात्' नहीं। अतः 'रस' की अभिव्यक्ति का सिद्धान्त ठीक नहीं है। इसी अभिप्राय से 'आत्मगतत्वेन नाभिव्यज्यते' कहा है। 'आत्मगत' का अर्थ है—सामाजिकगत।

इस रीति से 'भट्टनायक' ने उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद और अभिव्यक्तिवाद तीनों का निरसन कर अपने 'भुक्तिवाद' सिद्धान्त को उपस्थित किया है। भट्टनायक ने अपने 'भुक्तिवाद' के सिद्धान्त को बताने के लिए 'शब्द की अभिधा और लक्षणा शक्ति के अतिरिक्त 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' नामक दो नवीन शक्तियों (व्यापारों) की अधिक कल्पना की है। इन नवीन 'दो शक्तियों' की अधिक कल्पना करने का प्रयोजन यह है कि 'काव्य के शब्दों' द्वारा जो 'अर्थ' अभिधा-शक्ति की सहायता से बताया जाता है, वह तो 'व्यक्तिविशेष' से ही सम्बद्ध रहता है। 'व्यक्तिविशेष' से सम्बद्ध रहने के कारण 'सामाजिक' के लिए उसका कोई उपयोग नहीं। अतः अभिधा या लक्षणाशक्ति से उपस्थित किये गये अर्थ को 'सामाजिक' के उपयुक्त बनाने के लिए 'भावकत्व' व्यापार की कल्पना की गई है। वह 'भावकत्वव्यापार' उस उपस्थित हुए अर्थ में परिष्कार कर देता है। परिष्कृत होने पर 'वही अर्थ' सामाजिक के उपभोग लेने योग्य हो जाता है। 'शब्द' का यह भावकत्व व्यापार, 'उपस्थित हुए अर्थ' में से 'व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध' को हटाकर उसे 'सर्वसाधारण से सम्बद्ध' करा देता है। सर्वसाधारण से सम्बन्ध जोड़ देना ही 'साधारणीकरण' है। यह 'साधारणीकरण' ही अर्थ में परिष्काररूप है। इस कार्य को यह 'भावकत्व' व्यापार ही कर पाता है। 'साधारणीकरण' होने पर सामाजिक का 'उस अर्थ' (कहानी) के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है। और 'अपने संस्कार' के अनुसार सामाजिक स्वयं अपने को उस कहानी का एक पात्र समझने लग जाता है। यह सब भावकत्वव्यापार के बल पर सम्पन्न होता है।

तदनन्तर यानी 'साधारणीकरण' होने के अनन्तर 'शब्द' का जो तृतीय व्यापार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अभिनवगुप्तस्य मतम्)

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्य्यैर्ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैर-

---

'भोजकत्व' है, वह सामाजिक को 'रस' का साक्षात्कार (भोग) करा देता है। यह भट्टनायक का 'भुक्ति' सिद्धान्त है। एवञ्च भट्टनायक ने शब्द के 'अभिधा, लक्षणा' के अतिरिक्त 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' इन दो नवीन व्यापारों की कल्पना की है। और उसी से 'सामाजिक' को 'रस' की अनुभूति का होना बताया है।

भट्टनायक के इस भुक्तिवाद में सांख्यसिद्धान्त का अनुसरण—

भट्टनायक को 'सांख्यमतानुयायी' माना जाता है। सांख्यशास्त्र ने सुख-दुःखादि' को अन्तःकरण के 'धर्म' कहा है। वे 'आत्मा' के धर्म नहीं हैं। तथापि 'पुरुष' (आत्मा) का 'अन्तःकरण' के साथ सम्बन्ध रहने से उनकी औपाधिक प्रतीति 'पुरुष' (आत्मा) में होती है। उसी प्रकार सामाजिक में न रहते हुए भी 'रस' का उपभोग उसे होता है। सांख्यसिद्धान्त की इसी समानता के आधार पर भट्टनायक को 'सांख्यमतानुयायी' कहा गया है।

भट्टनायक के मत में अरुचि—

सामाजिक में 'रसानुभूति के उपपादनार्थ' इन्होंने शब्द के 'दो नवीन व्यापारों' (भावकत्व, भोजकत्व) की कल्पना की है, जो लोकप्रसिद्ध नहीं है। लोक में तो 'अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना' व्यापार 'शब्द' के प्रसिद्ध हैं। तथा जिस 'रति आदि स्थायिभाव' का 'भोग' बताया है, वह 'अनुकार्यगत स्थायिभाव' का है या 'अनुकर्तृगत स्थायिभाव' का है? इसे स्पष्ट नहीं किया है। एवं च काल्पनिक 'भोजकत्व' व्यापार पर यह सिद्धान्त आश्रित होने से अरुचिकर प्रतीत होता है।

अभिनवगुप्तपाद का अभिव्यक्तिवाद—

लोके प्रमदादिभिरिति। लोकव्यवहार में 'प्रमदा आदि' (विभावादि) से स्थायी भाव (प्रमदा आदि में स्थित रति) का अनुमान करते रहने से कुशल हुए सहृदय सामाजिकों का 'काव्य तथा नाटक' में 'कारणत्व आदि' का परित्याग कर विभावन आदि व्यापार से युक्त होने के कारण 'अलौकिक विभावादि शब्दों' से व्यवहार्य होने वाले 'उन्हीं से' 'ये मेरे ही हैं' या 'शत्रु के ही हैं' या 'तटस्थ के ही हैं' अथवा 'ये न मेरे ही हैं' 'न शत्रु के ही हैं' और 'न तटस्थ के ही हैं' इस प्रकार के 'सम्बन्धविशेष का स्वीकार अथवा परिहार' करने के नियम का निश्चय न होने से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसंपर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः ।

'साधारण रूप से' प्रतीत होने वाले उन 'विभावादिकों' से ही अभिव्यक्त होने वाला और 'दर्शकसामाजिकों' में वासना (संस्कार) रूप से विद्यमान रति आदि स्थायी भाव, 'नियत प्रमाता' (एक विशिष्ट सामाजिक) में स्थित होने पर भी 'व्यक्तिविशेष' के सम्बन्ध के बिना प्रतीत होने 'विभावादिसाधारणोपाय' के बल से उसी रसानुभव के समय में 'परिमित प्रमातृभाव' के नष्ट हो जाने से 'वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य' और 'अपरिमित प्रमातृभाव के' उदित हो जाने से 'सामाजिक' के द्वारा 'समस्त सामाजिकों' के हृदयों के साथ समानरूप से 'अपनी आत्मा के समान आस्वाद' से अभिन्न होने पर भी 'आस्वाद' का विषय बनकर 'आस्वादमात्रस्वरूप' (चर्व्यमाणतैकप्राण), 'विभावादि की स्थितिपर्यन्त' ही रहने वाला, 'पानकरस' के समान आस्वाद्यमान, 'साक्षात् प्रतीत होता हुआ-सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ-सा, समस्त अंगों का आलिङ्गन करता हुआ-सा, अन्य सब को तिरोभूत करता हुआ-सा, ब्रह्मसाक्षात्कार का अनुभव कराता हुआ-सा अलौकिक आनन्द को देनेवाला (चमत्कारकारी) शृङ्गार आदि 'रस' कहलाता है।' यह अभिनवगुप्तपाद का मत है। इसी मत (अभिव्यक्तिवाद) को सभी आलङ्कारिक विद्वानों ने सिद्धान्त के रूप में स्वीकृत किया है।

विशेष विवरण—लोकव्यवहार में रति के 'कारण-कार्य-सहकारिकारणस्वरूप' प्रमदा-उद्यान-कटाक्ष-निर्वेद आदि को देखते रहने से बार-बार 'रति' का अनुमान होता रहता है। अनेक बार अनुमित हुई रति के 'संस्कार' रसिकों के हृदयों में बनते जाते हैं। कुछ समय के पश्चात् किसी काव्य में या नाट्य में व्यभिचारिभावों का प्रदर्शन कवि या नट के द्वारा रामादि व्यक्ति-विशेष से सम्बन्धित 'रति' के—'कारण-कार्य-सहकारिकारण' स्वरूप विभाव-अनुभाव किये जाने पर भी पूर्वोक्त 'भावकत्व' व्यापार से 'राम-सीतादिव्यक्तिविशेषों के' संबन्ध को भुलाकर 'रति' के कारणरूप साधारण स्त्रीत्व आदि के रूप में वे 'विभावादि' प्रतीत होते रहते हैं। इस प्रकार सर्वसाधारण जनसम्बन्धित हुए 'विभावादि' के द्वारा 'रसिक सामाजिकों' के हृदय पर पैदा हुए 'संस्कारों' के रूप में अवस्थित 'रति' ही 'व्यञ्जना' व्यापार के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वारा अभिव्यक्ति' को प्राप्त होती है। अभिव्यक्त होने पर 'वह' सामाजिकों के आस्वादन-योग्य बन जाती है। इसी आस्वाद को रसनिष्पत्ति कहते हैं।

'अभ्यासपाटववतां' का आगे आनेवाले 'सामाजिकानाम्' से अन्वय करना चाहिये। अनुमान का आकार इस प्रकार होगा—'अयम् एतद्विषयकरत्यादिमान् रत्यादिकार्यरूपकटाक्षादिरत्यादिसहकारिरूपनिर्वेदादिमत्त्वात्, यो नैवं स नैवं यथा विरक्तादिः।' इति। निष्कर्ष यह है कि 'रसिक' ही रसास्वाद के योग्य होते हैं। 'यति आदि विरक्त' नहीं। क्योंकि 'वह' तो रसिकों के ही हृदय में 'संस्कार रूप' में (सूक्ष्म रूप से) पहले से ही स्थित रहता है, 'काव्य-नाटकादि के समय' तो 'साधारणीकृत विभावादि'कों से तो 'उसका' आविर्भाव मात्र होता है। अत एव यह कहा जाता है कि 'सवासनानां नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत्। निर्वासनास्तु रङ्गान्तर्वेश्मकुड्याश्मसन्निभाः॥'

शंका—'रति' के आस्वाद को ही जब 'रस' संज्ञा दी जाती है, तो 'रस का आस्वाद'–(रसस्य आस्वादः) यह व्यवहार कैसे किया जाता है? क्योंकि 'आस्वाद' और 'आस्वाद्य' दोनों में भेद (वैलक्षण्य) सर्वानुभव सिद्ध है।

समाधान—'स्वाकार इव अभिन्नः'—'स्व' शब्द से 'ज्ञान' का ग्रहण किया गया है। उस ज्ञान का 'आकार विशेष' ही 'विषय' कहलाता है। 'विषय' कोई ज्ञान से अन्य (भिन्न) नहीं है, ऐसा योगाचार बौद्ध ने कहा है। उसके मत में 'ज्ञान स्वरूप' जो विषय है, वही 'ज्ञेय' माना जाता है। उसी तरह रस के आनन्दात्मक और आस्वादरूप रहने पर भी उसके आस्वाद्य कहलाने में कोई विरोध नहीं है। 'ब्रह्मास्वादमिव अनुभावयन्' 'ब्रह्मास्वाद' के समान अपने आस्वाद का अनुभव कराता हुआ। ब्रह्मास्वाद (मुक्तिदशा) में 'ब्रह्ममात्र' प्रकाशित रहता है, किन्तु रसास्वाद में 'विभावादि' भी प्रकाशित रहते हैं, यही समानता (सादृश्य) है। दोनों में भेद रहने पर ही 'सादृश्य' बताया जा सकता है। क्योंकि 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वं सादृश्यम्' यह 'सादृश्य' का लक्षण है। अतः 'ब्रह्मैव रसः' 'रसो वै सः' इस 'श्रुति' के आपाततः दर्शन कर, 'रस' को ब्रह्मरूप कह देना या समझना उचित नहीं है। अन्यथा 'दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिक भाव' की अनुपपत्ति होगी। 'वह आत्मा रस है' अर्थात् रसपदवाच्य है—इतना ही श्रुति का अर्थ है। एवं च ब्रह्मसहोदर रस के आविर्भाव का प्रकार प्रदर्शित कर [illegible]ताने का प्रयत्न किया है कि ब्रह्मावबोध (ब्रह्मज्ञान) भी 'अधिकारी-[illegible] को सामग्री-विशेष के समीप रहने पर 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्य [illegible]थवा सद्गुरूपदिष्टवाक्य में स्थित 'व्यञ्जना' के द्वारा ही होता है'''ऐसा सुधा[illegible]कार का कथन है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिनवगुप्तपाद के अभिव्यक्तिवाद का स्वरूप—

अभिनवगुप्तपाद ने अपने पूर्ववर्ती ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन के 'सिद्धान्त' का अनुसरण कर 'अभिव्यक्तिवाद' की स्थापना की है। इस वाद (सिद्धान्त) के आधार पर 'सामाजिक सहृदय' में 'रसानुभूति' का निमित्त प्राप्त हो जाता है। वह निमित्त 'अन्य कुछ न होकर' सामाजिक के हृदय में सूक्ष्मरूप से स्थित रति आदि स्थायी भाव के संस्कार ही, रसानुभूति के निमित्त हैं। सामाजिकों की 'आत्मा' में संस्कार के रूपमें स्थित रहने वाला 'रति आदि स्थायी भाव' ही 'साधारणीकरण को प्राप्त हुए विभावादिकों' से अभिव्यक्त हो जाता है। और तन्मयीभाव हो जाने से 'वेद्यान्तर के सम्बन्ध से रहित' ब्रह्मास्वाद के सदृश 'परम आनन्द' के रूप में अनुभूत होने लगता है।

इस अभिव्यक्तिवाद में 'भट्टनायक' के समान व्यापारों की कल्पना नहीं की गई है। 'नायक' के कल्पित 'भावकत्व' व्यापार के स्थान पर 'सर्वानुभवसिद्ध साधारणीकरण व्यापार' और कल्पित 'भोग' व्यापार के स्थानपर 'सर्वप्रसिद्ध व्यञ्जना व्यापार' को बताया है। इस मत में अप्रसिद्ध कल्पना के लिए अवकाश नहीं दिया गया है।

काव्यप्रकाशकार ने अपने 'काव्यप्रकाश' में रसोत्पत्ति से सम्बन्धित जिन चार मतों की चर्चा की है, वे 'चारों मत' मूलतः नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनवभारती के हैं। वहीं से मम्मटभट्ट ने इनका संग्रह किया है। 'अभिनवभारती' में बड़े विस्तार से 'समस्त मतों' को बताकर अन्त में अभिव्यक्तिवाद को सिद्धान्त के रूप में बताया है। और 'सामाजिक' को होनेवाली 'रसानुभूति की प्रक्रिया' को स्पष्ट किया है। सामाजिक की रसानुभूति के उपपादन में अवशिष्ट तीनों मत सफल नहीं हो पाये हैं। इन मतों के 'उपपादन' तथा 'खण्डन' का क्रम भी अभिनवगुप्तपाद ने अपनी आलोचक दृष्टि से रखा है। इन मतों में 'पहला मत' भट्टलोल्लट का है। इसमें सामाजिक के रसानुभूति की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया है। अतः सर्वप्रथम उसका खण्डन कर, उसे अनुपादेय सिद्ध किया। तदनन्तर श्रीशंकुक के 'अनुमितिवाद' में सामाजिक की रसानुभूति को 'अनुमितिरूप' बताया गया है। वह 'रसानुभूति' साक्षात्कारात्मक नहीं है। अतः अनुपादेय होने से उसे द्वितीय स्थान में रखा। तदनन्तर भट्टनायक ने 'सामाजिक' को 'रस का साक्षात्कार' होने की प्रक्रिया का उपपादन तो किया है, फिर भी उसमें 'ऋजुमार्ग का अनुसरण' न होने से वह भी अनुपादेय कोटि में ही रहा। तथापि 'सिद्धान्त' के समीप पहुँचने के कारण उसे तृतीय स्थान में रखकर उसका निराकरण किया गया है। 'नायक' को 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' इन दो नवीन शब्दव्यापारों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स च न कार्यः विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गाद् नापि ज्ञाप्यः सिद्धस्य तस्यासम्भवात्, अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत् न, क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकत्वसिद्धेर्भूषणमेतन्न

की कल्पना करनी पड़ रही है। इसलिए उसे अनुपादेय बताकर अभिनवगुप्तपाद ने स्वाभाविक सरल प्रक्रिया के द्वारा 'सामाजिक के रससाक्षात्कार' का उपपादन कर दिया है, जो सिद्धान्त के रूप में सर्वविद्वन्मान्य हो गया है। क्योंकि 'विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभाव' तो सर्वमान्य ही हैं, उनके 'विभावन-अनुभावन-व्यभिचारण' व्यापार भी प्रसिद्ध ही हैं। इनमें कोई भी कल्पित, नवीन, अप्रसिद्ध नहीं है। 'रति' आदि भावों को 'आस्वादयोग्यरूप' प्रदान करना ही 'विभावन' व्यापार है—'रत्यादीनाम् आस्वादयोग्यतानयनरूपाविर्भावनं विभावनम्' कहा गया है। तथा आस्वाद के योग्य 'रति आदि भावों' को अनुभव का विषय बनाना 'अनुभावन' व्यापार है—'अनुभवविषयीकरणम् अनुभावनम्' कहा गया है। उसी प्रकार 'शरीर में रति आदि के प्रभाव का सञ्चारण' 'व्यभिचारण' व्यापार है—'काये विशेषेण अभितः रत्यादीनां सञ्चारणं व्यभिचारणम्' कहा गया है। इस मत में 'वासना' अथवा 'संस्कार' के रूप में रत्यादिस्थायिभाव 'सामाजिक' की आत्मा में स्थित है। वही, साधारणीकृत हुए विभावादिक उपायों से 'अभिव्यक्त' हो जाता है। अर्थात् सामाजिकगत स्थायी भाव ही 'रसानुभूति के होने' में निमित्त है। अब ग्रन्थकार 'रस की अलौकिकता' को बता रहे हैं।

स चेति। और वह रस 'कार्यरूप' नहीं है। यदि उसे 'कार्यरूप' कहें तो 'विभावादि निमित्त कारणों' का नाश हो जाने पर भी 'रस' की स्थिति माननी पड़ेगी। जैसे कुंभकार की मृत्यु हो जाने पर भी उससे निर्मित 'कार्यरूप घट' की स्थिति रहती है। किन्तु यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है। विभावादि निमित्त कारणों के नष्ट होने पर 'रस' की प्रतीति नहीं होती। इसलिए 'रस' को कार्यरूप नहीं कह सकते। उसी प्रकार वह 'ज्ञाप्य' भी नहीं है। क्योंकि वह अपने अनुभव होने के पूर्व विद्यमान नहीं है। वह तो 'विभाव आदि' से व्यञ्जित और चर्वणीय (आस्वाद के योग्य) है, यानी 'आस्वादकाल में' ही वह विद्यमान रहता है।

शंका—आपका उपर्युक्त कथन परस्पर विरुद्ध-सा प्रतीत हो रहा है। क्योंकि एक ओर तो आप बता रहे हैं कि रस न 'कार्य' है और न 'ज्ञाप्य' है। दूसरी ओर आप कह रहे हैं कि 'रस' विभावादि से व्यञ्जित होकर आस्वाद्य होता है। ये दोनों परस्पर विरुद्ध बातें एक में संगत नहीं हो सकतीं।

संसार में दो ही प्रकार के 'हेतु' दिखाई देते हैं—एक 'कारक' हेतु और दूसरे 'ज्ञापक' हेतु। इनके अतिरिक्त 'व्यञ्जक' आदि 'हेतु' को आपने कहाँ देखा है?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूषणम् । चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणताटस्थ्याजबोधशालिमितयोगिज्ञानवेद्यांतरसंस्पर्शरहित-स्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षणलोकोत्तरस्वसंवेदनगोचर

समा०—ठीक है। 'कारक' और 'ज्ञापक' हेतुओं के अतिरिक्त तीसरे प्रकार का कोई हेतु नहीं देखा जाता है। तीसरे प्रकार के किसी 'हेतु' का उपलब्ध न होना, और 'उपलब्धि के योग्य' दोनों प्रकार के हेतुओं का 'रस' में न बन पाना यह तो 'उसकी' अलौकिकता की सिद्धि में 'भूषण' ही है, 'दूषण' नहीं है। एवं च 'रस' न कार्य है और न ज्ञाप्य है। वह तो अलौकिक है।

रस की अलौकिकता में एक अन्य युक्ति—

विशेष विवरण—'रस' को 'कार्य' न मानने पर उसका कोई 'कारक' हेतु नहीं है—यह स्पष्ट हो जाता है। उसी प्रकार 'रस' को 'ज्ञाप्य' न मानने पर उसका कोई 'ज्ञापक' हेतु नहीं है—यह भी स्पष्ट हो जाता है। 'कारक और ज्ञापक' इन द्विविध हेतुओं के अतिरिक्त कोई 'तीसरे प्रकार का हेतु' आज तक किसी ने सुना नहीं है। ऐसी स्थिति में 'विभावादिकों' को 'रस' का 'व्यञ्जक हेतु' कैसे कहा जायगा? क्योंकि 'तीसरे प्रकार का' हेतु कोई है ही नहीं। तब ग्रन्थकार मम्मटभट्ट कहते हैं कि इसीलिए तो हम 'रस' को अलौकिक कहते हैं। संसार में 'कारक और ज्ञापक' ये द्विविध लौकिक हेतु ही सर्वत्र उपलब्ध होते हैं। किन्तु 'विभावादि' जो रस के व्यञ्जक हैं, वे उक्त 'दोनों हेतुओं' से विलक्षण हैं। इसीलिए इन 'विभावादिकों' को अलौकिक कहा जाता है। अतः 'रस' को 'अलौकिक बताना' उचित ही है। एवं च 'रस' न कार्य है और न ज्ञाप्य है—इस कथन से 'रस का अलौकिक' होना सिद्ध होता है। तथा 'रस' का हेतु न 'कारक' हेतु है और न 'ज्ञापक' हेतु ही है—यह कथन 'हेतु' की अलौकिकता को सिद्ध कर रहा है। एवं च 'हेतु' की अलौकिकता से भी 'रस' की अलौकिकता सिद्ध की गई है।

चर्वणानिष्पत्त्येति। चर्वणा को निष्पत्ति यानी आस्वाद की उत्पत्ति होने से (उस) रस की उत्पत्ति को भी उपचार (लक्षणा) से कह सकते हैं। इसीलिए 'रसः उत्पद्यते' रस उत्पन्न होता है—यह व्यवहार होता रहता है। अतएव 'उपचारात्मकलक्षणा' के सहारे 'रस' को 'कार्य' भी कह सकते हैं।

लौकिकेति। तथा (१) लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण से भिन्न और (२) प्रमाणताटस्थ्य यानी प्रमाणों की सहायता लिए बिना ही होनेवाले 'मितयोगिज्ञान' यानी युञ्जानयोगी के ज्ञान से भिन्न एवं (३) वेद्यान्तर के संस्पर्श से रहित, स्वात्म-साक्षात्कारमात्र में पर्यवसित, तथा परिमित से भिन्न जो युक्त योगी, उनके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति प्रत्ययोऽप्यभिधीयताम्। तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवे-

---

ज्ञान से भी भिन्न लोकोत्तर स्वानुभूति का वह (रस) विषय बनता है। इसलिए 'रस' को उपचार (लक्षणा) से 'ज्ञेय' भी कह सकते हैं।

विशेष विवरण—मूलग्रन्थ की पङ्क्ति 'लौकिक प्रत्यक्षादि............... स्वसंवेदनगोचरः' क्लिष्ट है। अतः उसे अच्छी तरह समझना चाहिए। यहाँ पर एक ही वाक्य के तीन अंश हैं—(१) 'लौकिकप्रत्यक्षादि' (२) 'प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालिमितयोगिज्ञान' और (३) 'वेद्यान्तरसंस्पर्शरहितस्वात्ममात्रपर्यवसितपरिमितेतरयोगिसंवेदन' इन तीनों अंशों से यह बताया गया है कि 'रस' की प्रतीति उक्त 'त्रिविध साक्षात्कारात्मक ज्ञान' से विलक्षण है। 'रस' की अलौकिकता को सिद्ध करने में यह भी एक प्रमाण है।

लोकव्यवहार में जितने भी पदार्थ (वस्तुएँ) हैं, उनके वर्ग दो ही हो सकते हैं—(१) 'कार्य' या (२) 'ज्ञाप्य'। किन्तु 'रस' की गणना उक्त दोनों वर्गों में से किसी वर्ग में नहीं हो रही है। अतः उसे अलौकिक ही कहा जा सकता है।

उसकी अलौकिकता में दूसरी युक्ति यह भी है कि हम 'प्रत्यक्ष' ज्ञान को तीन वर्गों में बाँट सकते हैं—(१) हम लोगों का प्रत्यक्ष अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष, (२) मितयोगी का प्रत्यक्ष यानी सविकल्पक समाधि तक पहुँचे हुए 'युञ्जानयोगी' का प्रत्यक्ष, (३) मितयोगी से इतर यानी भिन्न योगी का प्रत्यक्ष यानी निर्विकल्पक समाधि तक पहुँचे हुए 'युक्तयोगी' का प्रत्यक्ष।

इन तीन प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञानों में से हम लोगों का साक्षात्कारात्मक 'ज्ञान' 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों' की सहायता से हुआ करता है, और मितयोगियों का ज्ञान 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों' की सहायता के बिना यानी प्रमाण-ताटस्थ्यपूर्वक अपने योगज सामर्थ्य से ही हो जाता है। और 'मितेतरयोगी' अर्थात् 'युक्तयोगी' का 'ज्ञान' 'वेद्यान्तर के स्पर्श से शून्य' रहकर केवल 'आत्मानुभवमात्र' होता है।

किन्तु 'रस' की अनुभूति इन तीनों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण ही है। अर्थात् न वह अस्मदादिकों के प्रत्यक्ष के तुल्य है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उसकी साक्षात्कारात्मक अनुभूति नहीं है। और न वह प्रमाणताटस्थ्यवाले मितयोगी (युञ्जानयोगी) के ज्ञान के तुल्य है। उसी तरह युक्तयोगी के आत्मानुभवमात्र के तुल्य ही न उसे कह सकते हैं। एवं च तीनों प्रकार के प्रत्यक्षात्मक अनुभवों से 'विलक्षण' होने के कारण उसे 'अलौकिक' ही कहना होगा।

तद्ग्राहकमिति। 'रस' की अनुभूति में 'विभावादि के परामर्श' को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दनसिद्धत्वात् । उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः ।

प्रधानता रहती है । इसलिए 'निर्विकल्पक ज्ञान' (निर्विकल्पक प्रत्यक्ष) को उसका ग्राहक नहीं कह सकते । तथा आस्वाद्यमान, अलौकिक आनन्दमय जो 'रस' है, वह तो स्वसंवेदनसिद्ध है । इसलिए 'सविकल्पक ज्ञान' (सविकल्पक प्रत्यक्ष) भी उसका ग्राहक नहीं कहा जा सकता । अतः उसकी (रस की) 'उभयाभाव-स्वरूपता' (निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों से भिन्नता) के कारण और उसकी 'उभयात्मकता' के कारण भी—('विरुद्धयोरेकतरनिषेधेऽपरस्मिन् पर्यवसानम्' इस नियम के अनुसार उसके 'सविकल्पत्व' का निषेध करने पर उसका 'निर्वि-कल्पकत्व' अपने आप सिद्ध हो जाता है । उसी तरह 'निर्विकल्पकत्व' का निषेध करने पर उसका 'सविकल्पकत्व' भी अपने आप सिद्ध हो जाता है । इस तरह उसकी 'उभयात्मकता' समझनी चाहिये)—उसकी अलौकिकता ही पूर्व की तरह बोधित होती है । उससे विरोध का बोधन नहीं किया गया है । इस प्रकार श्रीमान् अभिनवगुप्तपाद का सिद्धान्त है ।

रस की अलौकिकता में एक और युक्ति बता रहे हैं—

विशेष विवरण—पहले यह बता चुके हैं कि 'रस' न कार्य है और न 'ज्ञाप्य' है । अतएव उसका न कोई कारक हेतु है और न ज्ञापक हेतु ही है । अतः उसका हेतु भी अलौकिक ही है । अब अभिनवगुप्तपाद ने 'रस' की अलौकिकता को सिद्ध करने के लिए यह बताया है कि 'रस' का ज्ञान न निर्विकल्पक से होता है और न सविकल्पक से ही होता है । इसलिए भी वह अलौकिक है । जिस ज्ञान में पदार्थ के स्वरूप के अतिरिक्त उसके 'नाम, जाति आदि' का भी ज्ञान होता है, उसे 'सविकल्पक ज्ञान' कहते हैं । अर्थात् 'नाम-जात्यादि-योजना-सहितं ज्ञानं सविकल्पकम्'—यह 'सविकल्पक ज्ञान' का स्वरूप है । जैसे—'घट-पटादि' के ज्ञान में उनके स्वरूप के साथ 'नाम-जाति आदि' की प्रतीति होती है । अतः 'घट-पट' आदि ज्ञान, 'सविकल्पक ज्ञान' कहलाते हैं । वह 'शब्द-व्यवहार' का विषय होता है । किन्तु 'रसानुभूति' केवल स्व-संवेदनमात्र होती है । वह 'शब्दव्यवहार' का विषय नहीं हुआ करती । अर्थात् 'मिठास' की तरह उसे 'शब्द' से बताया नहीं जा सकता । इसलिए उसमें 'नाम-जात्यादि' के भान का कोई अवसर ही नहीं है । अतः 'रस' को सविकल्पक ज्ञान का विषय नहीं कह सकते ।

यदि 'रस' को 'निर्विकल्पक ज्ञान' का विषय कहें तो वह भी नहीं कह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(रसनिष्पत्तौ विभावादीनां संभूयैव कारणत्वम्)

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुत-रौद्राणाम् , अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुण-भयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीर-करुण-भयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः ।

सकते । 'निर्विकल्पक ज्ञान' उसे कहते हैं कि जो ज्ञान, 'नाम, जाति, विशेषण-विशेष्यभाव' से रहित रहता है । 'नाम-रूप-जात्यादिविशेषशून्यं ज्ञानं निर्विकल्पकम्'—यह 'निर्विकल्पक ज्ञान' का स्वरूप है । इसके विपरीत जो ज्ञान है, उसे 'सविकल्पक' बताया गया है । 'निर्विकल्पक ज्ञान' तो केवल 'वस्तुमात्र' को विषय करता है। उसको 'बाल-मूकादिविज्ञान-सदृशं निर्विकल्पकम्' से बताते हैं । बालक को जो ज्ञान होता है, वह बड़े आदमी के समान ही होता है। अन्तर इतना ही है कि बड़ा आदमी उसे अच्छी तरह बता पाता है, और बालक उसे बता नहीं पाता । एवं च 'बालक का ज्ञान' नाम-जाति आदि की योजना से रहित होने के कारण 'निर्विकल्पक ज्ञान' है। और 'बड़े आदमी का ज्ञान' सविकल्पक कहलाता है । 'बड़े आदि का भी ज्ञान' प्रथम क्षण में 'निर्विकल्पक' ही होता है, किन्तु शब्दव्यवहार में आने के कारण वह तुरन्त 'सविकल्पक ज्ञान' में परिणत हो जाता है । इसलिए उसका 'निर्विकल्पकस्वरूप' अनुभव में नहीं आ पाता । किन्तु 'रस' की जब प्रतीति होती है, तब 'विभावादिकों' के परामर्श (सम्बन्ध) की भी प्रतीति होती रहती है । इस प्रकार 'समूहालम्बनात्मक ज्ञान' होने से 'रस' का ग्राहक निर्विकल्पक ज्ञान नहीं हो सकता। और न सविकल्पक ज्ञान ही उसका ग्राहक हो सकता है, क्योंकि अलौकिक आनन्दमय आस्वाद्यमान वह रस तो 'ब्रह्म' के समान स्व-प्रकाशरूप है । संसार में 'संवेदन' (ज्ञान) दो ही प्रकार का होता है—एक 'निर्विकल्पक' और दूसरा 'सविकल्पक' । तीसरा प्रकार और कोई भी नहीं है । अतः 'दोनों ज्ञानों' से ग्राह्य न हो सकना भी 'रस' की अलौकिकता को सिद्ध कर रहा है ।

रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में 'अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्तपाद' ने बहुत विस्तृत चर्चा की है । उसी को सारग्राही संक्षेप के द्वारा काव्यप्रकाशकार मम्मट-भट्ट ने यहाँ पर उपस्थित कर दिया है । 'अभिनवगुप्तपाद' के द्वारा किये गये 'रसनिष्पत्ति' के सिद्धान्त को ही मम्मटभट्ट ने स्वीकार किया है ।

रस सूत्र में विभावादिकों का सम्मिलित निर्देश करने में हेतु—

शंका—सूत्रकार भरतमुनि ने प्रत्येक रस के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव को अलग-अलग क्यों नहीं बताया ?

समा०—व्याघ्रादय इति । 'व्याघ्रादि विभाव' भयानक रस के समान वीर,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(उद्दीपनविभावमात्रेणैव रसाभिव्यक्तिः)

वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥ २७ ॥

इत्यादौ।

अद्भुत और रौद्र रस के भी हो सकते हैं। 'अश्रुपातादि अनुभाव' शृङ्गार रस के समान करुण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं। 'चिन्ता आदि व्यभिचारिभाव' शृङ्गार के समान वीर, करुण और भयानक रस के भी हो सकते हैं। इसलिए किसी 'एक ही रस' के साथ उनका रहना निश्चित न होने से अर्थात् उनकी स्थिति अनैकान्तिक होने से सूत्रकार ने उनका निर्देश सम्मिलित रूप से ही कर दिया है।

शंका—सूत्रकार भरत ने रसनिष्पत्ति में विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभावों की कारणता (हेतुता) सम्मिलित रूप से बताई है। किन्तु जहाँ इन तीनों का सम्मिलित वर्णन न हो, बल्कि किसी एक का या किन्हीं दो का ही वर्णन हो, वहाँ रसनिष्पत्ति कैसे होगी ? इस शंका को प्रकट करने के लिए ही काव्यप्रकाशकार ने तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

(१) पहले उदाहरण में केवल 'मुग्धा नायिकारूप' 'आलम्बन' और 'वर्षाकालरूप' 'उद्दीपन विभाव' का ही वर्णन किया गया है। किसी मानिनी नायिका से उसकी सखी कह रही है—

वियदिति। हे मुग्धे ! आकाश, भ्रमरतुल्य श्यामल और नीर (जल) भरे हुए मेघों से आच्छादित हो रहा है, तथा भ्रमर एवं कोकिल के कूजन से दिशाएँ सुशोभित हो रही हैं, और पृथिवी, पत्थर काटने वाली लोहे की टाँकियों के समान नवीन अंकुरों वाली हो रही है। इसलिए अपने प्रियतम के प्रणाम करने पर, उस पर प्रसन्न हो जाओ। यानी अपने हठ को छोड़ दो। (क्योंकि उपस्थित हुए वर्षाकाल में तुम्हारा मान अधिक देर तक टिकने वाला नहीं है) ॥ २७ ॥

इत्यादाविति। इत्यादि पद्य में केवल 'मुग्धा दयितारूप आलम्बन विभाव' और 'वर्षाऋतु मेघरूप उद्दीपन विभाव' का ही वर्णन किया गया है। अवशिष्ट अनुभाव, व्यभिचारिभावों का आक्षेप से ज्ञान हो जाता है। 'मुग्धा' का अर्थ है विवेकरहिता।

विशेष विवरण—कवि ने वर्षाऋतु का वर्णन किया है। और भ्रमरों की गुंजार तथा कोयल का कूजन भी बता दिया है। किन्तु वर्षाऋतु में कोयल का कूजन सुनाई नहीं देता, इसलिए कतिपय व्याख्याकारों ने व्याख्या की है कि सखी ने अपनी सहेली मुग्धा नायिका को डराने के लिए ही कोयल के कूजन को भी बता दिया है। कुछ व्याख्याकारों ने 'मधुकरों पर' ही कोयल का आरोप कर दिया है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अनुभावमात्रेणैव रसाभिव्यक्तिः)

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु।
कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मीमभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥

इत्यादौ ।

'मधुकरा एव कोकिलाः मधुकरकोकिलाः'। 'वर्षास्वपि कोकिलामाद्यन्ति' वर्षाकाल में कोकिलाएँ भी उन्मत्त हो जाती हैं। इस वचन प्रसिद्धि के अनुसार वर्षाकाल में भी कोयल का कूजन बताना अनुचित नहीं है। यहाँ केवल विभावों का ही वर्णन किया गया है। 'अवहित्थ, वेगादि' अनुभावों का तथा 'रोमाञ्च-स्तंभादि' व्यभिचारि भावों का आक्षेप किया जाता है। तथापि रसानुभूति हो रही है।

(२) दूसरे उदाहरण में केवल 'अनुभावों' का वर्णन है। माधव, मकरन्द से मालती की अवस्था (अनुभावों) का वर्णन कर रहा है—

परिमृदितेति। उस मालती के शरीर के अंग-अंग, हाथों से मसली हुई बाल मृणालिनी के समान म्लान हो गये हैं, तथा शरीरमात्रधारणोपयोगी भोजनादि अनेक क्रियाओं में भी सखियों के द्वारा बार-बार प्रार्थना करने पर यथा-कथञ्चित् उसकी प्रवृत्ति होती है, अपनी इच्छा से नहीं। (इस कथन से आलस्यातिशय अथवा विषयों में वितृष्णता व्यक्त की गई है) और अभिनव हाथी के काटे गये दाँत के टुकड़े के समान सुन्दर (करिशिशु का दाँत कोमल होता है, अतः तत्क्षण रक्तसम्बन्ध होने से अलक्तक मिश्रित दूध के वर्ण का—यह अर्थ व्यक्त किया गया है। कुछ व्याख्याकार 'अभिनव' का सम्बन्ध 'च्छेद' के साथ करके अर्थ करते हैं कि 'अभिनव जो करिदन्तच्छेद, उसके समान सुन्दर—इस अर्थ से गौर-वर्ण का उत्कर्ष प्रकट किया गया है)—कपोल निष्कलंक यानी कलामात्रावशिष्ट चन्द्रमा की शोभा को धारण कर रहा है। (इस कथन से उसकी क्षामता व्यक्त की गई है) ॥ २८ ॥

इत्यादाविति। इत्यादि उदाहरण में केवल 'अंगम्लानि' आदि अनुभावों का वर्णन किया गया है। तथापि रसनिष्पत्ति हो रही है।

विशेष विवरण—'छिद्यते इति छेदः' यहाँ कर्मणि 'घञ्' किया है। 'मालती-माधव' नामक प्रकरण (नाटक के ही एक भेद) के प्रथम अंक में से यह उदाहरण दिया गया है। इसमें मालती की अवस्था (दशा) का वर्णन किया गया है। इस पद्य में 'परिमृदितः' इत्यादि से उसकी 'कामानलसन्तप्तता' को 'क्रियासु०' इत्यादि से 'आलस्यातिशय रूप और विषयवैतृष्ण्य रूप कामदशा को', 'कपोलः' इस एक वचन से 'एक करवट पर सोने से किञ्चिदवच्छेदेन रक्तता और किञ्चिद-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(व्यभिचारिभावमात्रेणैव रसाभिव्यक्तिः)

दूरादुत्सुकमागते विवलितं सम्भाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने किञ्चाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ २९ ॥

इत्यादौ च ।

वच्छेदेन पाण्डुता को' व्यक्त किया गया है। तथापि उसके सौन्दर्य में कोई कमी नहीं हुई है—यह भाव 'कान्त और लक्ष्मी' दो पदों से अभिव्यक्त किया गया है।

(३) अब तीसरे उदाहरण में केवल 'व्यभिचारिभावों' का वर्णन किया जा रहा है। अपराधी प्राणेश्वर के प्रति नायिका के नानाविध भावों को बता रहे हैं—

दूरादिति। दूर से नायक को आता हुआ देखकर नायिका की आँखें उत्सुकता से भर गईं, किन्तु समीप आने पर प्राणेश्वर ने मेरी उत्सुकता को कहीं भाँप तो नहीं लिया, इस लज्जा से अपनी आँखों को नीचे कर लिया। प्रणयालाप करने पर आँखें प्रसन्नता से खिल गईं। आलिंगन करने का यत्न करने पर क्रोध से लाल हो गईं। साड़ी का पल्ला पकड़ने पर भ्रुकुटियों को चढ़ा लिया। और उसके चरणों पर नायक जब नत हुआ, तब मानिनी नायिका की आँखें आँसुओं से भर गईं—इस प्रकार मानिनी नायिका अपने प्रियतम के द्वारा परस्त्री-संपर्करूप अपराध के करने पर नानाविध आकार धारण करने की प्रपञ्च-रचना में चतुर हो गई है ॥ २९ ॥

इत्यादाविति। इत्यादि उदाहृत पद्य में केवल 'औत्सुक्य आदि व्यभिचारि भावों' का वर्णन किया गया है।

विशेष विवरण—अपराधी नायक के 'दूर रहने पर' 'नायिका' के नेत्रों से औत्सुक्य झलकने लगा, और उसके 'समीप आने पर' नीचे झुकी आँखों में व्रीडा झलकने लगी, 'संभाषण करने पर' उसकी विकसित हुई आँखों से हर्ष झलकने लगा, 'आलिंगन का यत्न करने पर' लाल हुई आँखों से कोप झलकने लगा, 'आँचल पकड़ने पर' भ्रुकुटियों की वक्रिमा से आँखों में असूया का भाव प्रकट होने लगा, तदनन्तर नायक के प्रणाम करने पर 'नायिका के नेत्र, अश्रुपूर्ण होकर प्रसाद (प्रसन्नता) को सूचित करने लगे। कवि ने इस पद्य में औत्सुक्य, व्रीडा, हर्ष, कोप, असूया और प्रसाद आदि 'व्यभिचारि भावों' का ही वर्णन किया है। अवशिष्ट अन्य दो भावों का आक्षेप कर लिया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(विभावादीनां संभूयकारणत्वे व्यभिचाराभावः)

यद्यपि विभावानामनुभावानामौत्सुक्य-व्रीडा-हर्ष-कोपा-ऽसूया-प्रसादानां च व्यभिचारिणां केवलानामत्र स्थितिः, तथाऽप्येतेषामसाधारणत्वमित्यन्यतम-द्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति ।

(रसानां नाम्ना परिगणनम्)

तद्विशेषानाह—

(सू०४४) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ।२९।

यद्यपीति । यद्यपि उक्त तीनों उदाहरणों में क्रमशः 'विभावों' की, 'अनुभावों' की और 'औत्सुक्य, लज्जा, कोप, असूया और प्रसाद रूप व्यभिचारि भावों' की ही उपस्थिति प्रदर्शित की गई है । तथापि ये सब प्रकृत 'रति' के बोधन करने में असाधारण लिङ्ग (हेतु) हैं, उनसे ही 'अन्य दो' का आक्षेप हो जाता है । अतः 'विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभावादि तीनों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है'—इस सिद्धान्त का व्यभिचार नहीं हो रहा है ।

तदिति । उस (रस) के (आठ) भेदों का वर्णन करते हैं—

(सू० ४४) (१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स और (८) अद्भुत—नाट्य में (उक्त) आठ रस माने गये हैं ।। २९ ।।

रसों के विशेष-क्रम-निर्धारण पर विचार—

विशेष विवरण—काव्यप्रकाशकार ने भरतमुनि विरचित नाट्यशास्त्र की कारिका (अध्याय ६-१६) को उसी स्वरूप में ले लिया है । भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नाट्योपयुक्त आठ रसों का नामग्रहण पूर्वक क्रमशः कथन किया है । भरत के द्वारा रसों का क्रमशः कथन करने का रहस्य अभिनवगुप्तपाद ने अपनी 'अभिनव-भारती' में बताया है—'रति अथवा काम की उपलब्धि' केवल मनुष्यों में ही नहीं, अपितु 'कूकर-शूकर-कृमि-कीट-देव-दानवादि सभी जातियों' में होती है । सभी उसकी ओर आकर्षित होते हैं । इसलिए सर्वप्रथम स्थान 'शृंगार रस' को दिया है । उसका अनुसरण 'हास्य' करता है, इसलिए शृंगार के बाद द्वितीय स्थान 'हास्यरस' को दिया है । (शृंगार के दो भेद हैं—(१) संभोग शृंगार और (२) विप्रलंभ शृंगार । संभोग में नायक-नायिका का परस्पर सम्मिलन होता है । विप्रलंभ में दोनों को परस्पर मिलन की आशा रहती है) ।

'करुण' की स्थिति 'हास्य' के विपरीत है । इसलिए 'हास्य' के अनंतर करुण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रस को स्थान प्राप्त हुआ है। अपने अभीष्ट जन के वियोग या विनाश का भ्रम हो जाने पर करुणरस का आरंभ होता है, उसमें 'पुनर्मिलन' की आशा नहीं रहती। अतएव करुणरस में 'नैराश्य' भरा होने से उसे 'निरपेक्ष रस' कहते हैं। महाकवि भवभूति ने 'करुण रस' के निराशात्मक स्वरूप को 'तटस्थं नैराश्यात्' कहकर सूचित किया है। 'शृंगार' और 'हास्य' में आशामय सापेक्ष भाव रहता है, किन्तु उसके विपरीत 'नैराश्यमय निरपेक्षभाव' 'करुण' में रहता है। इसलिए 'शृंगार और तदनुगामी हास्यरस' के पश्चात् करुणरस को रखा गया है। 'करुण रस' का आरंभ मरण या विनाश के बाद होता है। 'विनाश या मरण' का सम्बन्ध रौद्ररस से है। अतः 'करुण' के अनन्तर रौद्ररस का स्थान रखा गया है। 'रौद्ररस' 'अर्थप्रधान' होता है। 'काम और अर्थ' दोनों 'धर्ममूलक' होते हैं। इसलिए 'रौद्र' के बाद 'वीररस' को स्थान दिया गया है। यह 'वीररस' 'धर्मप्रधान' होता है। 'भयभीतों' को अभय प्रदान करना वीररस का कार्य है। इसलिए 'वीर' के बाद उसके विरोधी भयानक रस को स्थान प्राप्त हुआ है। 'भयानक रस' के समान ही 'बीभत्स रस' के विभाव होते हैं, क्योंकि 'वीररस' के प्रभाव से ही बीभत्स के दृश्य सामने आते हैं। अतः 'भयानक' के बाद बीभत्स रस को स्थान दिया गया है। 'वीररस' के परिणामस्वरूप अद्भुत रस होता है इसीलिए कहा है कि 'पर्यन्ते कर्तव्यो नित्यं रसोऽद्भुतः' इति। अन्त में सदा 'अद्भुतरस' को स्थान देना चाहिये। इसलिए 'वीर' के अनन्तर ही अद्भुत को रखा गया है। तदनन्तर 'धर्म, अर्थ, काम' इस त्रिवर्ग के साधनभूत 'प्रवृत्ति धर्म' के ठीक विपरीत 'निवृत्ति-धर्म'-प्रधान 'शान्तरस' उपस्थित होता है। भरत ने यद्यपि 'नाट्यप्रसंग' में 'शान्तरस' की गणना नहीं की है, तथापि 'काव्य' में 'शान्तरस' को भी स्वीकार किया गया है। 'शान्तरस' का 'मोक्ष'-फल होता है। अतः सब के अन्त में उसे 'शान्तोऽपि नवमो रसः' कहकर स्थान दिया गया है।

शान्तरस के सम्बन्ध में विचार—

चिरकाल से 'शान्तरस' के सम्बन्ध में विवाद चलता रहा है। इस विवाद का आधार 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' यह भरतोक्ति ही है। इस उक्ति के आधार पर ही महाकवि कालिदास, अमरसिंह, भामह, दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने भी 'नाटक' में आठ ही रसों को बताया है। 'शान्त रस' को नहीं बताया। किन्तु उद्भट, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्तपाद ने 'शान्तरस' का स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन किया है। 'नाट्य' में 'शान्तरस' की उपयोगिता भले ही न हो, किन्तु उसका सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता। इसीलिए आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्तपाद ने बड़े विस्तार से 'शान्तरस' का प्रतिपादन किया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकार भट्टोद्भट, भट्टनायक, अभिनवगुप्तपाद आदि सभी ने 'शान्तरस' के 'अस्तित्व' को माना है। 'भरतनाट्य-शास्त्र' के मर्मज्ञ विद्वान् अभिनव जैसे व्याख्याकार भरतमुनि के आशय को अच्छी तरह समझते हैं। उनके अनुसार भरतमुनि ने भी 'शान्तरस' को स्वीकार किया है। 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' का आशय 'केवल नाट्य' में आठ रसों का प्रतिपादन करना है। किन्तु 'काव्य' में 'शान्तरस' भी हो सकता है। इसीलिए आगे चलकर 'भरत' ने 'शान्तरस' का भी प्रतिपादन किया है। यही देखकर सम्मटभटट ने भी 'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः' कहा है। इसलिए 'शान्तरस' को न मानना या उसके प्रतिपादन को प्रक्षिप्त बताना सर्वथा अनुचित है।

भक्तिरस—

भक्ति सम्प्रदाय में 'भक्ति' को भी 'रस' माना गया है। किन्तु अलंकार-शास्त्रियों ने देवादिविषयक 'रति' कहकर उसकी गणना 'भाव' में की है, 'रस' में नहीं। तथापि 'श्रीरूपगोस्वामी' ने अपने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा 'उज्ज्वल-नीलमणि' ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ 'भक्ति' की चर्चा करते हुए उसे स्वतन्त्र 'रस' कहा है। उनका मत है कि भगवान् श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवता विषयक 'रति' को तो 'भाव' कहा जा सकता है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण विषयक 'रति' को 'भाव' नहीं कह सकते, क्योंकि 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' 'श्रीकृष्ण' के आकार में तो साक्षात् 'भगवान्' ही प्रादुर्भूत हुए हैं। षड्गुणैश्वर्य-सम्पन्न भगवान् 'श्रीकृष्ण' अन्यान्य देवताओं के समान नहीं हैं। इसलिए उन्हें केवल देवता समझना अनुचित है। अतः आलंकारिक-सम्मत देवता-विषयक 'रति' के तुल्य श्रीकृष्ण-विषयक 'रति' के न होने से उसे 'भाव' न कहकर स्वतन्त्र 'रस' मानना ही उचित है। इस 'भक्ति रस' के 'विभाव-अनुभाव-व्यभिचारिभावादि' सामग्री भी उपलब्ध हैं। 'भक्तिरस' का 'आलम्बन विभाव' तो भगवान् 'श्रीकृष्ण' हैं। 'उद्दीपन विभाव'—'भक्त-परमभागवत 'वैष्णवों' की संगति, तीर्थसेवन, एकान्तवास, भगवत्कीर्तन आदि' हैं। और 'अनुभाव'—'भगवद्गुणानुवाद सुनकर गला भर आना यानी गद्गद हो जाना, अश्रुपात होना, नृत्य करने लगना, हँसना-रोना आदि' हैं। तथा 'व्यभिचारिभाव'—'शंका, असूया, दैन्य, स्मृति, धृति, क्रोध उन्माद आदि' हैं। 'भक्तिरस' के विस्तृत ज्ञान के लिए गौडीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों को तथा साक्षात् शुकमूर्तिस्वरूप परमपूज्य श्रीस्वामी करपात्रीजी का 'भक्तिरसार्णव' ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिये।

वात्सल्य रस—

आलंकारिक विद्वान् विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में 'वात्सल्य' को भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वतन्त्र 'रस' माना है। इस 'रस' का 'स्थायिभाव' अपने से 'कनिष्ठ' के प्रति 'स्नेह' है। और 'आलम्बन विभाव'—कनिष्ठ 'बालक' आदि हैं। उनकी 'तुतलाती बोली, उनकी सुन्दरता, उनकी बाललीला' आदि 'उद्दीपन विभाव' हैं। उनको 'स्नेह से गोद में उठा लेना, उनका आलिङ्गन करना, उनको चूम लेना आदि' 'अनुभाव' हैं। और 'व्यभिचारिभाव' 'चपलता, हर्ष, आवेग, गर्व, औत्सुक्य, सोना, जागना आदि' हैं।

किन्तु अन्यान्य आलंकारिकों ने 'भक्ति' और 'वात्सल्य' को स्वतन्त्र 'रस' नहीं माना है। क्योंकि उनका अपना कोई मौलिक 'स्थायिभाव' नहीं है। विभिन्नलिङ्गक और समवयस्क लोगों के परस्पर 'स्नेह' को 'रति' कहते हैं। 'ज्येष्ठ' का या 'उत्तम प्रकृतिवाले' का 'कनिष्ठ' के प्रति या 'मध्यम-अधम प्रकृतिवाले' के प्रति जो 'स्नेह' है उसे 'वात्सल्य' कहते हैं। 'कनिष्ठ' का 'ज्येष्ठ' के प्रति जो 'स्नेह' उसे 'भक्ति' या 'श्रद्धा' कहते हैं। तथा 'समानलिङ्गक और समवयस्क लोगों' का जो 'स्नेह' उसे 'मित्रता' कहते हैं। एवं 'चेतन' का 'जड़' वस्तु के प्रति जो 'स्नेह' उसे 'लोभ' कहते हैं। ये सब 'स्नेह' के ही रूपान्तर मात्र हैं। इन्हें वास्तविक 'मूल स्थायिभाव' के रूप में कहना उचित नहीं है—ऐसा 'आलंकारिकों' का कहना है। इसलिए आलंकारिकों ने 'भक्ति' और 'वात्सल्य' को 'भाव' के अन्तर्गत ही माना है। उन्हें स्वतन्त्र 'रस' के रूप में नहीं। अतः ग्रन्थकार ने 'रतिर्देवादिविषयाव्यभिचारी तथाऽञ्जितः, भावः प्रोक्तः' कहकर देवादिविषयक 'रति' को 'भाव' ही माना है। इनके मत में 'भक्ति' और 'वात्सल्य' दोनों 'भाव' ही हैं, 'रस' नहीं।

मूल रस—

भरतमुनि ने तो 'शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स' इन चार 'रसों' को ही मूल (प्रधान) रस माना है। अवशिष्ट 'हास्य, करुण, भयानक और अद्भुत'—इन चार 'रसों' की उत्पत्ति, उपरि निर्दिष्ट मूल चार रसों से ही होती है। यानी 'शृंगार' से 'हास्य', 'रौद्र' से 'करुण', 'वीर से 'अद्भुत' और 'बीभत्स' से 'भयानक' की उत्पत्ति होती है। विस्तृत परिचय के लिए 'नाट्यशास्त्र' का परिशीलन करना चाहिये।

एक रस का सिद्धान्त—

कतिपय प्राचीन महाकवि, आचार्यादि महापण्डितों ने 'एक ही विशेष रस' को मूल रस के रूप में मान लिया।

(१) महाकवि भवभूति ने 'करुण' को ही एकमात्र मूलरस के रूप में माना है। वे अपने करुणरसप्रधान नाटक 'उत्तररामचरित' में कहते हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्त-बुद्बुद-तरङ्गमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥

(२) भोजराज ने अपने 'शृंगारप्रकाश' में 'शृङ्गार' को ही एकमात्र मूल रस के रूप में माना है । वे अपने 'शृङ्गारप्रकाश' में कहते हैं—

शृङ्गार-वीर-करुणाऽद्भुत-रौद्रहास्य-
वीभत्स वत्सल-भयानक-शान्तनाम्नः ।
आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः ॥

(३) विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में अपने पूर्वज नारायणपण्डित के अभिमत 'अद्भुतरस' को ही एकमात्र 'मूलरस के रूप' में माना है। वे अपने साहित्यदर्पण में कहते हैं—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वात् सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः ॥
तस्माद्द्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।

(४) श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्य अपनी 'अभिनवभारती' में 'शान्तरस' को ही एकमात्र मूल रस के रूप में मानते हैं । नाट्यशास्त्र की व्याख्या 'अभिनवभारती' में वे कहते हैं—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्ताऽपाये च शान्त एवोपलीयते ॥

रसों की सुख-दुःखरूपता—

अलौकिक रस की 'सुख-दुःखरूपता' के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत उपलब्ध होते हैं ।

(१) धनिक, धनञ्जय और विश्वनाथादि विद्वानों ने 'सभी रसों' को सुखरूप ही बताया है । इनके मत के अनुसार 'करुणरस' भी सर्वथा सुखात्मक ही है । विश्वनाथ अपने 'साहित्यदर्पण' में लिख रहे हैं—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः ।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥

[सा० दर्प० ३।४।५]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१. (शृङ्गारस्य भेदनिरूपणम्)

तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ—सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकनाऽऽलिङ्गनाऽधरपान-परिचुम्बनाद्यनन्तत्वादपरिच्छेद्य एक एव गण्यते।

यथा—

(संभोगशृंगारस्य उदाहरणम्)

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।

---

(२) श्रीमदभिनवगुप्तपाद के मत में 'प्रत्येक रस' उभयात्मक है। 'प्रत्येक रस' में सुख-दुःख दोनों ही रहते हैं। किन्तु 'शृङ्गार, हास्य, वीर तथा अद्भुत'—इन 'चार रसों' में 'सुख' की तो प्रधानता रहती है और 'दुःख' का सम्बन्ध मात्र रहता है। तथा 'रौद्र, भयानक, करुण और बीभत्स'—इन 'चार रसों' में दुःख की प्रधानता रहती है और 'सुख का आंशिक सम्बन्ध' रहता है। एक 'शान्तरस' ही ऐसा है, जो सर्वथा सुखात्मक है। इस विषय में विस्तृत ज्ञान के लिए 'अभिनवभारती' का 'प्रथम अध्याय' पढ़ना चाहिये।

(३) नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने रसों की उभयात्मकता और सभी की सुखात्मकता का निषेध करते हुए सभी रसों को न सुखात्मक ही माना है, और न सभी को उभयात्मक ही माना है। उन्होंने रसों के दो विभाग किये हैं। 'शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत और शान्त'—इन 'पाँच रसों' को नितान्त सुखात्मक माना है, तथा 'करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक'—इन 'चार रसों' को नितान्त दुःखात्मक स्वीकार किया है। वे कहते हैं—

"तत्रेष्टविभावादिप्रथितस्वरूपसम्पत्तयः शृङ्गारहास्यवीराद्भुत-शान्ताः पञ्च सुखात्मानः। अपरे पुनरनिष्टविभावाद्युपनीतात्मानः करुणरौद्रबीभत्सभयानकाश्चत्वारो दुःखात्मानः।"

(१) शृङ्गार रस और उसके भेद—

तत्र शृङ्गारस्येति। पूर्वोक्त रसों में से शृङ्गार के दो भेद किये गये हैं—(१) सम्भोग शृङ्गार और (२) विप्रलम्भ शृङ्गार। उनमें से प्रथम (सम्भोग शृङ्गार) के परस्परावलोकन, आलिङ्गन, अधरपान, चुम्बन, आदि अनेक प्रकार हो सकते हैं, जिनका अन्त नहीं है, इस प्रकार वह असंख्येय है। उसके भेदों की गणना करना संभव नहीं है। इसलिए वह एक ही प्रकार का गिना जाता है। फिर भी संभोग शृंगार कभी नायिका के द्वारा आरंभ होता है, तो कभी नायक के द्वारा आरंभ किया जाता है, अतः संभोग के दो स्वरूप (प्रकार) हैं। जैसे—

१. नायिकारब्ध संभोगशृङ्गार का उदाहरण—

शून्यमिति। अपने प्रियतम-पति के पलंग के बराबर ही बिछे हुए अलग पलंग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥ ३० ॥

पर लेटी हुई नवोढा वधू (नायिका) अपने शयनकक्ष (वासगृह) को सखीजनों से रहित हुआ अच्छी तरह से देखकर अपने पलंग पर से एक करवट के बल पर धीरे से उठकर निद्रा का बहाना करके सोनेवाले अपने प्रिय पति के मुख की ओर बहुत देर तक देखकर (पतिदेव सचमुच गाढ निद्रा में सो रहे हैं—यह विश्वास होने तक) निःशंक हुई नववधू के द्वारा पति के कपोलों का, और नेत्र-प्रान्तों का लगातार चुम्बन करते रहने से उसके पति के कपोलों पर मन ही मन में होने वाली प्रसन्नता के कारण पुलकों (रोमाञ्च) को उभरे हुए देख (नववधू यह जान गई कि पतिदेव जग रहे थे, सचमुच सोये नहीं थे, मैं धोखे में रही) वधू लजा गई, उसका मुख लज्जा से झुक गया। ('लज्जते इति लज्जा, पचाद्यच् साऽस्ति अस्या इति लज्जावती')। तब लज्जित हो जाने से अपने मुख को झुकाई हुई नववधू को अपने भुजपाश में जकड़ कर हँसते हुए प्रियतम ने बहुत देर तक यानी संभोग स्वीकार करने तक अर्थात् लज्जा के परित्याग होने तक उसे चूमा (चुम्बन किया) ॥ ३० ॥

विशेष विवरण—यह संभोगश्रृंगार रस का उदाहरण है। इसमें नायिका के द्वारा श्रृंगार का आरंभ किया गया है। 'आलम्बनविभाव'—'नायक' है। 'उद्दीपनविभाव'—'शून्य वासगृह, नायक की निद्रा' आदि हैं। 'अनुभाव'—'मुखनिर्वर्णन, चुम्बन आदि' हैं। 'व्यभिचारिभाव'—'लज्जा, हास और उससे अभिव्यञ्जित हर्षादि हैं।' 'स्थायिभाव'—'रति' है। उससे ही सहृदय सामाजिक को नायिकानिष्ठ रस की ही चर्वणा (आस्वाद) होती है। साहित्यशास्त्र में 'प्रथमतः स्त्री के अनुराग' का होना उचित कहा गया है—'पूर्वं रक्ता भवेन्नारी पुमान् पश्चात् तदिङ्गितैः।' इस साहित्यिक सिद्धान्त के अनुसार यह संभोग श्रृंगार का उत्कृष्ट उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इसमें नायिका की प्रथम अनुरक्ति प्रदर्शित की गई है। 'अमरुशतक' से इस पद्य को लिया गया है।

इस पद्य में ''विलोक्य' पद से सखियों के छिपकर बैठने की शंका का निरास किया गया है। 'किञ्चित्' पद से पति के निद्राभंग होने की शंका को दूर किया गया है। 'मन्दमुत्थाय' से अनुराग को प्रकट किया है। 'निर्वर्ण्य' से अनुरागातिशय और पति की निद्रा का निर्णय किया गया है। 'विस्रब्धम्' से निद्रा की वास्तविकता को बताया गया है। 'बाला' पद से लज्जा के न होने में हेतुभूत प्रौढता का निरास किया गया है। 'हसता' पद से 'पहले मेरे कहने पर भी प्रवृत्त नहीं हुई, अब कैसे आ गई ?' इस प्रकार के 'नर्महास' को प्रकट किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा—

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि।
शय्योपान्तनिविष्टसस्मितसखीनेत्रोत्सवानन्दितो
निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ ३१ ॥

इसी पद्य का हिन्दी में अनुवाद हिन्दी के महाकवि 'विहारीलाल' ने एक छोटे से दोहे में कर दिया है—

"हौं मिसहा सोयो समुझि मुख चूम्यो ढिग जाय।
हस्यौं, खिसानी, गर गह्यो, रही गले लपटाय" ॥ ३० ॥

२. नायकारब्ध सम्भोगश्रृङ्गार का उदाहरण—

अब संभोगश्रृङ्गार के दूसरे प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत है, जिसमें नायक के द्वारा आरंभ किया गया है—

त्वं मुग्धाक्षीति। हे सुन्दरनयनों वाली ! प्रिये ! तुम चोली पहने बिना ही बहुत सुन्दर दीख रही हो, तुम्हारी यह सुन्दरता मेरे चित्त को बरबस खींचे ले रही है। ऐसा कहते हुए नायक ने उसकी चोली के पिछले बटन या पिछली गाँठ खोलने के लिए जैसे ही छूआ, उसे छूते देख शय्या (पलंग) के आस-पास बैठी हुई अन्य सखियों ने देखा कि पति के पास सटकर बैठी हुई अपनी सखी के मुख पर स्मित की छटा बिखर रही है, और उसके नेत्रों में प्रेम उभर आया है। तब सभी अन्य सखियाँ अत्यन्त आनन्दित हो गईं, और वे सभी किसी न किसी आवश्यक कार्य का मिथ्या बहाना बनाकर धीरे-धीरे उसके विलास-भवन से बाहर निकल गईं ॥ ३१ ॥

विशेष विवरण—'नायकारब्ध-संभोगश्रृङ्गार' का यह उदाहरण है। इसमें आलम्बनविभाव—'मुग्धाक्षी नायिका' है। और उद्दीपनविभाव—'उसका नयन-सौन्दर्य तथा अंग-अंग का सौन्दर्य' है। अनुभाव—'प्रेमालाप, वीटिका (बटन या बन्द) का स्पर्श' है। व्यभिचारिभाव—'आभाषण (प्रेमालाप) और वीटिका (बटन) संस्पर्श दोनों की तुल्यकालता अवगत होने से प्रतीयमान उत्कण्ठा' आदि हैं। स्थायिभाव—'रति' है। 'पूर्वं रक्ता भवेन्नारी पुमान् पश्चात् तदिङ्गितैः' इस नियम के अनुसार 'नायिकारब्ध-संभोगश्रृंगार' का उदाहरण प्रथम देकर अब दूसरा उदाहरण 'नायकारब्ध-संभोगश्रृङ्गार' का दिया है। यह पद्य भी 'अमरुशतक' का है। इस पद्य में कुचोपपीडनपूर्वक आलिंगन के साथ रमणोत्सुक हुए नायक का वर्णन किया गया है। आलिंगन करने में कञ्चुकी को व्यवधानरूप समझकर उसे खोलने के लिए नायक प्रवृत्त हो रहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यहाँ पर 'प्रियतमे' पद से यह व्यञ्जित किया जा रहा है कि 'नायक' अतिशय 'प्रेम का पात्र' है। अतः वह उपेक्षणीय नहीं है। 'सस्मित' कहकर कञ्चुलिका के अपसारण में नायिका अपनी सम्मति व्यक्त कर रही है। अन्यथा भ्रुकुटियों को ही चलाकर मना कर देती। वहाँ अन्य सखियों के रहते हुए भी यह नायक इस प्रकार लीला कर रहा है, इसलिए वह लज्जा से दबी जा रही है। यही सस्मित होने में हेतु है। दोनों की परस्पर उत्कण्ठा को समझ कर सखियों ने 'अलीकवचनोपन्यास' करना अर्थात् 'मुझे अभी 'शुक' को पढ़ाना है; 'सारिका' (मैना) को अभी खाना (भोजन) देना है, 'चकोरी' को चन्द्रिकापान करने के लिए छोड़ना है', इत्यादि मिथ्या भाषण करना आरंभ कर दिया, जिससे अपनी सखी को यह पता न चल सके कि हमारे रहस्य को ये सखियाँ समझ गई हैं। 'साथ ही वह लज्जा के भार से न दबी रहे'—यह सोचकर वे सखियाँ धीरे-धीरे उसके विहार-भवन से बाहर निकल गईं। यहाँ सहृदय सामाजिक को रसास्वाद प्राप्त हो रहा है। यद्यपि यहाँ पर मुग्धाक्षी और प्रियतम दोनों, 'परस्पर-रति' के आलम्बनविभाव हैं। 'नायकनिष्ठ रति' के उद्दीपनविभाव तथा अनुभाव और व्यभिचारिभाव आदि ऊपर बता ही दिये हैं। किन्तु 'नायिकानिष्ठ रति' के उद्दीपनविभाव तो 'नायक की रति और उसके अनुभाव' ही हैं। 'स्मितादि' अनुभाव हैं। और उससे व्यञ्जित होने वाला 'हर्ष' व्यभिचारिभाव है। तथापि प्राधान्येन आस्वाद का विषय नायकनिष्ठरति ही है, जिसमें नायिका आलम्बन है। प्रथम उदाहरण से इस उदाहरण में यही अन्तर है। एवञ्च सहृदय सामाजिक में नायकनिष्ठरतिविषयकरसनिष्पत्ति होती है।

हिन्दी के महाकवि बिहारीलाल ने भी उक्त पद्य का अनुवाद किया है—

'पति रति की बतियाँ करीं सखी लखी मुसकाय।
कै-कै सबै टला-टली अली चलीं सुख पाय॥'

संस्कृत के महाकवि मङ्खक ने भी उक्त पद्य का भावानुवाद अपने 'श्रीकण्ठ-चरित' महाकाव्य (१५।१५) में किया है—

सख्योऽथ पंक्ष्मलदृशां तदवेक्ष्य तन्त्रं
स्मेराननार्पितकरं शनकैर्निरीयुः।
तत्कर्पटाञ्चलसमीरविधूयमानो
दीपोऽपि निर्जिगमिषुत्वमिवाललम्बे॥

अमरुक कवि के पद्य में सभ्यता की मर्यादा का उल्लङ्घन हुआ-सा प्रतीत होता है, उसका परिमार्जन बड़ी सफाई के साथ महाकवि मङ्खक ने 'तदवेक्ष्य तन्त्रं' कहकर ही कर दिया है। उसी तरह महाकवि बिहारीलाल ने भी 'पति रति की बतियाँ कहीं' में ही पूरी प्रणयचेष्टाओं का संग्रह करके दिखा दिया है॥ ३१॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(विप्रलम्भ-शृङ्गारवर्णनम्)

अपरस्तु अभिलाष-विरहेर्ष्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्चविधः। क्रमेणोदाहरणम्—

उक्त उदाहरणों में से प्रथम में नायिका के अनुराग का आरंभ प्रथमतः हुआ है। और द्वितीय उदाहरण में नायक के अनुराग का आरंभ प्रथमतः हुआ है। परन्तु कहीं-कहीं दोनों के युगपत् अनुराग का आरंभ भी उपलब्ध होता है। जैसे किसी हिन्दी पद्य में सीता और राम दोनों के युगपत् अनुराग का वर्णन किया गया है—

'दोऊ जने दोऊ को अनूप रूप निरखत,
पावत कहूँ न छवि-सागर को छोर है।
चिन्तामणि केलिकी कलानिके विलासनि सों,
दोऊ जने दोऊनके चित्तनके चोर हैं।
दोऊ जने मन्द मुसकानि-सुधा बरसत,
दोऊ जन छके मोद, मद दोऊ ओर है।
सीता जू के नैन रामचन्द्रके चकोर भये,
राम-नैन सीतामुख-चन्द्रके चकोर हैं॥ ३१॥

विप्रलम्भशृङ्गार के भेद एवं उदाहरण—

अपरस्त्विति। दूसरा विप्रलम्भशृङ्गार—(१) अभिलाष, (२) विरह, (३) ईर्ष्या, (४) प्रवास और (५) शाप, इन पाँच हेतुओं से पाँच प्रकार का होता है।

विशेष विवरण—१. 'अभिलाष' का अर्थ है पूर्वरागमात्र। मिलन का अवसर जिनको नहीं मिल पाया है, ऐसी स्थिति में एक दूसरे को प्राप्त करने की इच्छा को अभिलाष या पूर्वराग कहते हैं।

२. विरह—मिलन हो जाने के पश्चात् यदा-कदाचित् समागम (मिलन) का जो अभाव रहता है, उसे विरह कहते हैं। यह विरह दोनों में से एक में अनुराग के न रहने पर भी हो सकता है। अथवा दोनों के परस्पर अनुरक्त रहने पर भी दुर्दैव के प्रतिबन्धक रहने पर अथवा गुरुजनों से लज्जा आदि के कारण समागम (मिलन) न हो सकने पर भी होता है।

३. ईर्ष्या—समीप रहने पर भी मानहेतुक समागम का अभाव।

४. प्रवास—दोनों के परस्पर अनुरक्त होने पर भी किसी कार्यवशात् विभिन्न देश में स्थिति।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१. (अभिलाषहेतुकस्य विप्रलम्भस्य उदाहरणम्)

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥ ३२ ॥

---

५. शाप—इतने समय तक तुम्हें अपनी प्रेयसी का समागम न हो, इस प्रकार की सिद्ध-पुरुष की वाणी ।

इस प्रकार से पाँच प्रकार के विप्रलंभश्रृङ्गार का प्रतिपादन किया गया है। इन पाँचों प्रकार के भेदों के उदाहरणों को ग्रन्थकार क्रम से दे रहे हैं। इनमें सर्व-प्रथम मालतीमाधव के पञ्चम अंक में 'मालती' को पाने के लिए 'श्मशान-साधना' करने वाले 'माधव' के 'अभिलाष' या पूर्वराग के उदाहरण को महाकवि भवभूति ने प्रदर्शित किया है।

(१) अभिलाषहेतुक विप्रलंभशृंगार का उदाहरण—

मालती की प्राप्ति की अभिलाषा से श्मशान-साधना में प्रवृत्त हुए माधव की यह उक्ति है—

प्रेमार्द्रा इति । कितना अच्छा होता कि उस मुग्धाक्षी (मालती) के निसर्गतः सुन्दर, प्रेम से आर्द्र, प्रणयमधुर और परस्परासक्ति के कारण समस्त हार्दिक अनुराग से ओत-प्रोत रहने वाले वे हावभाव मेरे कारण जैसे पहले कभी हुए थे, वैसे ही अब भी यदि होते तो—क्या ही अच्छा होता। मन में स्मरण हो आनेमात्र से भी वे हाव, वे भाव-भङ्गियाँ इतनी मधुर लगती हैं कि हृदय उन्हीं में लीन हो जाता है। यानी उन्हीं के आनन्द में सब कुछ सुध-बुध विस्मृत होकर मन आनन्दसागर में लीन हो जाता है ॥ ३२ ॥

विशेष विवरण—यहाँ 'मालती' आलम्बनविभाव है, उसके 'विलासों का अनुस्मरण' उद्दीपनविभाव है, 'आशंसा (इच्छा)' अनुभाव है, उससे व्यङ्ग्य जो 'उत्कण्ठा' वह व्यभिचारिभाव है, 'रति' स्थायिभाव है ॥ ३२ ॥

इस उदाहृत पद्य में 'प्रेम, प्रणय तथा परिचय' शब्दों का प्रयोग हुआ है। वे सब प्रायः एकार्थक ही हैं। तथापि उनमें सूक्ष्म भेद है; उसे भूलना नहीं है। अन्यथा पुनरुक्ति का दोष कवि के शिर पर स्थापित होगा। 'यह मेरा है, मैं इसकी हूँ' इस प्रकार का जो पक्षपात-विशेष उसे—'प्रेम' कहते हैं। 'परस्पर अवलोकनादि से उत्पन्न हुआ जो प्रेम, वह जब प्रकर्ष को प्राप्त हो जाता है और जिस प्रेम में, किसी एक के अनेक अपराध करने पर भी न्यूनता नहीं आती, उसे अविरल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२. (विरहहेतुकस्य विप्रलम्भस्य उदाहरणम्)

अन्यत्र व्रजतीति का खलु कथा नाप्यस्य तादृक् सुहृद्
यो मां नेच्छति नागतश्च हहहा कोऽयं विधेः प्रक्रमः।
इत्यल्पेतरकल्पनाकवलितस्वान्ता निशान्तान्तरे
बाला वृत्तविवर्त्तनव्यतिकरा नाप्नोति निद्रां निशि ॥ ३३ ॥

एषा विरहोत्कण्ठिता।

प्रेम' को—प्रणय कहते हैं। तथा 'दीर्घ काल तक साथ रहने से प्रणय की जो दृढ़ता होती है'—उसे परिचय कहते हैं।

(२) विरहहेतुक विप्रलंभशृंगार का उदाहरण—

सङ्केत करने पर भी गुरुजनों की लज्जा आदि के कारण रात में जब नायक नहीं आया तब अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करती हुई विरहोत्कण्ठिता नायिका का वर्णन कवि कर रहा है—

अन्यत्रेति। 'वह अन्यत्र किसी दूसरी नायिका के घर चला गया होगा'—यह तो मैं सोच भी नहीं सकती, फिर 'वह गया होगा'—यह कहना तो दूर ही रहा। अर्थात् मुझे छोड़कर उसका अन्यत्र गमन तो बिलकुल अलीक ही है—यह बात 'अपि' शब्द से सूचित हो रही है। 'कदाचित् किसी मित्र के कहने पर रुक गया हो', या 'उसके कहने से कहीं चला गया हो'—यह भी संभव नहीं है, क्योंकि उसका कोई अन्यत्रगमनशील मित्र भी नहीं है। 'मेरे प्रति वह विरक्त हो गया हो' यह भी संभव नहीं है। इसी को 'यो मां नेच्छति' से 'काकु' के द्वारा सूचित किया गया है, अर्थात् 'यो मां नेच्छति इति न', अपितु 'इच्छत्येव'—चाहता ही है, मुझमें अत्यन्त आसक्त है। अतः विरक्ति की तो संभावना ही नहीं है। ऐसी स्थिति में भी (किसी भी कारण के न होने पर भी) 'उसका न आना' असंभव है, फिर भी 'वह नहीं आया' (यहाँ 'च'कार 'तु' के अर्थ में है)। अरे, मेरे भाग्य की यह कैसी विडंबना है! इस प्रकार कितनी ही नाना कल्पनाएँ मन में उठती रहने से विह्वल (आकुल-व्याकुल) हुई वह बाला अपने शयनागार में पलंग पर लेटी करवटें बदलती हुई रात में सो नहीं पा रही है। अर्थात् जागते-जागते रात बिता रही है॥ ३३ ॥

एषेति। यह विरहोत्कण्ठिता नायिका है।

विशेष विवरण—रात्रि में अधिक देर तक बड़े लोगों के बीच बैठे रहने से संकोचवश वहाँ से उठ नहीं सका, इसलिए कृतसंकेत रहने पर भी वह नायक अपनी प्रियतमा के पास नहीं पहुँच पा रहा है। अतः नायिका 'विरहोत्कण्ठिता' है। यदि कोई कहे कि प्रिय के अनागमन में निमित्त जैसे 'प्रवास', वैसे ही 'विरह'। तब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३. (ईर्ष्याहेतुकस्य विप्रलम्भस्य उदाहरणम्)

सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥ ३४ ॥

'विरह' को भेदान्तर मानने की आवश्यकता नहीं। किन्तु यहाँ पर 'दूरदेश' न होने से इसे 'प्रवास-निमित्तक' नहीं कह सकते। दूसरी बात यह है कि ग्रन्थकार 'एषा विरहोत्कण्ठिता' लिखते हैं। यहाँ 'एतच्छब्द' का विशेषण के रूप में प्रयोग किया है, वह व्यर्थ हो जायगा। यदि विरह और प्रवास को समान (एक) ही मान लें तो 'प्रोषितभर्तृका' और 'विरहोत्कण्ठिता' दोनों में अन्तर ही क्या रहेगा ? और भरतमुनि के द्वारा स्वीकृत 'स्वाधीनभर्तृकादि षोडश भेदों' की संगति नहीं लग पायेगी। विरहोत्कण्ठिता का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

'आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः।
तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता मता ॥'

इसमें 'अनागतपति'—'आलम्बन विभाव' है। 'अनागमनादि' 'उद्दीपन-विभाव' है। 'विवर्तनादि'—'अनुभाव' है। 'ह ह हा' इत्यादि से सूचित 'विस्मय', 'दैन्य'—'व्यभिचारिभाव' हैं। 'रति'—'स्थायिभाव' है। 'कारणाभावेऽपि कार्यम्' कारण के बिना ही कार्य हुआ देखकर विस्मय (आश्चर्य) जो हो रहा है, उसे सूचित करने के लिए कवि ने 'ह ह हा' का प्रयोग किया है। व्याख्याकार चक्रवर्ती का कहना है कि 'ह ह हा' से दीनता प्रकट की जा रही है। 'वृत्तविवर्तनव्यतिकरा'—वृत्तः सञ्जातः विवर्तनानां पार्श्वपरिवर्तनानां व्यतिकरः सम्बन्धः समूहो वा यस्याः सा ॥ ३३ ॥

(३) ईर्ष्याहेतुक विप्रलम्भशृङ्गार का उदाहरण—

उपस्थित पद्य 'अमरुकशतक' से लिया गया है। इसमें किसी नवविवाहिता की सखी, अपनी प्रिय सखी के कष्ट को सहन न कर, किसी अन्य सखी से उसके कष्टों का वर्णन कर रही है—

सा पत्युरिति। मेरी नवविवाहिता सखी अभी बाला है। अभी उतनी सयानी नहीं हो पाई है, सखियों के बताये-समझाये बिना वह पति के अन्य स्त्री समागमरूप प्रथम अपराध के समय अपने अंग-प्रत्यंगों का सविलास शृंगारमय चेष्टाओं के साथ संचालन करती हुई, भावगर्भित वक्रोक्तियों के द्वारा अपने मनो-भावों को सूचित करना (उलाहना देना) भी नहीं जानती। वह तो केवल इधर-उधर ताकती हुई रो रही है। उसके निर्मल कपोलों पर से अतिनिर्मल अश्रुओं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की धाराएँ वह रही हैं। और उसकी खुली हुई चञ्चल अलकावली उसके कपोलों पर बिखरी पड़ी है। तात्पर्य यह है कि वह इधर-उधर ताकती हुई केवल रोती रहती है ॥ ३४ ॥

विशेष विवरण—यहाँ 'नायिका' मुग्धा बाला है। और 'पति' का प्रथम अपराध है। किसी 'प्रिय' का नहीं। किसी 'प्रिय' का होता तो उसे 'अपराध' न कहते। यह 'अन्याङ्गनासमागम' रूप प्रथमापराध है। 'अपराध' 'प्रथम-प्रथम' जानकर वह अत्यन्त 'असह्य' हो रहा है। यदि द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ बार का होता तो सखियों से उपदेश पाकर वह भी अबतक चतुर हो गई होती, और उसको ऐसे ठिकाने लगाती, कि वह पुनः ऐसा अपराध करना भूल ही जाता। सखियों से अभी उपदेश न मिलने के कारण सखी अभी चतुर नहीं हो पाई है। इस प्रकार अर्थ करने में 'सख्या' पद को असमस्त कर्तृतृतीयान्त समझना चाहिये। तब अर्थ निकलेगा कि 'सखीकर्तृकोपदेशं विना'—ऐसी व्याख्या कुछ लोगों ने की है। किन्तु उसका औचित्य इसलिए नहीं है कि 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) सूत्रविहित—कर्तरि षष्ठी से तृतीया का बाध हो जाता है। और दोनों का प्रयोग न होने से 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' (२।३।६६) सूत्र की प्राप्ति नहीं है। अतः 'सख्या' को 'तृतीयान्त असमस्त कर्तृपद' न मानकर 'सख्येन सौहार्देन करणेन य उपदेशः अर्थात् सखीकर्तृकः' यही व्याख्या करनी चाहिये। अञ्जन और पत्रावलि के पुछ जाने से 'अश्रु' और 'कपोल' दोनों की स्वच्छता हो गई है। उससे रोदन की अधिकता सूचित की गई है। और उत्तानशयन करने के कारण अश्रुपतन 'कपोल मूल' (प्रान्त भाग) से हो रहा है। 'अश्रुभिः' यह 'इत्थंभूतलक्षणे तृतीया' है। उससे यह अर्थ निकला कि 'अश्रुज्ञाप्यं केवलं रोदनमेव करोतीत्यर्थः।' अश्रुजनकीभूत आन्तर व्यापार को 'रोदन' कहते हैं।

यहाँ 'पति'—'आलम्बनविभाव' है, 'अपराध'—'उद्दीपनविभाव' है, 'रोदनादि'—'अनुभाव' है, उससे व्यङ्ग्य होने वाली 'असूया'—'व्यभिचारिभाव' है। और 'रति'—'स्थायिभाव' है। यहाँ पर 'पति के अन्याङ्गनासंगम' के कारण 'बाला नवोढा' को 'ईर्ष्या' हो रही है ॥ ३४ ॥

(४) प्रवासहेतुक विप्रलम्भशृङ्गार का उदाहरण—

यह उदाहरण भी 'अमरुकशतक' से लिया गया है। कोई 'प्रवत्स्यत्पतिका नायिका' है, उसका पति गुरुजनादि के आदेश से कार्यवश दीर्घप्रवासार्थ परदेश जा रहा है, यह सुनकर वह नायिका अपने जीवन को सम्बोधन कर सोपालंभ कह रही है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४. (प्रवासहेतुकस्य विप्रलम्भस्य उदाहरणम्)

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥३५॥

५. (शापहेतुकस्य विप्रलम्भस्य उदाहरणम्)

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानन्ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

प्रस्थानमिति । हे प्राणों ! प्रियतम के प्रवासार्थ जाने का निश्चय कर लेते ही कङ्कणों ने पहले ही प्रस्थान कर दिया । (भाव यह है कि मेरा शरीर इतना दुर्बल हो गया, जिससे कङ्कणों ने अपना स्थान छोड़ दिया और ढीले होकर नोचे गिर गये हैं) और प्रियतम को प्यार करने वाले आँसू तो तभी से निरन्तर बहे जा रहे हैं । धैर्य, क्षणभर भो नहीं रुका, और चित्त ने पहले ही जाने का निश्चय कर लिया है । हे प्राणों ! तुम्हें भी जाना अवश्य ही है, तब प्रिय मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो ? अर्थात् तुम भी शरीर से निकल चलो ॥ ३५ ॥

विशेष विवरण—नायक ने अपने चित्त में जाने का अभी निश्चय ही किया है, जाने की तैयारी नहीं की है, तो हो प्रियतम के मित्रों ने भी उसी के साथ प्रस्थान करना आरंभ कर दिया है । यह देखकर नायिका कहती है कि हे प्राणों ! प्रिय मित्र के वियोग में तुम भी तो अवश्य ही जाओगे । ऐसी स्थिति में साथी सम्बन्धियों को त्याग कर तुम्हारा विलम्ब करना व्यर्थ है ।

'गन्तव्ये सति' में 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से 'अवश्य' अर्थ में 'तव्य' प्रत्यय है ।

प्रियतम—'आलम्बनविभाव' है, उसका प्रयाणादि–'उद्दीपनविभाव' हैं, कृशता-आदि–'अनुभाव' हैं, उससे व्यङ्ग्य होने वाली चिन्ता–'व्यभिचारिभाव' है, रति–'स्थायिभाव' है ॥ ३५ ॥

(५) शापहेतुक विप्रलंभश्रृङ्गार का उदाहरण—

यह उदाहरण 'महाकवि कालिदास' के मेघदूत से लिया गया है । उत्तरमेघ में बताया है कि कुवेर के शाप के कारण अपनी प्रिय पत्नी के विरह से पीडित हुआ यक्षराज, दूत बने हुए मेघ से अपनी प्रिया को उद्देश्य करके कह रहा है—

त्वामालिख्येति । पाषाण की चट्टान पर गेरू आदि धातुओं के रंगों से ही प्रणय-कुपित मुद्रा में तुम्हारी तसबीर बनाऊँ और तसबीर में बनाये हुए तेरे चरणों पर झुकी हुई (प्रणत हुई) अपनी प्रतिकृति को जैसे ही चित्रित करना चाहता हूँ, सो ही प्रवृद्ध हुए आँसू, मेरी दृष्टि को आवृत कर लेते हैं । (जिससे उस चित्र को मैं पूर्ण नहीं कर पाता हूँ) । दूसरे के सुख का विघटन करने वाला देव (भाग्य)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ ३६ ॥

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम् ।

२. (हास्यरसस्य उदाहरणम्)

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे ।
तारस्वनं प्रथितथूत्कमदात्प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥ ३७ ॥

रूप क्रूर कृतान्त (यमराज) उस चित्र में भी हम दोनों के सहवास को सहन नहीं कर सकता (तो साक्षात् संगम को भला कैसे सहन करेगा ?) ॥ ३६ ॥

विशेष विवरण—कोप का रंग 'लाल' होता है, अतएव 'प्रणयकुपित पत्नी' का चित्र गेरू से बना रहा है। शय्या छोड़कर भूमि पर शयन करता था, तथा विरह के कारण चित्त कठोर हो गया था इसलिए शिला पर ही चित्र बना रहा था। इस पद्यगत प्रबन्ध को देखने से प्रधानतया 'उन्माद' ही प्रतीत होता है, तथापि प्रबन्ध को बिना विचारे उन्मादाभास ही लक्षित होता है, इसी अभिप्राय से इसे 'रस के उदाहरण' में दिया गया है—यह दीपिकाकार का कहना है। कुबेरानुचर यक्ष को प्रिया का वियोग प्राप्त होने में यक्षराज कुबेर का शाप ही हेतु है।

ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने नाट्यशास्त्र (अ० ६) और उसकी व्याख्या अभिनवभारती के अनुसार ही शृंगार रस का विवेचन किया है। नाट्यशास्त्र और उसकी अभिनवभारती देखने योग्य है।

यहाँ नायिका–'आलम्बन' है, उसका 'प्रणयकोप'–'उद्दीपन' है, चरणपतनेच्छा–आदि 'अनुभाव' हैं, कृतान्त के प्रति असूया–'व्यभिचारिभाव' है, रति–'स्थायिभाव' है ॥ ३६ ॥

हास्यादीनामिति। संभोगशृङ्गार के दो भेदों और विप्रलम्भशृङ्गार के पाँच भेदों, तथा उनके सात उदाहरणों को ग्रन्थकार ने बता दिया। अब हास्यादि रसों के एक-एक उदाहरण क्रम से दिये जायेंगे।

(२) हास्य रस का उदाहरण—

विष्णुशर्मा का उपहास करने वाले किसी व्यक्ति की यह उक्ति है—

आकुञ्च्येति। 'आपोहिष्ठादि' मंत्रों के अभिमन्त्रण से प्रतिपद पवित्र किये गये जल की बूंदों से मेरे शिर पर वेश्या ने अपने अपवित्र हाथ को आकुञ्चित कर (मुट्ठी बाँधकर) जोर से थूत्कार करते हुए प्रहार किया, तब हाय-हाय मार डाला कहते हुए विष्णुशर्मा रो रहा है ॥ ३७ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

विशेष विवरण—'हँसने वाले व्यक्ति' 'हास' स्थायिभाव के आश्रय हैं, उनका निबन्धन यहाँ पर नहीं किया गया है, क्योंकि 'दृश्य-श्रव्यादि काव्यों' में हासस्थायिभाव के आश्रय का साक्षात् निबन्धन नहीं हुआ करता। किन्तु शृङ्गार में 'आश्रय' का साक्षात् निबन्धन रहता है। यहाँ तो केवल आलम्बन का ही निबन्धन किया जाता है। तथापि विभावादि के सामर्थ्य से 'आश्रय' की प्रतीति हो जाती है। कहा भी है—

'यस्य हासः स चेत् क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते।
तथाप्येष　　विभावादिसामर्थ्यादवसीयते॥'

विकृत वाक्, वेष आदि के देखने पर अवश्य ही 'हास' की उत्पत्ति होती है। अतः यहाँ पर हास-प्रकृतिक रस की अभिव्यक्ति हो रही है।

यहाँ पर 'विष्णुशर्मा'—आलम्बन है, 'रोदन'—उद्दीपन है, 'उत्तम-मध्यम-अधम प्रकृति वाले लोगों का स्मित, हसित, अतिहसित, रोदन आदि'—अनुभाव है, 'देखने वालों के आवेग, चापल्यादि'—व्यभिचारिभाव हैं, 'हास'—स्थायिभाव है।

'बहुत बे-आबरू होकर तेरे कूचे से हम निकले' इस प्रकार समझने वाले 'विष्णुशर्मा' की फजीहत पर सब को हँसी आती है। क्योंकि 'विष्णुशर्मा' की दांभिकता खुल जाने से सामाजिकों के हृदय में वासनारूप से स्थित हासरूप स्थायिभाव उन्मुक्त रूप से अभिव्यक्त हो रहा है। 'शर्मान्तनाम' का ग्रहण हास-परिपोष के लिए किया गया है॥ ३७॥

हिन्दी कवियों में पद्माकर का निम्नांकित पद हास्यरस का अच्छा उदाहरण है।

हँसि हँसि भाजैं देखि दूलह दिगम्बर को,
　　पाहुनो जे आवै हिमाचल के उछाह मैं
कहै 'पद्माकर' सू काहू को कहै को कहा,
　　जोई जहाँ देखै सो हँसोई तहाँ राह मैं।
मगन भएई हँसै नगन महेस ठाढ़े,
　　और हँसे वेऊ हँसि हँसि के उमाह मैं।
सीस पर गंगा हँसै, भुजनि भुजंगा हँसैं
　　हास ही को दंगा भयो नंगा के विवाह मैं॥

शिवजी के विवाह का प्रसंग है। इस पद्य में 'हास' 'स्थायिभाव' है। शिवजी 'आलम्बन विभाव' है। उनका नंगास्वरूप 'उद्दीपन विभाव' है। गंगा और भुजंगों का हँसना 'अनुभाव' है। इस दृश्य को देखने के लिए लोगों की उत्सुकता 'व्यभिचारिभाव' है। इन सबसे मिलकर 'हास्यरस' की अभिव्यक्ति हो रही है॥ ३७॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३. (करुणरसस्य उदाहरणम्)

हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः काऽऽशिषः
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि ॥ ३८ ॥

---

(३) करुण रस का उदाहरण—

हा मातस्त्वरितेति । हे मातः ! किस गन्तव्य स्थान पर जाने की तुमने इतनी त्वरा की (कि हम लोगों को भी तुमने छोड़ दिया), अकस्मात् वज्रपात के समान यह क्या हुआ । देवताओं की इतनी पूजा-आराधना करते रहने पर भी उन देवताओं ने तुम्हारी रक्षा नहीं की । देवताओं ! तुम्हें धिक्कार है, तुम्हारी पूजा-आराधना करने का क्या महत्त्व रहा ? सन्तुष्ट हुए ब्राह्मणों से प्राप्त हुए चिरजीवी होने के आशीर्वाद कहाँ चले गये ? वे आशीर्वाद सब विफल हो गये । तुम्हारी मृत्यु के बाद भी हमारे प्राण स्थिर बने हुए हैं, उन्हें धिक्कार है । अन्त्येष्टि संस्कार के समय तुम्हारे सुकुमार अवयवों पर वज्र के समान अग्नि गिरी । इस अशुभ घटना को देखने वाले हमारे दोनों नेत्र दग्धप्राय हो गये । इस प्रकार पौरांगनाओं की तारस्वर से रोने के कारण घर-घराती, बीच-बीच में रुक जाती करुणध्वनि, नर-नारियों के चित्रों को भी रुला रही है, भित्तियों को भी विदीर्ण कर दे रही है ॥ ३८ ॥

विशेष विवरण—जयन्तभट्ट के कथनानुसार काश्मीर की राजमाता की मृत्यु हो जाने पर भट्टनारायण के विलाप का यह वर्णन है । किन्तु महेश्वर कहते हैं कि मदालसा की जलकर मृत्यु होने पर पुरवासिनि स्त्रियों का यह विलाप है । इस पद्य में 'मृत राजमाता'—आलम्बन है । उसका 'दाह आदि'—उद्दीपनविभाव है । 'रोदन'—अनुभाव है । 'दैन्य, ग्लानि, मूर्छा आदि'—व्यभिचारिभाव हैं । 'शोक' स्थायिभाव है । इस सामग्री से अभिज्ञ सामाजिक के हृदय में शोक-प्रकृतिक 'करुण रस' की अभिव्यक्ति हो रही है ॥ ३८ ॥

हिन्दी के श्रीपति कवि का भी करुण रस का उदाहरण देखने योग्य है । लक्ष्मण को शक्ति लगने पर रामचन्द्र के विलाप का प्रसंग है ।

मातु को मोह, न द्रोह विमातु को, सोच न तात के गात दहे को ।
प्रान को छोभ न, बन्धु-बिछोह न, राज को लोभ न, मोद रहे को ॥
एते तै नेक न मानत 'श्रीपति', एते मैं सीय वियोग सहे को ।
ता रनभूमि मैं राम कह्यो, मोहि सोच बिभीषण भूप कहे को ॥

भगवान् रामचन्द्र लक्ष्मण के लिए विलाप कर रहे हैं । 'लक्ष्मण'—आलम्बन-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विभाव है। उसका 'निश्चेष्ट शरीर, उसका महान् पराक्रम'—उद्दीपन विभाव है। 'रामचन्द्र का विलाप करना'—अनुभाव है। इस स्थिति में भी विभीषण को राजा बनाने का ध्यान रहने से 'मति, स्मृति, वितर्क, विषाद आदि'—व्यभिचारिभाव हैं। 'शोक'—स्थायिभाव है।

करुण तथा विप्रलम्भश्रृङ्गार में भेद—

'करुण रस' और 'विप्रलम्भ श्रृङ्गार रस' दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। तथापि मिलते-जुलते-से आपाततः प्रतीत होते हैं। अतः कभी-कभी भ्रम होने की संभावना रहती है। भ्रम की यह संभावना विशेषतः प्रेमियों के वियोग होने पर होती है। प्रेमियों का वियोग दो प्रकार का होता है—(१) स्थायी वियोग और (२) अस्थायी वियोग। इसी को 'विरह' भी कहते हैं।

विप्रलंभ श्रृङ्गार का क्षेत्र 'अस्थायी वियोग' (विरह) होता है। यह दोनों प्रेमियों के जीवित अवस्था में प्रायः रहता है। यह किसी भी कारण से हो सकता है। और 'स्थायी वियोग' करुण रस के क्षेत्र में रहता है। दो प्रेमियों में से किसी एक की मृत्यु हो जाने से जो 'वियोग' होता है, उसे 'स्थायी वियोग' कहते हैं। क्योंकि उससे पुनर्मिलन की कोई आशा नहीं रहती। तात्पर्य यह है कि 'विप्रलंभ श्रृङ्गार' में मृत्यु से पूर्व तक का वियोग है' और 'करुणरस' में मृत्यु के बाद का वियोग है। इस तरह दोनों रसों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है।

कहीं-कहीं ऐसे भी प्रसंग उपलब्ध होते हैं, कि किसी प्रेमी की मृत्यु हो जाने पर भी उसका पुनर्मिलन हो जाता है। कहीं ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जहाँ वास्तव में मृत्यु न होने पर भी उसकी मृत्यु समझ ली जाती है। इस प्रकार के स्थल भी करुण रस के अन्तर्गत ही मान लिये जाते हैं।

कुछ विद्वान् 'मृत्यु के पश्चात् पुनः समागम की स्थिति' को 'करुणविप्रलंभ' नाम से कहते हैं। किन्तु कुछ लोग इस 'करुणविप्रलंभ' को विप्रलंभ का ही एक भेद मानते हैं। साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ कहते हैं—

"यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भः॥"

इस प्रकार की घटना 'कादम्बरी' में पुण्डरीक तथा महाश्वेता के प्रसंग में उपलब्ध होती है। पुण्डरीक की मृत्यु हो जाने पर कपिञ्जल और महाश्वेता जब विलाप कर रहे थे, उसी बीच किसी दिव्याकृति पुरुष ने उस मृत शरीर को उठाकर उड़ते हुए महाश्वेता को आश्वासन देकर सान्त्वना दी, कि तुम्हारा इससे पुनर्मिलन होगा। इस आश्वासन के पूर्व का महाश्वेता आदि का जो विलाप है, वह तो स्पष्ट ही 'करुणरस' है। तदनन्तर पुनर्मिलन की आशा हो जाने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

से 'विप्रलंभ' भी कह सकते हैं। अतः ऐसी परिस्थिति में 'करुण-विप्रलंभ' की कल्पना को अनुचित भी नहीं कहा जा सकता। इसी बात को 'किञ्चात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव श्रृङ्गारः, सङ्गमप्रत्याशया रतेरुद्भवात्। प्रथमन्तु करुण एव इत्यभियुक्ता मन्यन्ते' से कहा गया है।

किन्तु 'मम्मटभट्ट' ने 'करुण-विप्रलंभ' नाम से श्रृंगार का कोई भेद नहीं किया है। वे तो उक्त परिस्थिति को 'करुण रस' के ही अन्तर्गत मानते हैं। आकाशवाणी के पश्चात् कथञ्चित् 'करुणविप्रलंभ' की झलक रहने पर भी उक्त 'उदाहरण' में उसकी कवि-कल्पना ही कह सकते हैं। यदि वास्तव में मृत्यु न होती, केवल समझ ली गई होती तो कदाचित् कहा भी जा सकता था, किन्तु ऐसी बात नहीं है। मृत्यु तो वास्तविक रूप में हुई है। अतः 'करुणरस' का मानना ही उचित प्रतीत हो रहा है। क्योंकि पुनर्मिलन भी जो हुआ है, वह अप्रत्याशित रूप से ही हुआ है। अतः 'करुणरस' की मर्यादा बनी रहती है। आकस्मिक पुनर्मिलन पर 'अद्भुत रस' प्रकट हो जाता है।

महाकवि 'भवभूति' के 'उत्तररामचरित' नाटक में सीता की वास्तविक मृत्यु नहीं हुई है, किन्तु समझ ली जाती है। रामचन्द्र की आज्ञा से गर्भवती सीता को घोर वन में लक्ष्मण छोड़ देते हैं, तब रामचन्द्र कल्पना कर लेते हैं कि उसे तो वन्य हिंसक पशुओं ने खा लिया होगा। घटना के वास्तविक न रहने पर भी उसकी कल्पना कर लेने के ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। 'करुणरस' का सर्वोत्कृष्ट रूप भवभूति ने अपने नाटक में रामचन्द्र के विलाप के माध्यम से प्रदर्शित कर दिखाया है—"अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्"। यह सब कल्पित धारणा पर ही निर्भर है। अतएव महाकवि ने 'एकोरसः करुण एव' कहकर 'उत्तररामचरित' को करुणरसप्रधान नाटक के रूप में उपस्थित किया है।

सीता-परित्याग के पूर्व 'सीताहरण' के कारण राम को जो सीता-वियोग हुआ था, उसमें सीता के पुनर्मिलन की राम को आशा थी। उक्त दोनों वियोगों के अन्तर को रामचन्द्र स्वयं बता रहे हैं—

उपायानां भावादविरलविनोदव्यतिकरै-
विमर्दैर्वीराणां जनितजगदत्यद्भुतरसः।
वियोगो मुग्धाक्ष्याः स खलु रिपुघातावधिरभूत्
कटुस्तूष्णीं सह्यो निरवधिरयं तु प्रविलयः॥

(उ० रा० ३।४४)

इससे स्पष्ट है कि प्रथम वियोग शत्रु-विनाश तक ही था। इस कारण उसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४. (रौद्ररसस्य उदाहरणम्)

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥ ३९ ॥

तो विप्रलंभशृङ्गार का उदाहरण माना जा सकता है, किन्तु दूसरी बार का वियोग तो 'निरवधिरयं तु प्रविलयः' है। इसलिए उसे करुणरस का ही उदाहरण समझना चाहिये।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'करुण' और 'विप्रलंभशृङ्गार' दोनों के भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलंभादयं रसः।
विप्रलंभे रतिः स्थायी पुनः संभोगहेतुकः ॥' (सा० द० ३।२२६)

'करुणरस' का स्थायिभाव 'शोक' है, और विप्रलंभशृङ्गार रस का स्थायिभाव 'रति' है, क्योंकि पुनर्मिलन की आशा रहती है।

नाट्यशास्त्र में 'भरतमुनि' ने भी 'विप्रलंभ' को 'सापेक्ष' (आशामय) और 'करुण' को 'निरपेक्ष' (निराशामय) कहकर दोनों के भेद को स्पष्ट किया है—

'करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाश-वध-बन्धसमुत्थो 'निरपेक्षभावः'। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः 'सापेक्षभावो' विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भः इति। (भ० ना० शा० ६।४५)

विप्रलंभ में 'आशामय दृष्टिकोण' होता है, और करुण में 'निराशामय दृष्टिकोण' रहता है। अतः दोनों का क्षेत्र एक दूसरे से नितान्त भिन्न है। दर्पणकार ने दोनों की भिन्नता में एक और युक्ति बताई है। 'करुणरस' के दो कारण होते हैं—(१) इष्टनाश, और (२) अनिष्टप्राप्ति। तात्पर्य यह है कि 'करुण' का क्षेत्र विप्रलंभ से अत्यन्त भिन्न है ॥ ३८ ॥

(४) रौद्र रस का उदाहरण—

'नारायणभट्ट' कृत 'वेणीसंहार' नाटक के तृतीय अंक से यह उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। 'महाभारतयुद्ध' में द्रोणाचार्य का वध किये जाने पर क्रुद्ध हुआ अश्वत्थामा, अर्जुन आदि के प्रति कह रहा है—

कृतमनुमतमिति। हाथ में शस्त्र लिये हुए मर्यादा का पालन न करने वाले नरपशुओं के समान जिन लोगों ने आचार्य द्रोण का शिरश्छेदनरूप यह महान् पातक किया है, अथवा कृष्ण-सात्यकी आदि जिन्होंने उसका अनुमोदन किया है, और भीम, अर्जुन आदि जिन्होंने वध करने वाले धृष्टद्युम्न को न रोक कर खड़े-खड़े

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रसन्नतापूर्वक इस महापाप को देखा है, कृष्ण, भीम तथा अर्जुन के सहित उन धृष्टद्युम्न आदि के रक्त, चर्बी और मांस से यह मैं अभी दिशाओं यानी दिग्देवताओं की बलि (पूजा) करता हूँ ॥ ३९ ॥

विशेष विवरण—'मनुजपशुभिः' कहकर महापातक करने वालों की 'धर्म-अधर्मज्ञान-शून्यता' को व्यक्त किया गया है। 'गुरुवधरूप महापातक का कर्ता' धृष्टद्युम्न है, 'उसका अनुमोदन करने वाले' कृष्ण, सात्यकी आदि हैं, 'उस पातक को न रोककर उसे देखने वाले' अन्य लोग हैं। 'अयम्' कहकर 'एतत्क्षणवर्तित्व' व्यक्त किया है। 'अहम्' कहकर 'अनन्यसहायत्व' सूचित किया है। 'दिशां' का अर्थ लक्षणा से 'दिग्देवतानां' समझना चाहिये। बलि करता हूँ अथवा तृप्तिहेतुक पश्वालंभन करता हूँ। 'पशुभिः' कहने से 'बलिदान योग्यता' सूचित हो रही है : 'उदायुधैः' कहने से प्रतीकार करने में सशक्त रहने पर भी प्रतीकार न करने के कारण 'अत्यन्त दण्डनीयत्व' सूचित किया है। कर्ता, अनुमन्ता और द्रष्टा के अपराध में क्रमशः न्यूनता होती है। इस दृष्टि से ही 'कृतमनुमतं दृष्टम्' कहकर दण्डनक्रम का निर्देश किया गया है। तदनुसार 'सर्वप्रथम पापकर्ता' धृष्टद्युम्न का नाम लेना चाहिये था, किन्तु अत्यन्त क्रोध के आवेश के कारण उक्त क्रम का विस्मरण हो गया, और पहले ही नरकरिपु कृष्ण का नाम ले लिया है—ऐसा उद्योतकार श्रीवत्सलाञ्छनादि व्याख्याकारों का कहना है। किन्तु इस पर 'सुधासागर' व्याख्या के कर्ता भीमसेन का कहना है कि यद्यपि 'धृष्टद्युम्न' को सम्बोधित करना क्रमप्राप्त है, तथापि उसके महापातकी होने से उसका नाम-ग्रहण करना भी उचित नहीं है। इस कारण उसकी अवज्ञा कर 'पराक्रम योग्यता' की दृष्टि से 'अरे रे अर्जुन अर्जुन, सात्यके सात्यके' कहकर व्युत्क्रम से उन्हें सम्बोधित किया गया है। उक्त उदाहरणभूत 'श्लोक का अर्थ' तो रौद्ररस के अनुरूप है, किन्तु 'शब्द-रचना' रौद्ररस को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं है। इससे कवि की शक्तिहीनता परिलक्षित हो रही है।

यहाँ पर 'अपकारी अर्जुन' आदि—आलम्बनविभाव हैं। 'पितृहन्तृत्व, अस्त्रादि का उद्यमन' (उठाना)—उद्दीपनविभाव हैं। 'प्रतिज्ञा करना'—अनुभाव है। 'अत्यनैरपेक्ष्यगम्य गर्व'—व्यभिचारिभाव है। 'क्रोध'—स्थायिभाव है। अभिज्ञ सामाजिक के हृदय में क्रोध-प्रकृतिक 'रौद्ररस' व्यक्त होता है॥ ३९ ॥

हिन्दी-कवि पद्माकर का रौद्ररस का उदाहरण पढ़ने योग्य है—

'वारि टारि डारौं कुंभकर्नहि विदारि डारौं,
मारौं मेघनादै आज यौं बल-अनंत हौं ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५. (वीररसस्य उदाहरणम्)

क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।
सौमित्रे ! तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥ ४० ॥

कहै पद्माकर त्रिकूट ही को ढाहि डारौं
डारत करेई यातुधानन को अंत हौं ॥
अच्छहिं निरच्छ कपि रुच्छ ह्वै उचारौं इत्रि,
तौं से तिच्छ तुच्छन को कछुवै न गंत हौं ॥
जारि डारौं लंकहि उजारि डारौं उपवन,
फारि डारौं रावण को तो मैं हनुमत हौं ॥

(५) वीर रस का उदाहरण—

लङ्कायुद्ध के समय 'इन्द्रजित्' कह रहा है—

क्षुद्राः संत्रासमिति । अरे क्षुद्र वानरों ! तुम डरो मत । क्योंकि देवराज इन्द्र के ऐरावत गज के गण्डस्थल को फोड़ देने वाले मेरे ये बाण तुम्हारे शरीर पर गिरने में लज्जा का अनुभव करते हैं । हे लक्ष्मण ! तुम भी हट जाओ, क्योंकि तुम मेरे क्रोध के पात्र नहीं हो । सुनो, मैं मेघनाद हूँ । मैं तो किञ्चिन्मात्र टेढ़ी भृकुटी करने मात्र से ही विशाल समुद्र को वश में कर लेने वाले उस 'राम' को ढूँढ़ रहा हूँ ॥ ४० ॥

विशेष विवरण—उपर्युक्त 'वीररस' का उदाहरण 'हनुमन्नाटक' के ग्यारहवें अंक से लिया गया है । 'इन्द्रजित्' (मेघनाद) अपनी वीरता के सामने रामचन्द्र के सैनिकों को तुच्छ समझ रहा है । वह अपने क्रोध का पात्र एकमात्र राम को समझता है । उसके हृदय में राम की वीरता ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है ।

यहाँ 'आलम्बन विभाव'—राम है । 'उद्दीपन विभाव'—राम के द्वारा किया गया समुद्रबन्धन है । 'अनुभाव'—क्षुद्र वानरादि सेना की उपेक्षा और प्रबल-प्रताप वाले राम का अन्वेषण है । 'व्यभिचारिभाव'—ऐरावत के गण्डस्थल के भेदन की स्मृति और 'सायक (बाण) लज्जित होते हैं' इत्यादि उक्ति से गम्य होने वाला गर्व है । और 'स्थायिभाव'—राम से युद्ध करने का उत्साह है ।

कुछ लोगों के मत में वीर-रस के तीन भेद—(१) युद्धवीर, (२) दानवीर, (३) दयावीर होते हैं । किन्तु साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने वीर-रस के चार भेद—(१) दानवीर, (२) धर्मवीर, (३) युद्धवीर, और (४) दयावीर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

६. (भयानकरसस्य उदाहरणम्)

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥ ४१ ॥

किये हैं। उनमें से दानवीर–बलि, कर्ण, दधीचि आदि। दयावीर–जीमूतवाहन आदि। धर्मवीर–युधिष्ठिर आदि प्रसिद्ध ही हैं। कुछ लोग कहते हैं कि 'वीर' शब्द का प्रयोग, एकमात्र युद्धवीर के लिए ही किया जाता है। इसलिए 'वीररस' के भेद करना उचित नहीं है। 'दया, दान, धर्म' के विषय में होने वाले 'उत्साह' की 'भाव' में ही गणना करनी चाहिये ॥ ४० ॥

'वीर-रस' के उदाहरण रूप में एक हिन्दी पद्य को भी देख सकते हैं—लंका के युद्ध में ऋक्ष-वानरों की सेना को देखकर दशानन से लड़ने का वर्णन है।

क्रुद्ध दशानन बीस भुजानि सो लै कपि रीछ अनी सर बट्टत।
लच्छन तच्छन रत्त किये दृग लच्छ विपच्छन के सिर कट्टत ॥
मारु पछारु पुकारु दुहूँ दल, रुण्ड झपट्टि दपट्टि लपट्टत।
रुण्ड लरैं भट मत्थनि लुट्टत जोगिनि खप्पर ठट्ठनि ठट्ठत ॥

यहाँ पर 'ऋक्ष तथा बन्दर'–आलम्बनविभाव हैं। 'वानरों की अनेक क्रीड़ाएँ'–उद्दीपनविभाव हैं। 'नेत्रों का आरक्त होना, शत्रुओं के शिरों को काटना'–अनुभाव है। 'उग्रता, अमर्ष आदि'–व्यभिचारिभाव हैं ॥ ४० ॥

(६) भयानक रस का उदाहरण—

आखेट (शिकार) के प्रसंग में राजा दुष्यन्त अपने सारथी से मृग के भागने का वर्णन कर रहे हैं—

ग्रीवाभंगाभिराममिति। वह मृग कितनी सुन्दरता के साथ अपनी ग्रीवा (गर्दन) को टेढ़ी मोड़कर, पीछा करते हुए हमारे रथ पर पुनः पुनः अपनी दृष्टि को गड़ाता हुआ, और बाण लगने के भय से अपनी देह के पिछले भाग (हिस्से) को सिकोड़ कर मानों देह के अगले हिस्से में घुसाता हुआ, थकान हो जाने से हाँफते हुए खुले मुख से अर्धचर्वित तृणों को मार्ग पर गिराता, ऐसी चौकड़ी भर रहा है, मानो पृथिवी पर (जमीन पर) तो कम किन्तु आकाश में ही दौड़ अधिक लगा रहा है ॥ ४१ ॥

विशेष विवरण—महाराज दुष्यन्त शिकार खेलने निकले हैं। उनका रथ, एक मृग का पीछा कर रहा है। मृग अपनी संपूर्ण शक्ति से आगे-आगे भाग रहा है, और सोच रहा है कि बाण अब गिरा, तब गिरा। इस प्रकार भयाक्रान्त होकर अपने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

·७ (बीभत्सरसस्य उदाहरणम्)

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्ड्याद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।

पिछले हिस्से को शरीर के अगले हिस्से में घुसाया हुआ है। उस समय की उसकी शीघ्रगति का वर्णन किया गया है।

यहाँ पर 'पीछा करने वाला राजा अथवा उसका रथ'—आलम्बन है। 'शरपतन का भय'—उद्दीपन विभाव है। 'ग्रीवा का मोड़ना और भागना'—अनुभाव हैं। 'त्रास, श्रम आदि'—व्यभिचारिभाव हैं। 'शरपतनभयात्' के प्रयोग को देखकर यदि कोई कहे कि उक्त प्रयोग में 'भय' शब्द का ग्रहण करने से 'भयरूपस्थायिभाव' स्वशब्दवाच्य हो गया है। अतः इस प्रकार से 'भाव' का 'स्वशब्दवाच्य' होना तो दोष है। किन्तु इस आक्षेप का समाधान इस प्रकार है कि यहाँ पर 'शरपतनभय' स्थायी भाव के रूप में नहीं है, अपितु 'वह' उद्दीपनविभाव के रूप में है। यहाँ पर स्थायी भाव तो राजा से अथवा रथ से उत्पन्न 'भय' है। 'शरपतनभय' नहीं है ॥ ४१ ॥

भयानक रस के उदाहरण रूप में एक हिन्दी पद्य—

रानी अकुलानी सब डाढ़त परानी जाहिं
सकै न विलोकि वेष केसरी किसोर को।
मीजि-मीजि हाथ धुनि माथ दसमाथ-तिय
'तुलसी' तिलौ न भयौ बाहिर अगार को ॥
राव असबाब डारौं मैं न काढ़ो तै न काढु
जियकी परी को सँभारै भंडार को।
खीजति मँदोवै सविषाद देखि मेघनाद
लुनियत वयो सब याही डाढ़ी जारको ॥

इसमें पवनसुत हनुमान जी के द्वारा 'लंका' को जलाने का वर्णन है। 'लंका' जलती देखकर मन्दोदरी का भय—'स्थायी भाव' है। हनुमान्—'आलम्वनविभाव' है। हनुमान् का भयानक वेष, घर-असबाब का जलना—'उद्दीपनविभाव' हैं। घबड़ाकर भागना, हाथ का मींजना, माथा-पीटना, सामान (असबाव) को घर से काढ़ने के लिए तू-तू, मैं-मैं करना आदि—'अनुभाव' हैं। विषाद, चिन्ता आदि—'व्यभिचारिभाव' हैं।

(७) बीभत्स रस का उदाहरण—

श्मशान में मांस-भक्षण करते हुए किसी प्रेत को देखकर माधव उसकी बीभत्स चेष्टाओं का वर्णन कर रहा है—

उत्कृत्योत्कृत्येति। एक शव (मुर्दा) की त्वचा (खाल) को उखाड़-उखाड़

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥ ४२ ॥

कर, उस शव के कन्धे, नितम्ब, पीठ, पिंडली आदि अवयवों में ऊँचे उभरे हुए अधिक मात्रा में उपलब्ध, भयंकर दुर्गन्ध से भरे हुए सड़े मांस को खाने के बाद दूसरा छीन न ले इस आशंकापूर्ण दृष्टि से चारों ओर देखता हुआ, दाँत निकालता हुआ, भूखा, दरिद्र प्रेत, अपनी गोद में रखे हुए शव के अस्थि के भीतर लगे हुए और गढ़ों में स्थित कच्चे (क्रव्य) मांस को भी शनैः-शनैः खा रहा है ॥ ४२ ॥

विशेष विवरण—यह उदाहरणभूत पद्य 'मालतीमाधव' नाटक के पाँचवें अंक से लिया गया है। यहाँ पर 'दरिद्र प्रेत'–आलम्बनविभाव है। 'त्वचा को उखाड़ना और माँस को खाना'–उद्दीपनविभाव है। 'उसे देखकर नाक वन्द करना, मुँह फेर लेना, थूकना' आदि–अनुभाव हैं। 'उद्वेग आदि'–व्यभिचारिभाव हैं। 'जुगुप्सा'–स्थायिभाव है। इस सामग्री के द्वारा जुगुप्सा-प्रकृतिक–'बीभत्स रस' की अभिव्यक्ति होती है ॥ ४२ ॥

बीभत्स रस के उदाहरण के रूप में एक हिन्दी पद्य—श्मशान का दृश्य है।

सिर पै वैठो काग, आँखि दोऊ खात निकारत।
खींचति जीभहिं स्यार, अति हि आनँद उर धारत॥
गिद्ध जाँघ कँह खोदि खोदि के माँस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि काटि कै खान बिचारत॥
बहु चील्ह नोंचि ले जात तुच, मोद मढ़्यो सब को हियो।
जनु ब्रह्म भोज जिजमान कोऊ, आज भिखारिन कह दियो॥

राजा हरिश्चन्द्र श्मशान में पशु-पक्षियों की नाना प्रकार की चेष्टाओं को देख रहे हैं। उन चेष्टाओं को देखकर उनके मन में उत्पन्न हुई 'घृणा' ही–स्थायी भाव है। 'मुर्दों की त्वचा, हड्डी' आदि–आलम्बनविभाव है। 'कौवों का आँख निकालना, स्यार का जीभ को खींचना, गिद्ध का जाँघ को कुरेद-कुरेद कर मांस का नोचना, कुत्तों का अँगुलियों को काटना'–उद्दीपन हैं। 'राजा के द्वारा इनका वर्णन करना'–अनुभाव है। 'मोह, स्मृति आदि'–व्यभिचारिभाव हैं ॥ ४२ ॥

हास्य तथा जुगुप्सा का आश्रय—

शंका—इस विषय में रसगंगाधरकार पण्डितराज श्री जगन्नाथ का कहना है कि उपर्युक्त 'रति' आदि अथवा 'श्रृङ्गार' आदि रसों के उदाहरणों में 'स्थायिभाव' के 'आश्रय' तथा 'आलंबन' दोनों का वर्णन उपलब्ध होता है। जैसे 'भयानक' रस के उदाहरण को ही लीजिये, उसमें 'भय' का 'आलम्बन' अर्थात् जिसे देखकर 'भय' की उत्पत्ति हो रही है, वह 'राजा का रथ' है, और उस भय का आश्रय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

८. (अद्भुतरसस्य उदाहरणम्)

चित्रं महानेष बतावतारः क कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काऽप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥ ४३ ॥

'मृग' है । इस प्रकार 'आलम्बन' तथा 'आश्रय' का अलग-अलग ज्ञान हो रहा है । किन्तु 'हास्य' तथा 'बीभत्स' रस के उदाहरणों में वैसा अलग-अलग ज्ञान नहीं हो रहा है । उनमें 'हास' तथा 'जुगुप्सा' के आलम्बन मात्र अर्थात् जिसको देखकर 'हास' तथा 'जुगुप्सा' की उत्पत्ति होती है, उसका वर्णन किया गया है । किन्तु उनके 'आश्रय' अर्थात् जिसमें 'हास' तथा 'जुगुप्सा' का उदय हो रहा है, उस देखने वाले 'पुरुष' का वर्णन नहीं है । यदि कहें कि 'पद्य' का श्रोता ही लौकिक 'हास' अथवा 'जुगुप्सा' का 'आश्रय' है, तो ठीक नहीं है, क्योंकि वह तो सामाजिक पुरुष है, इसलिए 'वह' अलौकिक रसास्वाद का आश्रय है । लौकिक 'हास' तथा 'जुगुप्सा' का आश्रय 'कोई दूसरा पुरुष ही' होना चाहिये । यह कथन पण्डितराज के शब्दों में इस प्रकार है—"ननु क्रोधोत्साह-भय-शोक-विस्मय-निर्वेदेषु प्रागुदाहृतेषु यथालम्बनाश्रययोः सम्प्रत्ययः, न तथा हासे जुगुप्सायां च । तत्रालम्बनस्यैव प्रतीतेः । भयश्रोतुश्च रसास्वादाधिकरणत्वेन लौकिक-हास-जुगुप्साश्रयत्वानुपपत्तेः । इति चेत् सत्यम् । तदाश्रयस्य द्रष्टृपुरुषविशेषस्य तत्राक्षेप्यत्वात् । तदनाक्षेपे तु श्रोतुः स्वकान्तवर्णनपद्यादिव रसोद्बोधे बाधकाभावात् ।

इस प्रकार शङ्का का उत्थापन करके स्वयं पण्डितराज उसका समाधान दे रहे हैं—

आपाततः शंका होना ठीक है, किन्तु यहाँ पर इसके आश्रयरूप में द्रष्टा पुरुष की उपस्थिति को आक्षेप से स्वीकार कर लेना चाहिये । यदि आक्षेप से उसकी उपस्थिति मानने में संकोच होता हो तो पद्य का श्रोता भी उस 'लौकिक हास या जुगुप्सा' का आश्रय हो सकता है । और वही 'अलौकिक रसास्वाद' का भी आश्रय हो सकता है । जैसे किसी 'स्त्री के पति' का काव्य में यदि वर्णन किया जाय तो उसकी लौकिक 'रति' आदि का भी 'उसमें' उदय होता है, साथ ही अलौकिक रसास्वाद का भी । अतः 'आश्रय' का अलग से कथन न करने पर भी रसानुभूति में कोई बाधा नहीं होगी ॥ ४२ ॥

(८) अद्भुत रस का उदाहरण—

चित्रं महानिति । राजा बलि 'भगवान् वामन' को देखकर कह रहा है—यह महान् पुरुष ! कैसा आश्चर्यकारक ! यह लोकोत्तर अवतार ! कैसी यह अलौकिक कान्ति ! इसकी उठने-बैठने-चलने आदि सभी चेष्टाओं की शैली (भङ्गिमा) भी कैसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अलौकिक ! इतना अलौकिक धैर्य ! इतना अलौकिक प्रभाव ! शरीर की बनावट (आकृति) भी कैसी अद्भुत ! सचमुच यह रचना (सृष्टि) अलौकिक ही है, जो ब्रह्मा की सृष्टि से भिन्न ही है। (ओह ! यह वामन हो 'विष्णु' है क्या ?) ॥४३॥

विशेष विवरण—उपर्युक्त 'उदाहरण' अद्भुत रस का है। इस पद्य में 'चित्र' आदि पद, विस्मय के वाचक नहीं है। किन्तु सम्बद्ध पदार्थ अथवा उसके अवच्छेदक-धर्म 'लोकोत्तर महत्त्व' के वाचक हैं। 'चित्रा'दि पदों को विस्मयार्थक मानने पर 'स्थायिभाव' को स्वशब्दवाच्य कहना होगा, जो दोष कहलाता है। अतः प्रभावशाली यह महापुरुष 'चित्र' अर्थात् लोकोत्तर (अलौकिक) है।

यहाँ 'वामन'—आलम्बन है। 'कान्ति तथा गुणातिशय आदि'—उद्दीपन है। 'स्तुति आदि'—अनुभाव है। 'मति, धृति, हर्ष आदि'—व्यभिचारिभाव हैं। 'विस्मय'—स्थायिभाव है ॥ ४३ ॥

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ का ग्रन्थकार से मतभेद—

पण्डितराज इस पद्य में 'अद्भुत रस' नहीं मानते। वे इसमें 'रसवदलंकार' का होना उचित कहते हैं। क्योकि यहाँ पर 'विस्मय' प्रधान नहीं है, अपितु वह 'स्तुति' का अंगभूत होने से अप्रधान हो गया है। अतः इसे 'रसवदलंकार' का ही उदाहरण कहा जा सकता है। इस अभिप्राय को पण्डितराज के शब्दों में दे रहे हैं—

"यच्च सहृदयशिरोमणिभिः प्राचीनैरुदाहृतं 'चित्रं महानेष बतावतार' इति। तत्रेदं वक्तव्यं प्रतीयतां नामात्र विस्मयः। परन्त्वसौ कथंकारं (अद्भुतरस) ध्वनिव्यपदेशहेतुः। प्रतिपाद्यमहापुरुषविशेषविषयायाः प्रधानीभूतायाः स्तोतृगतभक्तेः प्रकर्षादस्य गुणीभूतत्वात्। यथा महाभारते गीतासु विश्वरूपं दृष्टवतः पार्थस्य 'पश्यामि देवाँस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्' इत्यादौ वाक्यसन्दर्भे। इत्थं चास्य रसवदलङ्कारत्वमुचितम्।

अद्भुतरस के उदाहरण में हिन्दी कवि पद्माकर का एक पद्य पढ़ने योग्य है—

गोपी ग्वालबाल जुरे आपस में कहैं आली,
कोऊ जसुदाको अवतर्‌यौ इन्द्रजाली है।
कहै 'पद्माकर' करै को यौं उताली जापै,
रहन न पावै कहूँ एको फन खाली है॥
देखैं देवताली, भई विधि के खुशाली कूदि,
किलकति काली हेरि हँसत कपाली है।
जनम को चाली परी अद्भुत है ख्याली आजु,
काली की फनाली पै नचत वनमाली है॥ ४२॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(स्थायिभावानां नामतः परिगणनम्)

एषां स्थायिभावानाह—

(सू०४५) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयन्तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः।३०।

स्पष्टम्।

भगवान् श्रीकृष्ण, महाभयानक कालियानाग के सिर पर नृत्य कर रहे हैं। इस भयानक दृश्य को देखकर ग्वाल-बाल आश्चर्य-चकित रह जाते हैं। यहाँ पर 'विस्मय'—स्थायिभाव है। 'कालियानाग को नाथकर यमुना से बाहर खदेड़ना'—आलम्बन है। 'कृष्ण का उसके सिर पर नाचना'—उद्दीपन है। 'ग्वाल-बालों की विचित्र लीलाएँ'—अनुभाव हैं। इस सामग्री के रहने से पूर्ण अद्भुतरस की प्रतीति हो रही है ।।४३।।

इस प्रकार ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने 'संभोगशृंगार' के दो उदाहरण, 'विप्रलंभ शृंगार' के पाँच उदाहरण, और 'अवशिष्ट रसों' में से प्रत्येक का एक-एक उदाहरण, कुल मिलाकर सब रसों के चौदह (१४) उदाहरणों को यहाँ तक बताया है।

स्थायिभावों का क्रमशः नामनिर्देश—

एषामिति। अभीतक बताये गये रसों के स्थायिभावों को कहते हैं—

(सू० ४५) (१) रति, (२) हास, (३) शोक, (४) क्रोध, (५) उत्साह, (६) भय, (७) जुगुप्सा और (८) विस्मय—ये 'आठ,' आठों रसों के क्रमशः स्थायिभाव कहलाते हैं ।। ३० ।।

स्पष्टमिति। कारिका का अर्थ स्पष्ट है।

विशेष विवरण—पूर्वोक्त रसों के स्थायिभावों का नामतः उल्लेख मात्र यहाँ पर किया गया है। उनके लक्षणों को नहीं बताया। किन्तु साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ ने इन सभी स्थायिभावों के लक्षणों को अपने ग्रन्थ में बताया हैं, जो इस प्रकार हैं—

रस	स्थायिभाव	लक्षण
(१) शृंगार	रति	'रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।'
(२) हास्य	हास	'वागादिवैकृताच्चेतो विकासो हास उच्यते।' ।।१७६।।
(३) करुण	शोक	'इष्टनाशादिभिश्चेतो वैक्लव्यं शोक उच्यते।
(४) रौद्र	क्रोध	'प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः क्रोधसंज्ञितः।' ।।१७७।।
(५) वीर	उत्साह	'कार्यारंभेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।'
(६) भयानक	भय	'रौद्रशक्त्या तु जनितं वैक्लव्यं मनसो भयम्' ।।१७८।।
(७) बीभत्स	जुगुप्सा	'जुगुप्सा गर्हणार्थानां दोषमाहात्म्यदर्शनात्'।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

GC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(व्यभिचारिभावानां नामतः परिगणनम्)

व्यभिचारिणो ब्रूते—

(सू०४६) निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥३१॥

---

(८) अद्भुत विस्मय 'विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥१७९॥
विस्मयश्चित्तविस्तारो वस्तुमाहात्म्यदर्शनात् ।'

(९) शान्त शम 'शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥१८०॥

'चित्तवृत्तिविशेष' को ही 'भाव' कहते हैं। अभिनवगुप्तपाद ने 'भावों' की स्थायिता को इस प्रकार बताया है—

वे कहते हैं कि 'रति-हास-शोकादिरूप चित्तवृत्तिविशेष' को 'स्थायी भाव' की संज्ञा इसलिए दी गई है कि इनका सम्बन्ध, साक्षात् अथवा परम्परया पुरुषार्थ-चतुष्टय से है। ये 'स्थायी भाव' संवित्स्वरूप हैं। इनकी अभिव्यक्ति का जो अनुभव होता है, वह आनन्दरूप यानी 'रसरूप' है। श्रीअभिनवगुप्तपाद के शब्द इस प्रकार हैं—

"अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद् विश्राम्यति ? तस्यैव च प्रत्ययस्य प्रधानानन्तरं प्रत्यनुधावतः स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात् । अतोऽप्रधानत्वं जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुखप्रेक्षिणि संभवतीति तदतिरिक्तः स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम् । तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित् संविद इति प्रधानम् । तद् यथा—रतिः कामतदनुषङ्गिधर्मार्थनिष्ठा, क्रोधस्तत्प्रधानेष्वर्थनिष्ठः कामधर्मपर्यवसितोऽप्युत्साहः समस्तधर्मादिपर्यवसितस्तत्त्वज्ञानजनितनिर्वेदप्रायोऽपि भावो मोक्षोपाय इति तावदेषां प्राधान्यम् ।………तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः स्वसंविच्चर्वणरूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्याऽऽनन्दसारत्वात् ।"

व्यभिचारिभाव—

स्थायिभावों का निरूपण करने के बाद ग्रन्थकार व्यभिचारिभावों को बता रहे हैं—

(सू० ४६) (१) निर्वेद—तत्त्वज्ञान आदि से होने वाला स्वावमानन अर्थात् अपने प्रति तुच्छता-बुद्धि ।

(२) ग्लानि—मनस्ताप आदि से होने वाली निष्प्राणता अर्थात् उत्साहहीनता का हेतुभूत चित्तवृत्तिविशेष ।

(३) शङ्का—आत्मदोष आदि से अनर्थ का चिन्तन ।

(४) असूया—दूसरों के गुणों का सहन न होना ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥३२॥
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥३३॥

---

(५) मद—संमोह और आनन्द का सम्मिश्रणरूप चित्तवृत्तिविशेष ।
(६) श्रम—ग्लानि को उत्पन्न करने वाली चित्तवृत्ति ।
(७) आलस्य—परिश्रमादि से उत्पन्न उद्योग-शून्यता की मनोदशा ।
(८) दैन्य—दुर्गति आदि से मन की ओजस्विताहानि ।
(९) चिन्ता—हित की अप्राप्ति में ध्यान की एकतानता ।
(१०) मोह—दुःखादि चिन्तन से चित्त की शून्यता ।
(११) स्मृति—सदृश अनुभव आदि से होने वाला पूर्वानुभूत वस्तु का ज्ञान ।
(१२) धृति—अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति में स्पृहा-निवृत्ति ।
(१३) व्रीडा—चित्त का संकोच ।
(१४) चपलता—द्वेषादि के कारण चित्त की अस्थिरता ।
(१५) हर्ष—अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति से मन की प्रसन्नता ।
(१६) आवेग—अनर्थ की अधिकता से होने वाला चित्त-संभ्रम ।
(१७) जडता—चिन्ता आदि के कारण किसी कार्य में पटुता का न रहना ।
(१८) गर्व—अपने प्रभाव आदि से अन्यत्र अवज्ञा ।
(१९) विषाद—कार्य की असफलता से सत्त्व का क्षय होना ।
(२०) औत्सुक्य—अभिलषित वस्तु की प्राप्ति में विलम्ब को सहन न करना ।
(२१) निद्रा—परिश्रम के कारण इन्द्रियों की व्यापार-शून्यता ।
(२२) अपस्मार—मनोव्यथा आदि के कारण स्मृति का न रहना ।
(२३) सुप्त (सोना)—निद्रावस्था में विषय का अनुभव न होना ।
(२४) प्रबोध (जागना)—निद्रा समाप्त होने पर चैतन्य की उपलब्धि ।
(२५) अमर्ष (क्रोध)—स्थिरतर क्रोध ।
(२६) अवहित्था—लज्जा आदि के कारण प्रसन्नता आदि को छिपाना ।
(२७) उग्रता—अधिक्षेप अपमानादि के कारण चित्त की प्रचण्डता ।
(२८) मति—शास्त्रोपदेश मन्त्र आदि के कारण अर्थ का निर्धारण करना ।
(२९) व्याधि—विरह आदि के कारण शरीर को दुःस्थित करने वाला मनस्ताप ।
(३०) उन्माद—चित्त-विभ्रम ।
(३१) मरण—जीव का उद्गमनारंभ अथवा मूर्छा ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥३४॥

(३२) त्रास—उत्पात से होने वाला मनःक्षोभ ।

(३३) वितर्क—सन्देह उत्पन्न होने पर विचार ।

इन तैंतीस व्यभिचारिभावों को नामग्रहणपूर्वक बता दिया है ।

विशेष विवरण—जिन 'विशिष्ट चित्तवृत्तियों' का अभिनय; नाट्य में किया जा सकता है, उनको 'भाव' संज्ञा दी गई है । वे 'भाव' उनचास (४९) हैं । उनमें 'आठ' (८) स्थायिभाव हैं । और तैंतीस (३३) व्यभिचारिभाव हैं । तथा आठ (८) सात्त्विकभाव हैं । 'विभाव' और 'अनुभाव' भावरूप नहीं हैं, अपितु वे भाव-बाह्य हैं । मूलकारिका में प्रतिपादित 'निर्वेदादि' भी चित्तवृत्ति-विशेष ही हैं ।

'स्रक्सूत्रन्याय' से 'स्थायिभावों' का 'नियत अवस्थान' रहता है । और 'फेनबुद्बुदन्याय' से 'व्यभिचारिभावों' का 'अनियत अवस्थान' रहता है । यही दोनों में भेद है ।

ये विशिष्ट चित्तवृत्तियाँ ही 'रसरूप काव्यार्थ' की भावक (निष्पादक) होती हैं, इसलिए इन 'चित्तवृत्तियों' को 'भाव' कहा गया है । वस्त्रों में 'कस्तूरी' की सुगन्ध की तरह ये वृत्तियाँ अपनी भावना शक्ति से 'सहृदय-सामाजिकों के हृदय' में व्याप्त हो जाती हैं । इन उनचास 'भावों' में से जिनमें स्थिरता (स्थायिता) की योग्यता रहती है उन्हें 'स्थायिभाव' कहते हैं । और जो अवशिष्ट भाव हैं, वे 'स्थायिभावों' के पोषक होते हैं, उन्हें 'व्यभिचारी भाव' कहा गया है । इसी बात को श्री अभिनवगुप्तपाद ने अपनी अभिनवभारती में कहा है—

"भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः ।...तेषां तु योग्यतावशाद् यथायोगं स्थायिसंचारिविभावानुरूपता संभवति । ये त्वेते ऋतुमाल्यादयो विभावा बाह्याश्च बाष्पप्रभृतयोऽनुभावास्ते न भावशब्दव्यपदेश्याः । ननु संवित्स्वभावे निमज्जनादत एव उन्मज्जनाच्च तेऽपि संविदात्मकाः ? एवं तर्हि विश्वमेव भावमयं स्यादुपचारात् विज्ञानवादाश्रयाद्वेति अभिनयधर्म्यादीनां पृथक्त्वानुपपत्तिः । तस्मात् स्थायि-व्यभिचारिसात्त्विका एव भावाः ।"—(अभि० भा० ७ अ०) "एते च व्यभिचारिणो विद्युदुन्मेष-निमेषयुक्त्यैव स्थायिसूत्रमध्ये प्रकटयन्तस्तिरोदधतश्च तद्वैचित्र्यमावहन्ति, न तु स्थिराः । यद्यपि स्थाय्यपि न स्थिरः, तथापि संस्काररूपतया धारावाहिसजातीयप्रवाहरूपतया च स्थिर एव । व्यभिचारिणस्तु नैवं क्षणमपि भवन्ति । संस्कारमपि स्वकं स्थायिसंस्कार एव प्रौढयन्ति ।"—(अभि० भा० ६ अध्या०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(निर्वेदस्य प्रथमनिर्देशे हेतुः)

निर्वेदस्यामङ्गलप्रायस्य प्रथममनुपादेयत्वेऽप्युपादानं व्यभिचारित्वेऽपि स्थायिताऽभिधानार्थं तेन—

(शान्तस्यापि नवमरसत्वम्)

(सू०४७) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।

(शान्तरसस्य उदाहरणम्)

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥ ४४ ॥

तैंतीस व्यभिचारिभावों को गिनाने के बाद 'शान्तरस' का निरूपण करने के पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि ३३ व्यभिचारिभावों की परिगणना करते समय सर्वप्रथम परिगणित जो 'निर्वेद' है, वह 'स्थायिभाव' तथा 'व्यभिचारिभाव' दोनों है। उसकी 'स्थायिभावता' के सम्बन्ध में बता रहे हैं।

निर्वेदस्येति। 'तैंतीस व्यभिचारिभावों' में सर्वप्रथम परिगणित जो 'निर्वेद' है, वह प्रायः अमङ्गल रूप है। उसका सर्वप्रथम उल्लेख करना यद्यपि अनुचित है, तथापि उसका सर्वप्रथम उल्लेख इसलिए किया गया है कि उसमें 'व्यभिचारिभावता' होने पर भी 'स्थायिभावता' भी होती है—यह बताने के लिए उसका उल्लेख सर्वप्रथम यहाँ किया गया है। अभिप्राय यह है कि 'निर्वेद' व्यभिचारी भाव तो है ही साथ ही वह 'शान्तरस' का स्थायिभाव भी है। अवशिष्ट अन्य किसी व्यभिचारिभाव में यह बात नहीं पाई जाती। अतएव 'निर्वेद' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। इसलिए—

शान्तरस निरूपण—

(सू० ४७) पूर्वप्रतिपादित आठ रसों के अतिरिक्त एक और भी नवाँ 'रस' है, जिसे 'शान्त' कहते हैं, और उसका स्थायिभाव 'निर्वेद' है।

(९) शान्तरस का उदाहरण—

अहौ वेति। सर्प और मोतियों का हार (दोनों में समबुद्धि रखने वाले, इसी प्रकार) पुष्पशय्या और पाषाण-शिला में, (समबुद्धि) मणि और मिट्टी के ढेले में (समबुद्धि), बलवान् शत्रु तथा मित्र में (समबुद्धि), तिनके में और स्त्रियों के समूह में समबुद्धि रखने वाले मेरे दिन किसी भी, अर्थात् श्मशानादि अपवित्र स्थान में अथवा नैमिषारण्यादि पवित्र तपोवन में, शिव-शिव-शिव अर्थात् श्रेयस्कर नाम का जप या चिन्तन करते हुए अथवा अनर्थक प्रलाप करते हुए व्यतीत हो रहे हैं।॥४४॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष विवरण—जीवन्मुक्त योगी की विद्यमान अवस्था का वर्णन उक्त पद्य में किया गया है। यहाँ पर मिथ्या प्रतीत होने वाला 'जगत्'–आलम्बन है, 'तपोवन आदि'–उद्दीपन हैं। 'सर्प और मुक्ताहार आदि में समबुद्धि'–अनुभाव है। 'धृति', 'मति' और 'हर्ष' आदि–व्यभिचारिभाव हैं। और तत्त्वज्ञानजन्य 'निर्वेद'—स्थायिभाव है। इस सामग्री से सामाजिक के हृदय में 'शान्तरस' की अभिव्यक्ति होती है ॥ ४४ ॥

शान्तरस का उदाहरणरूप एक हिन्दी पद्य—

भूखे अघाने रिसाने हितू अहितून्ह ते स्वच्छ मने हैं।
दूषन भूषन कञ्चन काँच जू मृत्तिका मानिक एक गने हैं।
सूल सों फूल सों माल प्रवाल सों 'दास' हिए सम सुक्ख सने हैं।
राम के नाम सों केवल काम तेई जग जीवन-मुक्ख बने हैं ॥

इसमें जीवन्मुक्त पुरुष का वर्णन है। संसार की असारता–आलंबन है, 'शम'–स्थायिभाव है। 'सन्तसमागम तथा तीर्थयात्रा' आदि से 'शम' स्थायिभाव उद्दीप्त होता है। 'बुभुक्षा से अघाना, शूल को फूल समझना, मोती को काँच समझना, मिट्टी तथा हीरा को समान समझना, आदि'–अनुभाव हैं। 'मन में हर्ष, प्रबोध, वितर्क' आदि व्यभिचारिभाव हैं। इन सब के होने से यह शान्तरस का उदाहरण है ॥४४॥

विशेष विवरण—शंका–'निर्वेद' के संबन्ध में काव्यप्रकाश के 'प्रदीप' व्याख्याकार ने यह शंका की है कि 'शान्तरस' की भावना तो अनिवार्य है किन्तु 'निर्वेद' को उसका 'स्थायिभाव' नहीं कह सकते। उसका 'स्थायिभाव' तो 'शम' होना चाहिये। क्योंकि 'निर्वेद' तो समस्त चित्तवृत्तियों का 'अभाव' स्वरूप है। अतः अभावस्वरूप होने से उसे 'स्थायिभाव' कैसे कहा जाय। किन्तु 'शम' भावरूप है। क्योंकि निरीह अवस्था में आत्मलीन होने पर जो आनन्द होता है, उसे 'शम' कहते हैं। अतः 'शम' को ही 'शान्तरस' का 'स्थायिभाव' कहना चाहिये। और 'निर्वेद' को 'व्यभिचारिभाव' (संचारिभाव) कहना चाहिये। इसी बात को प्रदीपकार के शब्दों में देखिये, वे लिखते हैं कि—

अत्र वदन्ति—शान्तो नाम रसस्तावदनुभवसिद्धतया दुरपह्नवः। न चैतस्य स्थायी निर्वेदो युज्यते। तस्य विषयेष्वलं प्रत्ययरूपत्वात्, आत्मावमानरूपत्वाद्वा। शान्तेश्च निखिलविषयपरिहारजनितात्ममात्रविश्रामानन्दप्रादुर्भावमयत्वानुभवात्। तदुक्तं (कृष्णद्वैपायनेन) 'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥' इति। अत एव 'सर्वचित्तवृत्तिविरामोऽस्य स्थायी' इति निरस्तम्। अभावस्य स्थायि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्याऽयोगात्। तस्मात् शमोऽस्य स्थायी। निर्वेदादयस्तु व्यभिचारिणः। स च शमो निरीहावस्थायामानन्दः स्वात्मविश्रामात् इति।"

समाधान--किन्तु प्रदीपकार की उक्त शंका का समाधान उद्योत तथा सुधासागरकार आदि व्याख्याकारों ने किया है। उनका समाधान इस प्रकार है--'शान्तरस' का 'स्थायिभाव' 'निर्वेद' ही है, जो 'तत्त्वज्ञानजन्य' है। जैसे निरपेक्षभाव रूप 'शोक' को 'स्थायिभाव' कहा जा सकता है, उसी प्रकार 'निर्वेद' को भी 'स्थायिभाव' कह सकते हैं।

प्रश्न--भरतमुनि ने भी तो 'क्वचिच्छमः' कहा है। तब उसके विरुद्ध 'निर्वेद' को स्थायिभाव बताना कैसे संभव हो सकता है?

उत्तर--भरतमुनि ने जो 'क्वचिच्छमः' कहा है, वहाँ भी 'शम्यते यस्मात् इति शमः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'शम' शब्द का वाच्यार्थ-'निर्वेद'-ही होता है। उसी तरह 'तृष्णाक्षय' शब्द का वाच्यार्थ भी 'तृष्णायाः क्षयो यस्मात्' इस व्युत्पत्ति से 'निर्वेद' ही है। अत एव 'एकोनपञ्चाशद्भावाः' इस भरतोक्ति की संगति भी लगती है। क्योंकि आठ स्थायीभाव, आठ सात्त्विकभाव और तैंतीस व्यभिचारीभाव-इन सबका संकलन करने पर उनचास (एकोनपञ्चाशत्) संख्या निष्पन्न होती है। अन्यथा 'शम' को भी 'भाव' मान लेने पर अधिक संख्या अर्थात् उनचास के बजाय पचास संख्या हो जायगी। तब 'एकोनपञ्चाशद्भावाः' यह भरतोक्ति कैसे संगत होगी? ऐसा उद्योतकार ने स्पष्ट कहा है।

ग्रन्थकार श्री मम्मटभट्ट, नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि के अनुयायी हैं। 'शान्तरस' को भरत के अनुसार उन्होंने भी माना है। भरतमुनिकृत 'नाट्यशास्त्र' के व्याख्याकार श्री अभिनवगुप्तपाद ने भरतसम्मत 'शान्तरस और उसके स्थायिभाव' पर अनेक पक्ष-प्रतिपक्षों को प्रकाशित किया है। किन्तु ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने विस्तारभय के कारण यहाँ उनका उल्लेख न करके केवल 'शान्तोऽपि नवमो रसः' कह दिया है। नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि के अभिप्राय को स्पष्ट करने वाले अभिनवगुप्तपाद के लेख के आधार पर ही मम्मटभट्ट ने 'शान्तरस' को माना है। अभिनवगुप्तपाद ने कहा है कि तीन पुरुषार्थों (धर्म-अर्थ-काम) की उपलब्धि के लिए शृङ्गारादि आठ रसों का स्वीकार जैसे किया जाता है, उसी तरह चतुर्थ पुरुषार्थ (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए काव्य (श्रव्य) और नाट्य (दृश्य) में नवम 'शान्तरस' को मानना परम आवश्यक है। यही बात श्री अभिनवगुप्तपाद के शब्दों में इस प्रकार कही गई है—

'तत्र शान्तो रस इति। अत्रोच्यते—यथा इह तावत् धर्मादित्रितयम्, एवं मोक्षोऽपि पुरुषार्थः, शास्त्रेषु स्मृतीतिहासादिषु च प्राधान्येनोपायतो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्युत्पाद्यत इति सुप्रसिद्धम् । यथा च कामादिषु समुचिताश्चित्तवृत्तयो रत्यादिशब्दवाच्याः कवि-नटव्यापारेण आस्वादयोग्यताप्रापणद्वारेण तथाविधहृदयसंवादवतः सामाजिकान् प्रति रसत्वं शृङ्गारादितया नीयन्ते, तथा मोक्षाभिधानपरमपुरुषार्थोचिता चित्तवृत्तिः किमिति रसत्वं नानीयत इति वक्तव्यम्'– (अभि० भा० शान्तरसप्रकरणम्) ।

उसी तरह श्रीमम्मटभट्ट ने शान्तरस का 'स्थायिभाव' जो 'निर्वेद' बताया है, उसमें भी अभिनवगुप्तपाद को ही आधार माना है । श्रीगुप्तपाद कहते हैं—

'या चासौ तथाभूता चित्तवृत्तिः सैवात्र स्थायिभावः । एतत्तु चिन्त्यम् । किन्नामाऽसौ ? तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित् । तथाहि दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदः ततोऽन्य एव, हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात् । स्थायिसञ्चारिमध्ये नैतदर्थमेवायं पठितः, अन्यथा माङ्गलिको मुनिः तथा न पठेत् । जुगुप्सां च व्यभिचारित्वेन शृङ्गारे निषेधन् मुनिर्भावानां सर्वेषामेव स्थायित्वसञ्चारित्वसात्त्विकत्वानुभावत्वानि योग्यतोपनिपतितानि शब्दार्थबलाकृष्टानि अनुजानाति । तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेदः स्थाय्यन्तरोपमर्दकः । भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमः स्थायिशीलः स एव किल स्थाय्यन्तराणामुपमर्दकः ।'—(अभि० भा० शां० र० प्रक०)

'निर्वेद' को शान्तरस का स्थायिभाव मानने का पूर्ण समर्थन स्पष्ट रूप से सुधासागरकार ने भी किया है—

'न चैतावता 'निर्वेदः स्थायिभावाख्यः' इति वदतां श्रीवाग्देवतावतारवृत्तिकाराणां प्रमादः शङ्क्यः । तत्त्वज्ञानजन्यनिर्वेदस्यैव शमरूपत्वात् । आपदीर्ष्यादिकारणान्तरजन्यस्य तस्य स्वावमाननरूपत्वात् । अस्यैव चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनतादिकार्योत्पादकत्वम् । न खलु ब्रह्मज्ञानजन्यनिर्वेदस्य वैवर्ण्योच्छ्वासादिकार्यजनकता स्वप्नेऽपि संभवतीति सूक्ष्मदृशावधातव्यम् । एवं च तत्त्वज्ञानजन्यनिर्वेदस्य स्थायित्वं, कारणान्तरजन्यस्य व्यभिचारित्वमिति तत्त्वम् । उक्तं चान्यत्राचार्यैः—'स्थायी स्याद् विषयेष्वेष तत्त्वज्ञानाद् भवेद् यदि । इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ ॥' इत्यलं बहुना इति ।

ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने अभी तक नौ रसों का निरूपण किया । अब 'भावों' का निरूपण कर रहे हैं । 'रसभावतदाभासः' (सू० ४२) सूत्र में 'रस' के समान 'भाव' को भी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (ध्वनि) के रूप में बताया है । किन्तु उसका (भाव का) स्वरूप क्या है ? यह जिज्ञासा होती है । क्योंकि 'रति' आदि तो रसरूप हैं । 'व्यभिचारियों' में रसांगत्व निश्चित होने से वे अप्रधान रहते हैं । और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'सात्विकों' में व्यङ्ग्यता नहीं रहती। अतः 'भाव' का लक्षण करना क्रम-प्राप्त है। वैसे तो 'स्थायिभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव' इनमें 'भाव' शब्द का प्रयोग होने पर भी प्रस्तुत निरूप्यमाण 'भाव' पूर्वोक्त 'भावों' से अलग ही है। भरत ने 'भाव' शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है—(१) भवन्तीति भावाः, और (२) भावयन्तीति भावाः।

'भाव' से तात्पर्य यह है कि 'भाव' चित्तवृत्तिस्वरूप होते हैं। 'भवन्तीति भावाः' इस प्रथम व्युत्पत्ति के अनुसार 'स्थित रतिभाव' का प्रकट होना अर्थ निष्पन्न होता है। अतः 'रति' के स्थित होने के कारण उस 'रति' को 'भाव' संज्ञा दी गई है। इससे प्रतीत होता है कि 'भाव' अपने उत्कर्ष को प्राप्त करता है।

और 'भावयन्तीति भावाः' इस द्वितीय व्युत्पत्ति के अनुसार 'भाव' शनैः-शनैः-अधिकतर-अधिकतम रूप से विकसित होता रहता है। वह एक क्षण भर भी स्थिर नहीं रहता। सीमित समय में अनुभाव की प्रतीति के द्वारा ये 'भाव' चित्तवृत्तियों को भावित करते हैं। इस प्रकार हृदय में व्याप्त होकर ये 'भाव' आस्वादनीय हो जाते हैं।

भरत ने 'भाव' का लक्षण बताया है—

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते।
वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः॥ १॥
वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।
कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते॥ २॥
नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥ ३॥

—[ना० शा० ७।१-२-३]

जो अर्थ, 'विभावों' के द्वारा प्रस्तुत होते हुए 'अनुभावों' से बोधगम्य होते हैं, वे ही 'वाणी', 'अंग' तथा 'सात्त्विक भावों' के अभिनयों से युक्त होने पर 'भाव' कहे जाते हैं॥ १॥

नाट्यकार की नाट्यरचना में निगूढ भावों को दर्शकों के लिए बोधगम्य बनाने के हेतु जो वाणी, शरीर के अवयवों तथा चेहरों के रंगों द्वारा 'भाव' का प्रदर्शन किया जाता है उसे 'भाव' जानो॥ २॥

क्योंकि ये अनेकविध अभिनयों से (युक्त) 'रसों' का भावन करते हैं, अतएव इन्हें नाट्यनिर्माता (या प्रयोक्ता) गण 'भाव' कहते हैं॥ ३॥

अतः क्रमप्राप्त 'भाव' का लक्षण किया जा रहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अलक्ष्यक्रमेषु पठितस्य भावस्य स्वरूपम्)

(सू०४८) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाऽञ्जितः ॥३५॥
भावः प्रोक्तः—

आदिशब्दान्मुनि-गुरु-नृप-पुत्रादिविषया, कान्ताविषया तु व्यक्ता—शृङ्गारः।

उदाहरणम्—

(देवविषयकरतिभावस्य उदाहरणम्)

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥ ४९ ॥

भाव का लक्षण—

(सू० ४८) 'भाव' ध्वनि उसे कहा गया है, जो देवादिविषयक 'रति' आदि स्थायिभावों के वर्णन में और 'व्यभिचारिभावों' की अभिव्यंजना में प्रतीत होता है। अर्थात् देवादिविषयक 'रति' (आदि सभी स्थायिभाव), और 'व्यङ्ग्य व्यभिचारिभाव' को 'भाव' शब्द से कहा गया है ॥ ३५ ॥

विशेष विवरण—इस सूत्र में 'रति' शब्द, सकल स्थायिभावों का उपलक्षण है। 'देवादिविषया' रति भी अप्राप्तरसावस्था का उपलक्षण है। 'तथा' शब्द 'च' (और) के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। इससे अर्थ यह निष्पन्न हुआ कि 'देवता आदि के विषय' में, यहाँ तक कि 'कान्ता आदि के विषय' में भी अपुष्ट रति और रसावस्था को प्राप्त न हुए 'हास' आदि और 'विभाव एवं अनुभाव' से प्रधानतया व्यञ्जित (अञ्जित) हुआ 'व्यभिचारी'—'भाव' कहलाता है। प्रदीपकार ने कहा है—

रत्यादिश्चेन्निरङ्गः स्याद् देवादिविषयोऽथवा।
अन्याङ्गभावभाग्वा स्यान्न तदा स्थायिशब्दभाक् ॥

आदिशब्दादिति। 'आदि' शब्द से मुनि, गुरु, राजा और पुत्रादिविषयक 'रति' का संग्रह किया गया है। अर्थात् 'देवताविषयक रतिभाव' का वर्णन 'भाव-ध्वनि' कहलाता है। वैसे ही 'मुनिविषयक, गुरुविषयक, राजविषयक, पुत्रविषयक, मातृ-पितृ आदिविषयक रतिभाव' के वर्णन को भी 'भावध्वनि' कहते हैं। किन्तु 'कान्ता (स्त्री) विषयक' 'रति' के व्यक्त होने पर उसे 'शृंगार' कहा जाता है। अर्थात् वह 'शृंगाररसध्वनि' कहा जाता है।

देवविषयक रतिभाव का उदाहरण—

काश्मीर के महान् विद्वान् श्रीमदुत्पलाचार्य-विरचित 'परमेश्वरस्तोत्रावलि' के तेरहवें स्तोत्र में से यह पद्य प्रस्तुत कर रहे हैं—

कण्ठेति। हे भगवन्! हे महादेव! आपके कण्ठ का स्पर्श पाया हुआ वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(मुनिविषयकरतिभावस्य उदाहरणम्)

हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ ४६ ॥

हालाहल (कालकूट) विष भी मेरे लिए अमृत के तुल्य प्रिय है। किन्तु आपके शरीर से अलग रहने वाला सिर पर धारण किया हुआ चन्द्रकलारूप अमृत भी यदि मुझे अनायास उपलब्ध हो जाय तो वह प्रिय नहीं है ॥ ४५ ॥

विशेष विवरण—इस पद्य में 'महादेव'—आलम्बन है। 'ईश पद से प्रतिपाद्य अव्याहत ऐश्वर्य'—उद्दीपन है। 'स्तव'—अनुभाव है। 'धृति और माहात्म्य का स्मरण' आदि—व्यभिचारिभाव हैं। इस सामग्री से भक्तनिष्ठ (स्तुति करने वाले भक्त के हृदय में स्थित) 'रति' का अनुमान करने वाले सहृदय सामाजिकों को उन्हीं विभावादिकों से व्यञ्जित 'भाव' (रति) का अनुभाव होता है। यहाँ 'रति' पूर्णतया पुष्ट न होने से उसे 'रस' नहीं कहा जा सकता। रसरूपता को प्राप्त न होने से ही उसे 'भाव' शब्द से कहा गया है। किन्तु उद्योतकार ने उसके 'भाव' कहलाने में या उसे 'रस' न कहने में मुनि की 'स्वतन्त्र इच्छा' को और 'फलबलकल्प्यसामग्रीवैलक्षण्य से तथा सहृदय संवाद से होने वाले उत्कट आनन्दांश के प्रकाशाभाव' को कारण बताया है।

देवविषयक रतिभाव के उदाहरणरूप में हिन्दी के महाकवि सेनापति का एक पद्य—

पान चरनामृत को गान गुन-गानन को,
हरि-कथा सुने सदा हिय को हुलासियो;
प्रभु के उतरीन की गूदरी करौं चीरन की,
भाल भुजकंठ कर छापन को लसिवो।
'सेनापति' चाहति है सकल जनम भरि,
वृंदावन सीमा ते न बाहिर निकसिवो;
राधा-मनरंजन की सोभा नैन-कंजन की,
माल गरै गुंजन की कुंजनि में बसिबो।

यहाँ श्रीवृन्दावन-विहारी के प्रति कवि का जो प्रेम ध्वनित हो रहा है, वह 'देवविषयक रतिभाव' है।

मुनिविषयक रतिभाव का उदाहरण—

महाकवि माघ द्वारा विरचित शिशुपालवध नामक महाकाव्य के प्रथम सर्ग से यह पद्य प्रस्तुत किया गया है। भूमण्डल पर अवतरण करने वाले देवर्षि नारदजी का स्वागत करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण उनकी स्तुति कर रहे हैं—

हरतीति। हे मुने! आपका दर्शन, शरीरधारी प्राणियों की योग्यता को तीनों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

अञ्जितव्यभिचारी यथा—

(प्राधान्येन वर्णितस्य व्यभिचारिभावस्य उदाहरणम्)

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मा संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः ।

कालों (वर्तमान, भविष्यत् तथा भूत) में प्रकट करता है। क्योंकि वह वर्तमान-काल में पाप का विनाश करता है, भविष्यत्काल में प्राप्त होने वाले कल्याण का हेतु (निमित्त कारण) बनता है। और पूर्वाचरित (अतीतकाल में यानी पूर्व-जन्मार्जित) सुकृतों (पुण्यों) से वह प्राप्त हुआ है ।। ४६ ।।

विशेष विवरण—इस पद्य में 'मुनिविषयक श्रीकृष्णनिष्ठ रति' का आलंबन—'मुनि' है। 'दर्शनयोग्यताव्यञ्जन'—उद्दीपन है। 'श्रीकृष्ण की इस प्रकार की उक्ति'—अनुभाव है। उससे 'व्यङ्ग्य हर्ष'—व्यभिचारी है। मुनिविषयक श्रीकृष्णनिष्ठ-रति को समझने वाले सामाजिक के हृदय में भावनिष्पत्ति होती है।

एवमन्यदपीति । इस प्रकार (गुरु, राजा, पुत्र आदि विषयक रति आदि भावों के) अन्य उदाहरणों को स्वयं समझ लेना चाहिये ।

विशेष विवरण—कुछ उदाहरण निम्न प्रकार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

गुरुविषया रतिः—

भवसागरबान्धवादुपेन्द्रप्रपदक्षालनवारितो विशिष्टम् ।
भवसागरवैरि-वंदनीयं गुरुपादोदकमेव केवलं नः ।।

नृपविषया रतिः—

संकल्पेऽङ्कुरितं द्विपत्रितमथ प्रस्थानवेलागमे
मार्गे पल्लवितं पुरं प्रविशतः शाखान्तरैरावृतम् ।
प्रादुर्भाविनि दर्शने मुकुलितं श्रीकर्णदृष्टे त्वयि
प्रोत्फुल्लं फलितं च सम्प्रति मनोराज्यद्रुमेनाद्य मे ।।

पुत्रादिविषया रतिः—

एह्येहि वत्स रघुनन्दन पूर्णचन्द्र चुम्बामि मूर्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम् ।
आरोप्य वा हृदि दिवानिशमुद्वहामि वन्देऽथवा चरणपुष्करकद्वयं ते ॥
—(महावीरचरित० अंक १)

कतिपय प्रतियों में वृत्ति के अन्तर्गत इस पद्य को दिया है और सारबोधिनी-कार ने उसकी व्याख्या भी की है।

भाव के द्वितीय भेद-प्राधान्येन वर्णित 'व्यङ्ग्यव्यभिचारी' का उदाहरण—

प्रियतमा से वियुक्त हुए किसी नायक की अपने मित्र के प्रति यह उक्ति है—

जाने इति । हे भाई ! क्रोध के कारण पराङ्मुख हुई प्रियतमा को आज मैंने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नो यावत्परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥ ४७ ॥
अत्र विधिं प्रत्यसूया ।

स्वप्न मे देखा। 'नहीं-नहीं, मुझे मत छूओ' इस प्रकार हाथ से ही सूचित कर वह रोती हुई चल दी। उसके बाद जैसे ही मैं उसे आलिङ्गन तथा नाना प्रकार से अनुनय-विनय के द्वारा मनाने की सोचने लगा, उसके पूर्व ही धूर्त (वञ्चक) विधाता ने मेरी निद्रा भङ्ग कर दी ॥ ४७ ॥

अत्रेति। यहाँ पर प्रधानतया 'विधि' के प्रति 'असूया' प्रतीत हो रही है।

विशेष विवरण—निश्चित रूप से मैं जान रहा हूँ कि इस प्रकार का अकार्य, दूसरे का अहित करने वाले उस शठ (धूर्त-वञ्चक) विधाता का ही हो सकता है। यहाँ शठत्वोपन्यासरूप विचित्र अनुभाव से प्रतीयमानव्यङ्ग्य (विधाता के प्रति 'असूया' रूप व्यभिचारी) का अपनी चारुता के कारण मुख्यतः प्राधान्य है। 'जाने, शठ' कहकर उसकी अपकारिता का निश्चय होने से उसके प्रति 'असूया' का प्रकर्ष बताया गया है।

यहाँ पर 'विधि'—आलम्बन है। 'विधिदौर्जन्य'—उद्दीपन है। 'शठत्वोक्ति'—अनुभाव है। और प्राधान्येन व्यञ्जित 'असूयारूप' व्यभिचारी को 'भाव' शब्द से बताया गया है। 'असूया की अभिव्यक्ति' स्पष्ट होने से यह काव्य 'भाव-ध्वनि' का आनन्द दे रहा है।

'रसध्वनि' और 'भावध्वनि' में पारस्परिक कुछ तारतम्य होता है। वस्तुतः 'रसध्वनि' की ही एक प्रकार से स्वसंवेद्य विशेषता 'भावध्वनि' में रहती है। काव्य की आत्मा तो 'रस' ही है। और 'एकघन आनन्दानुभव' ही 'रस' का स्वरूप है। किन्तु कभी-कभी इस 'रसरूप एकघन आनन्दानुभव' में उसके किसी एक अंश का कोई 'विशेष चमत्कार' भी संभव हो जाता है। इस अवस्था में उसे 'रसध्वनि' न कहकर 'भावध्वनि' कहा जाता है। एवं च 'व्यभिचारी-भाव' अपनी 'उदय, स्थिति, अपाय' आदि अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में उपस्थित होकर जहाँ उत्कट चमत्कार की प्रतीति करावे, वहाँ आस्वाद्य रस के रहने पर भी आस्वादातिशय का हेतु व्यभिचारीभाव को ही मानना होगा। और आस्वादातिशयाधायक व्यभिचारी के होने पर उसे 'भावध्वनि' ही कहा जायगा। यही बात अभिनवगुप्तपाद ने बताई है—

"स च रसादिध्वनिर्व्यवस्थित एव, नहि तच्छून्यं काव्यं किञ्चिदस्ति। यद्यपि च रसेनैव सर्वं जीवति काव्यम्, तथापि तस्य रसस्यैकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात् प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। तत्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(रसाभास-भावाभासयोर्वर्णनम्)

(सू०४९)—तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः ।

तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।

यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति तदा भावध्वनिः । व्यभिचारिण उदयस्थित्यपायत्रिधर्मकाः ।"

—[ध्वन्यालोकलोचन—२।३]

रसाभास, भावाभासों का निरूपण—

रस तथा भावों को बताने के पश्चात् रसाभास और भावाभासों का निरूपण करते हैं।

(सू० ४९) पूर्वोक्त 'रस' तथा 'भावों' का अनुचित रूप से वर्णन 'रसाभास' तथा 'भावाभास' कहलाता है ।

तदाभासा इति । 'तदाभासाः' का तात्पर्य 'रसाभास' तथा 'भावाभास' समझना चाहिये ।

विशेष विवरण—'तत्' इस सर्वनाम पद से 'रस' और 'भाव' दोनों का परामर्श किया गया है। सन्निहित जानकर केवल 'भाव' का ही नहीं, इस रहस्य को बताने के लिए ही 'रसाभासा भावाभासाश्च' कहा है। 'शृङ्गारादि' रसों अथवा 'भावों' का अनुचित रूप से वर्णन किये जाने पर 'रसाभास' तथा 'भावाभास' कहा जाता है। लोकशास्त्र-मर्यादा का अतिक्रमण करके प्रतिषिद्ध विषय का वर्णन करना ही अनौचित्य का स्वरूप है। उसका अनुभव सामाजिकों को होता है। वह अनौचित्य अनेक प्रकार का होता है। उद्योतकार तो कहते हैं कि सहृदयजनों को अनुचित प्रतीत होना ही 'अनौचित्य' है। यद्यपि वस्तुतः रस का अनौचित्य रूप में होना रसदोष ही है, तथापि आपातरमणीय होने के कारण इसके द्वारा भी क्षण भर के लिए 'रस के आस्वाद' का आभास हो ही जाता है। 'जल में सूर्य के प्रतिबिम्ब के समान अवास्तविक स्वरूप' को 'आभास' कहते हैं। आभास को 'प्रतिबिम्बादिवदवास्तवस्वरूपम्' कहा गया है। रसाभास में—सीप में चाँदी की झलक की तरह, रस की झलक मात्र रहती है। इसलिए रसाभास को भी 'ध्वनि' का एक भेद माना गया है। लोचनकार ने स्पष्ट कहा है—'अत एव तदाभासत्वं वस्तुतस्तत्र स्थाप्यते शुक्तौ रजताभासवत्' (लोचन २ उद्योत०)। यह रसाभास भिन्न-भिन्न रसों में भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है।

जैसे—शृङ्गार-रसाभास—उपनायक (अन्य पुरुष) में अथवा अनेक पुरुषों में नायिका की 'रति' होना, 'नदी आदि निरिन्द्रियों' में संभोग का आरोप करना, 'पशु-पक्षियों के प्रेम' का वर्णन करना, 'गुरुपत्नी आदि' में अनुराग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिखाना, 'नायक-नायिका' में अनुभयनिष्ठ रति, अर्थात् उभयनिष्ठ प्रेम का न होना। तात्पर्य यह है कि 'स्त्री' का प्रेम, पुरुष में हो, किन्तु 'पुरुष' का स्त्री में न हो, अथवा पुरुष का प्रेम 'स्त्री' में हो, किन्तु स्त्री का प्रेम 'पुरुष' में न हो। तथा 'नीच व्यक्ति में प्रेम होना' इत्यादि ये सब शृङ्गाराभास के अन्तर्गत हैं।

हास्य-रसाभास—गुरु आदि पूज्य व्यक्तियों को हास का आलम्बन बनाना।
करुण-रसाभास—विरक्त में शोक का होना।
रौद्र-रसाभास—पूज्य व्यक्तियों पर क्रोध होना।
वीर-रसाभास—नीच व्यक्ति में उत्साह होना आदि।
भयानक-रसाभास—उत्तम प्रकृति के व्यक्ति में भय का होना।
बीभत्स-रसाभास—यज्ञीय पशु में ग्लानि होना आदि।
अद्भुत-रसाभास—ऐन्द्रजालिक कार्यों में विस्मय होना।
शान्त-रसाभास—नीच व्यक्ति में निर्वेद या शम की स्थिति का वर्णन आदि।

इस अनौचित्य प्रयुक्त रसाभास और भावाभास के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से बताया है। किन्तु ग्रन्थकार मम्मट का निरूपण 'लोचनकार' के अनुसार है। 'यदा तु विभावाभासाद्रत्याभासोदयस्तदा……… स्थाय्यंशचर्वणाप्रयुक्त एवास्वादप्रकर्षः।' इस लोचन व्याख्या को देखने से उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो जाता है। 'रजत' और 'शुक्तिरजत' (रजताभास) अथवा 'सर्प' और 'रज्जुसर्प' (सर्पाभास) के साधर्म्य-वैधर्म्य के समान ही 'रस' और 'रसाभास', 'भाव' और 'भावाभास' में साधर्म्य-वैधर्म्य है। 'रजत' और 'शुक्तिरजत' अथवा 'सर्प' और 'रज्जुसर्प' के अनुभवांश में कोई अन्तर नहीं है। अन्तर केवल 'रजत' या 'सर्प' की अबाधित स्थिति और 'शुक्तिरजत' या 'रज्जुसर्प' की बाधित स्थिति में ही अन्तर है। इसी कारण 'रजत' और 'रजताभास' में भेद की प्रतीति होती है।

ठीक वैसे ही 'रस' और 'रसाभास' तथा 'भाव' और 'भावाभास' के आस्वादन (चर्वण) अंश में कोई अन्तर (वैधर्म्य) नहीं है, अन्तर केवल 'रस' अथवा 'भाव' के पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति में सहायक बनने और 'रसाभास' अथवा 'भावाभास' के 'पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति' में विरोधक बनने के कारण ही प्रतीत होता है। चर्वणा की दृष्टि से तो यही कहा जायगा कि 'भाव, भावाभास, रसाभासादि ध्वनि' उसी एक घन रसास्वाद के ही विविध रूप हैं। और उनके पृथक् अनुभव में वैसा ही उत्कृष्ट चमत्कार भी स्थित रहता है। तात्पर्य यह है कि ये भावध्वनि आदि 'रसध्वनि' के ही निष्यन्दरूप हैं। जैसे मृग-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र रसाभासो यथा—

(रसाभासस्य उदाहरणम्)

स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ! ध्यायसि तु यम् ॥ ४८ ॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तथा स्तुम इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति ।

मदादि से सम्मिश्रित एकघन सौरभ में मृगमद के अनुभव का विशेष चमत्कार पृथक् ही प्रतीत होता है । पूर्वोक्त बहुविध आभासों के उदाहरणों को क्रमशः दे रहे हैं ।

रसाभास का उदाहरण—

स्तुम इति । हे सुन्दर-नयनी ! वह कौन भाग्यशाली है, जिसके बिना तुमको क्षण भर भी चैन नहीं है, जिसकी हम उसके सौभाग्य के लिए प्रशंसा करें । और पूर्वजन्म का वह कौन रणवीर है, (अर्थात् युद्धरूप यज्ञ में किसने अपने प्राणों की आहुति दी है), जिसकी खोज में तुम व्याकुल हुई जा रही हो । हे चन्द्र-मुखी ! ऐसा कौन भाग्यशाली है, किस शुभ घड़ी में उसने जन्म लिया है, जिसे अपने बाहुपाश से गाढ आलिंगन करने के लिए तुम इतनी उतावली हो रही हो । हे मदन की राजधानी ! यह तो बता दे, कि वह कौन-सा महान् तपस्वी है, जिसके ध्यान में तुम इतनी लीन हो गई हो ॥ ४८ ॥

अत्रेति । यहाँ 'स्तुमः कम्' इत्यादि में जिस वामाक्षी वारांगना के रमण, अन्वेषण, आलिंगन और चिन्तन आदि का वर्णन है, उस वर्णन से वामाक्षी वारांगना की 'अनेक कामुकविषयक अभिलाषा' पूर्णतया अभिव्यक्त हो रही है ।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में किसी 'कामुक' की वारांगना के प्रति चाटूक्ति बताई गई है—ऐसा वैद्यनाथ ने अपनी व्याख्या में कहा है । और सुधा-सागरकार कहते हैं कि अनौचित्य के आपादान की दृष्टि से किसी 'परकीया स्त्री' के प्रति किसी कामुक की यह उक्ति है । 'शशिमुखि' पद से 'अंगीकृत के अपरित्याग की युक्तता' (औचित्य) सूचित की गई है । क्योंकि शशी (चन्द्र) ने भी अंगीकृत किये हुए 'शश' का परित्याग नहीं किया है । अतएव कहा भी है कि 'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' । 'मदन-नगरि' कहने से 'नगरीत्व' को आरोप कर 'अनेकविषयकमदनाश्रयत्व' सूचित किया गया है । क्योंकि वारांगना का 'अनेकाश्रय होना' स्वभाव है । यहाँ पर 'रमण, अन्वेषण, आलिंगन, ध्यान' आदि के उपादान करने से कामुक जार पुरुषों के प्रति वारांगना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावाभासो यथा—

(भावाभासस्य उदाहरणम्)

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥४९॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता। एवमन्येऽप्युदाहार्याः।

की इच्छा (अभिलाष) अभिव्यक्त हो रही है। इस प्रकार अभिव्यक्त हुए अभिलाष से 'बहुविषया रति' अभिव्यक्त हो रही है। अतः बहुनायकविषयक रति के कारण 'रसाभास ध्वनि' का यह उदाहरण है ॥ ४८ ॥

इसी तरह 'बहुनायकविषयक रति' के होने से 'शृङ्गाररसाभास' दर्शक हिन्दी महाकवि पद्माकर का एक हिन्दी पद्य—

'यों अलबेली अकेली कहूँ सुकुमार सिंगारन कै चलै कै चलै;
त्यों 'पद्माकर' एकन के उर में रस बीजनि वै चलै वै चलै।
एकन सौं बतराय कछू छिन एकन कौ मन लै चलै लै चलै;
एकन सौं तकि घूँघट में मुख मोरि कनैखनि दै चलै दै चलै ॥'

यहाँ नायिका की 'अनेक पुरुषों' में रति व्यक्त हो रही है इसलिए 'शृंगार-रसाभास' है ॥ ४८ ॥

भावाभास (ध्वनि) का उदाहरण—

राकेति। पूर्णिमा के चन्द्र के समान मुखवाली, चञ्चल और विशाल नयनोंवाली; और उभरते नव-यौवन से उद्भूत होने वाले हाव-भावों से भरे अंग-प्रत्यङ्ग वाली, 'सीता' के लिए अब मैं क्या करूँ, उसके साथ किस प्रकार से मित्रता का नाता जोड़ूँ; सीता के द्वारा मेरे अपनाये जाने का क्या कोई उपाय संभव हो सकता है ? ॥ ४९ ॥

अत्रेति। यहाँ पर सीता के प्रति 'रावण' की चिन्ता, अनौचित्य प्रवर्तित है। इसलिए यह भावाभास है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों को भी जान लेना चाहिये ॥ ४९ ॥

विशेष विवरण—सीता को उद्देश्य कर 'रावण' कह रहा है। इस पद्य में रावण चिन्ता में डूबा जा रहा है। वह सोच रहा है कि सीता से मित्रता जोड़ने का कौन-सा उपाय हो सकता है ? कोई उपाय समझ में नहीं आ रहा है। क्या ऐसा कोई उपाय संभव है, जिससे वह मुझे अपना समझने लग जाय।

'क इव' यहाँ पर 'इव' शब्द 'संभावना' अर्थ में है। कोई उपाय संभव नहीं है, यह सूचित किया गया है। यहाँ पर 'चिन्ता' व्यभिचारी भाव का अनुचित रूप में वर्णन किया गया है। क्योंकि—'आदौ वाच्यः स्त्रियो रागः पश्चात् पुंसस्त-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिङ्गितैः'—यह औचित्य है। कामशास्त्र तथा कवि-सम्प्रदाय के नियमानुसार पहिले स्त्री के अनुराग का वर्णन और बाद में पुरुषानुराग का वर्णन होना चाहिये। किन्तु यहाँ पहले पुरुषानुराग का वर्णन किया गया है। एवं च 'अननुरक्त सीता' में अनुराग प्रदर्शन करना अनुचित है। इसलिए अनौचित्य से 'रति' के प्रवर्तित होने के कारण उसकी व्यभिचारिभावरूप 'चिन्ता' में भी अनौचित्यप्रवर्तितत्व कहा गया है। यहाँ पर 'चिन्ता'-रूप व्यभिचारिभाव की प्राधान्येन अभिव्यक्ति होने से उसे (चिन्ता) 'भाव' कहा गया है। उद्योतकार के मत में 'मैत्री कैसे करूँ' यह कहकर मैत्री का लाभ न हो पाने से 'चिन्ता' की अनौचित्य-प्रवर्तिता कही गई है। अतः यह 'भावाभासध्वनि' का उदाहरण है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न रस और भावों के आभास-ध्वनि के उदाहरणों को स्वयं देख लेना चाहिये ॥ ४९ ॥

'भावाभास-ध्वनि' के उदाहरण रूप में एक हिन्दी पद्य—

'नृत्यत कैसे हरष ये लै गति परम विचित्र।
कैसें कढ़त मृदंग तें महा मधुर धुनि मित्र ॥'

यहाँ 'मृदंग की ध्वनि' के विषय में 'चिन्ता' करना अनुचित है। अतः 'चिन्तारूप व्यभिचारिभाव' का आभास मात्र है। इसलिए यहाँ भावाभास है ॥ ४९ ॥

ग्रन्थकार ने 'एवमन्येऽप्युदाहार्याः' कहा है। अतः उत्साहवर्धनार्थ अन्य उदाहरण भी दे रहे हैं।

रौद्ररसाभास-ध्वनि का उदाहरण—

रक्तोत्फुल्लविशाललोलनयनः कम्पोत्तरङ्गो मुहु-
र्मुक्त्वाकर्णमपेतभीर्धृतधनुर्बाणो हरेः पश्यतः।
आध्मातः कटुकोक्तिभिः स्वमसकृद्दोर्विक्रमं कीतर्य-
न्नंसास्फोटपटुर्युधिष्ठिरमसौ हन्तुं प्रविष्टोऽर्जुनः ॥

यहाँ पर अपने ज्येष्ठ भ्राता युधिष्ठिर जैसे पूज्य व्यक्ति पर अनुज अर्जुन का क्रोध प्रदर्शन करने के कारण यह रौद्ररसाभास-ध्वनि है।

भावान्तराभास का एक उदाहरण—

'सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाता, विद्यापि खेदकलिता विमुखीबभूव।
सा केवलं हरिणशावकलोचना मे, नैवापयाति हृदयादधिदेवतेव ॥४९॥
(भामिनीविलास)

'रति' की अनुचित प्रवृत्ति करने वाला कोई प्रवासी अपनी 'प्रिया' की स्मृति करते हुए कह रहा है—

' सभी विषय भूल-से गये और विद्या भी, जिसकी सेवा मैंने दीर्घ काल तक की थी, वह भी खिन्न होकर मुझे परस्त्री-प्रणयी समझ कर ईर्ष्या से कलुषित-चित्त होकर विमुख हो गई, किन्तु बाल-हरिण के समान नयनों वाली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(भावशान्त्यादिपदानामर्थनिरूपणम्)

(सू०५०) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा ॥३६॥

क्रमेणोदाहरणम्—

केवल वह बाला ही हृदय की अधिष्ठात्री देवता के समान बनी बैठी है, वह हृदय से कभी निकलती ही नहीं ॥ ४९ ॥

यहाँ पर 'स्मृति' रूप व्यभिचारिभाव अनुचितविषयक तथा अनुभयनिष्ठ होने से 'भावाभास' है।

भावशान्ति आदि चार-ध्वनि—

ग्रन्थकार मम्मट रस, रसाभास, भाव तथा भावाभास का निरूपण करके अब भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता का निरूपण कर रहे हैं—

(सू० ५०) भाव की शान्ति, भाव का उदय, भावसन्धि तथा भावशबलता को ध्वनि कहते हैं।

विशेष विवरण—पूर्वोक्त असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि के भावशान्ति आदि चार भेद होते हैं।

(१) जब किसी एक भाव की व्यञ्जना हो रही हो, उसी समय किसी दूसरे भाव की व्यञ्जना हो जाने पर पहले भाव की समाप्ति में जो चमत्कार होता है, उसे 'भावशान्ति' ध्वनि कहते हैं। अर्थात् भाव के उत्पन्न होते ही उसके नाश का वर्णन होना चाहिये, उसके कार्य कर चुकने के बाद नहीं। क्योंकि उत्पत्ति कालीन भाव-नाश ही रसिकों को चमत्कार का अनुभव कराता है।

(२) जहाँ किसी भाव की शान्ति के अनन्तर किसी कारणवश दूसरे भाव का उदय हो, और उसी में चमत्कार हो, वहाँ 'भावोदय' ध्वनि कहलाता है।

(३) जहाँ दो भाव एक-दूसरे से दबे हुए न हों, पर एक दूसरे के दबाने की योग्यता रखते हों ऐसे दो भावों के एक जगह रहने पर भावसन्धि कहलाती है। अर्थात् समान चमत्कार वाले दो भावों की उपस्थिति जहाँ एक ही साथ हो, वहाँ भावसन्धि होती है।

(४) जो भाव परस्पर विरोधी होने के कारण एक-दूसरे के बाधक हों अथवा उदासीन हों ऐसे अनेक भावों के मिश्रण को 'भावशबलता' कहते हैं।

क्रमेणेति। क्रमशः उनके उदाहरण दे रहे हैं—

(१) भावशान्ति का उदाहरण—

निम्नलिखित पद्य 'अमरुकशतक' से उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस पद्य में कोई शठ (धृष्ट) नायक अपनी 'खण्डिता नायिका' की कोपशान्ति का वर्णन अपने मित्र से कर रहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(भावशान्तेरुदाहरणम्)

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणाऽऽनतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत्संप्रमार्ष्टुं मया
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्या च तद्विस्मृतम् ॥ ५० ॥

अत्र कोपस्य ।

(भावोदयस्योदाहरणम्)

एकस्मिन् शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥ ५१ ॥

तस्या इति । अरे भाई ! क्या कहूँ जैसे ही मेरी नायिका ने कहा कि—उस सपत्नी के गाढ चन्दन चर्चित कुचों के आलिंगन की छाप (मुद्राकार चिह्न) अभी भी तुम्हारे वक्षस्थल पर उभरी हुई है, वह मेरे पैरों पर झुकने से छिप नहीं जायगी। इस प्रकार कुपित नायिका के कहते ही मैंने 'कहाँ है' ? कहते हुए उसे मिटाने के हेतु सहसैव अपनी 'खण्डिता नायिका' को गाढ आलिंगन के द्वारा अपने बाहुपाश में कस लिया। तब वह आनन्द में मग्न होकर मानो सब भूल ही गई ॥ ५० ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'कोप' रूप व्यभिचारिभाव अपनी प्रशमावस्था में अभिव्यक्त हो रहा है। और उसी से चमत्कार की प्रतीति हो रही है ॥५०॥

विशेष विवरण—यहाँ पर 'तस्याः' कहकर ही सपत्नी का निर्देश किया गया है, उसका नाम निर्देश नहीं किया है, क्योंकि उसके प्रति खण्डिता नायिका के मन में अतिशय असूया है। 'तन्व्या च तद् विस्मृतम्' में 'च'कार के ग्रहण करने से 'आलिंगन' और 'विस्मृति' की एक-कालता बताकर समुच्चयालंकार की सूचना दी गई है। इस पद्य में 'कोपरूप व्यभिचारिभाव की शान्ति' में ही चमत्कार का विश्राम है। क्योंकि नायिका के प्रसाद का उदय रहने पर भी उसके ज्ञापक अनुभाव आदि का कोई उल्लेख नहीं है ॥ ५० ॥

(२) भावोदय का उदाहरण—

एकस्मिन्निति । कोई 'मुग्धा नायिका' अपने नायक के साथ एक ही पलंग पर लेटी हुई अपने नायक के मुख से सपत्नी का नाम सुनते ही तुरन्त रूठ गई। उसे प्रसन्न करने के लिए नायक जब बहुत अनुनय-विनय करने लगा, तब कोपावेश के कारण उसने अपने नायक (प्रियतम) को फटकार दिया। फटकार खाकर नायक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्रौत्सुक्यस्य ।

(भावसन्धेरुदाहरणम्)

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः ।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय-
न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः ॥५२॥

एकाएक चुप-चाप (स्तब्ध) हो गया । उसके चुप्पी साधने पर नायिका मन में सोचने लगी कि कहीं मेरा प्रियतम सो तो नहीं गया (मेरे प्रियतम को नींद तो नहीं लग गई), यह जानने के लिए बार-बार गर्दन घुमा-घुमा कर वह अपने प्रियतम की ओर देखने लगी ॥ ५१ ॥

अत्रेति । यहाँ पर सुरत विषयक 'औत्सुक्यरूप' व्यभिचारिभाव की उदयावस्था बताई गई है । इस उदयावस्था की अभिव्यक्ति में ही चमत्कार की पराकाष्ठा है ॥ ५१ ॥

विशेष विवरण—अमरुकशतक से ही यह पद्य लिया गया है । नायक के मुख से अपनी सपत्नी का नाम सुनने मात्र से ही नायिका एकदम रूठ गई है, क्योंकि अभी वह 'मुग्धा' है, उसे अपने 'धैर्य' का अभी परिचय नहीं है । अतएव क्रोधवश होकर उसने नायक को फटकार भी दिया । प्रियतम एकाएक इसलिए चुप हो गया कि वह जानना चाह रहा था कि मेरी प्रिया मेरे साथ ही लेटी हुई है । अतः थोड़ी ही देर में उसका क्रोध दूर हो जायगा और खुश हो जायगी । वास्तव में वह सोया नहीं था । तथापि नायक के तूष्णी भाव के कारण नायिका को यह चिन्ता हो रही थी कि कहीं वह मेरी फटकार पाकर सो न जाय, क्योंकि नायिका में सुरतोत्सव की 'उत्सुकता' वेग से जाग रही थी । इसलिए वह बार-बार गर्दन मोड़-मोड़ कर उसे देखती रहती थी ।

यद्यपि यहाँ पर 'कोपशान्ति' भी प्रतीत होती है, तथापि सुरत की 'उत्सुकता' प्रधानतया अभिव्यक्त हो रही है । इसलिए यह उदाहरण 'भावशान्ति' का न होकर 'भावोदय' का ही समझना चाहिये । यद्यपि यहाँ पर 'कोप' रूप व्यभिचारी-भाव की शान्ति लक्षित हो रही है, तथापि उस 'कोप-शान्ति' में चमत्कारकता नहीं है, क्योंकि उसके अनुभावों का उपादान नहीं किया गया है । अतः यह 'भावोदय' का ही उदाहरण है ॥ ५१ ॥

(३) भावसन्धि का उदाहरण—

सीता का आलिंगन करते हुए भगवान् दाशरथी राम की, भगवान् परशुराम के आकस्मिक आगमन पर यह उक्ति है—

उत्सिक्तस्येति । जिनका अहंकार प्रसिद्ध है उन तपोबल और प्रबल पराक्रम-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्रावेगहर्षयोः ।

(भावशबलताया उदाहरणम्)

काकार्यं शशलक्ष्मणः क च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥ ५३ ॥

शाली (परशुरामजी) के आगमन से उनके 'सत्संग का प्रेम' और वीरोचित 'उत्साह का आवेग' ये दोनों ही उनकी ओर मुझे आकर्षित कर रहे हैं, तथा दूसरी ओर हरिचन्दन तथा चन्द्रमा के समान शीतल और स्निग्ध (प्रेम-संवलित) आनन्दप्रद विदेहराजकन्या सीता का यह आलिङ्गन, विषयान्तरों के ज्ञान से व्यावृत्त-सा करता हुआ (वहाँ जाने से) रोक रहा है। (अर्थात् जानकी का आनन्ददायक आलिङ्गन उनके पास जाने से मानो मुझे रोक रहा है) ॥ ५२ ॥

अत्रेति। इस पद्य में 'आवेग' और 'हर्ष' की सन्धि है ॥ ५२ ॥

विशेष विवरण—महावीरचरित नाटक के द्वितीय अंक से उक्त पद्य को 'भावसन्धि' के उदाहरण रूप में दिया गया है। यहाँ 'च'कार दोनों की तुल्यकालता सूचित कर रहा है। उक्त पद्य के पूर्वार्ध से मुनि परशुराम के प्रति अत्यधिक आदरबुद्धि के कारण उनके समीप पहुँचने की विशेष त्वरा प्रतीत हो रही है, और उत्तरार्ध से 'हर्ष' की प्रतीति हो रही है। 'दोनों का आस्वाद' तुल्यकाल में ही हो रहा है। इसलिए उत्साहकृत 'आवेग' और 'हर्ष' दोनों भावों की मिलन रूप सन्धि यहाँ वर्णित की गई है ॥ ५२ ॥

(४) भावशबलता का उदाहरण—

विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक से यह पद्य उदाहरण रूप में लिया गया है। उर्वशी को देखकर पुरूरवा कह रहा है—

काकार्यमिति। (१) कहाँ, मुनि-कन्या में आसक्ति (प्रेम) रूप अनुचित कार्य, और कहाँ चन्द्रमा का वंश, (तर्क), (२) क्या पुनः वह अद्भुत सौन्दर्यशालिनी उर्वशी दृष्टिगोचर होगी ? (औत्सुक्य), (३) मैंने प्रमाद-आवेश आदि दोषों के आत्यन्तिक नाश के लिए ही शास्त्राध्ययन किया है; (मति), (४) क्रोध में भी उसका मुख कैसा मनोहर प्रतीत होता था; (स्मरण), (५) (मेरे इस आचरण से) विद्वान् एवं सदाचारी लोग मेरे प्रति क्या सोचेंगे ? (शंका), (६) अब तो स्वप्न में भी उसका समागम होना दुर्लभ है; (दैन्य), (७) अरे मन ! स्वस्थ हो जा, अर्थात् धैर्य रख; (धृति), (८) नहीं मालूम; वह कौन-सा युवा पुरुष धन्य है, जो उसके अधरामृत का पान करेगा, (चिन्ता) ॥ ५३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता ।

अत्रेति । यहाँ (१) वितर्क, (२) औत्सुक्य, (३) मति, (४) स्मरण, (५) शंका, (६) दैन्य, (७) धृति, (८) चिन्ता इन आठ व्यभिचारिभावों का योग होने से, उन भावों की 'शबलता' बताई गई है ॥ ५३ ॥

विशेष विवरण—इस पद्य में आठ व्यभिचारिभावों का सम्मिश्रण उपलब्ध है। इसलिए यह भावशबलता का उदाहरण है। इस पद्य में पूर्व-पूर्व भाव का उपमर्द करके दूसरा-दूसरा भाव उठा है। जैसे—'क्वाऽकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्' में व्यङ्ग्य—वितर्क है। 'भूयोपि दृश्येत सा' में व्यङ्ग्य—औत्सुक्य है। 'दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो' में व्यङ्ग्य—मति है। 'कोपेऽपि कान्तं मुखम्' में व्यङ्ग्य—स्मरण है। 'किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः' में व्यङ्ग्य—शंका है। 'स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा' में व्यङ्ग्य—दैन्य है। 'चेतः स्वास्थ्यमुपैहि' में व्यङ्ग्य—धृति है। और अन्त में 'कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति' में व्यङ्ग्य—चिन्ता है। ये सब भाव, पूर्व-पूर्व का उपमर्द करके उपस्थित हुए हैं। इन भावों की शबलता की प्रतीति में रसिकों को रसास्वाद का अनुभव होता है। प्रथम चरण में दो बार 'क्व' का उपादान करने से ज्ञानद्वय का सहानवस्थान बताया है। उससे अत्यन्त अनौचित्य व्यक्त किया गया है। अथवा दोनों का अत्यन्त वैधर्म्य होने से 'विषमालंकार' ध्वनित किया जा रहा है। यहाँ पर 'पूर्व-पूर्वभाव' का उत्तरोत्तर भाव से उपमर्द किया गया है ॥ ५३ ॥

इस विषय में ध्वन्यालोक की दृष्टि—

उपर्युक्त पद्य को ध्वन्यालोक के तीसरे उद्योत में आनन्दवर्धन ने दिया है। उन्होंने विरोधी रसांगों की बाध्यता प्रदर्शित करने के लिए इसे प्रस्तुत किया है। इसमें समसंख्या वाले चार व्यभिचारिभाव (२) औत्सुक्य; (४) स्मरण, (६) दैन्य, (८) चिन्ता) शृङ्गार रस के हैं। और विषम संख्या वाले चार व्यभिचारिभाव ((१) वितर्क, (३) मति, (५) शंका, (७) धृति) शान्तरस के हैं। इस प्रकार एक ही पद्य में दो विरोधी (शान्त और शृंगार) रसों का वर्णन उपलब्ध हो रहा है। किन्तु दो विरोधी रसों का एक आलम्बन तथा नैरन्तर्य (अव्यवधानेन स्थिति) न होने का नियम है। इस पद्य में दोनों विरोधी रसों का आलम्बन भी एक है एवं नैरन्तर्य भी है। अतः दोनों का एक साथ सन्निवेश करना उचित नहीं है।

उक्त आक्षेप के समाधान में आनन्दवर्धन कहते हैं कि विरोधी रसों के अंगों का 'वाच्यत्वेन' वर्णन करने पर दोष नहीं रहता। इसे बताने के लिए ही उक्त पद्य को उदाहरण रूप में उन्होंने दिया है। इस पद्य में 'शान्तरस' के व्यभिचारि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावस्थितिस्तूक्ता उदाहृता च ।

(भावशान्त्यादीनामपि क्वचित् प्राधान्यम्)

(५१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ॥

भावों का 'शृङ्गार रस' के व्यभिचारिभावों से बाध दिखाया गया है। एवं च विरोधी रसांगों का बाध्यत्वेन सन्निवेश होने से यहाँ कोई दोष नहीं है। इस पद्य में पार्यन्तिक चिन्ता के द्वारा 'शान्त' का उपमर्द कर 'शृङ्गार' में पर्यवसान हुआ है। वही शत्रुविजयपूर्वक राज्यप्राप्ति के तुल्य प्रकर्ष का निदान है।

श्रीवत्सलाञ्छन, कमलाकर, वैद्यनाथ, भीमसेन आदि कुछ व्याख्याकारों ने उक्त पद्य को शुक्राचार्य की कन्या को देखने पर राजा ययाति की उक्ति के रूप में बताया है।

शंका—भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता आदि सबके उदाहरण दिये। इसी प्रकार 'भाव-स्थिति' का भी उदाहरण क्यों नहीं दिया ?

समाधान—'भावस्थिति'रिति। 'भावस्थिति' को तो 'व्यभिचारी तथाञ्जितः' से (सू० ४८ वें में) बता चुके हैं। और चतुर्थ उल्लास के ४५ वें श्लोक द्वारा उसका उदाहरण 'जाने कोपपराङ्मुखी' भी दे चुके हैं। अभिप्राय यह है—'प्रशमादि चार अवस्थाओं' से रहित 'भाव' को ही 'भावस्थिति' कहते हैं।

शंका—अभी तक 'रस', 'रसाभास', 'भाव', 'भावाभास' तथा 'भावशान्ति', 'भावोदय', 'भावसन्धि', 'भावशबलता' और 'भावस्थिति' को बताया गया। सर्वत्र एकघन रसास्वाद की ही उपलब्धि हो रही है। तब उन्हें 'रसध्वनि' ही क्यों नहीं कहते ?

समाधान—उसके समाधान में यह कहेंगे कि कहीं 'मुख्य रस' के रहते हुए भी उन 'भावशान्ति' आदि की प्रधानता हो जाती है। अर्थात् 'रस' का मुख्यतया चमत्कार रहने पर भी कभी-कभी 'भावकाव्य' में भी 'भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता' आदि का एक विशेष चमत्कार अनुभूत होता है, जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता। अतएव वहाँ 'रसास्वाद' के साथ-साथ उसके 'अंगभूत व्यभिचारिभावों' का चमत्कारपूर्ण आस्वाद होने से उन्हें 'रसध्वनि' न कहकर 'भावध्वनि' ही कहा जाता है। निष्कर्ष यह है कि वस्तुतः सर्वत्र 'रस' तो मुख्य है ही, किन्तु कवि के विवक्षा-वैचित्र्य के कारण कभी-कभी 'रस' के अंगभूत 'व्यभिचारिभाव' भी इतने विचित्र रूप से अभिव्यङ्ग्य हो उठते हैं कि उन्हें 'अंगभूत' न मानकर 'अंगी' ही मानना पड़ता है। उस दशा में उन सब को 'रसवदलंकार' कहा जाता है।

(सू० ५१) मुख्य रस के विद्यमान रहने पर भी कहीं-कहीं वे 'भावशान्ति आदि' प्रधानता (अंगित्व) को प्राप्त कर लेते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ते भावशान्त्यादयः। अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्।

ते भावशान्त्यादय इति। कारिका के 'मुख्ये रसेऽपि ते' अंश में 'ते' का अभिप्राय 'भावशान्ति आदि' से है। वे 'भावशान्ति आदि' राजा से अनुगत विवाह के लिए 'वर' के रूप में जाते हुए भृत्य (नौकर) के समान 'प्रधानता' (अंगित्व) को प्राप्त कर लेते हैं।

विशेष विवरण—तात्पर्य यह है कि राजा के अनुग्रहपात्र भृत्य के विवाह की बरात में सम्मिलित होने वाले 'राजा' की उस समय प्रधानता न होकर भृत्य की ही आपाततः प्रधानता मानी जाती है। उसी प्रकार जहाँ विभाव आदि से व्यक्त हुए 'स्थायिभाव' के उद्रेक से आस्वाद प्राप्त होता है। वहाँ तो 'रस या रसध्वनि' होती है, क्योंकि वहाँ 'रस' की प्रधानता रहती है। और जहाँ अपने 'अनुभावों' द्वारा व्यक्त हुए 'व्यभिचारिभावों' के उद्रेक से आस्वाद होता है, वहाँ 'भावध्वनि' होती है। क्योंकि वहाँ 'भाव' की प्रधानता रहती है। उसी प्रकार जहाँ 'वस्तु' या 'अलङ्कार' की प्रधानता होती है, वहाँ 'वस्तुध्वनि' और 'अलङ्कारध्वनि' मानी जाती है। इसे समझाने के लिए 'राजानुगतभृत्य' का जो दृष्टान्त दिया गया है, उसका तात्पर्य यह है कि थोड़ी-सी देर के लिए 'भृत्य' की 'प्रधानता' आपाततः यद्यपि प्रतीत होती है, तथापि 'वास्तविक प्रधानता' तो राजा की ही रहती है। उसी प्रकार 'रस' के संपर्क से भावशान्ति आदि की 'आपाततः प्रधानता' रहती हुई भी अन्तिम (पार्यन्तिक) प्रधानता तो 'रस' की ही रहती है। भृत्य की बरात में उपस्थित हुआ राजा, 'वर' के पीछे खड़ा दिखाई देता है, किन्तु उसके सम्पर्क से 'वर' की शोभा अधिक बढ़ जाती है, वैसे ही 'रस' भी अपने अंगभूत 'व्यभिचारिभाव' की अभिव्यक्ति को उत्कट कर देता है। अर्थात् 'रस' के संपर्क से उद्भूट हुए 'भावशान्ति' आदि की 'चमत्कारकता' आपाततः ही हुआ करती है, किन्तु पार्यन्तिक चमत्कारकता तो 'रस' की ही समझनी चाहिये। जैसे हाथी, घोड़े, रथ आदि से सुशोभित हुआ 'भृत्य' आपाततः प्रेक्षकों को विस्मित करा देता है, किन्तु जब प्रेक्षक लोग 'राजा' को देख लेते हैं, तब सब लोग समझ जाते हैं कि इस भृत्य पर राजा का परम अनुग्रह है, जिसके फलस्वरूप उसने भृत्य को इस प्रकार के ऐश्वर्य से सुशोभित कर वह उसका विवाह करा रहा है। इस रीति से 'राजा' के उत्कर्ष में ही पर्यवसान होता है।

चतुर्थ उल्लास से अभीतक निरूपित अंश का सिंहावलोकन—

यहाँ तक 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि का निरूपण किया गया। इस चौथे उल्लास में 'ध्वनि' का निरूपण आरंभ किया था। उसमें प्रथमतः 'ध्वनि' के दो भेद किये थे—(१) अविवक्षितवाच्य-ध्वनि (लक्षणामूलकध्वनि) और (२)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि-विभागनिरूपणम्)

(सू०५२) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥३७॥

(तस्य भेदत्रयम्—१ शब्दशक्त्युद्भवः, २ अर्थशक्त्युद्भवः, ३ शब्दार्थशक्त्युद्भवः)

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्य उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः ।

विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि (अभिधामूलकध्वनि)। उनमें से 'अविवक्षितवाच्य-(लक्षणामूलक) ध्वनि के (१) 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' और (२) 'अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य' ये दो भेद किये गये। उसी प्रकार 'विवक्षितान्यपरवाच्य' (अभिधामूलक) ध्वनि के (१) 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' और (२) 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य'—ये दो भेद बताये थे।

उनमें से 'रसादिध्वनि' को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य कहते हैं। 'रसादि' कहने का तात्पर्य 'रस' और उसके समान, विशेष रूप से आस्वाद योग्य, जैसे—(२) रसाभास, (३) भाव, (४) भावाभास, (५) भावशान्ति, (६) भावोदय, (७) भावसन्धि और (८) भावशबलता—ये सब 'असंलक्ष्यक्रमध्वनि' के अन्तर्गत आते हैं। इस कारण इन सभी का निरूपण अभी तक किया गया।

अब 'अभिधामूलक-विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि' का जो दूसरा भेद 'लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः'—(सू० ४१) से 'संलक्ष्यक्रमध्वनि' नाम का बताया था, उसके भेदों को ग्रन्थकार बतावेंगे।

'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' का दूसरा नाम 'अनुस्वानाभध्वनि' भी है। इस 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि' (अनुस्वानाभध्वनि) के तीन मुख्य भेद हैं—(१) शब्दशक्त्युत्थ, (२) अर्थशक्त्युत्थ, और (३) उभयशक्त्युत्थ। उनमें भी 'शब्दशक्त्युत्थ' के दो भेद, 'अर्थशक्त्युत्थ' के बारह भेद और 'उभयशक्त्युत्थ' का केवल एक भेद होता है। कुल मिलाकर 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि' के पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि और उसके मुख्य तीन भेद—

(सू० ५२) अभिधामूलक विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो 'अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि भेद' है, वह (१) शब्दशक्त्युत्थ, (२) अर्थशक्त्युत्थ और (३) उभयशक्त्युत्थ होने से तीन प्रकार का कहा गया है ॥३७½॥

शब्दशक्तीत्यादि । (१) शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूप (संलक्ष्यक्रम)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(तदवान्तरभेदाः)

तत्र—

(शब्दशक्त्युद्भवध्वनेर्भेदनिरूपणम्)

(१. शब्दशक्तिमूलालङ्कारध्वनिः;　　　२. शब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनिः ।)

(सू०५३) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ॥ ३८ ॥
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ॥

वस्त्वेवेति अनलङ्कारं वस्तुमात्रम् । आद्यो यथा—

व्यङ्ग्य; इसमें शाब्दी व्यञ्जना, अनुरणन के समान व्यङ्ग्यार्थ का बोधन कराती है। (२) अर्थशक्तिमूल अनुरणनरूप (संलक्ष्यक्रम) व्यङ्ग्य, इसमें आर्थी व्यञ्जना, अनुरणन के समान व्यङ्ग्यार्थ का बोधन कराती है। और (३) 'उभयशक्तिमूल अनुरणनरूप (संलक्ष्यक्रम) व्यङ्ग्य, इसमें शाब्दी और आर्थी दोनों व्यञ्जनायें अनुरणन के समान व्यङ्ग्यार्थ का बोधन कराती हैं। इस प्रकार से 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि' तीन प्रकार का होता है। इन भेदों के भी अवान्तर भेद हुआ करते हैं।

तत्रेति। उनमें से—

शब्दशक्त्युत्थध्वनि के दो भेद—

(सू० ५३) जहाँ पर 'शब्द' से वस्तु या अलङ्कार की प्रधान रूप से प्रतीति होती है, वहाँ पर वह 'शब्दशक्त्युत्थध्वनि' क्रमशः वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि नाम से कहा जाता है ॥ ३८ ॥

शंका—'वस्तुत्व' के केवलान्वयी होने से अलङ्कार (अलंकृत अर्थ) भी 'वस्तु' (अर्थवस्तु) ही है, तब वस्तु और अलंकार को भिन्न कैसे कहा जाय ?

समाधान—वस्त्वेवेति। 'वस्त्वेव' कहने से अलंकाररहित केवल वस्तु का ही ग्रहण होता है। अर्थात् गोवलीवर्दन्याय से वस्तु और अलंकार की भिन्नता समझनी चाहिये। अर्थात् 'अलङ्काररूप अर्थ' और 'अलङ्काररहित अर्थ' को पृथक् करने के लिए अलङ्काररूप अर्थ को 'अलङ्कार' और अलङ्काररहित अर्थ को 'वस्तुमात्र' समझना चाहिये।

विशेष विवरण—उनमें से पहिला अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण, जैसे—आगे दिये जाने वाले उदाहरणरूप 'उल्लास्यकाल०' श्लोक, जो किसी राजा की स्तुति में लिखा गया है। इसमें कवि ने 'राजा' की 'इन्द्र' के साथ तुलना की है। 'इन्द्र' जैसे मेघों का उदय कर उनके द्वारा जलधाराओं से दावानल के रूप में वनों में प्रज्वलित अग्नि को बुझा देता है, उसी प्रकार उस राजा ने अपने 'काल' अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(उपमालंकारध्वनेरुदाहरणम्)

उल्लास्य कालकरवालमुखाम्बुवाहं देवेन येन जठरोर्जितगर्जितेन।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ॥५४॥

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय इत्यत्रोपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

काली रश्मियों वाली अथवा कालायसलोह अर्थात् फौलाद से बनी हुई अथवा कालरूप करवाल (तलवार) रूप अम्बुवाह (मेघ) को [अम्बुवाह शब्द का यौगिक अर्थ पानी को वहन करने वाला होता है, तलवार में भी एक प्रकार का 'पानी' हुआ करता है, पानी के चढ़ाने से ही वह पैनी कहलाती है। इसलिए पानीदार तलवार की मेघ के साथ उपमा भी उचित लग रही है। इस प्रकार अपने करवालरूप महान् अम्बुवाह को] उठाकर कठोर एवं उच्चतर गर्जना करने वाले राजा ने संसार में शत्रुओं के प्रदीप्त प्रताप को बुझा दिया है। इस प्रकार से कवि ने राजा का वर्णन किया है।

(१) शब्दशक्तिमूलक अलङ्कारध्वनि—

उल्लास्येति। कठोर एवं उच्चतर गर्जना करने वाले जिस (इन्द्रदेवसदृश) आपने कालरूप महान् (पानीदार) तलवार को उठाकर तीनों लोकों में शत्रुओं के प्रदीप्त हुए सम्पूर्ण प्रताप को ही अपनी तलवार के धारा-जल से रणभूमि में ही बुझा दिया ॥ ५४ ॥

यह प्राकरणिक अर्थ है। और अप्राकरणिक 'इन्द्र' के पक्ष में उसी श्लोक का अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है—

भयङ्कर घनगर्जना करने वाले जिस मेघराज इन्द्र ने वर्षासूचक नये-नये मेघाडम्बर उत्पन्न करके उनकी मूसलाधार वृष्टि से भीषण निनाद के बीच जल के शत्रु सूर्य के प्रखर समस्त ताप को सहसा शान्त कर दिया ॥ ५४ ॥

यह है अप्राकरणिक अर्थ। यह (अर्थ) 'शब्द की व्यञ्जकता' के प्रभाव से निकल रहा है।

अत्र वाक्यस्येति। यहाँ (इन्द्र-पक्ष तथा राज-पक्ष में) यानी अप्राकरणिक और प्राकरणिक अर्थ में वाक्य की असम्बद्धार्थकता न हो जाय, इसलिए प्राकरणिक (राजपक्ष) और अप्राकरणिक (इन्द्रपक्ष) के उपमान-उपमेयभाव की कल्पना की गई है। अतः यहाँ 'उपमालङ्कार' व्यङ्ग्य है।

विशेष विवरण—शंका—'प्राकरणिक' और 'अप्राकरणिक' अर्थात् राजपक्ष और इन्द्रपक्ष दोनों अर्थों में परस्पर कोई संबन्ध नहीं है यानी दोनों अर्थ स्वतन्त्र हैं। दोनों अर्थों को कहने पर वाक्यभेद हो जायगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाधान—उक्त शंका के समाधानार्थ 'अत्र वाक्यस्य'-इस वृत्तिग्रन्थ को लिखा गया है। 'करवालमुल्लास्य' इतना कहना ही पर्याप्त था अर्थात् प्रकृत राजप्रतापवर्णनरूप प्राकरणिक (वाच्य) अर्थ सम्पन्न हो ही रहा है, तब 'काल' विशेषण का प्रयोग निरर्थक ही कहना होगा। इस प्रकार वाक्य में असम्बद्धार्थकता न हो, इसलिए प्राकरणिक (राजप्रतापविषयक वाच्यार्थ) और अप्राकरणिक (इन्द्रप्रतापविषयक व्यंग्यार्थ) दोनों अर्थों में 'उपमानोपमेय भाव' (सादृश्याख्य संबन्ध) का निश्चय करना पड़ता है। क्योंकि दोनों में परस्पर साधर्म्य (परस्पर औपम्य) है। इसलिए 'इन्द्र' वारिवाह' आदि अप्राकरणिक (व्यङ्ग्य) अर्थ के साथ 'राजा, करवाल आदि प्राकरणिक (वाच्य) अर्थ की 'उपमानोपमेयभाव' संगति निश्चित है। अतः स्पष्ट होता है कि कवि का तात्पर्य (विवक्षा) 'उपमानोपमेयभाव' को प्रकट करने में है। इसलिए यहाँ पर 'उपमालंकार' व्यङ्ग्य है। और उसीका (उपमालंकाररूप व्यंग्यार्थ का) यहाँ चमत्कार है। यह 'अलंकाररूप व्यंग्यार्थ' यहाँ शाब्दी-व्यंजना-मूलक है। क्योंकि उक्त पद्य में 'देवेन' आदि पदों (शब्दों) के स्थान पर 'नृपेण' आदि पदों (शब्दों) का प्रयोग करने पर प्रतीयमान 'व्यंग्यार्थ' नहीं निकल पायेगा। क्योंकि शब्दशक्तिमूल–(शब्दशक्ति से उत्पन्न) होने से ही 'अलंकार ध्वनि' (अलंकाररूप व्यंग्यार्थ) चमत्कार को पैदा कर पाता है। इसमें 'शब्द' की महिमा का ही वैभव है। इस ध्वनि का क्षेत्र वहीं पर होता है, जहाँ 'एक अर्थ' प्राकरणिक होता है, किन्तु जहाँ 'दोनों ही अर्थों' की प्राकरणिकता का कोई नियम न हो वहाँ 'श्लेष' होता है॥ ५४॥

विरोधाभास अलङ्कार के दो उदाहरण—

विशेष विवरण—इसी तरह अन्य-अन्य अलंकार भी व्यङ्ग्य हो सकते हैं, यह बताने के लिए 'विरोधाभास' अलंकार के दो उदाहरण दे रहे हैं। दिये जाने वाले 'सभङ्गपदमूलक विरोधाभास ध्वनि' के उदाहरण रूप 'तिग्मरुचिः' श्लोक में 'तिग्मरुचिः' अर्थात् 'सूर्य' और 'अप्रतापः' अर्थात् 'प्रतापरहित'–ये दोनों विरोधी विशेषण हैं।

किन्तु जब 'तिग्मरुचिरप्रताप' का इस प्रकार हम अर्थ करते हैं कि 'दुष्ट शत्रुओं के लिए 'तिग्म' अर्थात् प्रखर-प्रताप वाले, और 'सज्जन मित्रों के लिए 'रुचिर' अर्थात् मनोहर-प्रताप वाले राजा,—तब विरोध दूर हो जाता है।

उसी तरह 'विधुरनिशाकृत्' में 'विधुः' का अर्थ 'चन्द्र' है। चन्द्र को निशाकृत् या निशाकर भी कहते हैं। परन्तु यहाँ पर कवि ने उस 'विधु' (चन्द्र) को 'अनिशाकृत्' कह दिया है। अतः विरोध प्रतीत हो रहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(विरोधाभासस्य उदाहरणम्)

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद्विभो ! मधुरलीलः ।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ।। ५५ ।।

किन्तु जब हम 'विधुरनिशाकृत्' का अर्थ करते हैं कि 'विधुरों' अर्थात् शत्रुओं का 'निशाकृत्' अर्थात् निशा के समान नाश करने वाला राजा—तब विरोध दूर हो जाता है।

उसी प्रकार 'मधुरलीलः' में 'अलीलः' का अर्थ 'लीलारहित' और 'मधुः' का अर्थ 'वसन्त' करने पर विरोध उपस्थित होता है।

किन्तु 'मधुर' का अर्थ आनन्ददायक 'लीला' अर्थात् चेष्टाओं से युक्त राजा—यह अर्थ करने पर विरोध दूर हो जाता है।

उसी प्रकार 'मतिमान् अतत्त्ववृत्तिः' का अर्थ—बुद्धिमान् होने पर भी 'तत्त्व' को न समझने वाला,—करने पर विरोध की प्रतीति होती है।

किन्तु 'मति' का अर्थ प्रतिभा और 'मान' का अर्थ प्रमाण करके, उससे 'तत्त्ववृत्तिः' का अर्थ—'निर्णय करने वाला राजा' – करने पर विरोध दूर हो जाता है।

उसी प्रकार 'प्रतिपदपक्षाग्रणीः' में 'प्रतिपद्' का अर्थ प्रतिपदा तिथि और 'अपक्षाग्रणीः' का अर्थ—शुक्ल पक्ष या कृष्ण पक्ष का पहिला दिन न होना—करने पर परस्पर विरोध उपस्थित होता है।

किन्तु 'प्रतिपद' का अर्थ प्रत्येक स्थान पर, और 'पक्ष' का अर्थ अपने पक्ष के लोगों का, तथा 'अग्रणीः' का अर्थ नेता, करने पर उक्त विरोध दूर हो जाता है।

इस पद्य के विरोध-परिहार पक्ष में 'राजा' का वर्णन है, जो प्रस्तुत अर्थ है। और विरोध पक्ष में सूर्यपरक अर्थ है, जिससे विरोधाभास ध्वनित होता है। यहाँ 'प्रकरण' के बल पर 'अविरुद्ध राजविषयक' अर्थ में 'अभिधा' नियन्त्रित हो गई है, किन्तु 'शब्द की व्यंजकता के कारण 'विरोधाभासरूप अर्थ' (अलङ्काररूप अर्थ) प्रतीत हो ही जाता है।

उपर्युक्त भूमिका के पढ़ने से 'तिग्मरुचिरप्रतापो' पद्य का अर्थ समझने में सरलता का अनुभव होगा।

सभङ्गपदमूलक विरोधाभास-अलङ्कार-ध्वनि का उदाहरण—

(१) तिग्मरुचिरेति। (तिग्म-रुचिर-प्रतापः) (शत्रुओं के प्रति) तीव्र, तथा (मित्रों के प्रति) मनोहर प्रतापवाले, (विधुर) शत्रुओं के (निशाकृत्) संहारकर्ता, (मधुर-लीलः) मधुर चेष्टाओं वाले, (मति-मान-तत्त्ववृत्तिः)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्रैकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः ।

(विरोधाभासस्य उदाहरणान्तरम्)

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद ! प्रभो !
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥ ५६ ॥

अत्रापि विरोधाभासः ।

प्रतिभा तथा प्रमाणों से तत्त्व का निश्चय करने वाले, (प्रतिपद-पक्ष-अग्रणीः) प्रत्येक स्थान पर अपने लोगों का नेतृत्व करने वाले (विभो) हे प्रभो ! राजन् ! (विभाति) आप अत्यन्त सुशोभित होते हैं ॥ ५५ ॥

अत्रैकैकस्येति । यहाँ पर (तिग्मरुचिरप्रतापः इत्यादि) एक-एक पद के विच्छेद (खण्ड) करने पर 'तिग्मरुचिः, अप्रतापः' – इस प्रकार दो-दो पद बना देने पर विरोध जैसा प्रतीत होने लगता है, इसलिए 'विरोधाभास' अलङ्कार प्राधान्येन व्यङ्ग्य होता है । इस उदाहरण में सभङ्गपदमूलक विरोधाभास-ध्वनि को प्रदर्शित किया है ॥ ५५ ॥

इसी प्रकार 'अभङ्गपदमूलक विरोधाभास अलङ्कार ध्वनि' का एक अन्य उदाहरण दे रहे हैं ।

(२) अमित इति । हे हर्षदायक राजन् ! (आप) (समितः) युद्ध से प्राप्त हुए उत्कर्षों से (अमितः) अपरिमित ऐश्वर्य से परिपूर्ण हैं, (असतां) दुष्टों के (अहितः) शत्रु हैं, फिर भी (साधुयशोभिः सहितः) उत्कृष्ट कीर्ति से युक्त हैं ॥ ५६ ॥

अत्रापीति । यहाँ भी (अमितः और समितः पदों में तथा अहितः और सहितः पदों में) विरोधाभास व्यङ्ग्य है ।

विशेष विवरण—यह उदाहरण 'अभंगपदमूलक-विरोधाभास-ध्वनि' का दिया गया है । इस पद्य का अर्थ, 'राजा की स्तुति' है, यही प्रस्तुत अर्थ (प्राकरणिक अर्थ) है । इस प्रस्तुत (प्राकरणिक) अर्थ में अभिधा के नियन्त्रित हो जाने पर भी शाब्दिक व्यञ्जना के प्रभाव से दूसरा अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) अर्थ भी निकलता है, जैसे—जो 'अमित' यानी अपरिमित हो वह 'समित' यानी परिमित कैसे हो सकता है ? जो 'अहित' यानी हितरहित हो वह 'सहित' यानी हितसहित कैसे हो सकता है ?—यह अप्राकरणिक (अप्रस्तुत) अर्थ यानी विरोधाभास अलंकाररूप अर्थ, 'पदों' का भंग बिना किये ही तथा विरोधवाचक 'अपि' आदि किसी पद के प्रयोग बिना किये ही प्रतीत हो जाता है । जिससे आपाततः विरोध प्रतीत होता है ।

किन्तु उसके परिहारार्थ 'समित' का अर्थ 'युद्ध' किया जाता है । 'समितः'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(व्यतिरेकालंकारस्य उदाहरणम्)

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥ ५७ ॥

अत्र व्यतिरेकः ।

यह पञ्चमी विभक्ति का रूप है। इसलिए 'समितः' अर्थात् युद्ध से अजित 'अमितः' अर्थात् उत्कर्ष-सम्पन्न, यह अर्थ कर देने पर 'अमितः और समितः' में आपाततः प्रतीयमान होने वाला विरोध दूर हो जाता है। उसी तरह 'साधुयशोभिः सहितः एवं असताम् अहितः असि' ऐसा अन्वय करने पर 'अहितः-सहितः' के विरोध का भी परिहार हो जाता है। यहाँ पर विरोधाभास अलंकार व्यंग्य होने से और उसी की प्रधानता कवि को विवक्षित होने से यह अलंकार ध्वनि का उदाहरण है।

अलङ्कार ध्वनि के तीन उदाहरणों के बाद उसी का एक और चौथा उदाहरण दे रहे हैं।

शब्दशक्त्युत्थ व्यतिरेकालङ्कारध्वनि का उदाहरण—

निरुपादानेति। तूलिका आदि चित्रनिर्माण के उपकरण-सम्पत्ति के बिना और आधार भित्ति के बिना भी यानी शून्य में ही नाना आकारवाले जगत् रूप चित्र का निर्माण करने वाले उस 'कलाश्लाघ्य' (चन्द्रशेखर), उन 'शूली' (त्रिशूलधारी) शिव को प्रणाम है ॥ ५७ ॥ यह प्राकरणिक (प्रस्तुत) अर्थ है।

अत्रेति। यहाँ व्यतिरेकालंकारध्वनि का ही चमत्कार है। क्योंकि उपर्युक्त प्राकरणिक (प्रस्तुत) अर्थ का यद्यपि अभिधा ने नियन्त्रण कर दिया है, तथापि शाब्दिक व्यञ्जना के प्रभाव से एक अन्य अर्थ भी प्रतीत हो जाता है कि 'भगवान् शिव ऐसे विलक्षण चित्रकार हैं, जो बिना चित्रफलक और बिना तूलिका आदि सामग्री के ही इस जगच्चित्र का निर्माण करते हैं।' इस अर्थ में शाब्दिक व्यञ्जना के प्रभाव से 'चित्र' और 'कला' शब्द से आलेख्य और उसके प्रावीण्य (कौशल) की प्रतीति होती है, उससे मषी-तूलिका-भित्ति आदि चित्रकारी-सामग्री की सहायता से चित्र बनाने वाले चित्रकारों की अपेक्षा शूली शिव का उत्कर्ष प्रतीत हो रहा है। एवं च उपमानभूत जो अन्य चित्रकार हैं उनसे उपमेयभूत शिवजी का उत्कर्ष व्यतिरेक अलंकार के द्वारा बताया गया है। अतः यहाँ 'व्यतिरेकालंकार' व्यंग्य है। यहाँ 'चित्र' और 'कला' शब्दों के स्थान पर यदि उनके पर्याय शब्दों को रख दिया जाय तो व्यतिरेकालङ्कारव्यङ्ग्य नहीं हो पायेगा। प्रयुक्त शब्दों की महिमा से ही उक्त अलङ्कार व्यङ्ग्य हो रहा है। प्रयुक्त किये गये दोनों शब्द, अपनी परिवृत्त्यसहता के कारण ही उक्त व्यतिरेक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अलङ्कार्यस्यापि 'ब्राह्मणश्रमण'न्यायेनालङ्कारता ।

वस्तुमात्रं—

(वस्तुध्वनेरुदाहरणम्)

पंथिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णअ पओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥ ५८ ॥
(पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस ॥ ५८ ॥)

अलंकार को व्यञ्जित कर पा रहे हैं । अतः यहाँ पर यह व्यंग्य व्यतिरेकालंकार, 'शब्दशक्तिमूलक' समझा जा रहा है । 'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः'—यह व्यतिरेकालंकार का लक्षण है । उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणों का आधिक्य बताये जाने पर व्यतिरेकालंकार होता है ।

ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने अलङ्कार ध्वनि के चार उदाहरण प्रदर्शित किये हैं ।

शंका—पहले बताया जा चुका है कि व्यङ्ग्य अर्थ (ध्वनि) की सर्वदा प्रधानता हुआ करती है, और जिसकी प्रधानता रहती है, उसे 'अलंकार्य' कहा जाता है । ऐसी स्थिति में अभी तक के उदाहरणों में स्थित उपमा आदि व्यङ्ग्यों की प्रधानता होने से उन्हें 'अलंकार्य' कहना चाहिये । तथापि उन्हें 'अलंकार' क्यों कहा गया है ? एक ओर 'व्यङ्ग्य' (ध्वनि) कहा जा रहा है तो दूसरी ओर उसे 'अलंकार' भी कहा जा रहा है यह तो वदतो व्याघात है ।

समाधान—अलङ्कार्यस्यापीति । व्यङ्ग्य अर्थ (ध्वनिरूप अर्थ) अलङ्काररूप नहीं हुआ करता, वह तो सर्वदा 'अलङ्कार्य' ही होता है—यह कथन नितान्त सत्य है, तथापि 'ब्राह्मण-श्रमण-न्याय' से उसे (व्यङ्ग्यार्थ को) 'अलङ्कार' कहा जा सकता है ।

ब्राह्मणश्रमणन्याय का स्वरूप इस प्रकार है—कोई ब्राह्मण, बौद्धभिक्षु बन जाता है, तब अशास्त्रीय विधि से शिखा-सूत्र, नित्यकर्म आदि का परित्याग करने के कारण उसका ब्राह्मणत्व नहीं रहता है, फिर भी 'भूतपूर्वन्याय' से अर्थात् पहले कभी ब्राह्मण था, अतः उस भिक्षुवेष में भी उसे ब्राह्मणभिक्षु (श्रमण) कह देते हैं । इस व्यवहार को गौण (औपचारिक) व्यवहार कहते हैं । उसी तरह जब कोई अलंकार व्यङ्ग्य हो जाने के कारण प्रधान होने से 'अलङ्कार्य' हो जाता है, फिर भी ब्राह्मणश्रमणन्याय से अथवा भूतपूर्वगति से उसको 'अलङ्कार' भी कह सकते हैं । इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार कह रहे हैं—

अलङ्कार्यस्यापीति । अलङ्कारध्वनि के दिये गये उदाहरणों में अलङ्कारों के व्यङ्ग्य होने से वे प्रधान हो गये हैं, अतः वे अलङ्कार्य हैं फिर भी ब्राह्मण-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति व्यज्यते ।

(वस्तुध्वनेरुदाहरणान्तरम्)

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम् ।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥ ५९ ॥

भ्रमणन्याय से उनमें अलङ्कारता की प्रत्यभिज्ञा हो ही जाती है । अर्थात् व्यङ्ग्यता की दशा में अलङ्कारत्व के न रहने पर भी वाच्यता की दशा में विद्यमान अलङ्कारत्व को लेकर 'अलंकारत्व' का व्यवहार (व्यपदेश) किया गया है ।

अलङ्कारध्वनि के चार उदाहरणों को देकर अब वस्तुध्वनि के दो उदाहरणों को दिया जा रहा है ।

शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि के दो उदाहरण—

'वस्तु' मात्र व्यङ्ग्य का उदाहरण जैसे—कोई दूती है, वह स्वयं दो अर्थों वाले शब्दों का प्रयोग करती हुई प्रच्छन्न रीति से रहस्य की बात किसी पथिक से कह दे रही है । क्योंकि यह कामशास्त्र का नियम है—"द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु" ।

पथिकेति । हे पथिक ! इस पथरीले गाँव में रात को सोने के लिए जरा-सी चटाई भी बिछाने के लिए नहीं होगी । (क्योंकि भूमि यहाँ की पथरीली है, इस भूमि में तृण आदि कुछ पैदा ही नहीं होता इसलिए यह ग्राम तुम्हारे ठहरने योग्य तो नहीं है) तथापि उमड़ते हुए मेघों को देखकर रहना चाहो तो रह सकते हो ॥ ५८ ॥

उक्त अर्थ तो वाच्यार्थ है । किन्तु रसिकजन-प्रतीयमान व्यङ्ग्य अर्थ यह है कि—हे पथिक ! पत्थर के तुल्य मूर्ख मनुष्यों के इस गाँव में परस्त्री-संभोग को निषिद्ध बताने वाला कोई शास्त्र (शास्त्रज्ञ) नहीं है । अथवा इन वज्रमूर्खों के गाँव में कामशास्त्र जरा-सा भी नहीं है, तब साहित्यादिशास्त्र तो दूर रहे । इसलिए आकार-इङ्गित आदि का जानने वाला कोई भी व्यक्ति यहाँ नहीं है । अतः निःशंक होकर तुम मेरे अथवा मेरी सखी के उन्नत (उभरे हुए) उरोजों (स्तनों) को देखकर यदि इस उठते यौवन के उपभोग की क्षमता रखते हो तो रुक जाओ यानी निवास करो । इसी अभिप्राय को बता रहे हैं ।

अत्रेति । यहाँ 'यदि तुम में उभरते यौवन के उपभोग लेने की क्षमता हो तो ठहर जाओ'—यह 'वस्तु' मात्र व्यञ्जित की गई है । इसलिए यह 'वस्तु-ध्वनि' का उदाहरण है ।

शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि का दूसरा उदाहरण—

शनिरिति । हे नरेन्द्र ! तुम जिस पर क्रुद्ध हो जाते हो, उस शत्रु को शनि (ग्रह) और अशनि (वज्र) दोनों ही मार डालने के लिए उतावले हो जाते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्त्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यते ।

और जिस पर तुम प्रसन्न हो जाते हो वह उदार (महान् दानी) और अनुदार (दाराओं=स्त्रियों से युक्त) होता हुआ सुशोभित होता है ॥ ५९ ॥

अत्र विरुद्धावपीति । यहाँ पर 'विरुद्ध स्वभाव वाले 'शनि' तथा 'अशनि' तुम्हारी प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए तुम्हारे कोपपात्र शत्रु के 'हननरूप' एक ही कार्य को करने लगते हैं'—यह 'वस्तुमात्र' ध्वनित होता है ।

विशेष विवरण—यहाँ पूर्वार्ध में 'नञ्' का अर्थ 'विरोधी' है, इसलिए 'अशनि' पद से शनि-विरोधी रूप अर्थ की प्रतीति होने पर 'शनि और अशनि' दोनों परस्पर विरोधी होने पर भी तुम्हारा अनुवर्तन करने के लिए दोनों ही 'हनन' रूप एक ही कार्य करने लगते हैं—यह 'वस्तु' ध्वनित होती है । अतः उक्त उदाहरण के केवल पूर्वार्ध में 'वस्तु-ध्वनि' है । किन्तु उत्तरार्ध में एक कार्य करने की प्रतीति न होने से वहाँ पर वस्तुध्वनि नहीं है, अपितु 'उदार और अनुदार' पदों में विरोध की प्रतीति होने से 'विरोधालङ्कारध्वनि' ही समझना चाहिए ।

'नञ्' के छह अर्थ होते हैं—'तत्सादृश्यं तदन्यत्वं तदल्पत्वं विरोधिता । अप्राशस्त्यमभावश्च नञर्थाः षट्प्रकीर्तिताः ॥" विरोधी अर्थ जैसे—'अनुदारः' कहने पर 'उदारात् अन्यः' अर्थात् उदार का विरोधी अर्थ अनुदार समझा जाता है ।

शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि को महाकवि बिहारी के दोहे में भी देख सकते हैं—

"चिर जीवौ जोरी जुरे क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के वीर ॥"

यहाँ पर कवि ने राधा और कृष्ण की जोड़ी के मिलन और उत्कट स्नेह के औचित्य को 'शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि' के द्वारा बताया है । राधारानी, राजा वृषभानु की कन्या है और कृष्ण, हलधर बलराम के भाई हैं । दोनों ही उच्चकुल के हैं, अतः उनकी जोड़ी उचित है । इसलिए उन दोनों में उत्कट स्नेह का होना और परस्पर मिलन होना सब-कुछ शोभनीय है । इस अर्थ की पुष्टि के लिए कवि ने 'वृषभानुजा' और 'हलधर के वीर' इन शब्दों का प्रयोग जानबूझ कर किया है । 'वृषभानुजा' का अर्थ 'वृषभ'=बैल-की 'अनुजा' यानी बहिन अर्थात् 'गाय' 'हलधर के वीर' का अर्थ हल को धारण करने वाले बैल का भाई अर्थात् 'साँड़' है । गाय और साँड़ की जोड़ी का जुड़ना यानी 'मिलन' और उनके उत्कट स्नेह का होना उचित ही है । इस प्रकार 'वृषभानुजा' और 'हलधर के वीर' शब्दों के प्रभाव से वस्तु की ध्वनि हो रही है ।

ग्रन्थकार ने 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि' के अवान्तरभेदस्वरूप 'शब्द-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनेर्भेद-प्रभेदाः)

(सू०५४) अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥३९॥
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ।
वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥४०॥
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ।

(अर्थशक्त्युद्भवध्वनेर्द्वादशभेदाः)

स्वतःसम्भवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन संभाव्य-

---

शक्त्युद्भव वस्तुध्वनि' तथा 'शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनि' के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए छह उदाहरण बताये ।

अब उसी 'संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि' के 'अर्थशक्त्युत्थ' (अर्थशक्त्युद्भव) नामक द्वितीय भेद को बतावेंगे ।

इस प्रकार 'शब्दशक्तिमूल द्विविध ध्वनि' का निरूपण करके अब 'अर्थशक्ति-मूल अनुरणनरूप व्यङ्ग्य' को बारह प्रकार से प्रदर्शित कर रहे हैं—

(सू० ५४) 'अर्थशक्त्युद्भव व्यञ्जक अर्थ' भी (१) स्वतःसम्भवी (लोकव्यवहार में पाया जानेवाला), (२) केवल 'कवि की प्रौढोक्तिमात्र से सिद्ध' (केवल कवि की कल्पनामात्र से ही जो अर्थ हो अर्थात् जिसका होना असंभव हो, उसे 'कवि की प्रौढोक्ति' कहते हैं । जैसे काली वस्तु को सफेद करनेवाली चन्द्रमा की चाँदनी केवल कवियों की कल्पना मात्र है । क्योंकि ऐसी चाँदनी कहीं देखी नहीं जाती । इस प्रकार के कवि-कल्पित वर्णन को 'कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध' कहते हैं) । तथा (३) 'कवि के द्वारा निबद्ध पात्र (वक्ता) की प्रौढोक्ति से सिद्ध' (लोकव्यवहार में उपलब्ध न रहने पर भी केवल कवि की कल्पना मात्र से वर्णित किया जानेवाला) इस प्रकार से त्रिविध होता है । वही अर्थशक्त्युद्भव-व्यञ्जक त्रिविध अर्थ, 'वस्तु' तथा 'अलङ्कार' के रूप में दो प्रकार का होने पर—(३×२=६)—छह प्रकार का हो जाता है । इस प्रकार षड्विध हुआ, वही—'अर्थशक्त्युद्भव-व्यञ्जक अर्थ' कहीं पर 'वस्तु' अथवा 'अलंकार' दोनों को व्यक्त करता है । अतः यह 'अर्थशक्त्यु-द्भवध्वनि' बारह प्रकार का (ध्वनि ६×२=१२) होता है ॥ ३९–४०½ ॥

स्वतः सम्भवीति । 'स्वतः सम्भवी' अर्थ वह है, जो केवल कवि के कहने मात्र से ही सिद्ध नहीं होता, अपितु लोक (जगत) में भी पाया जाता है । व्यावहारिक जीवन में भी औचित्य के साथ उसका अनुभव किया जाता है । और दूसरा कवि प्रौढोक्ति सिद्ध' अर्थ वह है, जो कवि की कल्पना से प्रसूत रहता है, उसका अस्तित्व लोक में न रहने पर भी काव्य में अवश्य रहता है । अथवा तीसरा व्यञ्जक अर्थ 'कवि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानः। कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि निर्मितः। कविनिबद्धेन वक्त्रेति वा द्विविधोऽपर इति त्रिविधः वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढा व्यञ्जकः। तस्य वस्तु वाऽलङ्कारो वा व्यङ्ग्य इति द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः।

निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' होता है, जो कविनिबद्धवक्ता नायकादि के द्वारा कल्पित रहता है। एवं च कविप्रौढोक्ति और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति भेद से दो प्रकार का और एक स्वतःसंभवी मिलाकर तीन प्रकार का 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि होता है। वह तीनों प्रकार का व्यंजक अर्थ 'वस्तु' अथवा 'अलंकार' रूप होता है। इस कारण अर्थशक्त्युद्भवध्वनि (३×२ = ६) छह प्रकार का हुआ। उससे भी पुनः 'वस्तु' अथवा 'अलंकार' दो व्यङ्ग्य होते हैं। इस प्रकार से 'अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि (६×२ = १२) बारह प्रकार का होता है।

विशेष विवरण—अर्थशक्त्युद्भव-ध्वनि के बारह (१२) भेद बताये गये हैं। क्योंकि यहाँ जो व्यञ्जक अर्थ है वह छह (६) प्रकार का होता है—(१) स्वतः-संभवी वस्तुरूप व्यंजक अर्थ, (२) स्वतःसंभवी अलङ्काररूप व्यंजक अर्थ, (३) कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यंजक अर्थ, (४) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकाररूप व्यंजक अर्थ, (५) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप व्यंजक अर्थ, (६) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-सिद्ध अलंकाररूप व्यंजक अर्थ।

निष्कर्ष यह है कि अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के १२ भेदों में से पहिले उसके ३ भेद किये जाते हैं—

(१) स्वतःसंभवी।
(२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध।
(३) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध।

उक्त तीनों भेदों के वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनि दो भेद किये जाते हैं, अर्थात् ३×२ = ६ भेद हो जाते हैं। उक्त छह भेदों में से प्रत्येक का व्यङ्ग्यरूप अर्थ दो प्रकार का होता है—(१) वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ और (२) अलंकाररूप व्यङ्ग्य अर्थ। इस प्रकार उस अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के बारह (१२) भेद हुआ करते हैं। अभिप्राय यह है कि उक्त छहों भेद व्यङ्ग्य और व्यञ्जक दोनों होने से दुगने (द्विगुण) होकर ६×२=१२ भेद बन जाते हैं।

(१) स्वतःसम्भवी में

(१) वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य। (२) वस्तु से अलंकारव्यङ्ग्य।
(३) अलङ्कार से वस्तुव्यङ्ग्य। (४) अलङ्कार से अलंकार व्यङ्ग्य।

(२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध में

(१) वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य। (२) वस्तु से अलंकार व्यङ्ग्य।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रमेणोरदाहणम्—

(स्वतःसंभविना वस्तुना वस्तुध्वनेरुदाहरणम्)

अलसशिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्तिधणसमिद्धिमओ ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥ ६० ॥

(अलसशिरोमणिर्धूर्तानामग्रिमः पुत्रि ! धनसमृद्धिमयः ।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥ ६० ॥)

---

(३) अलंकार से वस्तुव्यङ्ग्य । (४) अलंकार से अलंकारव्यङ्ग्य ।

(३) कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध में

(१) वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य । (२) वस्तु से अलंकारव्यङ्ग्य ।
(३) अलंकार से वस्तुव्यङ्ग्य । (४) अलंकार से अलंकारव्यङ्ग्य ।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने व्यञ्जक अर्थ के दो ही भेद किये हैं—(१) कवि अथवा कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ और (२) स्वतःसंभवी अर्थ । और प्रत्येक में व्यङ्ग्यरूप अर्थ के दो-दो भेद किये हैं—(१) वस्तुमात्ररूप व्यङ्ग्य-अर्थ, और (२) अलंकाररूप व्यङ्ग्य-अर्थ ।

किन्तु काव्यप्रकाशकार ने कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ से कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ को पृथक् कर दिया है । इसलिए व्यञ्जकरूप अर्थ का एक प्रकार और बढ़ गया है । आनन्दवर्धन ने 'व्यञ्जक अर्थ' के वस्तुरूप और अलंकाररूप अर्थ होने के प्रकार को स्पष्ट नहीं बताया, उसे ही काव्यप्रकाशकार ने स्पष्ट कर दिया है । इसलिए इनके बताये अर्थशक्तिमूलध्वनि के बारह भेद, आनन्दवर्धन और उनके व्याख्याकार अभिनवगुप्त के भी सम्मत हैं ।

स्वतःसंभवी के चार उदाहरण—

क्रमेणेति । क्रम से उनके उदाहरण दे रहे हैं—

(१) स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य

विवाह के प्रसंग में यौवनाक्रान्त कुमारी के प्रति उसकी उपमाता के द्वारा संभावित वर के गुणों का वर्णन करने पर वह कुमारी प्रसन्न हो रही है या अप्रसन्न हो रही है—यह जानने के लिए स्वाभाविक रूप से कुमारी के मन में उठने वाले प्रश्न का उत्तर कोई दे रही है—ऐसा 'सुधासागरकार' बताते हैं । 'उद्योतकार' का कहना है कि पति का स्वयं वरण करने वाली किसी कुमारी के प्रति प्ररोचनार्थं उसकी धात्री उससे बता रही है । पूर्वार्ध में उसके प्ररोचनार्थं धात्री की उक्ति है और उत्तरार्ध में कवि का वाक्य है । धात्री कह रही है—

अलसेति । हे पुत्रि ! वह तुम्हारा प्रस्तावित वर जिसे तुम अपना बनाना चाहती हो वह बड़ा श्रीमान् धनी है, उसे कुछ उद्योग-प्रयत्न करना नहीं पड़ता । महान्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

(स्वतःसंभविना वस्तुना अलंकारध्वनेरुदाहरणम्)

धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण सख्यः ! शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि ६१

आलसी होकर पड़ा रहता है। धूर्ततापूर्ण चतुराई में तो वह सबसे बढ़कर है। इतना सुनते ही लज्जा से झुकी हुई उस नतांगी की आँखें हर्ष से खिल उठीं ॥ ६० ॥

अत्रेति। यहाँ 'स्वतःसंभवी वस्तुरूप व्यंजक अर्थ' से (प्रसन्नता के कारण नायिका की आँखों के खिल उठने के वर्णन से) जो अर्थ, सहृदय रसिकों के हृदय में अभिव्यक्त हो जाता है, वह एक 'वस्तुरूप' अर्थ है, जो इस प्रकार है—'वह मेरे ही उपभोग के योग्य है' । इस प्रकार प्रफुल्लविलोचनत्वरूप वाच्य 'वस्तु' से 'ममैवोपभोगयोग्यः' यह 'वस्तु' व्यंग्य होती है ।

विशेष विवरण—'अलसशिरोमणि' कहने से यह सूचित हुआ कि वह कहीं बाहर प्रवास करने का इच्छुक या किसी अन्य नायिका के घर जाने का इच्छुक नहीं है। 'धूर्तशिरोमणि' कह कर यह सूचित किया गया है कि अविदग्धा (अचतुरा) नायिका के द्वारा वह अप्रलोभनीय (लुभाया नहीं जा सकता) है। 'धनसमृद्धिमयः' कहकर यह बताया है कि वह अनाकुल (निश्चिन्त) रहता है। एवं च 'अप्रवासी और निश्चिन्तता' रहने से वही उपभोग के योग्य हो सकता है। यह सुनते ही जो उसे हर्ष हुआ उससे उसकी आँखें खिल उठीं। इस 'हर्षकार्यभूत प्रफुल्लविलोचनत्वरूप' वस्तु से 'ममैवोपभोगयोग्योऽयम्, न अविदग्धायाः' – मेरे ही उपभोग करने योग्य यह हो सकता है, किसी अन्य अविदग्ध नायिका के योग्य यह नहीं है' यह वस्तु व्यंजित की जा रही है, जिसे सहृदय ही समझ सकता है।

(२) स्वतःसंभवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य

'वस्तु' से 'अलंकार' व्यंग्य का उदाहरणरूप पद्य 'विज्जिका' नामकी कवियित्री का है, यह शार्ङ्गधरपद्धति में स्पष्ट लिखा है। इस पद्य में रतिकालीन प्रणयालाप के सुनने-सुनाने के प्रसंग पर अपनी सखी का उपहास करती हुई कोई सखी कह रही है—

धन्यासीति। हे सखि ! तुम धन्य हो जो प्रिय के साथ संगम होने पर भी और सुरत के समय भी विविध प्रकार की और विश्वासपूर्ण मीठी-मीठी बातें कर लेती हो। तेरे सौभाग्य का क्या कहना है ! किन्तु मेरा तो हाल यह है कि हे सखि ! मैं शपथ (सौगन्ध) खाकर कहती हूँ कि प्रिय का हाथ नीवी तक पहुँचते ही मैं सारी सुध-बुध पता नहीं कहाँ खो बैठती हूँ, अर्थात् मुझे तो कुछ भी स्मरण नहीं रहता है ॥ ६१ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र त्वमधन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः।

अत्रेति। यहाँ पर अपनी सखी के प्रति धन्यत्वोक्तिरूप जो वाच्य अर्थ है, वह 'स्वतःसंभवी वस्तुरूप व्यंजक अर्थ' है, उस वस्तुरूप व्यंजक अर्थ के द्वारा अपने महान् आनन्द की प्राप्ति की सूचना देते हुए 'त्वम् अधन्या, अहं तु धन्या' अर्थात् सुध-बुध खोकर अपने प्रियतम के साथ प्रेमलीला करने का सौभाग्य तो मेरा ही है। प्रिय के संगम और सुरत के समय में भी बातें करने वाली तुम धन्य नहीं हो, अर्थात् इतना सौभाग्य मुझे कहाँ मिल सका है? इस प्रकार दूसरी सखी की अपेक्षा अपने सौभाग्य की अधिकता दिखलाने के कारण यहाँ 'व्यतिरेकालंकार' व्यङ्ग्य है। 'त्वम् अधन्या संभोगवृत्तान्तस्मरणभावात्। अहं धन्या सुखातिशयेन तदानीन्तनवृत्तान्तस्मरणाऽभावात्। उपमानादुपमेयस्य आधिक्ये व्यतिरेकः। इस प्रकार व्यतिरेकालंकार को व्यञ्जित किया गया है।

विशेष विवरण—अपने प्रिय के संगमकाल तथा रतिक्रीडा के मध्यकाल में भी तुम सैंकड़ों मीठी-मीठी बातें कर लेती हो, सच-मुच तुम धन्य हो, क्योंकि प्रथमतः तो प्रियसंगम के समय ही शनैः-शनैः विलक्षण आनन्द से हृदय भरने लगता है, जिसे बताया नहीं जा सकता, फिर रतिक्रीडा के मध्यकाल में तो परमानन्द से सराबोर होती हुई भी तुम उस समय इतनी बातें कर लेती हो, और पुनः अभी तक उन सब बातों का स्मरण भी तुम्हें यथावत् बना हुआ है। इतनी तुम्हारी सावधानी! सचमुच आश्चर्यकारक है। रतिक्रीडा के आरंभ में या समाप्ति पर बातें कर लेना और उन्हें याद रखना तो संभव हो सकता है। किन्तु हे सखियों! मेरा हाल तो यह है कि नाभि के नीचे साड़ी में लगी ग्रन्थी (नावी) की ओर मेरा प्रिय अपने हाथ को बढाना ज्यों-ही चाहने लगता है त्यों-ही मैं अपने आप में खोजाती हूँ। और साड़ी की ग्रन्थी पर उसके हाथ का स्पर्श होने पर तो मुझे अपने अस्तित्व का ही पता नहीं रहता। हे सखियों! तुम लोगों की शपथ खाकर कह रही हूँ कि उस समय तो मैं अपने को ही भूल जाती हूँ, फिर उस समय बात करने की स्मृति रहना तो दूर रहा—यह 'अपि' शब्द से सूचित किया गया है। 'शपामि' पद का प्रयोग 'परस्मैपद' में किया है। यद्यपि 'शम उपलम्भने' या 'शप उपलम्भने' वार्तिक से 'आत्मनेपद' की प्राप्ति हो रही है, तथापि 'शपथकरणक प्रकाशन' की विवक्षा न रहने से यहाँ आत्मनेपद नहीं किया गया है। 'उपलम्भन' का अर्थ 'प्रकाशन' है। 'सख्यः शपामि यदि किञ्चिदपि स्मरामि' यहाँ पर 'शपथमात्र' विवक्षित है, प्रकाशन नहीं। उक्त पद्य के पूर्व-वाक्य में 'सोल्लुण्ठोक्ति' (साभिप्रायोक्ति) में सौभाग्यगर्विता 'एक ही सखी' सम्बोध्य रहने से 'धन्यासि' यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(स्वतःसंभविना अलंकारेण वस्तुध्वनेरुदाहरणम्)

दर्पान्धगन्धगजकुम्भकपाटकूटसंक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः ।
वीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥

अत्रोपमालंकारेण सकलरिपुबलक्षयः क्षणात्करिष्यते इति वस्तु ।

'एकवचन' किया गया है, और स्वोत्कर्ष की सूचना तो अनेक सखियों को देने के कारण 'अनेक सखियाँ' सम्बोध्य हो रही हैं, इसलिए उत्तर वाक्य में 'सख्यः' यह बहुवचन किया गया है । अतः कोई असंगति नहीं है—ऐसा उद्योतकार ने कहा है ।

यहाँ 'धन्याऽधन्यत्व' का कथन 'वैदग्ध्य-तदभाव' मूलक है । अतः 'अहं धन्या, त्वम् अधन्या' इस प्रकार सखी के प्रति 'धन्यत्वोक्ति' उसकी विप्रलिप्सा करने के लिए की गई है । इसलिए 'विवक्षितान्वयानुपपत्त्या 'धन्यासि' की 'अधन्यत्व' में लक्षणा की गई'—यह कथन निरस्त हो जाता है । क्योंकि उसकी विप्रलिप्सा करने के लिए 'धन्यत्व' की विवक्षा की गई है ।

इसी प्रकार हिन्दी के कवि 'दास' ने भी 'स्वतःसंभवी-वस्तु से अलंकार ध्वनि के उदाहरण में एक दोहा दिया है—

'सखि तेरो प्यारो भलो दिन न्यारो ह्वै जात ।
मोते नहि बलबीर को पल बिलगाव सुहात ॥'

यहाँ राधारानी अपनी किसी सखी से कह रही हैं कि तेरा प्रिय बहुत भला है, जो कम से कम दिन में तुझे छोड़ देता है, पर मैं क्या करूँ, मेरा प्रिय कृष्ण तो मुझे पलभर के लिए भी अलग नहीं रहने देता—यह स्वतःसंभवी वस्तु बताई गई है । इससे 'तेरी अपेक्षा मैं कहीं अधिक सौभाग्यशालिनी हूँ'—यह व्यतिरेकालंकार व्यंग्य है ।

(३) स्वतःसंभवी अलंकार से वस्तु व्यङ्ग्य—

दर्पेति । रणभूमि में जिसके हाथ की, मदमत्त गन्धगज के कपाटसदृश विशाल कुम्भस्थल में प्रविष्ट होने से प्रचुर रुधिर से लाल वर्ण की, तलवार को वीर योद्धाओं ने भगवती दुर्गा के क्रोध से रक्तवर्ण वाले कटाक्ष के समान अवलोकन किया ॥ ६२ ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'दुर्गा के कटाक्ष के समान'—इस 'उपमा अलंकार' से 'क्षणभर में संपूर्ण शत्रुओं का यह नाश कर देगा'—यह वस्तु व्यक्त हो रही है ।

विशेष विवरण—राजा के हाथ में स्थित जो खड्ग था वह भगवती दुर्गा के कोपपूर्ण रक्त-कटाक्ष की तरह, गन्धगज के कुंभस्थल के रक्त से रञ्जित रक्तवर्ण का हो गया था, उसकी भयानकता के कारण साधारण भट तो उसकी ओर देख ही नहीं सकते थे, अतः अत्यन्त शूर योद्धाओं ने ही उस खड्ग को देखा । यहाँ पर 'शोणशोचिः'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(स्वतःसंभविना अलंकारेण अलंकारध्वनेरुदाहरणम्)

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः ।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम् ॥ ६३ ॥

अत्र विरोधालंकारेणाऽधरनिर्दशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति तुल्ययोगिता । मम क्षत्याऽप्यन्यस्य क्षतिर्निवर्ततामिति तद्बुद्धिरुत्प्रेक्ष्यत इत्युत्प्रेक्षा च । एषूदाहरणेषु स्वतःसंभवी व्यञ्जकः ।

और 'कषाय कान्तिः' दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहने से समानधर्मता के कारण 'कालीकटाक्ष इव कृपाणः व्यलोकि'—यह उपमा प्रदर्शित की गई है। यह उपमा 'स्वतःसंभविनी है, क्योंकि बाहर संसार में (लोक में) भी 'सादृश्य' की सत्ता दिखाई देती है। उस उपमालंकार के द्वारा 'सकलरिपुक्षयः क्षणात् करिष्यते'—यह 'वस्तु' व्यक्त की जा रही है। यहाँ पर निर्दिष्ट साधारण धर्म के कारण 'सादृश्य' का पर्यवसान हो जाने से उक्त 'व्यंग्य' को 'वाच्यांग' नहीं कहना चाहिये ऐसा उद्योतकार ने कहा है—'अत्र निर्दिष्टसाधारणधर्मेण सादृश्यपर्यवसानान्नोक्तव्यंग्यस्य वाच्यांगतेति बोध्यम्', तथा संभावना का अभाव रहने से यहाँ 'उत्प्रेक्षा' की भी शंका नहीं करनी चाहिए—ऐसा प्रदीप में स्पष्ट कहा है—'न चोत्प्रेक्षा शङ्क्या संभावनाविरहात्'। अर्थात् 'करवृत्तित्वरूप विरुद्ध धर्म के दीखने से उक्त शंका के लिए अवकाश नहीं है—'करवृत्तित्वरूपविरुद्धधर्मदर्शनात्तदभावः' इति उद्योतः। 'गन्धगज' का यह लक्षण बताया गया है—

'यस्य गन्धं समाघ्राय पलायन्ते परे गजाः ।
तं गन्धहस्तिनं विद्यान्नृपतेर्विजयावहम् ॥'

अथवा – 'स्वेदं मूत्रं पुरीषं च मज्जां चैव मतंगजाः ।
यस्याघ्राय विमाद्यन्ति तं विद्याद्गन्धहस्तिनम् ॥'

(४) स्वतःसम्भवी अलंकार से अलंकार व्यंग्य—

गाढेति। रणभूमि में अपने ओष्ठ को क्रोध से चबाते हुए जिस राजा ने शत्रु-ललनाओं के विद्रुम दल के समान रक्तवर्ण वाले ओष्ठों को पतियों के द्वारा जोर से काटे जाने के संकट से बचा दिया ॥ ६३ ॥

अत्रेति। इस उदाहरण में (जो अपने ही ओष्ठ=अधर को काट लेता है, वह दूसरे के ओष्ठों को काटे जाने के संकट से कैसे छुड़ा सकता है ? इस) विरोधालंकार से 'ओष्ठ को क्रोध से चबाने (काटने) के साथ ही शत्रुओं को मार दिया'—यह 'तुल्ययोगिता' अलंकार और 'मुझ राजा की ओष्ठदशनरूप क्षति भले ही हो किन्तु अन्य वैरि-वधूजनों की ओष्ठ (अधर) दशनरूप क्षति न हो' – इस प्रकार राजा की बुद्धि की उत्प्रेक्षा करने से 'उत्प्रेक्षा' अलंकार भी व्यञ्जित हो रहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

र्ध्वति। इन चारों उदाहरणों में 'व्यञ्जक अर्थ' स्वतःसम्भवी है।

विशेष विवरण—इस चौथे उदाहरण में 'स्वतःसंभवी अलंकार' से अलंकार की अभिव्यक्ति प्रदर्शित की गई है। इसमें ओष्ठविषयक 'दशन' और 'मोचन' का परस्पर विरोध प्रतीत होने से विरोधालंकार (विरोधाभासालंकार) का होना पाया जाता है। ओष्ठत्वेन सामानाधिकरण्य की विवक्षा रहने से विरोध स्पष्ट है, तथापि प्रतियोगी के भेद से (भिन्न होने से) विरोधाभास समझना चाहिये। और वीर के अनुभावरूप में प्रकृत स्व-अधरदशन और शत्रुव्यापादन दोनों का एक-कालरूप 'एक धर्म' सम्बन्ध रहने से तुल्ययोगिता अलंकार भी व्यंग्य है।

ग्रन्थकार ने विरोधालंकार का लक्षण यह किया है—

'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः। (का. प्र. द. उ. सू.—१६५)
जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः॥ ११०॥
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश। (का. प्र. द. उ. सू. १६६)

जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यवाचक शब्द (यदृच्छाशब्द), और इन चार प्रकार के शब्दों के अर्थ भी चार प्रकार के बता चुके हैं। इन अर्थों का परस्पर विरोध न रहने पर भी जहाँ उनका विरोधी-जैसा वर्णन किया जाता है, वहाँ विरोधालंकार या विरोधाभासालंकार का होना समझा जाता है। जाति का जात्यादि चारों के साथ, गुण का गुण आदि तीनों के साथ, क्रिया का क्रिया और द्रव्य दो के साथ तथा द्रव्य का द्रव्य के साथ विरोध होने की संभावना रहने से विरोधाभास अलंकार के दश भेद होते हैं। अर्थात् ४+३+२+१=१० दस भेद उक्त अलंकार के हो जाते हैं।

तुल्ययोगिता अलंकार का लक्षण दसवें उल्लास में सू. १५८ पर बताया गया है—'नियतानां सकृद्धर्मः स पुनस्तुल्ययोगिता।' नियत (केवल प्राकरणिक) अथवा केवल अप्राकरणिक अनेक अर्थों में एक धर्म यदि रहे तो तुल्ययोगिता अलंकार होता है। अर्थात् प्रकृत अथवा अप्रकृत धर्मियों के साधारण धर्म का सकृत् (एक बार) उपादान करने पर तुल्ययोगिता होती है। इस तुल्ययोगिता अलंकार को यहाँ पर विरोधालंकार से व्यंग्य हुआ बताया गया है। क्योंकि 'ओष्ठदशन' और 'दशनव्यथामोचन' इन दोनों क्रियाओं में परस्पर विरोध होने से विरोधा-लंकारव्यंजक अलंकार है, और उससे 'स्वाधरदशन तथा शत्रुविनाशन रूप दो प्राकरणिक अर्थों में 'एककालिकत्वरूप' एक धर्म का सम्बन्ध होने से तुल्ययोगिता' अलंकार व्यंग्य हुआ है। यह तो काव्यप्रकाशकार मम्मटभट्ट का मत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुना वस्तुध्वनेरुदाहरणम्)

कैलासस्य प्रथमशिखरे वेणुसंमूर्च्छनाभिः
श्रुत्वा कीर्तिं विबुधरमणीगीयमानां यदीयाम् ।
स्रस्तापाङ्गाः सरसबिसिनीकाण्डसञ्जातशङ्का-
दिङ्मातङ्गाः श्रवणपुलिने हस्तमावर्त्तयन्ति ॥ ६४ ॥

अत्र वस्तुना येषामप्यर्थाधिगमो नास्ति तेषामप्येवमादिबुद्धिजननेन चमत्कारं करोति त्वत्कीर्तिरिति वस्तु ध्वन्यते ।

किन्तु प्रदीपकारादि कतिपय व्याख्याकारों ने उसे नहीं माना है । प्रदीपकार आदि व्याख्याकारों ने 'विरोध' और 'तुल्ययोगिता' शब्दों से तन्नामक अलंकारों को स्वीकार नहीं किया है, अपितु उन शब्दों से यौगिक अर्थ निकाला है। विरोधालंकार शब्द से विरोधगर्भित कार्यकारण के पौर्वापर्य-विपर्ययरूप अतिशयोक्ति-अलंकार को तथा तुल्ययोगितालंकार शब्द से ओष्ठदशन तथा शत्रुव्यापादन दोनों कार्य, तुल्यकाल में होने से 'समुच्चयालंकार' को स्वीकार किया है । परन्तु यह व्याख्यान ग्रन्थकार के अभिप्राय के विरुद्ध प्रतीत हो रहा है । ग्रन्थकार ने वृत्ति में 'इत्युत्प्रेक्षा च' कहकर समुच्चयार्थक 'च' कार से तुल्ययोगिता और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि को सूचित किया है । यहाँ तक 'स्वतःसंभवी अर्थशक्त्युत्थध्वनि' के चारों उदाहरणों को बताया गया है ।

(५) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यङ्ग्य—

अब कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थशक्त्युत्थ-ध्वनि के चार उदाहरण क्रमशः दे रहे हैं ।

(१) कविप्रौढोक्तिसिद्ध व्यञ्जक अर्थ में प्रथमतः 'वस्तु' से 'वस्तु' की अभिव्यक्ति का उदाहरण यह है—

कैलासस्येति । किसी राजा का वर्णन है—कैलास पर्वत के प्रथम (सबसे ऊँचे श्रेष्ठ शृङ्ग पर अथवा सब से निचले मूल) शिखर पर वेणुवाद्य की मूर्छनाओं के साथ दिव्य अप्सराओं के द्वारा गायी जाने वाली जिस राजा की कीर्ति को सुनकर (कवि-समयानुसार कीर्ति की नितान्त धवलता के कारण) स्निग्ध सरस कमलिनी मृणाल-खण्ड की शंका हो जाने से (दिशाओं के अन्त में स्थित) ऐरावतादि आठों दिग्गज अपने नेत्र-प्रान्तों को चलायमान करके (श्रोत्रों की ओर देखने का प्रयत्न करते हुए से) अपने श्रोत्रप्रान्त में (उस मृणालखण्ड को लेने की इच्छा से अपनी शुण्डा रूप) हाथ को घुमा रहे हैं ॥ ६४ ॥

अत्रेति । यहाँ पर कविप्रौढोक्तिसिद्ध (काव्य में कल्पित) वस्तु से जिन (हाथियों) को (गीत के) अर्थ का ज्ञान (संभव) नहीं है, उनकी भी इस प्रकार की (कीर्ति की अत्यन्त धवलता के कारण मृणाल के भ्रम से युक्त) बुद्धि को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुना अलंकारध्वनेरुदाहरणम्)

केसेसु वलामोडिअ तेण अ समरम्मि जअसिरी गहिआ ।
जह कन्दराहिं विहुरा तस्स दढं कंठअम्मि संठविआ ॥ ६५ ॥

पैदा करके तुम्हारी कीर्ति, चमत्कार पैदा करती है—यह 'वस्तु' ध्वनित होती है ॥ ६४ ॥

विशेष विवरण—यहाँ पर 'व्यङ्ग्य वस्तु' और 'व्यञ्जक वस्तु' दोनों ही कवि की प्रतिभामात्र से निष्पन्न है। प्रकृत राजा का यश, दिव्य अप्सराओं द्वारा गाया जाना, और उस यशोगीत को दिग्गजों द्वारा श्रवण करना, तथा उसमें दिग्गजों को मृणाल की भ्रान्ति होना आदि जो कवि-कल्पना से निष्पन्न अर्थ है—वह व्यञ्जक अर्थ है, उससे जो अर्थ व्यञ्जित हो रहा है—'प्रकृत राजा की कीर्ति में संवेदनाशून्य पशुओं में भी संवेदना उत्पन्न कर देने की शक्ति है'—यह वस्तुरूप व्यंग्य अर्थ है। मूच्छंना अर्थात् रागविशेष—'स्वरः संमूर्छितो यत्र राजतां प्रतिपद्यते। मूर्छनामिति ताम्प्राहुर्गीततत्त्वविदोजनाः ॥' ऐसा संगीत शास्त्रज्ञ कहा करते हैं। दिग्गज आठ बताये गये हैं—'ऐरावतः पुण्डरीको वामनः कुमुदोऽञ्जनः। पुष्पदन्तः सार्वभौमः सुप्रतीकश्च दिग्गजाः ॥' यद्यपि यहाँ पर 'सञ्जातशंकाः' कहने से 'भ्रान्तिमान्' अथवा 'संदेह' अलंकार व्यञ्जक प्रतीत हो रहा है, तब वस्तुमात्र व्यञ्जकता का उदाहरण इसे कैसा बताया जा रहा है? यह शंका हो सकती है। तथापि उक्त अंश की अपेक्षा किये बिना भी 'किञ्चित् शुक्लं कर्णे प्रविशति'—कोई शुक्लवर्ण की वस्तु कान में प्रवेश कर रही है—इतने ज्ञान के होने मात्र से भी कान पर शुण्डावर्तनरूप वस्तुमात्र से भी 'अर्थानभिज्ञ जड पशुओं को भी श्वैत्यमूर्तत्वादि वस्तु का ज्ञान पैदा कराने वाली तुम्हारी कीर्ति विलक्षण चमत्कार को पैदा कर रही है' इस अर्थ की अभिव्यक्ति हो रही है, इस दृष्टि से इसे वस्तुमात्र का उदाहरण कहा गया है। किन्तु संसार में इस प्रकार की 'वस्तु' उपलब्ध नहीं होती है। इस कारण यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य का उदाहरण है ॥ ६४ ॥

(६) कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

केसेस्विति। (केशेष्विति)। प्रशंसा किये जाने वाले उस राजा ने (और नायक ने) युद्ध में (और सुरत-संगर=युद्ध में) बलात्=जबरदस्ती केशों को पकड़ कर जयश्री का इस प्रकार आलिंगन किया, जिससे (उसकी रतिक्रीडा को देखकर काम से उन्मत्त होने से)-कन्दराओं ने (कन्दरारूपी-नायिकाओं ने) वहाँ छिपे हुए शत्रुओं को अपने गले से दृढता के साथ लिपटा कर रोक लिया ॥ ६५ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(केशेषु बलात्कारेण तेन च समरे जयश्रीर्गृहीता ।
यथा कन्दराभिर्विधुरास्तस्य दृढं कण्ठे संस्थापिताः ॥ ६५ ॥)

अत्र केशग्रहणावलोकनोद्दीपितमदना इव कन्दरास्तद्विधुरान् कण्ठे गृह्णन्ति इत्युत्प्रेक्षा । एकत्र संग्रामे विजयदर्शनात्तस्यारयः पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति काव्यहेतुरलङ्कारः । न पलाय्य गतास्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवं संभाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्तीत्यपह्नुतिश्च ।

अत्रेति । यहाँ पर जो व्यञ्जक अर्थ है, वह तो कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु रूप अर्थ है, और उससे जो व्यंग्यार्थ निकल रहा है, वह है एक अलंकार रूप अर्थ । क्योंकि यहाँ पर या तो 'उत्प्रेक्षा' व्यक्त हो रही है,—'विजयश्री का केशाकर्षण देखने वाली, उस कारण स्वयं कामोन्मत्त नायिकाओं-सी जो कन्दरायें वे उस राजा के शत्रुओं (अपने प्रेमियों) को अपने गले लगाती-सी लग रही हैं । अथवा पलायन में विजय-दर्शन हेतु होने से काव्यहेतु (काव्यलिंग) अलङ्कार अभिव्यक्त हो रहा है, क्योंकि शत्रुगण भाग-भाग कर कन्दराओं में जा छिपे हैं, क्योंकि युद्धभूमि पर उन्होंने अपने विजेता महाराज का पराक्रम देख लिया है । अथवा यों कहिये कि शत्रुगण स्वयं भाग-भाग कर कन्दराओं में नहीं छिपे हैं, अपि तु कन्दराएँ ही उनकी प्रेमिकाएँ बनीं, और उनके पराजय की आशंका से अब उन्हें छोड़ना नहीं चाह रहीं हैं'—यहाँ 'पलायन' का अपह्नव करने से 'अपह्नुति' अलंकार को भी व्यंग्य अर्थ मान सकते हैं ॥ ६५ ॥

विशेष विवरण—इस पद्य में कविप्रौढोक्तिसिद्ध केशग्रहणरूप 'वस्तु' से (१) उत्प्रेक्षा, (२) काव्यलिङ्ग और (३) अपह्नुति इन तीन अलंकारों को व्यंग्य माना है । 'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्'-(सू० १३७) यह 'उत्प्रेक्षा' का लक्षण है । इसका समन्वय उक्त उदाहरण में इस प्रकार हो सकता है—प्रकृत उपमेय की 'सम' अर्थात् उपमान के साथ संभावना यानी 'उत्कटैककोटिक संशय' को 'उत्प्रेक्षा' कहते हैं । उक्त पद्य में बताया गया है कि 'भय के कारण कन्दराओं में शत्रुओं का निरन्तर छिपे रहना' इस प्रकृत अर्थ की—इस प्रकार से 'कन्दरारूपी नायिकाओं ने मानो उनको अपने गले से दृढ़ लिपटाकर या उनके गले में दृढ लिपटकर उन्हें रोक लिया है—संभावना करने के कारण उत्प्रेक्षालंकार व्यंग्य हो रहा है । तथा 'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता'-(सू० १७४) यह काव्यलिंग का लक्षण है । जहाँ वाक्यार्थ अथवा पदार्थ को किसी अन्य के हेतुरूप में बताया जाय, वहाँ काव्यलिंग अलंकार होता है । इस द्वितीय पक्ष में राजा ने जयश्री को अपने स्वाधीन कर लिया है । अतएव शत्रुगण भागकर कन्दराओं में छिप गये हैं । यहाँ प्रथम वाक्यार्थ, द्वितीय वाक्यार्थ के प्रति कारण (हेतु) है । एवं च 'केशग्रहण' रूप वस्तु से 'काव्यलिङ्ग' अलंकार यहाँ व्यङ्ग्य हुआ है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(कविप्रौढोक्तिसिद्धेन अलंकारेण वस्तुध्वनेरुदाहरणम्)

गाढालिंगणरहसुज्जुअम्मि दइ लहुं समोसरइ ।
माणंसिणीण माणो पीलणभीअव्व हिअआहिं ॥ ६६ ॥
(गाढालिङ्गनरमसोद्यते दयिते लघु समपसरति ।
मनस्विन्या मानः पीडनभीत इव हृदयात् ॥ ६६ ॥)

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिंगनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु ।

अथवा 'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः'-(सू० १४१) जहाँ प्रकृत (उपमेय) को असत्य बताकर अन्य (उपमान) को सत्यतया स्थापित किया जाता है, वहाँ 'अपह्नुति' अलंकार होता है। यहाँ 'भयभीत हुए शत्रुगण भाग कर कन्दराओं में चले गये हैं'—इस प्रकृत अर्थ को असत्य बताकर 'कन्दराएँ पहिले से ही अपने भीतर बैठे हुए शत्रुओं को उसके भय के कारण बाहर निकलने नहीं देतीं'—इस अन्य अर्थ की स्थापना की गई है। इसलिए 'अपह्नुति' अलंकार यहाँ व्यङ्ग्य है। यहाँ पलायन का अपह्नव करने से अपह्नुति अलंकार व्यंग्य है। 'तेन च समरे जयश्रीगृहीता' यहाँ 'च' कार के प्रयुक्त करने से यह सूचित किया है कि 'केशग्रहण' इत्यादि से प्रदर्शित किये गये व्यंग्य तीन अलंकारों में से किसी एक के स्वीकार करने में किसी साधक-बाधक प्रमाण के न होने से 'अनिश्चय-संकर' भी हो सकता है, ऐसा सुधासागरकार का कहना है। किन्तु सार-बोधिनी और उद्योतकार ने 'च' कार से 'एकव्यञ्जकानुप्रवेशसंकर' सूचित होना बताया है ॥ ६५ ॥

(७) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यङ्ग्य—

गाढेति। मानवती के प्रति उसके मानभंग के निमित्त किसी अन्य मानवती के वृत्तान्त को बताने वाली किसी सखी की उक्ति है—

अरी सखी ! प्रियतम जैसे ही उसका गाढ आलिंगन करने के लिए उद्यत हुआ, वैसे ही उस मानिनी प्रेयसी का 'मान' तो उसके हृदय से क्या बताऊँ ! ऐसा भयभीत होकर निकल भागा कि मानों कहीं दोनों के बीच दबकर वह कुचल न जाय ॥ ६६ ॥

अत्रोत्प्रेक्षयेति। यहाँ 'उत्प्रेक्षा' अलंकार से 'प्रत्यालिङ्गन' आदि वस्तु व्यंग्य हो रहो है ॥ ६६ ॥

विशेष विवरण—यहाँ कविप्रौढोक्तिसिद्ध 'उत्प्रेक्षालंकार' रूप अर्थ, 'व्यञ्जक' अर्थ है। उससे यह व्यंग्यार्थ निकल रहा है कि 'मानिनी-नायिका मानरहित होकर स्वयं गाढालिंगन, चुम्बनादिरूप रति-क्रीडा में निमग्न हुई'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(कविप्रौढोक्तिसिद्धेन अलंकारेण अलंकारध्वनेरुदाहरणम्)

जा ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहाबद्धविणिवेसा।
दावेइ भुअणमण्डलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥ ६७ ॥

(या स्थविरमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा ।
दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥ ६७ ॥)

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् अजडासनस्था निर्मिमीते इति व्यतिरेकः। एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः।

यह 'वस्तुरूप' व्यंग्यार्थ है। मान का लक्षण है—'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये'। उस नायिका का मन उसके वश होता हुआ भी अर्थात् स्वाधीन चित्तवाली होती हुई भी उस नायिका का मान यदि उतने मात्र से ही भाग निकला तो पराधीन चित्तवाली तुझ जैसी का मान कहाँ टिक पायेगा? अवश्य ही वह नहीं रह पायेगा, इसमें कुछ कहना ही नहीं है। अर्थात् मानभंग होना तो अवश्यंभावी है फिर क्यों झूठे ही अपने आपको स्वयं ठग रही हो। 'पीडन-भीत इव'—इस भयोत्प्रेक्षारूप अलंकार से 'आत्यन्तिकी माननिवृत्ति' रूप वस्तु व्यंजित की गई है ॥ ६६ ॥

(८) कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य—

जा ठेरमिति (या स्थविरमिति)। कवियों के मुखकमल पर विराजती हुई जो वाणी, वह बूढ़े ब्रह्मा का उपहास करती हुई-सी सम्पूर्ण भुवन को किसी अन्य प्रकार से ही अर्थात् लोकोत्तर चमत्कारजनक के रूप में प्रदर्शित करती है। ऐसी वह कविवाणी, ब्रह्मा की अपेक्षा भी उत्कृष्टतर है ॥ ६७ ॥

अत्रोत्प्रेक्षयेति। यहाँ पर कविप्रौढोक्तिसिद्ध उत्प्रेक्षालंकाररूप अर्थ, व्यञ्जक अर्थ है। इससे अतिशयचमत्कारजनक (प्रतिक्षण) नवीन-नवीन सृष्टि को चेतन कवि के मुखकमलरूप आसन पर बैठी हुई जो निर्माण करती रहती है। वह कविवाणी जड़ कमल पर बैठे हुए बूढ़े ब्रह्मा, जो नीरस सृष्टि का निर्माण करते हैं; उनकी अपेक्षा समुत्कृष्ट है—यह व्यतिरेकालंकार व्यंग्य हो रहा है ॥ ६७ ॥

विशेष विवरण—'हसन्तीव, अन्यदिव'-यह उत्प्रेक्षा है। 'हसन्तीव' इस उत्प्रेक्षा से चमत्कारैककारणत्व अंश का लाभ हुआ है। 'अन्यदिव' इस उत्प्रेक्षा से जगत् के नव-नवत्व का लाभ हुआ है। 'कविवदनस्था' कहने से अजडासन-स्थत्व अंश का लाभ हुआ है। उपमानापेक्षया उपमेयोत्कर्षरूप व्यतिरेकालंकार व्यंग्य हो रहा है। 'हसन्तीव और अन्यदिव' इन दो उत्प्रेक्षाओं के द्वारा भारती और उसके निर्माण की, ब्रह्मा और उसकी निर्मिति से भिन्नता व्यक्त की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिवस्तुरूपव्यङ्ग्याद्वस्तुरूपव्यङ्ग्यार्योदाहरणम्)

जे लङ्कागिरिमेहलासु खलिआ संभोगखिण्णोरई-
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणम् ।
ते एह्णिं मलआनिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो-
जादा झत्ति सिसुत्तणेवि बहला तारुण्णपुण्णा विअ ॥ ६८ ॥

(ये लंकागिरिमेखलासु स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी-
स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् ।
त इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणो
जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्यपूर्णा इव ॥ ६८ ॥)

अत्र निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्तीति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

गई है । यहाँ हमनादिक; लोकसिद्ध नहीं है और न ही कविवाणी जगत् को अन्यथा दरसाती है, अतः दोनों उत्प्रेक्षाएँ कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध हैं ।

इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के स्वतःसंभवी और कविप्रौढोक्तिसिद्ध इन दो भेदों के चार-चार अवान्तरभेद प्रदर्शित करने के बाद अब कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध नाम के तृतीय भेद को भी उसके चार अवान्तर भेद के सहित दिखावेंगे । यद्यपि यह तीसरा भेद, द्वितीय भेद के ही अन्तर्गत हो सकता है, तथापि सहृदयों को इस तृतीय भेद में द्वितीय भेद की अपेक्षा अधिक चमत्कार की प्रतीति होती है । कविनिबद्ध वक्ता में राग आदि का आवेश रहने से उसकी उक्ति में अधिक चमत्कार रहना संभव है । अतः इसको कविप्रौढोक्ति से भिन्न मानना ही उचित है ॥ ६७ ॥

(९) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से वस्तु व्यंग्य—

'कर्पूरमञ्जरी' नामक सट्टक में विचक्षणा नाम की सखी द्वारा वसन्त का वर्णन—

जे लङ्केति (ये लङ्केति) । जो 'पवन' सर्पों के भय से त्रस्त होकर हेमकूट के नितम्ब भाग में स्खलित हो रहे हैं, तथा रतिक्रीडा के श्रम से शिथिल हुई सर्पिणियों की फैली और ऊपर उठी हुई फणावली से पी जाने के कारण क्षीणता को प्राप्त हुए हैं अर्थात् स्वल्पावशेष बचे हुए हैं, वे मलयपवन, इस समय विरह-पीडित सुन्दरियों के श्वासों से किञ्चिन्मात्र सम्पर्क प्राप्त करते ही ऐश्वर्यशाली होकर शिशु अवस्था में भी तारुण्यपूर्ण हुए-से पुष्ट अवयवों वाले हो गये हैं, अर्थात् विरहिजनों के हृदय को पीडित करने में समर्थ हो गये हैं ॥ ६८ ॥

अत्रेति । यहाँ जो व्यञ्जक अर्थ है, वह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थ है । क्योंकि यह अर्थ, राजशेखर कवि के द्वारा कल्पित 'विचक्षणा' नाम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिवस्तुरूपव्यङ्ग्यादलङ्काररूपव्यङ्ग्यार्थोदाहरणम्)

सहि विरइऊणमाणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम् ।
पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरिअम् ॥ ६९ ॥

की सखी की कल्पना से प्रसूत है। इस व्यंजक अर्थ से यह व्यंग्यार्थ निकल रहा है—'निःश्वासों के सम्पर्क से ऐश्वर्य (शक्ति) प्राप्त कर ये मलयानिल क्या-क्या नहीं करेंगे'—यह 'वस्तु', पद्योक्त वाच्यार्थ रूप वस्तु से व्यंजित की जा रही है ॥ ६८ ॥

विशेष विवरण—स्त्रियों का आहार द्विगुणित होता है, इस कारण 'उरगी' यह स्त्रीलिंग निर्देश किया गया है। क्षुत् की अतिशयता बताने के लिए 'संभोगखिन्ना' कहा गया है। स्फार और उत्फुल्ल इन दो विशेषणों से 'कवलन' में स्थूलता व्यक्त हो रही है। लंकागिरि से मलयाचल तक आने में समुद्रलंघन के कारण अनिलों में शीतलता, मलय सम्बन्ध से सौगन्ध्य, स्खलन आदि से मन्दता ध्वनित हो रही है। 'लंकागिरि' शब्द से 'हेमकूट' ही समझना चाहिये। जिन लोगों ने 'लंकागिरि' की व्याख्या लंकासन्निहित गिरि अर्थात् मलय की है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'ते एण्हि मलयानिलाः' कथन की संगति नहीं लग सकेगी—ऐसा उद्योत में स्पष्ट लिखा है। उक्त पद्य के द्वारा कविनिबद्धसखीप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वाच्यार्थरूप वस्तु से 'निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्ति'—यह वस्तु व्यंजित की जा रही है। यहाँ पर 'तारुण्यपूर्णा इव'—इस उत्प्रेक्षा के रहने पर भी वह व्यंजिका नहीं है। क्योंकि उसकी विवक्षा न करने पर भी वैसी अभिव्यक्ति हो सकती है। ऐसी स्थिति में उत्प्रेक्षा को अप्रयोजक ही क्यों न कहा जाय? उक्तिविशेष का परिपोष करने के कारण उसे अप्रयोजक नहीं कह सकते। उसी तरह 'बहलत्व' के हेतुरूप में 'निःश्वाससम्पर्क' का उपादान करने से यहाँ 'काव्यलिङ्ग' का भी संभव हो रहा है, किन्तु उसे भी व्यंजक नहीं कह सकते। क्योंकि पूर्वोक्त की हेतुत्वेन विवक्षा न करने पर भी वैसी अभिव्यक्ति हो सकती है। वस्तुतः वस्तु की प्रधानता होने से वस्तु की ही व्यंजकता मानना उचित है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से अलंकार के रहने पर भी प्रधानता 'वस्तु' की ही रहने से उसी का व्यपदेश किया गया है। ऐसा सारबोधिनी और उद्योत में स्पष्ट लिखा है ॥ ६८ ॥

(१०) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से अलङ्कार व्यङ्ग्य—

सहीति (सखीति)। ढाढ़स देने वाली सखी से कोई सखी कह रही है—हे सखि! तुम्हारे द्वारा दिये गये धैर्य ने मेरे 'मान' को बहुत-कुछ आश्वासन दिया था

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सखि ! विरच्य्यमानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम् ।
प्रियदर्शनविश्रृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम् ॥ ६९ ॥)

अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने प्रसन्नेति विभावना प्रियदर्शनस्य सौभाग्य-बलं धैर्येण सोढुं न शक्यते इत्युत्प्रेक्षा वा ।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्त्यलङ्कारररूपव्यङ्ग्याद्वस्तुरूपव्यङ्ग्यार्थोदाहरणम्)

ओल्लोल्लकरअरअणक्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णं ।
रत्तंसुअं पआओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ ॥ ७० ॥

(अरे 'मान' ! तुम दृढतापूर्वक स्थिर रहना, भाग मत जाना, मैं तुम्हारी सहायता करूँगा, इत्यादि ।), किन्तु प्रियतम के दर्शन होते ही, पता नहीं वह 'धैर्य' सहसा कहाँ भाग गया ॥ ६९ ॥

अत्रेति । यहाँ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुरूप जो वाच्यार्थ है, वह 'व्यञ्जक अर्थ' है । उससे व्यंग्य अर्थ यह निकला कि 'प्रियतम के द्वारा मनाये बिना भी प्रेमिका प्रसन्न हो गयी'—इस प्रकार से 'कारण के विना ही कार्योत्पत्ति' रूप 'विभावना' अलंकार, अथवा 'प्रियतम के दर्शन से प्राप्त सौभाग्य-शक्ति का सामना धैर्य कैसे कर पायेगा ? क्योंकि वह धैर्य तो सखी से उधार लिया हुआ जो है ।'—यह उत्प्रेक्षालंकाररूप व्यंग्य अर्थ है ॥ ६९ ॥

विशेष विवरण—यहाँ प्रियदर्शन-विश्रृंखल क्षण में यानी प्रियतमावलोकनकौतुक-तरलितकाल में 'धीरत्वेन (धैर्येण) अपसृतम्'—इस वाच्यरूप वस्तु से 'अकृतेऽपि प्रार्थने सा (वक्त्री) प्रसन्ना' – यह विभावनालंकार और 'नूनं प्रियदर्शन-सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते'—यह उत्प्रेक्षालंकार व्यंजित किया जा रहा है, अपसरण आदि क्रिया अचेतन (जड़) धैर्य में होना संभव नहीं है फिर भी अपसृतत्वरूप चेतनधर्म का अचेतन धैर्य में आरोप किया गया है इसलिए 'वस्तु' में कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धत्व समझना चाहिये ॥ ६९ ॥

(११) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से वस्तु व्यंग्य—

अल्लोल्लेति । सपत्नी के द्वारा किये गये अभिनवनखक्षतादि चिह्नों को पति के शरीर पर देखकर क्रोध से आरक्त नेत्र हुई कोई चतुर नायिका पति के प्रश्न का उत्तर दे रही है—हे प्रिय ! मेरी इन आँखों में क्रोध कहाँ ! रतिक्रीडा के समय तुम्हारी प्रेयसी के द्वारा तुम्हारे इस शरीर पर बिलकुल ताजे नखक्षत तथा दन्तक्षतों ने बड़ी प्रसन्नता से यह रक्तांशुक (लाल रंग का आवरण पट) मेरे नेत्रों को पुरस्कार में दिया है । (उसको धारण करने से ये नेत्र लाल-लाल दिखाई पड़ रहे हैं) ये क्रोध से लाल नहीं हैं ॥ ७० ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्तम् ।
रक्तांशुकं प्रसादः कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते ।। ७० ।।

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि इत्युत्तरालङ्कारेण न केवलमार्द्रनखक्षतानि गोपायसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्त्यलङ्काररूपव्यङ्ग्यादलङ्कारध्वनेरुदाहरणम्)

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।
अणुदिणमणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं वि तणुएइ ।। ७१ ।।
(महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग ! सा अमान्ती ।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनयति ।। ७१ ।।

अत्र हेत्वलङ्कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते इति विशेषोक्तिः ।

अत्रेति । यहाँ 'तुम आँखें लाल क्यों कर रही हो' ? इस प्रश्न के उत्तर-स्वरूप यह पद्य है, अतः 'उत्तरालंकार' है । यही यहाँ पर कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध उत्तरालंकार व्यंजक अर्थ है । क्योंकि प्रश्न का उन्नयन स्पष्ट हो रहा है । उससे 'तुम केवल अपने आर्द्रक्षतों को छिपा नहीं रहे हो; किन्तु मैं भी उनकी प्रसादपात्र हो गई हूँ ।' यह वस्तु व्यक्त की जा रही है ।। ७० ।।

विशेष विवरण—'कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते' कहकर यह बताया है कि 'अपह्नुति' - अलंकार के सहित 'उत्तरालंकार' से तुम केवल अपने नवीन नखक्षतों को ही नहीं छिपा रहे हो, अपितु मेरे ऊपर भी उनकी कृपा हो गई है, क्योंकि उनके छिपाने के लिए ही तुम मेरा आलिंगन आदि कर रहे हो—यह 'वस्तु' ध्वनित हो रही है ।। ७० ।।

(१२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से अलंकार व्यंग्य--

महिलेति । विरह से कृश हुई नायिका के बारे में नायक से कोई सखी कह रही है—अरे रसिक युवक ! तुमसे अधिक भला सौभाग्यशाली कौन हो सकता है । सहस्रों सुन्दरियों से भरे हुए तुम्हारे हृदय में न समा सकने के कारण वह तन्वी सब कामकाज छोड़कर अपने दुबले शरीर को और भी अधिक दुबला कर रही है जिससे किसी तरह प्रवेश पा सकूँ ।। ७१ ।।

अत्र हेत्वलंकारेणेति । यहाँ पर हेत्वलंकार (काव्यलिंग अलंकार) से 'शरीर को कृश करने पर भी वह तुम्हारे हृदय में प्रविष्ट नहीं हो पा रही है'—अर्थात् कृशतारूपी कारण के होने पर भी 'प्रवेश' रूप कार्य के न होने से 'विशेषोक्ति' अलंकार यहाँ व्यंग्य है ।। ७१ ।।

विशेष विवरण—अपने प्रेमी युवक के हृदय में प्रवेश न पाने का हेतु, यह बताया गया है कि उसके हृदय में सहस्रों सुन्दरियों का निवास हो रहा है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः। एवं द्वादश भेदाः॥

(उभयशक्त्युत्थध्वनिः)

(सू० ५५) शब्दार्थोभयभूरेकः—

यथा—

(उभयशक्तिमूलकध्वनेरुदाहरणम्)

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥ ७२ ॥

तथा दुर्बल शरीर को और अधिक दुर्बल बनाने में भी वही 'प्रवेश न पा सकना' हेतु है। ये दोनों हेतु लोकव्यवहारसिद्ध नहीं हैं, अपितु काव्यसिद्ध हैं। 'सुभग' संबोधन से यह व्यक्त किया गया है कि नायिका ही तुम पर अनुरक्त है, तुम उस पर अनुरक्त नहीं हो। 'महिलासहस्र' से तुम उन पर अनुरक्त हो, वे तुम पर अनुरक्त नहीं हैं—यह ध्वनित होता है। 'अमान्ती' में 'महिलासहस्रभरितत्व' हेतु है, और 'तनूकरण' में 'अमान्तीत्व' हेतु है—इन दोनों हेत्वलंकारों से 'तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते'—यह विशेषोक्ति अलंकार व्यंजित हो रहा है। 'कारणसत्त्वेऽपि कार्यानुत्पत्तिः'—यह विशेषोक्ति का लक्षण है ॥ ७१ ॥

एष्विति। इन चारों में व्यंजक अर्थ, कविनिबद्धवक्ता की प्रौढोक्तिमात्र से सिद्ध है। उसमें भी प्रथम और चतुर्थ उदाहरणों में कविनिबद्धा 'सखी' वक्त्री है, और द्वितीय और तृतीय उदाहरणों में कविनिबद्धा 'नायिका' वक्त्री है। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के बारह भेद होते हैं ॥ ७१ ॥

उपर्युक्त प्रकार से संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के (अर्थशक्त्युत्थध्वनि के १२ और शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि के २ भेद) १४ भेदों का निरूपण कर दिया गया। अब उभयशक्त्युद्भव ध्वनि के एक (संलक्ष्यक्रमध्वनि के पन्द्रहवें) भेद को बता रहे हैं।

उभयशक्त्युत्थध्वनि का भेद—

(सू० ५५) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि का शब्द और अर्थ उभय की शक्ति से सिद्ध (उभयशक्त्युत्थ) एक भेद होता है। 'अतन्द्रचन्द्राभरणाः' पद्य से दो अर्थों की प्रतीति होती है, एक रात्रिपक्ष में और दूसरा नायिकापक्ष में।

उभयशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण—

अतन्द्रेति। (रात्रि-पक्ष में) 'अतन्द्रचन्द्राभरणा'—मेघ आदि के आवरण से रहित होने के कारण चमकने वाले चन्द्रमा से विभूषित, 'समुद्दीपितमन्मथा'—काम के उद्दीपन करने में समर्थ, 'तारकातरला'—छिटपुट यानी स्वल्प नक्षत्रों वाली ऐसी 'श्यामा'—चान्दनी रात किसे आनन्ददायिनी नहीं होती।

(नायिका-पक्ष में) आलस्य से रहित और कर्पूर के अंगराग से विलिप्त अंगों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

(ध्वनेरष्टादशभेदाः)

(सू० ५६)—भेदा अष्टादशास्य तत् ।। ४१ ।।

अस्येति ध्वनेः ।

वाली अथवा सुवर्ण-निर्मित शिरोभूषण से सजी हुई, और कामवासनाओं को जागरित कर देने वाली, कटाक्ष में फंसी हुई अथवा नक्षत्र की तरह चमकते हार में सुशोभित मध्य-मणि वाले हार को पहनी हुई षोडशवार्षिकी 'श्यामा' नायिका किस पुरुष को आनन्दित नहीं करती है ।। ७२ ।।

अत्रोपमेति । यहाँ निर्दिष्ट विशेषणों से युक्त 'श्यामा'—रात्रि के तुल्य षोडश-वार्षिकी नायिका—इस प्रकार 'उपमा' अलंकार व्यंग्य है ।

विशेष विवरण—श्यामा नायिका का लक्षण—'शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुखशीतला । सर्वावयवशोभाढ्या सा श्यामा परिकीर्तिता ।।' उपर्युक्त रीति से अर्थद्वय की प्रतीति होने पर 'स्त्री-विशेष इव रात्रिः' यह 'उपमालंकार' अथवा 'ज्यौत्स्नी रात्रिरिव नायिका'—यह उपमालंकार प्रतीत होता है । इसी से वृत्ति में कहा गया है कि 'अत्रोपमा व्यंग्या' इति । यहाँ पर श्यामारूप कामिनी-विशेष और रजनी दोनों में 'उपमा' व्यंग्य है । तथा यहाँ पर 'चन्द्रतारकातरलश्याम' आदि शब्द—परिवृत्त्यसहिष्णु हैं । यदि इनकी जगह पर्याय-शब्दों को रखा जाय तो अन्यार्थ के बोध का होना संभव नहीं होगा, किन्तु 'अतन्द्राभरण, समुद्दीपितमन्मथ' आदि शब्द—परिवृत्तिसहिष्णु हैं । क्योंकि इनकी जगह 'अनिद्र, भूषण, समुत्तेजित, काम' आदि पर्याय शब्दों को रखने पर भी तदर्थ प्रतीति हो सकती है—इस प्रकार उभयशक्तिमूलत्व को समझना चाहिये ।

प्रदीपकार ने जो कहा है कि 'अतन्द्रेत्यादेः परिवृत्त्यसहतया' और 'चन्द्र-समुद्दीपिततारकाशब्दाः परिवृत्त्यसहिष्णवः, अन्ये न तथा' यह सारबोधिनी-कार का कथन अनादरणीय है—ऐसा सुधासागरकार ने स्पष्ट कहा है । एवं च यह 'उपमा' कुछ शब्दों के परिवृत्त्यसह होने से तथा कुछ शब्दों के परिवृत्तिसह होने से, प्राधान्येन दोनों की ही व्यंजकता होने से शब्दार्थोभयशक्ति-मूला है ।। ७२ ।।

अब शिष्यों के सुखावबोधार्थ ध्वनि के उक्त भेदों का परिगणन करते हैं—

ध्वनि के अठारह मुख्य भेद—

(सू० ५६) तस्मात् इस ध्वनि के अठारह भेद होते हैं ।

अस्येति । इसके अर्थात् ध्वनि के ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष विवरण—सूत्र ५६ में प्रयुक्त 'अस्य' का अभिप्राय 'ध्वनि' काव्य से है। सन्निहित कहे गये 'शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवध्वनि' से नहीं है।

ग्रन्थकार ने ध्वनि काव्य के जो अठारह भेद बताये हैं वे इस प्रकार हैं—

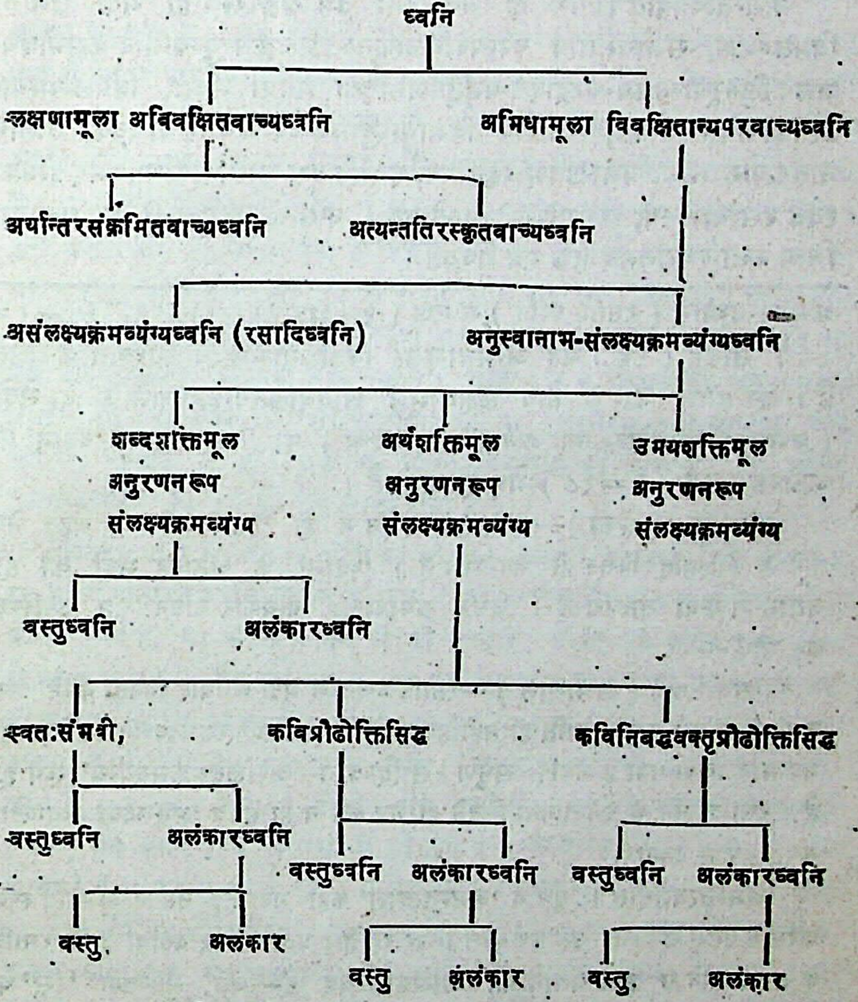

उपर्युक्त रेखाचित्र में 'अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' में—शब्दशक्त्युत्थ (शब्दशक्तिमूल-अनुरणनरूप-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के दो (२) भेद, और अर्थशक्त्युत्थ (अर्थशक्तिमूल-अनुरणनरूप-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) के बारह (१२) भेद, तथा उभयशक्त्युत्थ (उभयशक्तिमूल-अनुरणनरूप-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) का एक (१) भेद—सब मिलकर पन्द्रह (१५) भेद हुए। इन पन्द्रह भेदों के साथ 'असंलक्ष्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(रसादिध्वनेरेक एव भेदे हेतुः)

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह—

(सू० ५७) रसादीनामनन्तत्वाद्भेद एको हि गण्यते ।

अनन्तत्वादिति । तथा हि नव रसाः तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ संभोगो विप्रलम्भश्च, संभोगस्यापि परस्परावलोकना-ऽऽलिङ्गन-चुम्बनादि-कुसुमोच्चय-जलकेलि-सूर्यास्तमय-चन्द्रोदय-षड्ऋतुवर्णनादयो बहवो भेदाः, विप्रलम्भस्या-ऽभिलाषादय उक्ताः, तयोरपि विभावा-नुभाव-व्यभिचारि-वैचित्र्यं, तत्रापि नायकयोरुत्तम-मध्यमा-ऽधम-प्रकृतित्वं, तत्रापि देश-काला-ऽवस्थादिभेद इत्येकस्यैव रसस्यानन्त्यं, का गणना त्वन्येषाम् । असंलक्ष्यक्रमत्वन्तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते ।

क्रमव्यंग्यध्वनि (रसादि ध्वनि) के एक (१) भेद को मिलाने पर (१५+१= १६) सोलह (१६) भेद अभिधामूला विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के होते हैं। इन सोलह भेदों के साथ लक्षणामूल अविवक्षितवाच्यध्वनि के दो भेदों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) को मिला देने पर 'ध्वनि' के अठारह (१६+२=१८) भेद हो जाते हैं ।

नन्विति । (शंका)—असंलक्ष्यक्रमध्वनि में ही 'रसादिध्वनि' के बहुत भेद होने से (अर्थात् कितने ही भेद-प्रभेद हैं) 'ध्वनि' के अठारह भेदों को ही बताने में क्या तात्पर्य है ? उसके समाधानार्थ ग्रन्थकार अग्रिम सूत्र उपस्थित कर रहे हैं—

(सू० ५७) (समाधान)—रसादि ध्वनि के भेदों की यदि गिनती करने लग जायँ तो उसकी कभी समाप्ति ही नहीं हो पायेगी । इसलिए रसादिध्वनि का एक ही भेद मान लिया गया है अर्थात् संपूर्ण रसादिध्वनि—'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' रूप ही है । रसादिध्वनि के अनन्तानन्त कितने ही भेद क्यों न हों सर्वत्र 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यता' समानरूप से रहेगी ।

अनन्तत्वादिति । सूत्र में 'अनन्तत्वात्' कहा गया है, उसका अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार उस पर वृत्ति लिख रहे हैं । प्रतीक देकर बताया है कि रसादि के अनन्त होने से इसे बताने का अभिप्राय यह है—जैसे, मुख्यतया 'रस' के नव भेद तो प्रसिद्ध ही हैं । उनमें से शृंगार के दो भेद—(१) संभोग, (२) विप्रलंभ । उनमें से संभोग के भी परस्पर अवलोकन, आलिंगन, चुम्बन आदि तथा कुसुमोच्चय, जलक्रीडा, सूर्यास्तमय, चन्द्रोदय तथा षड्ऋतुवर्णन, आदि अनेक भेद हो सकते हैं । दूसरे विप्रलंभ शृंगार के—(१) अभिलाष, (२) ईर्ष्या, (३) विरह, (४) प्रवास और (५) शाप आदि हेतुओं से सम्पन्न पाँच भेदों को पहले ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(उभयशक्त्युत्थध्वनेर्वाक्यव्यङ्ग्यतैव)

(सू० ५८) वाक्ये द्व्युत्थः—

बताया जा चुका है। उन दोनों में भी अनेक अवान्तर भेदों सहित विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों का वैचित्र्य होने से अनेक भेद हो सकते हैं। उस वैचित्र्य में भी पुनः संभोग तथा विप्रलंभ दोनों प्रकार के श्रृंगारों में नायक-नायिका की (त्रिविध प्रकृतियों के कारण) उत्तम, मध्यम और अधमादि भेद से भिन्नता भी हो सकती है। इस प्रकृति-वैचित्र्य में देशभेद, कालभेद, अवस्थाभेद आदि का वैचित्र्य भी होगा। इस प्रकार एक ही श्रृंगार रस के अनन्त भेद हो जाते हैं। जब एक रस की गणना का ही कोई अन्त नहीं, तब अन्य रस और भाव तथा उन दोनों के आभास आदि की गणना करने की शक्ति किसमें हो सकती है? इसलिए रसादि ध्वनि का एक ही भेद कहकर विश्राम लिया गया है। चाहे रस के कितने ही भेद-उपभेद क्यों न हों उन सभी में 'असंलक्ष्यक्रमत्व' या 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यता' रूप धर्म तो समान ही है। एवं च असंलक्ष्यक्रमत्व की समानता को लेकर 'रसादिध्वनि' का एक ही भेद माना गया है।

उपर्युक्त ध्वनि के अठारह भेदों का और-भी विस्तार प्रदर्शित किया जायगा। इन मुख्य अठारह ध्वनिभेदों में द्व्युत्थ (उभयशक्त्युत्थ यानी शब्दार्थोभयमूलक) जो ध्वनिभेद है, वह केवल वाक्य में ही रहता है, अर्थात् उसे केवल वाक्य व्यंग्य ही माना जाता है। निष्कर्ष यह है कि पदसमूहरूप वाक्य की व्यंजकता पर ही द्व्युत्थ निर्भर रहता है। बाकी बचे हुए सतरह (१७) के पदगत तथा वाक्यगत भेद होते हैं। इस प्रकार अवशिष्ट सतरह ध्वनियों के द्विगुणित हो जाने से (१७ × २ = ३४) चौंतीस भेद होते हैं। उनमें से पूर्वोक्त जो बारह (१२) भेद बताये थे, वे 'प्रबन्ध' में भी होने से उसके बारह (१२) भेद और-भी हो सकते हैं। उन बारह (१२) भेदों और उभयशक्त्युत्थ के एक (१) भेद को जोड़ देने पर सैंतालीस (१ + ३४ = ३५ + १२ = ४७) भेद हो जाते हैं। इनके अतिरिक्त असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्यध्वनि के पदांश, वर्ण, रचना तथा प्रबन्धगत रहने से चार (४) भेद और होते हैं, उन चारों (४) भेदों को जोड़ने पर इक्यावन (४७ + ४ = ५१) भेद हो जाते हैं।

ध्वनि के पूर्वोक्त अष्टादश (१८) भेदों का निरूपण करने के अनन्तर अब अगले इक्यावन भेदों का निरूपण किया जा रहा है।

उभयशक्त्युत्थध्वनि के एक भेद की वाक्यव्यङ्ग्यता—

(सू० ५८) उभयशक्त्युत्थ ध्वनि केवल वाक्य में होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्व्युत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः ।

(सप्तदशध्वनिभेदानां पदव्यङ्ग्यताऽपि)

(सू० ५९)—पदेऽप्यन्ये—

अपिशब्दाद्वाक्येऽपि । एकावयवस्थितेन भूषणेन कामिनीव पदद्योत्येन व्यङ्ग्येन वाक्यव्यङ्ग्याऽपि भारती भासते ।

द्व्युत्थ इतीति । 'द्व्युत्थ' अर्थात् शब्दार्थोभयशक्तिमूल-ध्वनि का केवल 'वाक्यगत' एक ही भेद होता है ।

विशेष विवरण—'द्व्युत्थ' (द्विमूलक) कहने से यहाँ पर 'शब्दार्थोभयशक्ति-मूलक' ध्वनिविशेष को ही समझना चाहिये । पूर्वोक्त शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्ति-मूलक द्विविध ध्वनियों को नहीं । इस द्व्युत्थ ध्वनि की वाक्यव्यंजकता का स्वरूप 'अतन्द्रचरणाभरणा' उदाहरण से स्पष्ट किया जा चुका है ।

सत्रह ध्वनिभेदों की पद एवं वाक्यव्यङ्ग्यता—

(सू० ५९) अन्य सत्रह भेद, 'वाक्य' के अतिरिक्त 'पद' में भी होते हैं । अर्थात् जो सत्रह ध्वनि भेद हैं, वे वाक्य-व्यंग्य तो होते ही हैं, साथ ही साथ पद-व्यंग्य भी होते हैं ।

अपिशब्दादिति । सूत्रगत 'अपि' शब्द से अन्य सत्रह (१७) भेद वाक्य में भी होते हैं । (इस प्रकार इन सत्रह भेदों के पदगत तथा वाक्यगत दो भेद हो जाने से चौंतीस [१७ × २ = ३४] भेद हो जाते हैं) ।

शंका—व्यंग्यार्थ का द्योतक यदि 'पद' है तो उससे 'पदार्थ' की चारुता (सुन्दरता) होगी । अतः 'पद' को ही 'ध्वनि' कहा जाय । 'काव्य' को ध्वनि नहीं कहना चाहिये, क्योंकि काव्यरूप जो 'वाक्य' और 'वाक्यार्थ' हैं, उनमें चारुत्वाधायक चारुत्व का अभाव है । अभिप्राय यह है कि यदि 'पद' को व्यंग्य अर्थ का द्योतक माना जाय तो 'वाक्यव्यंग्य' की अपेक्षा 'पदव्यंग्य' के चमत्कारजनक (अतिशायी) होने से 'पद' को ही (वाक्यरूप काव्य के अवयव को ही) उत्तम काव्य कहना चाहिये । अतः वही ध्वनि होगा । संपूर्ण वाक्य-रूप काव्य को ध्वनि नहीं कहा जायगा । किन्तु 'ध्वनि' तो उत्तम काव्य को ही कहा करते हैं, जैसे—'इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः'—को ही ध्वनि कहा गया है ।

समा०—जिसके अन्तर्गत रहने वाले पद के द्वारा द्योत्य यानी अतिशयित अर्थ, चारुता के साथ व्यंजित किया जाता है, उसी में 'ध्वनित्व' रहता है । ध्वनिकार, आनन्दवर्धन ने एक दृष्टान्त देकर इसे स्पष्ट किया है । जैसे—

एकावयवस्थितेनेति । किसी एक ही अंग में धारण किये गये अलंकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र पदप्रकाश्यत्वे क्रमेणोदाहरणानि—

(पदव्यङ्ग्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिः)

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा ।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥ ७३ ॥ (१)

अत्र द्वितीयमित्रादिशब्दा आश्वस्तत्व-नियन्त्रणीयत्व-स्नेहपात्रत्वादिसंक्रमितवाच्याः ।

(आभूषण) से कामिनी सुशोभित हो उठती है, वैसे ही पद के द्वारा द्योत्य व्यंग्य से श्रोत्रग्राह्य वाक्य द्वारा कवि की स्फोटरूप व्यंग्य वाणी भी शोभित होती है ।

विशेष विवरण—'पदेऽप्यन्ये' सूत्रगत 'अन्ये' का अर्थ है—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यादि सत्रह भेद, वाक्य में और पद में भी होते हैं । सूत्रस्थ 'अपि' शब्द को अनुक्त पदांश आदि का समुच्चायक नहीं समझना चाहिये, क्योंकि अलंकारादि 'पदांश' आदि से व्यंग्य नहीं हुआ करते । अभिप्राय यह है कि व्यंग्यार्थ की उपस्थिति में जहाँ प्राधान्येन एक ही पद की अनुकूलता रहे, और बाकी अन्य केवल सहकारी मात्र रहें, तब वहीं पर पदनिष्ठता मानी जाती है । और जहाँ अनेक पद वैसे हों वहाँ वाक्यगत माना जाता है । उद्योतकार ने भी इसी प्रकार कहा है ।

पदद्योत्य लक्षणामूल ध्वनि के सत्रह (१७) उदाहरण—

तत्रेति । उनमें से पदप्रकाश्य सत्रह भेदों के सत्रह उदाहरणों में से सर्वप्रथम अविवक्षितवाच्य अथवा लक्षणामूलध्वनि के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि, दोनों के पदद्योत्य उदाहरण क्रमशः उपस्थित कर रहे हैं ।

१. लक्षणामूल पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि—

यस्य मित्राणीति—उसी मनुष्य का जन्म लेना वास्तविक जन्म कहने योग्य है; जिसके मित्र, वस्तुतः मित्र हैं, जिसके शत्रु, वस्तुतः शत्रु (दमनीय) हैं, और जिसके कृपापात्र, सचमुच कृपापात्र हैं । अर्थात् उसी का जन्म लेना और जीवित रहना सार्थक है ॥ ७३ ॥ (१)

अत्रेति । यहाँ पुनरुक्ति के भय से द्वितीय 'मित्र' आदि शब्द क्रम से (१) आश्वस्तत्व, (२) नियन्त्रणीयत्व, तथा (३) स्नेहपात्रत्व आदि 'अर्थान्तर' में संक्रमितवाच्य हैं । लक्षणामूलक ध्वनि होने से ऊपर लक्ष्य अर्थ को दिखाया गया है ॥ ७३ ॥

विशेष विवरण—पद्यगत द्वितीय 'मित्र' शब्द 'आश्वस्तत्व' अर्थ में, द्वितीय 'शत्रु' शब्द 'नियंत्रणीयत्व' अर्थ में, द्वितीय 'अनुकम्प्य' शब्द 'स्नेहपात्रत्व' अर्थ में संक्रमित वाच्य हैं । यहाँ पर द्वितीय 'मित्र' आदि शब्द, अनुपयुक्त होने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पदव्यङ्ग्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिः)

खलववहारा दीसन्ति दारुणा जहवि तहवि धीराणं।
हिअअवअस्सबहुमआ णहु ववसाआ विमुज्झन्ति ॥ ७४ ॥ (२)
(खलव्यवहारा दृश्यन्ते दारुणा यद्यपि तथाऽपि धीराणाम्।
हृदयवयस्यबहुमता न खलु व्यवसाया विमुह्यन्ति ॥ ७४ ॥)

अत्र विमुह्यन्तीति।

कारण अविवक्षित वाच्य होकर 'आश्वस्तत्व' आदि अर्थों को लक्षणा से बताते हैं। लक्षणा करने का फल यह हुआ कि नायक की उचित व्यवहारिता रूप व्यंग्य अर्थ, निष्पन्न हुआ,—यह फल उपादानलक्षणा से हुआ। इस पद्य में प्रत्येक वाक्यार्थ, अपने में ही विश्रान्त होने से सबकी एकवाक्यता नहीं है। उस कारण प्रत्येक वाक्य के एक-एक पद में ही व्यंजकता है। संपूर्ण वाक्य में व्यंजकता नहीं। इसलिए यह 'ध्वनि' पदप्रकाश्य है।

'त्वामस्मि वच्मि' (च० उ० श्लो० २३) यहाँ पर एकवाक्यगत सभी पदों से व्यंग्यार्थ की उपस्थिति हो रही है, इसलिए यहाँ पर 'ध्वनि' वाक्यप्रकाश्य है। यही दोनों में अन्तर है ॥ ७३ ॥

इसी प्रकार पदप्रकाश्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि का एक हिन्दी पद्य भी देखने योग्य है—

'राधा अति गुन आगरी स्वर्न बरन तनु रंग।
मोहन तू मोहन भयो परसत जाके अङ्ग ॥'

इस दोहे में पहला 'मोहन' शब्द सामान्य रूप से 'कृष्ण' का वाचक है। किन्तु द्वितीय 'मोहन' शब्द सबको मोहित करने की शक्ति से युक्त 'मोहन' का सूचक है, अतः अर्थान्तर में संक्रमित हो गया है। इस कारण पदद्योत्य अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनि का यह उदाहरण है।

२. लक्षणामूल-पदद्योत्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि—

खलववहारा इति। (खलव्यवहारा इति)। यद्यपि धूर्तों (शठों) के व्यवहार, (चरित्र) दूसरों के अभीष्टविघातक होने से दारुण (भयंकर) देखे जाते हैं; तथापि सदर्थग्राहिता के कारण हृदयरूपी मित्र के द्वारा अनुमोदित किये गये धीर पुरुषों के निश्चय, अटल ही (स्थिर ही) रहते हैं। अर्थात् धैर्यशाली महापुरुषों के व्यवसाय (उद्योग = प्रयत्न) प्रतिबद्ध (रुकते) नहीं हैं, अपि तु बराबर चलते ही रहते हैं ॥ ७४ ॥ (२)

अत्र विमुह्यन्तीति। यहाँ 'विमुह्यन्ति' पद, 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' होकर व्यञ्जक हुआ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पदव्यङ्ग्योऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः)

लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥ ७५ ॥ (३ क)

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते । यथा वा—

विशेष विवरण—यहाँ पर 'विमुह्यन्ति' इस एक ही पद की व्यंजकता होने से 'पद'-प्रकाश्य ध्वनि है।

'उपकृतं बहु तत्र'—(च० उ० श्लो० २४) इसमें सभी पदों की व्यंजकता रहने से 'वाक्य'-प्रकाश्य ध्वनि निष्पन्न हुआ था। यही दोनों में अन्तर है। यहाँ अचेतन 'व्यवसाय' में 'विमुह्यन्ति' का विमोहरूप मुख्यार्थ बाधित होकर कार्य-कारणभाव संबन्ध से 'प्रतिबन्ध' अथवा 'विराम' यानी अप्रवृत्ति अर्थ को 'विमुह्यन्ति' पद लक्षणा से बता रहा है, और उससे 'सर्वथा इष्टकार्यकारित्व' रूप व्यंग्य अर्थ निष्पन्न हो रहा है—यह लक्षणा का फल है। 'व्यवसाय' के साथ 'विमोहात्यन्ताभाव' का अन्वय, अनुपपन्न नहीं है, तब लक्षणा करने की आवश्यकता क्यों हुई ? क्योंकि अन्वयानुपपत्ति होने पर ही लक्षणा की जाती है। इसका उत्तर तो यह है कि यहाँ पर अधीर लोगों की अपेक्षा धीर लोगों का वैलक्षण्य बताना है। किन्तु उसे बिना लक्षणा के बताना संभव नहीं है, क्योंकि अधीर लोगों के व्यवसाय (प्रयत्न) में भी विमोहात्यन्ताभाव दृष्टिगोचर होता है ॥ ७४ ॥

अभिधामूल-पदद्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के दो उदाहरण—

इसके पूर्व 'अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलक) ध्वनि के 'अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य' दोनों भेदों के 'पदप्रकाश्य' होने वाले ध्वनि के दो उदाहरण बताये गये थे।

अब 'विवक्षितवाच्य' (अभिधामूलक) ध्वनि के 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य'-रूप एक भेद के 'पदप्रकाश्यव्यंग्य' के दो उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं।

१. अभिधामूल-पदद्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि—

लावण्यमिति। किसी वियोगी का यह परामर्श है। वह लावण्य, जो एकमात्र अनुभवैकगम्य था, और वह कान्ति, जो आश्चर्य में डुबो देती थी, और वह अद्भुत संस्थान-सौष्ठव अथवा रंग, और बोलने की वह विलक्षण परिपाटी, ये सब उसके सन्निधान के कारण अनुभवदशा में अमृत के तुल्य लगते थे, किन्तु अब उसके वियोग में तो वे सभी महान् तापदायक ज्वर के तुल्य प्रतीत हो रहे हैं ॥ ७५ ॥ (३ क)

अत्र तदादिपदैरिति। यहाँ 'तद्' आदि शब्दों से तत्कालीन अनुभव किये हुए अर्थ, व्यंग्यरूप से प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ७५ ॥

यह पदद्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य विप्रलंभशृंगार का उदाहरण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पदव्यङ्ग्योऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिः)

मुग्धे ! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥७६॥ (३ख)

विशेष विवरण—लावण्य का लक्षण—

'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमुदाहृतम् ॥'

उपर्युक्त उदाहरण में विप्रलंभ की प्रतीति कराने वाली विभावादि सामग्री के रहने पर भी 'तत्' 'असौ' 'स' आदि पदों की प्रधानता रहने से पदव्यंजकता है। अर्थात् 'तद्' आदि सर्वनाम पदों के संयोग से ही यहाँ आनन्दानुभव हो रहा है। क्योंकि इन्हीं सर्वनाम पदों के द्वारा वियोगी व्यक्ति की अनुभवैकगम्य अनिर्वचनीय भावनाओं की अभिव्यक्ति ही 'विप्रलंभ' को परिपुष्ट कर रही है। प्रदीप और उद्योत में कहा है कि 'अत्र विप्रलंभव्यंजके वाक्येऽनुभवैकगोचरमर्थं प्रकाशयतां तदादिपदानां प्राधान्यम् । लावण्यादेरनुभवैकगोचरत्वादिना स्मरणस्य विप्रलंभपोषकत्वात्' ॥ ७५ ॥

केवल सर्वनाम पद ही 'रस' आदि के व्यंजक नहीं होते; किन्तु 'अन्य पद' भी व्यंजक हो सकते हैं—इसे बताने के लिए 'संभोग' में भी उसी पदप्रकाश्य ध्वनि का एक उदाहरण दे रहे हैं—

२. अभिधामूल-पदद्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि—

'अमरुशतक' से यह पद्य, उदाहरण के रूप में लिया गया है। मानोपदेश करने वाली किसी सखी के प्रति नायिका की यह प्रत्युक्ति है—

मुग्धे इति। अरी ! मेरे समझाने पर भी ध्यान न रखने वाली ! क्या तू इतने भोलेपन से ही अपना संपूर्ण जीवन अर्थात् यौवन बिता देगी ? इतनी मुग्धा बनी रहना ठीक नहीं है। इस तरह तुम्हारा प्रियतम तुम्हारे अधीन नहीं हो पायगा। उसे अपने वशंगत करने के लिए 'मान' करना सीख। 'मान' करने में अपने धैर्य (धीरज) को मत खो देना। अर्थात् शीघ्र मान भंग मत कर देना। प्रियतम के सामने हमेशा ऐसी इतनी ऋजुता (सिधेपन) से काम नहीं चलता। अतः इतनी सरलता को त्याग दे। सखी के द्वारा बार-बार इतना समझाये जाने पर भी अकृत्रिमानुरागवती वह नायिका भयभीत हो उठी; और भयविह्वलमुखी होकर इतना ही अपनी सखी से कह पायी कि अरी सखी ! धीरे बोल, नहीं तो मेरे हृदय में निरंतर विराजनेवाला मेरा प्राणेश्वर यह सब कहीं सुन न ले ॥ ७६ ॥ (३ ख)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र भीताननेति। एतेन हि नीचैः शंसनविधानस्य युक्तता गम्यते।

अत्र भीताननेति। यहाँ पर 'भीतानना'—यह व्यंजक पद है। उससे 'धीरे बोलने का विधान'—उचित प्रतीत हो रहा है।

विशेष विवरण—यहाँ पर नायिका ने अपनी सखी से 'नीचैः शंस' कहकर 'नीचैः शंसन'—धीरे बोलने का विधान किया है, उसने अपनी सखी से 'मा एवं शंस'-ऐसा मत कह—नहीं कहा, क्योंकि सखी का वाक्य परिहार्य नहीं हुआ करता। इस पद्य में 'अखिल' पद से 'यौवनकाल' का संग्रह किया गया है। उससे यह अभिप्राय निकला कि 'मुग्धता' का समय तो 'मुग्धता' में ही बीत चुका। चलो; जो हुआ सो हुआ। क्या अब इस 'यौवनकाल' को भी मानचातुरी के बिना ही बिता रही हो ? यह अनुचित कर रही हो। ऐसी व्याख्या अमरुशतक के व्याख्याकार 'देवशंकर' ने की है।

यहाँ पर संभोग शृंगार रूप 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' है, उसकी प्रकर्षता में कारण 'भीतानना' यह व्यंजक पद है। क्योंकि 'नीचैः शंस' कहने का औचित्य 'भीतानना' पद से ही प्रकट किया जा रहा है। अतः 'भीतानना' से पदप्रकाश्य ध्वनि यहाँ पर दिखाया गया है।

'शून्यं वासगृहम्'—(चतु० उ० श्लो० ३०) में ऐसा कोई व्यंजकपद नहीं है, इसलिए वहाँ वाक्यप्रकाश्य ही ध्वनि है। यही दोनों में अन्तर है। इस प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य के दो उदाहरण 'पदद्योत्यध्वनि' के दिये गये हैं। उनमें प्रथम उदाहरण 'विप्रलंभशृंगार' का और द्वितीय 'संभोगशृंगार' का है।

उदाहरण में दिये गये इसी पद्य का अनुवाद महाकवि बिहारी ने भी किया है—

'सखी सिखावत मान विधि, सैननि बरजति बाल।
हरुए कहु मो हिय बसत, सदा बिहारीलाल॥

अमरुक कवि के ढाई चरणों के भाव को बिहारी ने केवल 'सखी सिखावत मानविधि' इन चार शब्दों से ही प्रकट कर दिया है। सखी के सिखाये मानविधि को सुनकर अमरुक की नायिका भयभीत होकर उससे कहती है 'प्रतिवचस्तामाह भीतानना'। किन्तु बिहारी की नायिका मुँह से नहीं बोलती है, क्योंकि मुँह से यदि कहूँगी तो हृदय में बसे प्राणेश्वर तो सुन ही लेंगे। इसलिए 'सैननि बरजति बाल'—आँख के इशारे से ही उसे रोक रही है। अमरुक की नायिका के 'प्राणेश्वर प्रियतम' उसके हृदय में बैठे हैं, किन्तु बिहारी की नायिका ने 'बिहारी जी' को बांध-के रखा है, क्योंकि 'वे बिहारी जो ठहरे, विहार करना तो उनका काम ही है' जो एक जगह बंधकर रहते नहीं, उन्हीं बिहारीलाल को सदा के लिए बाँध लेने में और भी गौरव है॥ ७६॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकन्न वैचित्र्यमिति न तदुदाह्रियते ।

(पदप्रकाश्यवस्तुनाऽलङ्कारध्वनिः)

रुधिरविसरप्रसाधितकरवालकरालरुचिरभुजपरिघः ।
झटिति भ्रुकुटितविटङ्कितललाटपट्टो विभासि नृप ! भीम ! ॥७७॥ (४)

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम्

भावादीनामिति । 'भाव' आदि के पदप्रकाश्यत्व में अधिक वैचित्र्य नहीं रहता है, इसलिए उनके उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

विशेष विवरण—उपर्युक्त 'आदि' पद से 'तदाभासादिकों' का संग्रह किया गया है। 'अधिकं न वैचित्र्यम्' कहकर यह सूचित किया है कि वाक्य की अपेक्षा पदों में अतिरिक्त चारुता (आस्वादजनकता) नहीं है। अर्थात् भावादिकों का तो वाक्य में भी रससदृश चारुत्व नहीं है, तो पदप्रकाश्यता में उनका चारुत्व कैसे हो सकता है ? अतः उनके प्रभेदों को नहीं बताया जा रहा है।

पदद्योत्य संलक्ष्यक्रम-शब्दशक्त्युत्थध्वनि के दो उदाहरण—

१. पदद्योत्य वस्तु से अलङ्कारध्वनि—

अब 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के शब्दशक्तिमूलक भेद में पदप्रकाश्य वस्तु से अलंकारध्वनि का उदाहरण दे रहे हैं।

रुधिरेति । रुधिर-प्रवाह से रंगी हुई तलवार के द्वारा शत्रु तथा मित्रों के लिए क्रमशः भयंकर और मनोहर (सुन्दर), और शत्रुरक्ष की विजय के निरोधक होने से भुज ही जिसका परिघ (अर्गल) बन गया है ऐसे, और त्वरित हो भ्रूभंग से अंकित ललाटफलकवाले हे भीम (भयंकर) राजन् ! आप सचमुच भीमसेन के तुल्य सुशोभित हो रहे हैं ॥ ७७ ॥ (४)

अत्र भीषणीयस्येति । यहाँ पर 'भीषणीय' अर्थ वाले 'भीम' पद को 'नृप' का विशेषण बना देने से 'भीम' पद के द्वारा 'भीमसेन' की उपमा व्यंजित की जा रही है। अर्थात् भीषणीय प्रकृत 'नृप' उपमेय है और 'भीमसेन' उपमान है ॥ ७७ ॥

विशेष विवरण—'भीषणीयस्य' का अर्थ—'भीषयतीति भीषणीयः तस्य, अर्थात् प्रकृतनृपस्य ।' 'कृत्यल्युटो बहुलम्' से बाहुलकात् कर्तरि 'अनीयर्' प्रत्यय किया गया है। तब उसका अर्थ भयंकर हुआ। 'भीम' पद 'अभिधा' से 'भीषणीय' को बोधित करता है। उस 'भीषणीय' का 'भीमसेन' उपमान है—यह व्यञ्जना से गम्य होता है। तथा च 'भीमसेन इव भीषणः'—यह उपमालंकार, अभिधामूल व्यञ्जना के द्वारा पदप्रकाश्य होता है। 'भीम' का वाच्य अर्थ भयंकर है, और पाण्डव-विशेष 'भीमसेन'—व्यंग्य अर्थ है। अर्थात् उन दोनों में जो 'उपमा' है, वह भी व्यंग्य है। एवं च यहाँ पर 'भीम' पद की महिमा से 'भीमसेनोपमा'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पदद्योत्यो वस्तुध्वनिः)

भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।
कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥ ७८ ॥ (५)

काचित्सङ्केतदायिनमेवं मुख्यया वृत्त्या शंसति ।

व्यंग्य हो रही है, इसलिए यह पदप्रकाश्यध्वनि है। किन्तु 'उल्लास्यकाल-करवाल०'—(चतु० उ० श्लो० ५४) में जो उपमा है; वह, वाक्यव्यंग्या है, क्योंकि उसमें 'देव', 'धारा' आदि अनेक पदों के होने से, वहाँ की अभिधामूला व्यंजना, वाक्यगत ही है।

प्रस्तुत उदाहरण में 'रूपकालंकार' का सन्देह नहीं करना चाहिये, क्योंकि यहाँ पर 'विभासि' क्रिया मध्यम पुरुष में है। अतः उसका अन्वय संबोध्य उपमेय के साथ तो है, किन्तु उपमान के साथ नहीं है। 'रूपक अलंकार' वहीं होता है, जहाँ विधेय के रूप में प्रधानता से अन्वित होने वाली वस्तु रहती है। रूपक में विधेयप्राधान्येनैव अन्वय होने से 'मुखचन्द्रो हसति' यहाँ पर जो 'हसन' है, वह रूपक में बाधक है, किन्तु उपमा में साधक है ॥ ७७ ॥

यह उदाहरण पदद्योत्य 'वस्तु' से 'अलंकार' व्यंग्य का दिया गया है।

२. पदद्योत्य वस्तु से वस्तुध्वनि—

अब संलक्ष्यक्रमव्यंग्य प्रभेदों में शब्दशक्तिमूलपदप्रकाश्य वस्तु से वस्तु-ध्वनि का उदाहरण प्रस्तुत है—

अनेक लोगों के उपस्थित रहते उपनायक के आजाने पर अप्रस्तुत वेद-प्रशंसा के बहाने से उसके आगमन-जनित हर्ष को व्यक्त करती हुई नायिका कह रही है—

भुक्तीति। भुक्ति अर्थात् स्वर्गादि भोग, और मुक्ति अर्थात् ब्रह्मात्मैक्यरूप मोक्ष का विधायक, अथवा नियमतः हितसाधनता का ठीक-ठीक उपदेश देने में तत्पर जो सदागम अर्थात् वेद है, वह किसे आनन्दोत्पादक नहीं होता ?—यह तो उदाहृत पद्य का वाच्यार्थ है।

उसी का व्यंग्य पक्ष में अर्थ यह होगा—भुक्ति अर्थात् सुरतभोग, और मुक्ति अर्थात् विरहदुःख से छुटकारा (मुक्ति) दिलाने वाले तथा एकान्तसमादेशन-तत्पर अर्थात् एकान्त संकेत स्थान के सेवन की प्रेरणा देने में तत्पर, सदागमः अर्थात् 'सत्' यानी सुन्दर प्रियतम का 'आगमः' यानी आगमन (आना) किस रमणी के लिए आनन्ददायक नहीं होता है ॥ ७८ ॥ (५)

काचिदिति। यहाँ पर कोई नायिका संकेत देनेवाले उपनायक को मुख्यवृत्ति अर्थात् व्यंजनावृत्ति से कह रही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष विवरण—यहाँ मुख्यतया 'सदागम' पद से 'उपपति-स्तुति' रूप 'वस्तु' व्यंजित की गई है। वृत्ति में प्रयुक्त 'एवं' का अभिप्राय यह है कि जो प्रकृत अर्थ है, उसे यदि सभी लोग जान लें तो रहस्य खुल जायगा, इस भय से प्रथम प्रकृत अर्थ (प्राकरणिकीकृत) की प्रतीति कराते हुए व्यंजनावृत्ति से शक्यार्थ को भी अप्राकरणिक बनाकर व्यंग्य बना देने में है। अतएव इन दोनों में 'उपमा' है। प्रधानभूत व्यंग्यार्थ में ही प्रतीति के विश्रान्त होने पर तो उपमा का कोई कल्पक ही नहीं रहेगा। क्योंकि रहस्यरूप अर्थ की सुरक्षा के लिए ही प्रथमार्थ को ग्रहण किया जा रहा है। 'सदागम' पद से ही मुख्यतया 'वस्तु' की व्यंजना की गई है। यद्यपि 'भुक्ति', 'मुक्ति', 'एकान्त' पदों की भी व्यंजकता हो सकती है, तथापि उनके अभाव में भी केवल 'सदागम' पद ही व्यंग्य अर्थ की व्यंजना करने में समर्थ है। किन्तु 'सदागम' पद के अभाव में 'भुक्ति, मुक्ति, एकान्त' आदि पद व्यंजक नहीं बन पाते हैं। इस कारण प्रधानता 'सदागम' पद की ही है। इसलिए इस ध्वनि में पदप्रकाश्यता-निराबाध है।

'पन्थिअ ण एत्थ'—(चतु० उ० श्लो० ५८) में तो अनेक पदप्रतिपाद्य 'वस्तु' व्यंग्य रहने से वाक्यप्रकाश्यता ही है। यही दोनों में भेद है। यहाँ 'सदागम' पद, परिवृत्त्यसह होने से शब्दशक्तिमूलता कही जाती है। यहाँ 'वस्तु' से 'वस्तु' व्यंग्य की गई है। 'मुख्यया वृत्त्या' के अर्थ की व्याख्यायें अनेक प्रकार से की गई हैं। 'मुख्यवृत्ति' शब्द से 'अभिधा' ही समझी जाती है; तथापि 'मुख्य' शब्द का अर्थ, 'प्रधान' भी किया जाता है। इस दृष्टि से देखने पर सभी वृत्तियों में 'व्यंजना वृत्ति' के प्रधान होने से कुछ व्याख्याकार 'मुख्यवृत्ति' शब्द से 'व्यंजनावृत्ति' को ही कहते हैं। कुछ व्याख्याकारों का कहना है कि इस समय अभिधामूला व्यंजना के उदाहरण प्रस्तुत किये जाने के कारण 'अभिधामूला व्यंजना' को भी 'मुख्यवृत्ति' शब्द से कह सकते हैं। इस पद्य के व्यंग्यार्थ को (उपपति के प्रेमपाश में आबद्ध सुन्दरी का, दत्तसंकेतानुसार उपपति के आ पहुँचने से अनुभवैकगम्य हर्ष का प्रकाशन)—'सदागम' शब्द ही व्यंजनावृत्ति से प्रकाशित कर रहा है॥ ७८॥

पदद्योत्य-संलक्ष्यक्रम अर्थशक्त्युत्थ-स्वतःसंभवी-ध्वनि के चार उदाहरण—

इनमें प्रथम उदाहरण, अर्थशक्त्युत्थ (अर्थशक्तिमूल) ध्वनि में स्वतःसंभवी वस्तुरूप व्यंजक अर्थ से वस्तुरूप व्यंग्यार्थ की पद-प्रकाश्यता का दे रहे हैं—

स्वतःसम्भवी वस्तु से पदद्योत्य वस्तुध्वनि—

उपपति के साथ संभोग करने के बाद उस थकान को दूर करने के लिए स्नानार्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पदद्योत्यो वस्तुध्वनिः)

सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।
आश्चर्यन्तव सौकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥ ७९ ॥ (६)

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्ताऽसीति वस्तु अधुनापदद्योत्यं व्यज्यते ।

आयी हुई किसी नायिका से, उसके इस रहस्य को भाँप लेने वाली सखी व्यंग्यपूर्वक कह रही है—

सायमिति । हे सखी ! सायंकाल के समय तुमने अच्छी तरह से बहुत देर तक स्नान किया है, (उससे दिनभर किये घरेलू कामकाज की थकान तो अवश्य ही दूर हो गई है), और अपने शरीर पर चन्दन का लेप भी करवा लिया है, (वह भी तुमने स्वयं नहीं किया है, बल्कि दूसरे से करवाया है, अतः चन्दनलेपन की भी थकान तुम्हें नहीं है), और अम्बरमणि (सूर्य) अस्ताचल के शिखर पर पहुँच चुके हैं, अथवा 'अस्ताचलमौलिमतिक्रम्य यातः' अर्थात् अस्ताचल के शिखर का अतिक्रमण कर अस्त हो चुके हैं, और तुम धीरे-धीरे टहलती हुई यहाँ तक आयी हो (सूर्य के अस्त हो जाने से आतप का लेश भी न रहने से तथा कुंज आदि की घनी छायावाले मार्ग से धीरे-धीरे आने के कारण चलने की भी थकान नहीं है) फिर भी तुम इतनी थक रही हो, जिस कारण तुम्हारी आँखे मुँदी जा रही हैं। हे सखी ! तुम्हारी इतनी अति सुकुमारता को देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है ॥ ७९ ॥ (६)

अत्र वस्तुनेति । यहाँ पर 'तव सौकुमार्यमाश्चर्यं येन सौकुमार्येण अधुना क्लान्तासि'—तुम्हारा सौकुमार्य आश्चर्यकारक है, जिस सौकुमार्य के कारण तुम इतनी थकी मरी–गिरी लग रही हो—इस 'वाच्यार्थ रूप वस्तु' से 'कृत-परपुरुष-परिचया (गाढोन्मर्दना) क्लान्तासि' यह 'वस्तु' 'अधुना' पद की प्रधानता से व्यंजित हो रही है ॥ ७९ ॥

विशेष विवरण—सखी कह रही है कि तुम्हारे नेत्रों का पुनः पुनर्मीलित होना ही तुम्हारे सर्वांगीण श्रम को व्यक्त कर रहा है। सचमुच, तुम्हारी सुकुमारता, समस्त जगत् से विलक्षण ही है। क्योंकि थकान होने की कोई भी बात नहीं है, तथा थकान को दूर करने की सारी सामग्री के समीप रहने पर भी तुम भीतर-बाहर दोनों ओर से थकी-सी लग रही हो। शाम के समय तुमने नहा भी लिया है। शाम के नहाने से दिनभर की थकान दूर हो जाती है। चन्दनलेप के करा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पदद्योत्योऽलङ्कारध्वनिः)

तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥ ८० ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥ ८१ ॥ (७)

लेने से भीतरी उष्णता भी शांत हो गई होगी, जिससे अंगों के क्लान्त होने की कोई बात ही नहीं है। तथा स्वयं चन्दनलेप न करने के कारण वह भी थकान नहीं है। सूर्यास्त हो जाने से और 'अत्र' पद से व्यंजित कुंजादि के होने से घनी छाया वाले मार्ग से धीरे-धीरे और निर्भयता के साथ आरही हो, अतः चलने की भी कोई थकान नहीं है। इससे स्पष्ट है कि थकान पैदा करने वाली किसी सामग्री के न रहने पर भी यह थकान दिखाई दे रही है तो वह एकमात्र सुकुमारता के कारण ही है। यह सुकुमारता सचमुच दुनिया से अलग ही है, अन्यत्र ऐसी सुकुमारता दृष्टिगोचर नहीं हो पाती है। यद्यपि 'तव सौकुमार्यमाश्चर्यं येनाधुना क्लान्तासि'—इतना समुदाय भी व्यजक हो सकता है, तथापि 'अधुनैव अयं क्लमः नान्यदा कदापि दृष्ट इति परपुरुषकृतनिर्दयोपभोगादेव इति गम्यते'—इसलिए 'अधुना' पद की ही प्रधानता स्पष्ट हो रही है। इस कारण यहाँ 'पदप्रकाश्यता' है। 'अलसशिरोमणि धुत्ताणं'—(चतु० उ० श्लो० ६०) में ऐसा कोई पद नहीं है; इसलिए वहाँ वाक्य-प्रकाश्यता ही मानी गई है। यही दोनों में अन्तर है। एवं च यहाँ पर स्वतःसंभवी 'वस्तुरूप' अर्थ से 'वस्तुरूप' व्यंग्यार्थ को बताया गया है ॥ ७९ ॥

स्वतःसम्भवी वस्तु से पदद्योत्य अलङ्कारध्वनि—

अर्थशक्त्युत्थध्वनि के स्वतःसंभवी भेद में पदद्योत्य-वस्तु से 'अलंकार-व्यंग्यध्वनि' के उदाहरण रूप में पद्ययुग्म दे रहे हैं। ये पद्य विष्णुपुराण से लिये गये हैं—

तदप्राप्तीति। उन भगवान् श्रीकृष्ण के वियोग के महान् दुःख से जिसके समस्त पापों का विनाश हो चुका है, और उन भगवान् श्रीकृष्ण के निरंतर चिन्तन करने के कारण उत्पन्न हुए परमानन्द से जिसका सम्पूर्ण पुण्यपुञ्ज विनष्ट हो गया है ॥ ८० ॥

(इस प्रकार पुनर्जन्म प्राप्ति में हेतुभूत संपूर्ण पाप-पुण्यरूप कर्मों का विनाश हो जाने से और) परब्रह्मस्वरूप जगत् के उत्पादक श्रीकृष्ण का ध्यान करती हुई मूर्छित हो गई कोई गोपी मुक्ति को प्राप्त हो गई। अर्थात् बिना प्राण निकले ही मोक्ष पा गई हो ॥ ८१ ॥ (७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोगदुःखचिन्तनाह्लादाभ्यामनुभूतानीत्युक्तम् । एवं चाशेष-चयपदद्योत्ये अतिशयोक्ती ।

अत्रेति । यहाँ पर 'हजारों जन्मों में भोगने योग्य पुण्य पाप के फलों को भगवान् श्रीकृष्ण के वियोगजनित दुःख में तथा निरन्तर चिन्तन करने से परमानन्द में ही पा लिया' यह बताया गया है । एवं च 'अशेष' और 'चय' पद से द्योत्य दो अतिशयोक्ति अलंकार व्यंग्य हैं ॥ ८०-८१ ॥

विशेष विवरण—यहाँ श्लोक ८० और श्लोक ८१, इन दो पद्यों के द्वारा वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होने से इसे 'युग्मक' नाम दिया गया है । कहा भी है—'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् । कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम् ॥' कोई गोपकन्या अपने प्राणवायु का निरोध करके भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का चिन्तन करती हुई मुक्त हो गई । क्योंकि 'नादस्य प्राणाः समुत्क्रामन्ति, अत्रैव समवलीयन्ते'—इस श्रुति के आधार पर मोक्षकाल में निरुच्छ्वासता हो जाती है; ऐसा उद्योतकार आदि कहते हैं । सुधासागरकार 'निरुच्छ्वासतया' का अर्थ 'प्राणायामेन' करते हैं । चन्द्रिकाकार 'निरुच्छ्वासतया' का अर्थ 'प्राणोत्क्रमणं विना' करते हैं । श्रीकृष्ण-चिन्तनजनित परमानन्द प्राप्ति से पुण्यचय विनष्ट हो गया और श्रीकृष्ण के वियोग (अप्राप्ति) से जो महान् दुःख हुआ, उससे समस्त (समग्र) पातक (पाप) नष्ट हो गये थे । एवं च दुःख और आनन्द रूप फल की प्राप्ति से पाप-पुण्य दोनों विनष्ट हो चुके थे, 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' इस नियम के अनुसार पाप-पुण्य दोनों फलभोग से ही नष्ट हो पाते हैं ।

यहाँ 'अशेष' और 'चय' इन दो पदों की व्यंजनाशक्ति की महिमा से 'अतिशयोक्ति' रूप व्यंग्यार्थ व्यंजित हो रहा है । क्योंकि 'अशेष' पद से प्रतीत होने वाला सहस्रों जन्मों में कथंचित् संभव होने वाला पापराशि का उपभोग, और क्षणभर में संभाव्य भगवान् के वियोग-दुःख का उपभोग, दोनों का तादात्म्याध्यवसाय अभिव्यक्त हो रहा है । उसी तरह 'चय' पद से सहस्रावधि जन्मों में संभव होने वाला पुण्य राशि का उपभोग, और क्षणभर में संभव श्रीकृष्णचिन्तन के सुख का उपभोग, दोनों का तादात्म्याध्यवसाय प्रकट किया गया है । इस प्रकार से दो अतिशयोक्ति अलंकारों की प्रतीति 'अशेष' और 'चय' दो पदों के कारण हो रही हैं । प्रदीपकार ने भी इसी तरह कहा है । तादात्म्याध्यवसाय को देखकर इसे 'वाच्यसिद्ध्यङ्ग' नहीं समझना चाहिये, क्योंकि भगवन्माहात्म्य के अतिशय से भी वाच्यसिद्धि हो सकती है—ऐसा उद्योतकार ने कहा है । 'धन्यासि या कथयसि'—(चतु० उ० श्लो० ६१) में ऐसा कोई पद न होने से वाक्यप्रकाश्यता ही बताई गई है ॥ ८०-८१ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(स्वतःसम्भविनाऽलङ्कारेण पदद्योत्यो वस्तुध्वनिः)

क्षणदाऽसावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम् ।
बत वीर ! तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥ ८२ ॥ (८)

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन विधिरपि त्वामनुवर्त्तते इति सर्वपद्योत्यं वस्तु ।

स्वतःसम्भवी अलङ्कार से पदद्योत्य वस्तुध्वनि—

क्षणदेति । हे वीर राजन् ! तुम जब पराङ्मुख (प्रतिकूल) हो जाते हो, तब सभी कुछ तुम्हारे शत्रुओं के लिए प्रतिकूल हो जाता है । जैसे—'क्षणदा' यानी आनन्ददायिनी रात्रि, उन शत्रुओं के लिए 'अक्षणदा' दुःखदायिनी हो जाती है । और 'वन' यानी अरण्य, शत्रुओं के लिए 'अवन' रक्षक हो जाता है और 'व्यसन' यानी द्यूत, मद्यपानादि मनोरञ्जन, शत्रुओं के लिए 'अव्यसन' हो जाता है, अर्थात् 'अवीनां मेषाणामसनं प्रेरणं'—इस व्युत्पत्ति से भेड़-बकरी चरानारूप 'अव्यसन', उनके जीवनयापन का साधन बन जाता है । अर्थात् अव्यसन ही अब उनका व्यसन यानी पेशा—रोजगार बन गया है ॥ ८२ ॥ (८)

अत्रशब्दशक्तीत्यादि । यहाँ पर 'क्षणदा'-'अक्षणदा' इत्यादि प्रकार से शब्दशक्तिमूलक (उक्त परस्पर विरुद्ध शब्दों के सामर्थ्य से प्रतीत होनेवाले) विरोध के उपपादक (अंगभूत) अर्थान्तरन्यास अलंकार (तुम्हारे पराङ्मुख हो जाने से सब कुछ पराङ्मुख हो गया है) से 'विधि भी तुम्हारी इच्छा का अनुसरण करता है'—यह 'वस्तु', 'सर्व' पद से द्योत्य होने के कारण व्यंग्य है ॥ ८२ ॥

विशेष विवरण—'सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥'

सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन किये जाने पर 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार होता है । यहाँ 'त्वयि' तुम्हारे प्रतिकूल होने पर—इस विशेष अर्थ से 'सबका प्रतिकूल हो जाना'—इस सामान्य अर्थ का समर्थन किया गया है । अतः यह 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है । यह अर्थान्तरन्यास-'प्रधान पुरुष के प्रतिकूल हो जाने पर सभी का प्रतिकूल हो जाना'—लोकव्यवहार में दृष्टचर होने से वह 'स्वतःसंभवी' है । इस स्वतःसंभवी अर्थान्तरन्यास—'पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वं' के द्वारा 'विधिरपि त्वामनुवर्तते'—यह 'वस्तु' व्यंग्य की गई है । मुख्यरूप से 'सर्वं' पद, इसका व्यंजक है । इसलिए यहाँ 'पदद्योत्य ध्वनि' माना जाता है । अर्थान्तरन्यास में स्थित 'सर्व' पद का पर्यवसान, 'प्रकृत अर्थ' में होने पर भी 'व्यंजना' में बिना संकोच के 'विधि' का भी वह आक्षेप करता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पदद्योत्योऽलङ्कारध्वनिः)

तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो ।
इअ णववहुआ सोऊण कुणइ वअणं महीसंमुहम् ॥ ८३ ॥ (९)

(तव वल्लभस्य प्रभाते आसीदधरो म्लानकमलदलम् ।
इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसम्मुखम् ॥ ८३ ॥)

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन म्लानत्वमिति मिलाणादिपदद्योत्यं काव्यलिङ्गम् ।

एषु स्वतःसम्भवी व्यञ्जकः ।

अतएव 'सर्व' पद, इस व्यंग्य में प्रधान है। तस्मात् यहाँ 'व्यंग्य' को पदप्रकाश्य कहा गया है। 'दर्पगन्धगज०'–(चतु० उ० श्लो० ६२) में वैसा कोई पद नहीं है, इसलिए वहाँ वाक्यप्रकाश्यता ही समझनी चाहिये ॥ ८२ ॥

स्वतःसंभवी अलंकार से पदद्योत्य अलंकारध्वनि—

तुहेति। (तवेति)। किसी नवोढा से उसकी सखी कह रही है—आज प्रातः तेरे पति का अधरोष्ठ, प्रातः मुरझाये हुए कमलदल के रूपवाला हो रहा था। यह सुनते ही उस नवोढा वधू ने अपना मुख लज्जा से नीचे झुका लिया ॥ ८३ ॥ (९)

अत्र रूपकेणेति। यहाँ स्वतःसंभवी व्यंजक अर्थ तो 'रूपकालंकार' है। इससे व्यंग्यार्थ यह निकला कि—'पति के अधरोष्ठ को तुमने बार-बार इतना अधिक चूसा, जिससे वह मुरझा गया।'—म्लानता में परिचुम्बन के हेतु होने से यह 'काव्यलिङ्ग' अलंकार 'म्लान' आदि 'पद' से द्योत्य हो रहा है।

एष्विति। इन चारों उदाहरणों में स्वतःसंभवी व्यंजक है ॥ ८३ ॥

विशेष विवरण—यहाँ पर 'तव वल्लभस्य' पद से नववधू को वश में कर लेने के कारण 'नायक' का 'चातुर्य' व्यंजित किया गया है। 'प्रभाते आसीत्' से प्रातःकाल होने तक 'चुम्बन' का अविराम सूचित किया गया है। और 'अधरो म्लानकमलदलम्'—इस 'रूपक' अलंकार से 'तुमने अपने पति के अधर का इतना बार-बार चुम्बन किया, जिससे वह म्लान हो गया'—यह 'काव्यलिंग' अलंकार 'मिलाण कमलदल' पद की प्रधानता से प्रकाशित किया जा रहा है। इसलिए यहाँ पदप्रकाश्य ध्वनि है। किन्तु 'गाढकान्तदशनक्षतव्यथा'—(चतु० उ० श्लो० ६३) में ऐसा कोई पद नहीं है, इसलिए वहाँ 'वाक्यप्रकाश्यता' ही समझनी चाहिये। 'अधरसदृशे कमलदले'—में सादृश्यघटक शोणत्व, लोक में दृष्ट होने से 'रूपक' स्वतःसंभवी है—यह महेश्वर का कहना है ॥ ८३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अर्थशक्त्युत्थ: पदद्योत्यो ध्वनिः)

राईसु चंदधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चावम् ।
एकच्छत्तं विअ कुणइ भुअणरज्जं विजंभंतो ॥ ८४ ॥ (१०)

(रात्रीषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम् ।
एकच्छत्रमिव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः ॥ ८४ ॥)

अत्र वस्तुना येषां कामिनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चिदपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशाऽतिवाह्यते इति भुअणरज्जपदद्योत्यं वस्तु प्रकाश्यते ॥

अर्थशक्त्युत्थ कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से पदद्योत्य वस्तुध्वनि—

मानिनी नायिका के प्रति 'माननिर्वाह कर नहीं पाओगी' कहने वाली सखी की यह उक्ति है—

राईस्विति । (रात्रीष्विति) । चाँदनी रात्रियों में बड़े अभिमान से रहने वाला (विजृम्भमाणः) जो कामदेव अपने ललित पुष्पमय (कमठपृष्ठ-कठोर नहीं) धनुष की टंकार मात्र से ही (बाण संधान किये बिना ही) समस्त भुवन पर मानो एकच्छत्र राज्य करता है । अर्थात् उसकी सानी का कोई दूसरा नहीं है, वही एकमात्र अद्वितीय है ॥ ८४ ॥ (१०)

अत्र वस्तुनेति । यहाँ जिन कामुक स्त्री-पुरुषों का यह कामदेव राजा है, उसकी आज्ञा का उल्लंघन, उनमें से कोई भी नहीं कर सकता । इस कारण सब लोग संपूर्ण रात्रि जागते हुए और उपभोग करते हुए ही व्यतीत कर देते हैं—यह अर्थ 'भुअण रज्ज' (भुवनराज्य) पद से द्योतित किया गया है । प्रदीप में 'एकच्छत्तं व कुणइ तिहुअणरज्जम्' अर्थात् 'एकच्छत्रमिव करोति त्रिभुवनराज्यम्'—यह पाठ दिया है ॥ ८४ ॥

विशेष विवरण—इस पद्य में 'वस्तु' से 'वस्तु' की अभिव्यक्ति बताई गई है । यहाँ पर कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु—'धनुष के आस्फालन से मानो एकच्छत्र भुवनराज्य कर रहा है'—से (यह बात कविप्रौढोक्ति से ही कही गई है) 'कामुक लोग उपभोग में आसक्त होकर ही सारी रात बिता देते हैं'—यह 'वस्तु' अभिव्यक्त की गई है । यह अभिव्यक्ति प्रधानतया 'भुवनराज्य' पद से की जा रही है । इसलिये यह 'ध्वनि' पदप्रकाश्य है । 'कैलासस्य प्रथम शिखरे०'—(चतु० उ० श्लो० ६४) में ऐसा कोई 'पद' नहीं है, इसलिये वहाँ 'वाक्य प्रकाश्यता' ही समझनी चाहिये । यही दोनों में अन्तर है । 'एकच्छत्रमिव'—यहाँ 'इव' का अर्थ 'उत्प्रेक्षा' है । वह, 'उत्प्रेक्षा' व्यंजनोपयोगी नहीं है; प्रत्युत निर्धारित अर्थ की प्रतीति कराने से तत्परित्याग की अतिशयता को ही बता रही है । ऐसा प्रदीप और प्रभा में कहा गया है ॥ ८४ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्धेन वस्तुनाऽलङ्कारस्य व्यक्तिमुदाहरति)

निशितशरधियाऽर्पयत्यनङ्गो दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले।
दिशि निपतति यत्र सा च तत्र व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥८५॥ (११)

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदद्योत्यो विरोधः।

(कविप्रौढोक्तिसिद्धेनाऽलङ्कारेण वस्तुनो व्यक्तिमुदाहरति)

वारिज्जन्तो वि पुणो सन्दावकदत्थिएण हिअएण।
थणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो ॥ ८६ ॥ (१२)

कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से पदद्योत्य अलंकारव्यङ्ग्य—

निशितेति। कामदेव, अभिनव-तारुण्य का उद्गम होने पर अर्थात् नवयौवन की अवस्था में सुन्दरियों के कटाक्ष को ही अपना तीक्ष्ण बाण बनाकर, उसके प्रहार को सफल बनाने के लिए उसमें अपनी संपूर्ण शक्ति भर देता है। उस कारण वह कामिनी-कटाक्ष, जिस पर भी पड़ता है, वहाँ एक साथ ही समस्त कामावस्थाएँ प्रकट हो जाती हैं ॥ ८५ ॥ (११)

अत्र वस्तुनेति। यहाँ पर वस्तु से, हँसना, रोना, निर्वेद, उन्माद आदि अवस्थाएँ परस्पर विरुद्ध होती हुई भी एक-साथ प्रकट हो जाती हैं—यह 'व्यतिकर' पद से द्योत्य 'विरोध' अलंकार व्यंग्य हो रहा है ॥ ८५ ॥

विशेष विवरण—काम की दश अवस्थायें इस प्रकार हैं—

'दृङ्मनःसङ्गसंकल्पा जागरः कृशतारतिः।
ह्रीत्यागोन्मादमूर्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥'

ये दश अवस्थाएँ परस्पर मिश्रित (व्यतिकर) भाव को प्राप्त होकर बार-बार उत्पन्न होती हैं; अथवा एक साथ भी होती हैं। यहाँ पर 'व्यतिकरमेत्य अवस्थाः समुन्मिषन्ति'—इस 'वस्तु' से 'हसित-रुदित-निर्वेद-उन्मादा'दि परस्पर विरुद्ध अवस्थाएँ भी युगपत् उत्पन्न होती हैं'—यह विरोधालंकार 'व्यतिकर' पद की प्रधानता के कारण व्यंजित किया गया है। यहाँ पर योद्धा के द्वारा 'शर' में अपने बल का अर्पण, और उसके पतन की दिशा में उक्त अवस्थाओं का प्रकट होना—यह सब कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध है अर्थात् कविकल्पित है। 'व्यतिकर' पद की प्रधानता रहने से यहाँ 'पदप्रकाश्यता' है। किन्तु 'केसेसु बला मोडिअ'—(चतु० उ० श्लो० ६५) में ऐसा कोई भी 'पद' व्यंजक न होने से वहाँ 'वाक्य प्रकाश्यता' ही समझनी चाहिये ॥ ८५ ॥

कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से पदद्योत्य वस्तुव्यङ्ग्य—

कोई सखी, किसी अन्य-नायिका का व्यवहार बताती अपनी सखी से कह रही है—

वारिज्जेति। (वार्यमाण इति)। विपरीत रति के समय स्तनों के उपपीडन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(वार्यमाणोऽपि पुनः सन्तापकदर्थितेन हृदयेन ।
स्तनभरवयस्येन विशुद्धजातिर्न चलत्यस्या हारः ॥ ८६ ॥)

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारोऽनवरतं कम्पमान एवास्ते इति 'ण चलइ' पदद्योत्यं वस्तु ॥

पूर्वक परिरंभण में निरन्तर बाधा पड़ने के कारण सन्ताप से पीडित हृदय हुए नायक के द्वारा बार-बार हटाये जाने पर भी विशुद्ध जाति के मोतियों से निर्मित नायिका का हार, अपने वास्तविक मित्रस्वरूप स्तनों को छोड़कर नहीं हटा। अर्थात् निरन्तर स्तनों पर झूलता ही रहा ॥ ८६ ॥ (१२)

अत्रेति। यहाँ पर 'विशुद्धजातित्वरूप हेत्वलंकार (काव्यलिंग) से 'हार झूल रहा है'—यह वस्तु, 'ण चलइ' पद से द्योत्य है ॥ ८६ ॥

विशेष विवरण—नायिका की विपरीत-रति को सूचित करने वाली यह कवि की प्रौढोक्ति है। 'हारः स्तनभरवयस्येन न चलति'–इस वाक्यांश में 'वयस्येन' में 'पंचमी' विभक्ति करनी चाहिये थी, किन्तु कवि ने 'अव्यथन' को सूचित करने के लिए ही पञ्चमी के अर्थ में यहाँ 'तृतीया' विभक्ति का प्रयोग किया है। उस कारण 'वयस्येन न चलति' का अर्थ 'वयस्यतो न चलति' किया जाता है। अतएव 'अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्तरि तृतीयायाः'—(पा० सू० ५।४।४६) इस पाणिनि सूत्र से तृतीयान्त से 'तसि' का वैकल्पिक विधान किया गया है। वैयाकरण लोग 'अव्यथन' का अर्थ 'अचलन' बताते हैं, और उसका उदाहरण भी 'चारित्र्येण न चलति और चारित्र्यतो न चलति' देते हैं। अतएव प्रदीपकार ने बताया है कि 'अत्र स्तनभरवयस्येन विशुद्धजातित्वात् हारो न चलति इति हेत्वलंकारेण अनवरतं कम्पमान एव हारोऽस्तीति'–वस्तु, 'न चलति' इति पदेन व्यज्यते। कुछ व्याख्याकारों ने 'स्तनभरवयस्येन' को 'हृदय' का विशेषण बताया है—अर्थात् 'स्तनभरवयस्येन हृदयेन'। किन्तु वह अनुचित है। क्योंकि 'स्त्रियाम्' (पा० सू० ४।१।३) या 'सहि विरइ ऊण' (चतु० उ० श्लो० ६९) में स्थित 'विहलंखल' पद की तरह 'स्तनभरवयस्येन' यह भावप्रधान निर्देश किया गया है। तथा च 'स्तनभरस्य वयस्यत्वेन मित्रत्वेन हेतुना न चलति'–यह अर्थ समझना चाहिये। एवं च 'हार' यानी मौक्तिक माला 'स्तनभरवयस्येन यानी स्तनभररूपवयस्यतः न चलति नापगच्छति।' अर्थात् स्तनरूप मित्र को पीडा न हो पाये—इस अभिप्राय से स्तनरूपमित्रात्मक अपादान से वह नहीं हटता है। क्योंकि वह हार, विशुद्ध जाति (निर्दुष्ट मुक्ताजाति) का है। 'विशुद्धजातिः'—यह 'हार' का हेतुगर्भ विशेषण है। और 'श्लेष' से विशुद्ध-जन्मा भी है। विशुद्ध जाति के कुलीन लोग उत्कटक्लेश में भी मित्र का त्याग नहीं करते हैं ॥ ८६ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(कविप्रौढोक्तिसिद्धेनाऽलङ्कारेण अलङ्कारस्य व्यक्तिमुदाहरति)

सो मुद्धसामलङ्गो धम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेहो ।
तीए खंधाहि बलं गहिअ सरो सुरअसङ्गरे जअइ ॥ ८७ ॥ (१३)

(स मुग्धश्यामलाङ्गो धम्मिल्लः कलितललितनिजदेहः ।
तस्याः स्कन्धाद् बलं गृहीत्वा स्मरः सुरतसंगरे जयति ॥ ८७ ॥)

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तः, यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलाषः कामुकोऽभूदिति 'खंध' पदद्योत्या विभावना ।

कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से पदद्योत्य अलंकारव्यङ्ग्य—

सो मुद्धेति । (स मुग्धेति) । एक वार रतिक्रीडा के बाद दुबारा पुनः अपने मनोहर स्वरूप को प्राप्त हुआ नायिका का सुन्दर श्यामल वह केशपाशरूप कामदेव, उस नायिका के स्कन्ध से बल पाकर सुरतसंगर में महान् उत्कर्ष को प्राप्त करता है ॥ ८७ ॥ (१३)

अत्र रूपकेणेति । यहाँ पर 'धम्मिल्ल' रूप 'कामदेव'–इस 'रूपक अलंकार' से, पुनः पुनः आकर्षण के कारण खुला हुआ केशपाश ऐसी सुन्दरता के साथ नायिका के कन्धों पर बिखर गया है कि उस कारण 'एक बार संभोग कर चुकने पर भी नायक की संभोगाभिलाषा पूर्ण न होकर पुनः वह संभोग के लिए तत्पर हो रहा है'—यह 'विभावना' अलंकार 'स्कन्ध' पद से व्यंजित हो रहा है ॥ ८७ ॥

विशेष विवरण—कामिनी का स्निग्ध, श्यामल केशपाश ही कामदेव है, वह सुरत-संगर (सुरत-संग्राम) में कामिनी के स्कन्धरूप स्कंधावार की सहायता लेकर (कन्धों पर बिखरे हुए श्यामल स्निग्ध केशपाश से अधिकाधिक उद्दीप्त होकर) कामुक को सदैव अपने अधीन कर लेता है ।

यहाँ पर 'रूपकालंकार' से 'विभावना' अलंकार व्यंग्य है। क्योंकि 'उत्कंठा' में निमित्त 'अतृप्ति' होती है । यहाँ तो एकबार संभोग कर चुकने पर 'रतिलालसा की तृप्ति' हो चुकी है । अतः 'अतृप्ति' रूप कारण के न रहने पर भी 'रति की उत्कण्ठा' रूप कार्य का होना बताया जा रहा है, इसलिए 'विभावनालंकार' स्पष्ट है । 'कारण के न रहते कार्य का होना'—यह विभावनालंकार का लक्षण है । 'धम्मिल्लः स्मरः' यह रूपक है । 'स्कन्धात्' 'बलम्' ये दोनों श्लिष्टरूपक हैं । 'सुरतसंगरे' यह रूपक है । 'सुरतसंगरे' पद से 'सुरत' पर संगर (युद्ध) का आरोप किया गया है । अतएव नायिका के स्कन्ध (कन्धे) पर सेना के 'स्कन्ध' (छावनी–शिबिर) का आरोप किया गया है । 'स्कन्ध' शब्द के 'छावनी' और 'कन्धा' दोनों अर्थ हैं तथा 'बल' शब्द के 'शक्ति' और 'सेना' दोनों अर्थ हैं, अतः ये दोनों शब्द श्लिष्ट हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ॥

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धेन वस्तुना वस्तुनो व्यक्तिमुदाहरति)

णवपुण्णिमामिअङ्कस्स सुहअ को तंसि भणसु मह सच्चम् ।
का सोहग्गसमग्गा पओसरअणिव्व तुह अज्ज ॥८८॥ (१४)

(नवपूर्णिमामृगांकस्य सुभग ! कस्त्वमसि भण मम सत्यम् ।
का सौभाग्यसमग्रा प्रदोषरजनीव तवाद्य ॥ ८८ ॥)

जिस प्रकार युद्ध में हारकर लौटते हुए सेनापति को यदि किसी अन्य स्कन्धावार (छावनी) से सेना की सहायता प्राप्त हो जाती है, तो वह पुनः युद्ध के लिए तैयार हो जाता है, उसी प्रकार नायिका का स्निग्ध-श्यामल धम्मिल्ल (केशपाश) रूप 'कामदेव', नायिका के स्कन्धरूप स्कंधावार से बल (सेना) प्राप्त करके सुरतयुद्ध में विजयी (सर्वोत्कर्षशाली) प्रतीत होता है।

[सुरत की पूर्वावस्था में पुनः पुनः आकर्षण करने से खुलकर वह केशपाश नायिका के स्कन्धों पर गिरा हुआ है। उससे नायिका और अधिक सुन्दर लगने लगती है, जिससे सुरतभोग से निवृत्त होने पर भी स्वल्पकाल में ही नायक का सुरताभिलाष पुनः जाग उठता है।] स्कन्धपतित केशपाश साक्षात् स्मर ही है। अतएव सुन्दरी के अन्य सभी अंगों की अपेक्षा या अन्यान्य सुरत-सामग्री की अपेक्षा, वह कहीं अधिक उत्कर्ष से रहता है। इसीलिए धम्मिल्ल को स्मरत्वेन रूपित किया गया है। प्रत्यक्ष स्मर की तरह वह सुरतप्रवर्तकत्व उसमें रहता है। यहाँ 'रूपक' स्वतः असंभवी होने से कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध है। धम्मिल्ल में स्कन्ध का संबन्ध रहने से शोभातिशय लब्ध हो रहा है, इस कारण 'स्कन्ध' पद की प्रधानता है। अतएव यहाँ 'ध्वनि' पदप्रकाश्य है। किन्तु 'जा ठेरं व हसंती' (चतु० उ० श्लो० ६७) में वैसा कोई पद न होने से 'वाक्यप्रकाश्यता' ही ध्वनि में मानी गई है ॥ ८७ ॥

एष्विति। इन चारों उदाहरणों में व्यञ्जक अर्थ कवि की प्रौढोक्तिमात्र से निष्पन्न है।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध पदद्योत्य ध्वनि के चार उदाहरण—

इनके चारों उदाहरण क्रमशः दिये जा रहे हैं।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से पदद्योत्य वस्तुव्यङ्ग्य—

दूसरे की वृद्ध-वधू पर अनुरक्त रहने वाले स्वामी (पति) के प्रति खण्डिता नायिका की उक्ति है—

णवेति। (नवेति)। हे सुभग ! सच-सच बताओ कि पूर्णिमा के नवीन (सद्यः उदित हुए) चन्द्रमा के तुम कौन लगते हो ? और प्रदोष-रजनी के तुल्य आज सम्पूर्ण सौभाग्यशालिनी वह तुम्हारी कौन है ? ॥ ८८ ॥ (१४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वं न तत इति 'णवेत्यादि-पओसेत्यादि'पदद्योत्यं वस्तु व्यज्यते।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुनाऽलङ्कारस्य व्यक्तिमुदाहरति)

सहि णवणिहुवणसमरम्मि अङ्कवाली सहीए णिविडाए।
हारो णिवारिओ विअ उच्छेरन्तो तदो कहं रमिअम् ॥ ८९ ॥ (१५)

अत्र वस्तुनेति। यहां पर 'वस्तु' से मेरे समान अन्य में भी पहिले तुम अनुरक्त हुए थे, तदनन्तर अनुरक्त नहीं रहे यह 'णव' इत्यादि और 'पओस' इत्यादि पदों से द्योत्य वस्तु व्यंग्य है।

विशेष विवरण—किसी वृद्धा-परवधू पर अनुरक्त हुए अपने पति से खण्डिता नायिका कह रही है कि जैसे पूर्णमासी का चन्द्र जब उदित होता है, उस समय अर्थात् रात्रि के आरम्भकाल में थोड़ी-सी देर के लिए वह रक्तवर्ण का होता है, तदनन्तर वैसा 'रक्त' नहीं रहता है। इसी प्रकार यह नायक भी क्षणिक अनुराग रखने वाला है। यहाँ पद्योक्तवाक्यार्थरूप 'वस्तु' से 'मेरे में जैसे पहले अनुरक्त थे, किन्तु अब वैसे नहीं हो।' अर्थात् 'तुम्हारा कौन ठिकाना ? तुमने जैसे कभी मुझे चाहा, वैसे आज किसी दूसरी को चाहने लगे, तुम्हारे लिए यह कोई नवीन बात तो है नहीं',—यह 'वस्तु' ही यहाँ व्यंग्य की जा रही है और इस व्यंग्यार्थ के व्यञ्जक हैं—'नवपूर्णिमामृगाङ्क' और 'प्रदोष-रजनी' पद। यहाँ पर 'नव' कहने से चाञ्चल्य (क्षणिकानुरागित्व), 'पूर्णिमामृगांक' से नायिकान्तरानुरागित्व और कलंकित्व, 'प्रदोष' पद से प्रकृष्टदोषवत्त्व और 'रजनी' पद से मालिन्य को व्यंजित किया गया है। एवं च यथोक्तवाक्यार्थरूप 'वस्तु' से "मयि इव अन्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वम्'—यह, 'णव' इत्यादि पद से व्यञ्जित हो रहा है, तथा 'पओस' इत्यादि पद से 'न ततः' यह व्यंजित हो रहा है। 'णव और पओस' इन पदों की प्रधानता के कारण निर्दिष्ट व्यङ्ग्य में पदप्रकाश्यता है। यहाँ 'प्रदोषरजनीव' में स्थित 'इव' शब्द से 'उपमालंकार' को व्यंजक नहीं समझना चाहिये, क्योंकि 'इव' शब्द के न रहने पर भी 'प्रदोष-रजनी तव का' इतने मात्र से भी व्यंग्य-व्यंजन हो सकता है, इसलिए वस्तुमात्र ही यहाँ व्यञ्जक है। उपमालंकार व्यञ्जक नहीं है। 'जे लंका गिरि मेखलासु०'—(चतु० उ० श्लो० ६८) में कोई पद ऐसा प्रधान न होने से वाक्यप्रकाश्य ही व्यङ्ग्य है ॥ ८८ ॥

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तु से पदद्योत्य अलंकारव्यङ्ग्य—

नवोढा नायिका की अत्यन्त विश्वस्त प्रिय सखी, उससे सुरत की चर्चा करते हुए कह रही है—

सहीति। (सखीति)। अरी सखी ! यह तो बता कि जब तूने बिलकुल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सखि ! नवनिधुवनसमरेऽङ्कपालीसख्या निविडया ।
हारो निवारित एवोच्छ्रियमाणस्ततः कथं रमितम् ॥ ८९ ॥)

अत्र वस्तुना हारच्छेदानन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत् तत्कथय कीदृगिति व्यतिरेकः 'कहं' पदगम्यः ।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनाऽलङ्कारेण वस्तुनो व्यक्तिमुदाहरति)

पविसन्ती घरवारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहम् ।
खंधे घेत्तूण घडं हाहा णट्ठोत्ति रुअसि सहि किंति ॥९०॥ (१६क)

(प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितवदना विलोक्य पन्थानम् ।
स्कन्धे गृहीत्वा घटं हा हा नष्ट इति रोदिषि सखि ! किमिति ॥ ९० ॥)

नया-नया सुरतसंग्राम किया, उस समय तेरी एकमात्र सहायिका प्रगल्भ अंकपाली (आलिंगन-प्रत्यालिंगनरूपा) सखी ने स्तनों पर झूलते (दोनों में उसके तृतीय होने से अधिक प्रतीत होने वाले) रहने के कारण निधुवन में अन्तरायस्वरूप और हृदय पर अभिघात करने वाले मौक्तिक हार को जब तोड़ कर वहाँ से हटा ही दिया, तब फिर तूने कैसे रमण किया ? और कैसा आनन्द आया ? जरा बता तो दे ॥ ८९ ॥ (१५)

अत्र वस्तुनेति । यहाँ पर 'मौक्तिक हार के टूट जाने के बाद प्रौढाङ्गनाओं के सुरत से भी अधिक आनन्ददायक कुछ विलक्षण प्रकार का ही संभोग अवश्य हुआ होगा; उसे सुनाओ तो सही, वह कैसा था ?'—इस प्रश्न से उस संभोग का अन्य प्रौढांगनाओं के संभोग से अधिक 'आनन्ददायक' रूप 'व्यतिरेक' अलंकार को 'कहं' (कथं) पद से व्यंजित किया हैं । अर्थात् यथोक्तवाच्यार्थरूप वस्तु से 'प्रौढांगनारतादपि विलक्षणं नवोढायास्ते सुरतम् । अत एव नवोढाया ईदृशं रतमिति विस्मयः ।' यहाँ उपमान की अपेक्षा उपमेय का उत्कर्षरूप व्यतिरेकालंकार है । और वह विस्मयार्थक 'कहं' (कथं) पद से गम्य है । यहाँ 'कथम्' पद की प्रधानता के कारण व्यङ्ग्य में पदप्रकाश्यता है । 'सहि विरइऊण'—(चतु० उ० श्लो० ६९) में ऐसा कोई 'पद' व्यंजक न रहने से वाक्यप्रकाश्यता ही वहाँ समझनी चाहिये । 'निधुवनसमरे' इस रूपकालंकार के होने पर भी वह व्यंजक नहीं है, क्योंकि उसके बिना भी व्यंग्य-व्यंजन हो सकता है । अतः यहाँ पर 'वस्तु' को ही व्यंजक कहा गया है ॥ ८९ ॥

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से पदद्योत्य वस्तुव्यङ्ग्य—

पविसन्तीति । (प्रविशन्तीति) । अरी सखी ! तुम अपने कंधे पर घड़ा लिये हुए घर के दरवाजे में घुसने लगी और मुँह फेरकर रास्ते कों देखने लगी तो घड़े को ठोकर लगने से घड़ा गिर गया । अरी ! घड़ा फूट गया, तो हाय-हाय करती हुई क्यों रो रही हो ? ॥ ९० ॥ (१६ क)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र हेत्वलङ्कारेण सङ्केतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तुमिच्छसि तदाऽपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु 'किंति' पदद्योत्यम् ।

अत्र हेत्वलंकारेणेति । यहाँ पर 'घड़ा फूट गया, इसलिए रो रही है'—इस प्रकार के 'कार्य-कारणभावमूलक' काव्यलिङ्ग (हेतु) अलंकार से, 'यदि पुनः वहाँ जाना चाहती हो तो दूसरा घड़ा लेकर चली जाओ'—यह 'वस्तु' 'किं ति' (किमिति) पद की प्रधानता से व्यंजित हो रही है ॥ ९० ॥

विशेष विवरण—जल लाने के बहाने संकेत-स्थल पर जाकर भी वहाँ अपने कामुक को न देखकर जलपूर्ण घड़े को कंधे पर रखे हुए नायिका वापस आयी और जब अपने घर के दरवाजे में घुसने लगी तब उसने अपने कामुक को संकेत-स्थान की ओर जाते हुए देखा, तो पुनः संकेत-स्थान पर पहुँचने की इच्छा हो उठी, और ज्यों ही जाने के लिए मुँह फेरा त्यों ही घड़े को दरवाजे से भिड़ाकर फोड़ दिया । और 'हाय-हाय, घड़ा फूट गया'—इस प्रकार लोकवञ्चनार्थ रोती हुई सखी को देखकर उसकी चतुर सखी ने उसके अभिप्राय को ताड़ लिया । वह उससे कहती है कि 'तुम रोती क्यों हो ? जाओ, दूसरा घड़ा लेकर दुबारा पानी भर लाओ । मैं तुम्हारे घर वालों से दुबारा जाने का समाधान कर दूँगी'—यह गूढ अभिप्राय है ।

यहाँ 'रोदन' में हेतु है 'नष्टत्व' और 'घटध्वंस' में हेतु है 'विवृत्य पथोविलोकन' अर्थात् मुँह फेरकर मार्ग देखना । यहाँ पर 'नष्ट इति रोदिषि' इस हेत्वलंकार (काव्यलिंग अलंकार) से—'संकेत स्थान पर जाते हुए कामुक को देखकर यदि वहाँ जाना चाहती हो तो दूसरा घड़ा लेकर जाओ' यह वस्तु 'किं ति' अर्थात् 'किमिति' पद से द्योत्य हो रही है । क्योंकि 'किं ति' इस हेतुवाचक प्रश्न से, यह निष्पन्न हो रहा है कि बिना हेतु के यह 'रोदन', आहार्य है, इसलिए 'किं ति' पद की प्रधानता प्रतीत हो रही है ।

किन्तु इस उदाहरण में व्यंजक जो 'हेत्वलंकार' है, वह तो 'स्वतःसंभवी ही है । प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध नहीं है । इसलिए दूसरा उदाहरण दे रहे हैं—'यथा वेति' । यह प्रभाकार और उद्योतकार का कहना है । किन्तु सुधासागरकार ने संगति इस प्रकार लगायी है कि 'यहाँ गृहद्वार में प्रवेश करने' की बात यद्यपि स्वतःसंभवी है, तथापि 'एतादृश हाय-हाय करके चिल्लाना रोना' आदि व्यवहार की दुर्घटता और दुरूहता के कारण 'प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्नता' कही जा सकती है । एवं च मधुमतीकार और सारबोधिनीकारादि व्याख्याकारों ने जो कहा है कि 'प्रकृत अर्थ' के स्वतःसंभवी होने से 'प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नता' उसमें नहीं है, इसलिए अन्य उदाहरण दिया जा रहा है'—यह कहना उचित नहीं है । क्योंकि श्रीवाग्देवतावतार मम्मटभट्ट, सर्वथा लोकबाधित प्रौढोक्तिसिद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा वा—

विहलंखलं तुमं सहि दट्ठूण कुठेण तरलतरदिट्ठिम् ।
वारप्फंसमिसेण अ अप्पा गुरु ओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥ ९१ ॥ (१६ ख)

(विश्रृङ्खलां त्वां सखि ! दृष्ट्वा कुटेन तरलतरदृष्टिम् ।
द्वारस्पर्शमिषेण चात्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्नः ॥ ९१ ॥)

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलया त्वया घटः स्फोटित

न जानते हों, यह संभवनीय नहीं है, किन्तु लोक में अप्रसिद्ध इस प्रकार के लोकोत्तरोक्तिप्रतिपादित अर्थ में भी प्रौढोक्तिमात्र निष्पन्नता हो सकती है—इस बात को समझा रहे हैं। तथापि ग्रन्थकार के संबंध में कोई अनजाने में प्रमाद की आशंका न कर सके, इसलिए अन्य उदाहरण भी दे रहे हैं। इसी अभिप्राय को बताने के लिए 'यथावेति' आगे कहा जा रहा है। अर्थात् प्रस्तुत उदाहरण को पद-द्योत्य स्वतःसंभवी अलंकार से वस्तुव्यंग्य का उदाहरण भी कहा जा सकता है, अतः यह उदाहरण ठीक नहीं है—ऐसी आशंका करने वालों के समाधानार्थ कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से पदद्योत्य वस्तु व्यंग्य का अन्य उदाहरण भी दे रहे हैं ॥ ९० ॥

यथावेति। अथवा जैसे—

नदी के किनारे स्थित लताकुंज में संकेत देने पर भी मेरा प्रिय नायक नहीं आया यह जानकर वापस हुई नायिका ज्यों ही अपने घर में घुसने लगी त्यों ही वहाँ पहुँचने के लिए आते हुए प्रिय कामुक को देखकर पुनः नदी पर जाने के लिए बुद्धिपूर्वक दरवाजे के स्पर्श के बहाने घड़े को फोड़ देने वाली नायिका से उसकी सखी कह रही है कि 'तेरे अभिप्राय को मैं समझ गई, अतः तू विश्वास के साथ निश्चिन्त होकर अपनी इष्टसिद्धि के लिए चली जा, मैं तेरी सास के सामने बात बना दूँगी, तू चिन्ता मत कर'—इस अभिप्राय से गर्भित उक्ति को अचतुर लोगों के प्रतारणार्थ उसकी सखी कह रही है—

विहलमिति। (विश्रृङ्खलामिति)। हे सखी ! घड़े के अत्यन्त भारी होने से व्याकुल होकर जब तुम्हारी आँखों की पुतलियाँ चारों ओर भ्रमण करने लगीं, उस समय तुम्हारी उस शोचनीय दशा को देखकर, उस कष्टदायक दशा का निमित्त अपने को ही मानकर उस घड़े ने अपने मृण्मय देह को द्वार के स्पर्श के बहाने से नष्ट कर दिया है। उसे तुमने नहीं फोड़ा है ॥ ९१ ॥ (१६ ख)

अत्र नदीकूल इति। यहाँ नदी के तीर पर लताकुंज में संकेत-स्थान निश्चित करके भी समय पर वहाँ उपस्थित न होने वाले नायक को, नायिका ने अपने घर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति मया चिन्तितम्, तत्किमिति नाश्वसिषि, तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनिकटे सर्वं समर्थयिष्ये इति द्वारस्पर्शनव्याजेनेत्यपह्नुत्या वस्तु ।

(कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धेनाऽलङ्कारेणाऽलङ्कारस्य व्यक्तिमुदाहरति)

जोह्णाइ महुरसेण अ विइण्णतारुण्णउस्सुअमणा सा ।
बुड्ढा वि णवोढव्विअ परवहुआ अहह हरइ तुह हिअअम् ॥ ९२ ॥ (१७)

में घूमते समय पीछे-पीछे आते हुए देखकर पुनः नदी के 'लताकुंज' में जाने के लिए आकुल-व्याकुल होने के कारण तुमने जान बूझकर घड़ा फोड़ दिया – यह मैं समझ गयी, किन्तु 'तुम घबड़ाओ नहीं, अपने मनोरथ को पूर्ण करने के लिए निश्चिन्त होकर जाओ। तुम्हारी सास के सामने मैं सब ठीक-ठाक समाधान कर दूँगी'–यह 'वस्तु', 'द्वारस्पर्श' के बहाने (व्याज) से अर्थात् इस अपह्नुति अलंकार से अभिव्यक्त की गई है।

विशेष विवरण—तुमने जान-बूझ कर घड़े को दरवाजे की ठोकर लगाकर नहीं फोड़ा, अपितु घड़े ने ही अपने बोझ के कारण तुम्हारी उस विह्वल होती हुई दशा को देखकर अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हुए द्वारस्पर्श के बहाने अपने को गिराकर अपने मृण्मय देह को नष्ट किया है। 'शंभु' की तरह यह अन्तर्भावित ण्यर्थ है। अर्थात् द्वारस्पर्श करके तुमने घड़े को नहीं फोड़ा है, किन्तु अपनी गुरुता के कारण स्वयं को परपीडक समझ कर उस घड़े ने ही अपने स्वरूप को नष्ट कर दिया है–यह 'अपह्नुति' अलंकार है। इस 'अपह्नुति' अलंकार से 'संकेत-स्थान पर तुम जाओ, तुम्हारी सास और उसके निकटवर्ती लोगों को मैं समझा-बुझा दूँगी'–यह 'वस्तु' व्यंजित की गई है। अर्थात् 'द्वारस्पर्श' रूप 'अपह्नुति' से 'समझा दूँगी'–यह वस्तु अभिव्यक्त की गई है। यहाँ पर अचेतन घड़े में अपने आप को नष्ट करने की बात का (चेतनता का) आरोप स्वतःसंभवी नहीं है। यहाँ व्यंग्यार्थ का बोधन 'द्वारस्पर्शमिषेण'—इस व्यंजक पद से किया गया है। यहाँ अचेतन घट में स्वात्मविभेदनरूप 'चेतन धर्म' का आरोप किया गया है। अतः तन्मूलकतया अपह्नुति में प्रौढोक्तिसिद्धता समझनी चाहिये। 'वार-प्फंसमिसेण'–इस पद की प्रधानता के कारण 'ध्वनि' में पदप्रकाश्यता है। 'अल्लोल्लकर अर अण' (चतु० उ० श्लो० ७०) में ऐसा कोई पद व्यंजक नहीं है, इसलिए वहाँ 'वाक्यप्रकाश्यता' ही मानी गई है। यही दोनों में अन्तर है ॥ ९१ ॥

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलंकार से पदद्योत्य अलंकारव्यङ्ग्य—

वृद्धा-परवधू में आसक्त नायक का उपहास करने वाली तरुणी की उक्ति है—

जोह्णेति। (ज्योत्स्नयेति)। चाँदनी और मधुरस अर्थात् वसन्तरस और मद्य के आस्वादन से जिसमें यौवन की उमंग आ गई है ऐसी वृद्धा परवधू भी नवोढा के समान तुम्हारे मन को आकर्षित कर रही है, कैसा आश्चर्य है ॥ ९२ ॥ (१७)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0, In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्योत्सुकमनाः सा ।
वृद्धाऽपि नवोढेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ॥ ९२ ॥)

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलषसीति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः 'परवहू'पदप्रकाश्यः ।

एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः । वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम् । शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः ।

अत्र काव्यलिङ्गेनेति । यहाँ 'परवधू' होने मात्र से ही वह तुम्हें अच्छी लग रही है'—इस 'काव्यलिंग' अलंकार से 'तुम हमको (अस्मान्) अर्थात् हमारी जैसी नवयुवती को छोड़कर वृद्धा परवधू को चाह रहे हो, तुम्हारे इस आचरण के बारे में क्या कहा जाय, कुछ कहते नहीं बनता'-इस 'आक्षेप' अलंकार को 'परवधू' पद से प्रकाशित किया जा रहा है ॥ ९२ ॥

विशेष विवरण—परवधू होने के कारण ही तुम्हारा मन उसकी ओर आकर्षित होता है, अर्थात् वह तुम्हारे चित्त को खींचती है, तुम्हारे मन के आकर्षित होने में सुंदरता आदि कोई अन्य कारण नहीं है ।

हृदय के हर लेने में 'परवधूत्व' हेतु है, इसलिए यह काव्यलिंग अलंकार है । वह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध है, क्योंकि वृद्धा परवधू को एक तरुण प्रेमी के चित्ताकर्षण का कारण बताया है । इससे जो व्यंग्य अर्थ है—वह 'आक्षेप' अलंकार है, अर्थात् 'अरे विचारशून्य ! मुझ युवती को छोड़कर तू किसी दूसरे की वृद्धा स्त्री को चाहने लगा, तेरे इस दुर्व्यवहारपूर्ण चरित्र की क्या चर्चा करें' अर्थात् तुम्हारे आचरण का क्या बखान करें—इस प्रकार से कहना एक प्रकार से निषेध (ऐसा न किया करो) करना ही है । इस 'आक्षेप' अलंकार का व्यंजक (प्रकाशक) प्रधानतया 'परवधू' पद ही है । उद्योतकार ने कहा है – 'परवधूत्वं हृदयहरणे हेतुरिति काव्यलिंगमलंकारः' । किन्तु चक्रवर्तीव्याख्याकार कहते हैं कि 'ज्योत्स्नामधुररसाभ्यां दत्तं तारुण्यं हृदयहरणे हेतुरिति काव्यलिङ्गम्' । इससे 'नायकचरितस्य अशक्यवक्तव्यत्वरूपः आक्षेपालंकारः व्यज्यते' । यहाँ पर नायिका ने नायक के चित्तहरण में जो 'हेतु' प्रदर्शित किया है, वह नायक का उपहास करने के लिए ही है, वास्तविक नहीं है । क्योंकि परवधू भी यदि वृद्धा हो, तो वह किसी के चित्त को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकती । इस कारण काव्यलिंग अलंकार को यहाँ पर प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध ही समझना चाहिये । 'महिलासहस्सभरिए' (चतु० उ० श्लो० ७१) में कोई पद ऐसा व्यंजक न होने से वहाँ 'वाक्यप्रकाश्यता' ही समझनी चाहिये । यही दोनों में अन्तर है ॥९२॥

एष्विति । इन चारों उदाहरणों में व्यंजक अर्थ, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्त-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(अर्थशक्तिमूलो द्वादशविधो ध्वनिः प्रबन्धेऽपि भवति)

(सू० ६०)—प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४२ ॥

यथा गृध्रगोमायुसंवादादौ—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥ ९३ ॥

मात्रसिद्ध है। (इस रीति से ध्वनिकाव्य के जो सत्रह भेद हैं, उनके पदद्योत्य सत्रह उदाहरण बता दिये) वाक्य से द्योत्य (प्रकाश्य) इन सत्रह भेदों के उदाहरण पहले इसी उल्लास के आरंभ में सोदाहरण बता दिये गये हैं। इस प्रकार यहाँ तक चौतीस (३४) प्रकार के ध्वनिकाव्य के उदाहरण दिये जा चुके हैं। शब्दार्थोभयशक्तिमूलक (शब्द तथा अर्थ दोनों की यानी उभय की शक्ति से उत्थित) जो ध्वनि है, वह तो केवल वाक्य से ही प्रकाशित होता है, वह 'पद' से व्यंग्य (पदप्रकाश्य) हो ही नहीं सकता, क्योंकि एक ही 'पद' को युगपत् (एक ही समय में) परिवृत्तिसह और परिवृत्यसह कैसे कहा जायगा। एवं च उक्त चौतीस (३४) भेदों में उभयशक्तिमूलक ध्वनि के एक (१) भेद को मिलाने पर ध्वनि के पैंतीस (३५) भेद हो जाते हैं।

विशेष विवरण—अभिप्राय यह है कि अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और अलक्ष्यक्रम—ये तीन भेद। लक्ष्यक्रम में वस्तु और अलंकार के भेद से शब्दशक्तिमूलक के दो भेद। अर्थशक्तिमूलक के बारह भेद। इन सत्रह भेदों का पुनः वाक्य और पद के कारण द्वैविध्य होने पर चौतीस भेद। उभयशक्तिमूलक का एक भेद, सब मिलकर पैंतीस भेद होते हैं।

प्रबन्धगत अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि के द्वादशभेद—

(सू० ६०) प्रबन्ध में भी अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेद होते हैं।

यथेति। जैसे (महाभारत के शान्ति पर्व अ० १५३ में) गिद्ध और शृगाल के संवादादि में (प्रबन्धगत अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि का) उदाहरण उपलब्ध होता है।

मृत बालक को देखकर, दिन में ही शव के मांस-भक्षण में समर्थ गिद्ध, उस बालक के संबंधियों को, उसे वहीं त्यागकर घर वापस जाने की प्रेरणा देता हुआ कहता है—

प्रबन्धगत स्वतःसंभवी वस्तु से वस्तुव्यङ्ग्य—

महाभारत शान्तिपर्व में गृद्धसंवादरूप पद्यद्वयात्मक प्रबन्ध में स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तु की अभिव्यक्ति का उदाहरण इस प्रकार है—

अलं स्थित्वेति। अरे मूर्खो! यह स्थान गृध्रों तथा शृगालों से परिपूर्ण है। तथा जिधर देखो उधर केवल अस्थिपञ्जर ही जहाँ-तहाँ पड़े हुए हैं, कितना भयंकर यह स्थान है। इस स्थान को देखकर प्राणिमात्र काँप उठता है। इस श्मशान भूमि में तुम लोग रुक कर क्या करोगे? ॥ ९३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥ ९४ ॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ।

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥ ९५ ॥

न चेति । अरे ! जो व्यक्ति एक बार मर चुका (कालधर्ममुपागतः). वह चाहे किसी का प्रिय (मित्र) हो, चाहे शत्रु (द्वेष्य) हो, पुनः जीवित नहीं हो सकता है, न आज तक जीवित हुआ है । 'सभी प्राणियों की एक दिन यही गति होनी है ।' (यह कहकर संबंधियों को समाधान कराते हुए कहता है कि संसारियों की मृत्यु के बाद अपरावृत्तिरूप ही गति (स्वभाव) है । तथा च 'स्वभावो दुरतिक्रमः' इस न्याय से स्वभाव के दुरतिक्रम होने से खेद मत करो) ॥ ९४ ॥

इति दिवेति । दिन में देखने और मृत के मांस-भक्षण में समर्थ रहने वाले गृध्र का उस मृत बालक के सम्बन्धीजनों को वहाँ से निकल कर घर चले जाने की मंत्रणा देने वाला यह वचन है । यहाँ पर स्वतःसंभवी वाच्यार्थ रूप वस्तु से 'पुरुषविसर्जन' रूप वस्तु को अभिव्यंजित किया गया है । और उसका व्यञ्जक यह पद्यद्वयात्मक गृध्रवचनरूप प्रबन्ध ही है, न कि तद्गत 'वाक्य' या 'पद' व्यंजक है । अतः इस ध्वनि में प्रबन्ध-प्रकाश्यता ही है ।

विशेष विवरण—दिन के समय मृतक के मांस-भक्षण में क्रूर-वीर गृध्र की यह उक्ति है, जो न वाक्यरूप है और न पदरूप ही है, अपि तु वाक्यसमुदाय-रूप है । इससे व्यंग्यार्थ यह निकल रहा है—'लोगों को वहाँ से भगाने की एक युक्ति ।' जिससे दिन रहते-रहते वह गृध्र, मृतक का माँस भरपेट खा सके ।

इसके विपरीत रात में देख सकने और गृध्र आदि के विघ्नों से रहित, निश्चिन्त होकर रात्रि में भक्षण करने में समर्थ शृगाल यह सोचता है कि ये मृतक के संबंधी लोग सूर्यास्त तक यहाँ बैठे रहें, जिससे गृध्रादि इस मृत बालक के शरीर को न खा सकें और सूर्यास्त के बाद गृध्रादिकों के असमर्थ हो जाने से सम्पूर्ण मांस मुझे निश्चिन्त होकर खाने को मिल जाय । इसलिए वह उस मृत बालक के संबंधियों को समझा रहा है । महाभारत के शान्तिपर्व में आपद्धर्मपर्व के १५३ वें अध्याय में श्लोकद्वयात्मक वचन है—

आदित्योऽयमिति । अरे मूर्खों ! उस गृध्र के बहकावे में आकर अभी से क्यों भागे जा रहे हो । अभी तो सूर्य भगवान् स्थित हैं । अभी इसको यौवन भी प्राप्त नहीं हो पाया है । इसकी शरीरकान्ति कैसी सुवर्ण जैसी सुन्दर है ! ऐसे सुन्दर-सलोने बालक को यहाँ पटक कर भागजाना उचित नहीं है । अभी इससे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥ ९६ ॥

इति निशि विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं च वचनमिति प्रबन्ध एव प्रथते । अन्ये त्वेकादश भेदा ग्रन्थविस्तरभयान्नोदाहृताः स्वयन्तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः । अपिशब्दात्पदवाक्ययोः ।

प्रेम करो । यह मुहूर्त अनेक विघ्नों से भरा हुआ है । क्या पता, इस पर यदि कोई भूत-प्रेत बाधा हो तो थोड़ी देर में उसके दूर होते ही यह जीवित भी हो सकता है । इसे छोड़कर जाने में क्या तुम्हें लोकलज्जा भी नहीं है, अतः तुम लोगों का जाना उचित नहीं है ॥ ९५-९६ ॥

इति निशीति । रात्रि में विशेषरूप से समर्थ रहने वाले शृगाल की मृत बालक के संबन्धीलोगों को रोक रखने की इस उक्ति के वाक्य-समूह में एक युक्ति भरी हुई है । जिससे रात होते ही केवल उसी को मांस खाने को मिल सकेगा, गृध्र तो भाग जायगा । इस प्रकार का अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि प्रबन्ध में ही प्रतीत होता है ।

अन्ये इति । प्रबन्धगत अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि के बारह भेदों में से यहाँ पर केवल एक भेद का ही उदाहरण प्रदर्शित किया गया है । शेष ग्यारह भेदों के उदाहरण, ग्रन्थ के विस्तर-भय से यहाँ नहीं दिये गये हैं । उन्हें लक्षण के अनुसार स्वयं काव्यों में ढूँढ़ लेना चाहिये ।

अपीति । सूत्र ६० 'प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः'—में प्रयुक्त 'अपि' शब्द से यह सूचित किया है कि यह 'अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि' पद तथा वाक्य में भी होता है । यहाँ पर स्वतःसंभवी वाच्यार्थरूप 'वस्तु' से 'जनव्यावर्तन रूप वस्तु' व्यंजित की गई है । उसका व्यंजक यह पद्यद्वयात्मक गोमायुवचनरूप 'प्रबन्ध' ही है, न कि तद्गत 'पद' या 'वाक्य' व्यंजक है, अतः इस ध्वनि में प्रबन्ध-प्रकाश्यता ही है ।

विशेष विवरण—अभिनवगुप्तपाद ने 'प्रबन्ध' का लक्षण इस प्रकार बताया है—'सङ्घटितवाक्यसमुदायः प्रबन्धः' (श्लो० ३।२) अर्थात् परस्पर सम्बद्ध अनेक वाक्यों का समूह (समुदाय) ही प्रबन्ध कहलाता है । वह वाक्यसमुदाय एक सम्पूर्ण ग्रन्थरूप भी हो सकता है और उसका अवान्तर प्रकरण रूप भी हो सकता है । चक्रवर्ती ने 'वृत्तप्रत्यायकं वाक्यं प्रबन्धः' यह प्रबन्ध का लक्षण किया है । अन्य किसी ने 'प्रबन्धो वाक्यविस्तरः' यह भी प्रबन्ध का लक्षण किया है । भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण में—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पदैकदेश-रचना-वर्णादि-व्यङ्ग्यता)

(सू० ६१) पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ।

'पदं चैव पदार्थश्च वाक्यं वाक्यार्थ एव च ।
विषयोऽस्याः प्रकरणं प्रबन्धश्चाभिधीयते ॥'

यह प्रबन्ध का लक्षण किया है । यहाँ पर 'अस्याः' का अर्थ यह किया है—

'अयुज्यमानस्य मिथः शब्दस्यार्थस्य वा पुनः ।
योजना क्रियते यासौ युक्तिरित्युच्यते बुधैः ॥'

पदैकदेश-रचना वर्णादि-व्यंग्यता—

(सू० ६१) (१) पद के एकदेश—प्रकृति-प्रत्यय आदि, (२) रचना, (३) वर्णों में और 'अपि' शब्द से (४) प्रबन्ध में भी रस आदि असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि होता है ।

विशेष विवरण—तिङन्त-सुबन्त रूप पदों के एकदेश—प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग—इनमें तथा वैदर्भी, गौडी, पांचाली आदि रचनाओं में, अथवा दीर्घसमास, मध्यमसमास, असमासादि रचना (संघटना) में, और 'मूर्ध्निवर्गान्त्यगाः स्पर्शाः' सूत्र से अष्टमोल्लास में बताये जाने वाले ककारादि अक्षरविशेषरूप वर्णों में एवं प्रबन्ध में, 'रसादि' अर्थात् रस-भाव-तदाभास-भावशान्ति-भावोदय-भावसंधि-भावशबलतारूप अलक्ष्यक्रमव्यंग्यरूप रसादिध्वनि की अभिव्यक्ति होती है । उपर्युक्त प्रकृति-प्रत्यय-उपसर्ग के लक्षण (स्वरूप) इस प्रकार समझने चाहिये—(१) 'प्रकृतित्वं च प्रत्ययविधावुद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वं प्रत्ययविधावधित्वं वा । (२) प्रत्येति अर्थं बोधयतीति प्रत्ययः, तथा च प्रत्ययाधिकारपठितत्वे सत्यर्थबोधकत्वं प्रत्ययत्वम् । (३) उपसर्गाः प्रादयः ।' उपसर्गों में स्वातंत्र्येण अर्थप्रत्यायकत्व न होने से पदैकदेशत्व समझना चाहिये ऐसा उद्योतकार ने कहा है । 'प्रकृति' भी दो प्रकार की होती है—(१) धातुरूपा, और (२) नामरूपा । सूत्र में 'पदैकदेश' कथन उपलक्षक है, उससे पुरुषव्यत्यय, पूर्वनिपातादि का भी ग्रहण किया जाता है । 'पुरुषव्यत्यय, पूर्वनिपातादि', पदैकदेश के धर्मरूप होने से उन्हें भी पदैकदेश के रूप में ही समझा जाता है, ऐसा प्रदीपकार और प्रभाकार ने कहा है । 'पद' दो प्रकार का होता है—(१) सुबन्त, (२) तिङन्त । उसका एकदेश—नाम, धातुस्वरूपप्रकृतिभाग है और प्रकृति का एकदेश (प्रकृत्येकदेश) सुप्, तिङ्विभक्तिभाग तथा उपसर्गादिरूप है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(धातुरूपप्रकृत्यात्मकपदैकदेशे सम्भोगशृङ्गाररसस्य व्यक्तिमुदाहरति)

तत्र प्रकृत्या यथा—

रइकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स ।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वईपरिचुंबिअं जुअइ ॥ ९७ ॥

(रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥ ९७ ॥)

अत्र जयतीति न तु शोभते इत्यादि। समानेऽपि हि स्थगनव्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य पिधानमिति तदेवोत्कृष्टम् ।

तिङन्तरूप प्रकृत्यात्मकपदैकदेश से सम्भोगशृङ्गाररसव्यङ्ग्य—

तत्रेति । धातुरूप प्रकृत्यात्मक पद के एकदेश में संभोगशृंगार रस की व्यक्ति (व्यञ्जना) का उदाहरण जैसे—

हालकवि विरचित गाथासप्तशती का पचपनवाँ (५५) पद्य है। कोई अपनी सखी को शिक्षा देने के लिए लज्जा उत्पन्न होने पर भी स्नेहाभिव्यक्ति में पार्वती के वैदग्ध्य (चातुर्य) का वर्णन कर रही हैं।

रइकेलीति । (रतिकेलीति) । अरी सखी ! पार्वती के साथ रतिक्रीडा करते समय पार्वती के परिधान को दूर हटाकर उन्हें नग्न करने वाले, किन्तु लज्जा परवश पार्वतीजी के करपल्लवों से पिहित [बंद] किये गये नेत्रों वाले श्री शिवजी का वह तृतीय नेत्र जो पार्वती जी के द्वारा परि चुम्बित होने से [ढक दिया गया है] अद्भुत शोभा को धारण कर रहा है ॥ ९७ ॥

अत्र जयतीति । यहाँ पर 'जयति' पद के 'जि' धातुरूप प्रकृत्यात्मक पदैकदेश का ही प्राधान्य है। अत एव कवि ने उसके समानार्थक 'शोभते' आदि पदों का यहाँ प्रयोग नहीं किया। क्योंकि वह रस का व्यंजक नहीं है। यहाँ पर श्री शिवजी के तीनों नेत्रों को बन्द करने का व्यापार समान रहने पर भी चुम्बनरूप लोकोत्तर व्यापार से इस तृतीय नेत्र को ढक दिया गया है। क्योंकि शिवजी के दोनों नेत्रों को बन्द करने में दोनों हाथों का उपयोग किया गया था, किन्तु तृतीय नेत्र तो उनका खुला ही था, उसे बन्द करने के लिए पार्वतीजी ने एक रसमय चुम्बनरूप अलौकिक उपाय को अपनाया, और उसी से उनके तृतीय नेत्र को बन्द किया। यही उस नेत्र की अन्य नेत्रों की अपेक्षा उत्कृष्टता है। क्योंकि दोनों हथेलियों से दोनों आँखों को ढक देने में वह रतिरस नहीं है, जो रसमय चुम्बन से तृतीय नेत्र को बन्द कर देने में है ॥ ९७ ॥

विशेष विवरण—चन्द्रिकाकार कहते हैं कि पार्वती जी के दोनों हाथ दो नेत्रों को मूंदने में लगे रहने से तथा अलौकिक चुम्बन के द्वारा तृतीय नेत्र को ढक दिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(नामरूपपदैकदेशे सम्भोगशृङ्गारस्य व्यक्तिमुदाहरति)

यथा वा—

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद्यावन्न यात्युन्मनाः ।
तावत्प्रत्युत पाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वेव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः ॥ ९८ ॥

अत्र पदानीति न तु द्वाराणि । तिङ्सुपोर्यथा—

जाने से उस तृतीय नेत्र की बताई जाने वाली जो उत्कृष्टता है, वह रागातिशय, हर्ष, लज्जा आदि के द्वारा रसातिशय को पुष्ट कर रही है । 'जयति' के अर्थ से 'उत्कर्ष' का बोध होता है । तृतीय नयन का उत्कर्ष, उसकी उत्कृष्टपिधानवत्ता होने से है । पिधान का उत्कर्ष, चुम्बनरूप अलौकिक साधन के कारण है । चुम्बन से पिधान तो रसोत्कर्ष से ही हो सकता है, इस कारण 'जि' धातु ही रसोत्कर्ष की प्रतीति कराने में प्रयोजक है । और 'शोभते' कहने पर तो उत्कर्ष के कारणों की चिन्ता ही न होने से वाच्यार्थ में ही विश्रान्ति हो जाती है । यहाँ 'तिङन्त पद' के एकदेश 'जि' धातु के द्वारा रसव्यंजकता का उदाहरण बताया गया है ।। ९७ ।।

सुबन्तरूप प्रकृत्यात्मकपदैकदेश से सम्भोगशृङ्गाररसव्यङ्ग्य—

नामरूप प्रकृत्यात्मक पदैकदेश में सम्भोग-शृङ्गार की व्यक्ति [व्यंजना] का उदाहरण, अर्थात् 'सुबन्त पद' के एकदेश अर्थात् प्रातिपदिक रूप प्रकृति की व्यंजकता का उदाहरण दे रहे हैं ।

यथा वा । जैसे—

प्रेयानिति । नायिका ने, शपथपूर्वक पैरों पर अवनत हुए अपने प्रेमास्पद प्रियतम को झिड़क तो अवश्य दिया, और जैसे ही खिन्न होकर वह रतिगृह से दो-तीन पग भी नहीं जा पाया, वैसे ही वह नायिका संभोग के उत्कट अभिलाष के कारण खुली जा रही नीवी को हाथों से थामे हुए और प्रणाम करते हुए दौड़ कर उसे रोक ली । प्रेम की विचित्र चाल भला कौन जान सकता है ? अरे प्रेम की गति बड़ी ही विचित्र है ।। ९८ ।।

अत्र पदानीति । यहाँ पर संभोग शृंगार की अभिव्यक्ति होने में जो 'पद' शब्द है, वह नामरूपा प्रकृति है, अर्थात् प्रातिपदिक है । वह सुबन्त 'पदानि' शब्द का एक देश है, उसका पर्यवसान 'उत्कण्ठा' में होने से वह प्रधान है । उस 'पद' शब्द का ग्रहण करने से 'द्वार-पर्यन्त जाने की सहिष्णुता न रहना' यह व्यंग्य है, उससे उत्कण्ठातिशय व्यंजित होता है और उससे 'संभोग' व्यञ्जित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां
　　दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।
नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा
　　पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥ ९९ ॥

अत्र किरतीति किरणस्य साध्यमानत्वम् निवृत्तेति निवर्त्तनस्य सिद्धत्वं तिङा सुपा च तत्रापि क्तप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते ।

होता है । यहाँ 'पदानि' कहा है, 'द्वाराणि' नहीं । अर्थात् दो-तीन 'पग' कहने से नायिका की उत्कट संभोगेच्छा और उसके द्वारा संभोगश्रृंगार रस की अभिव्यक्ति की गई है । यहाँ 'दो-तीन द्वार' नहीं कहा, क्योंकि दो-तीन पग भी न जाने देने में जो रतिरसपराधीनता व्यक्त होती है, वह दो-तीन दरवाजे पार करने के बाद रोकने में नहीं है ॥ ९८ ॥

पद के एकदेश 'तिङ् एवं सुप्' प्रत्यय के द्वारा संभोगश्रृंगार की व्यंजना का उदाहरण । वसन्त का वर्णन कर रहे हैं—

पथि पथीति । वसन्त के आ जाने से प्रत्येक मार्ग पर जगह-जगह नूतन प्ररोहों की कान्ति शुकचञ्चु के समान मन को आकर्षित कर रही है । इसी प्रकार प्रत्येक दिशा में चारों ओर लताओं को नचाने वाली वायु बह रही है । कामदेव प्रत्येक पुरुष पर अपने पुष्पबाणों को फेंक रहा है । प्रत्येक नगर में मानिनी सुन्दरियों के मान की चर्चा समाप्त हो चुकी है ॥ ९९ ॥

अत्र किरतीति । यहाँ पर 'किरति' इस तिङन्त क्रियापद में 'तिङ्' रूप जो प्रत्ययांश है, उससे कामदेव के बाणों के विक्षेप (किरण) की साध्यमानता, क्योंकि 'क्रिया' हमेशा साध्यरूप होती है । और 'निवृत्ता' इस सुबन्त पद से मानिनियों की मानचर्चा के समाप्त हो जाने से निवर्तन का सिद्धत्व, क्रमशः, 'तिङ्' और 'सुप्' प्रत्ययों से व्यक्त किया गया है । उसमें भी 'विनिवृत्ता' पद में भूतार्थक 'क्त' प्रत्यय से 'मानचर्चा' का अतीतत्व द्योतित किया गया है ।

विशेष विवरण—कामदेव ने पुरुषों के ऊपर अपने बाणों को अभी फेंका भी नहीं है । उन पर शीघ्र ही बाण वृष्टि करेगा । अभिप्राय यह है कि पुरुषों में तो अभी कामवासना का उदय भी नहीं हो पाया है । किन्तु स्त्रियाँ उसके बहुत पहले ही अपनी मानचर्चा भूलकर संभोग के लिये आतुर हो उठी हैं । यह बात 'किरति' के 'तिङ्' और 'विनिवृत्ता' के 'सुप्' प्रत्यय से और विशेषकर 'क्त' प्रत्यय से प्रकट हो रही है । क्योंकि 'क्त' प्रत्यय 'भूते' इस पाणिनिसूत्र से भूतकाल के अर्थ में ही होता है । अतः 'विनिवृत्ता' पद के 'क्त' प्रत्यय से स्त्रियों की मानचर्चा अब कहीं नहीं रही । वह तो अतीत का विषय बन चुकी—यह बात प्रकाशित होती है । इसी तरह 'किरति' पद के प्रयोग से और क्रिया

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के साध्यरूप होने से पुरुषों पर कामदेव के बाणों का प्रहार अभी 'साध्य' है, यानी आगे होगा—यह बात प्रकट होती है। वृत्ति में 'अत्र किरतीति' 'किरणस्य' कहा गया है। 'किरणस्य' का अर्थ क्षेपणस्य किया जाता है, क्योंकि 'कॄ विक्षेपणे' इस तौदादिक कॄधातु से 'कॄपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः'—इस सूत्र से औणादिक 'क्यु' प्रत्यय करने पर 'किरण' पद की निष्पत्ति होती है, किन्तु उद्योतकार का कहना है कि 'किरति तमांसि' इस व्युत्पत्ति से क्यु प्रत्ययान्त किरण शब्द की शक्ति 'मयूख' अर्थ में होने से यहाँ 'किरण' शब्द का प्रयोग चिन्तनीय है। यहाँ पर 'विकरणस्य' कहना उचित प्रतीत होता है। 'तिङ्' प्रत्यय का प्रयोग करने पर व्यंजनया साध्यत्वेनैव धात्वर्थकी उपस्थिति होती हैं। और 'सुप्' प्रत्यय का प्रयोग करने पर व्यञ्जनया सिद्धत्वेनैव प्रकृत्यर्थ की प्रतीति होती है। यहाँ पर 'तिङ्' और 'सुप्' से 'साध्यत्व' और 'सिद्धत्व' व्यंग्य ही है। यानी 'किरति' में 'तिङ्' प्रत्यय से और 'निवृत्ता' में 'सुप्' प्रत्यय से 'साध्यत्व'—'सिद्धत्व' व्यंग्य हो रहे हैं। तात्पर्य यह है कि 'किरति' क्रिया की वर्तमानकालता को प्रकाशित करते हुए तद्गत 'उत्पाद्यमानत्व' रूप जो साध्यत्व है, उसका व्यंजक 'तिङ्' प्रत्यय है। इसी प्रकार 'निवृत्ता' में जो निवृत्त पद है, वह निवृत्तिकर्त्रर्थक है, यानी निवृत्ति के कर्ता को बताता है। 'निवृत्ता' में जो 'सुप' प्रत्यय है, वह निवृत्तिकर्ता का अनुवाद करता हुआ स्वप्रकृत्यर्थ की विशेषभूत निवृत्ति के 'सिद्धत्व' का व्यंजक है, क्योंकि इतर-असमभिव्याहृत सुप्, सिद्धत्व का व्यंजक होता है और 'निवृत्तिः' 'निवृत्तिर्भविष्यति, निवृत्तः स्यात्' इत्यादि स्थलों में उसकी प्रतीति होती है। इस चर्चा से प्रकृत में यह निष्कर्ष निकला कि माननिवृत्ति में शरकिरण (बाणक्षेपण) कारण है। उसका सिद्धत्व (उत्पन्नत्व) वक्तव्य रहने पर 'किरति' के 'तिङ्' प्रत्यय से साध्यत्व बताया गया है। और माननिवृत्ति तो कार्यभूत है, उसका साध्यत्व वक्तव्य रहने पर सुप्' प्रत्यय से सिद्धत्व बताया गया है। तथा च किरण और निवृत्ति में जो कारण-कार्यभाव है, उसके पौर्वापर्यविपर्यय से कार्य-कारण का पौर्वापर्यविपर्ययरूपअतिशयोक्ति अलंकार प्रकाशित हो रहा है। और निवृत्ति के शीघ्रत्वबोधन द्वारा वसन्त के उद्दीपकत्वातिशय की अभिव्यक्ति कराने के कारण उसका पर्यवसान रसोत्कर्ष में हो रहा है ॥ ९९ ॥

अब प्रत्ययरूप पदैकदेश जो सुप्, तिङ् विशेष, उनसे विप्रलम्भ शृंगार की व्यक्ति का उदाहरण। अर्थात् 'सुप् तथा तिङ्' इन प्रत्ययांशों द्वारा संभोगशृंगार की व्यंजनका का उदाहरण 'प्रदर्शित कर चुके। अब विप्रलंभशृंगार की व्यंजना का उदाहरण दे रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा वा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने ! मानमधुना ॥ १०० ॥

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति तथा आस्ते इति न त्वासित इति अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्ते इति, भूमिमिति न तु भूमाविति, न हि बुद्धिपूर्वकमपरं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्सुब्विभक्तीनां व्यङ्ग्यम् ।

सम्बन्धस्य यथा—

यथा वेति । अथवा (प्रत्यय से विप्रलंभशृंगार की व्यंजना) जैसे—

यह पद्य अमरुकशतक में से लिया गया है । इस पद्य में कई दिनों से रूठी हुई नायिका को समझाते हुए उसकी सखी कह रही है ।

लिखन्निति । हे सखी ! तेरा प्राणप्रिय बाहर अवनत मस्तक होकर जमीन कुरेद रहा है, तथा तेरी सखियों ने भोजन करना भी त्याग दिया है और निरन्तर रोते रहने से उनकी आँखें सूज गई हैं । अरी ! पींजड़े के तोतों ने हँसना और पढ़ना यहां तक की शरीर धारणोपयोगी भोजनादि सब कुछ छोड़ दिया है, अर्थात् तेरे सभी प्रिय संबंधियों की यह दुरवस्था तेरे रूठने से (मान के कारण) हो रही है । लेकिन तेरी यह अवस्था है कि तू मान त्यागने का नाम ही नहीं ले रही है । हे कठोर हृदये ! अब तो मान (रूठना) छोड़ दे । 'विहायसा तेन विहस्य भूयः'—(नैष० ३।९९) इस प्रकार महाकवि श्री हर्ष ने पक्षियों के हास्य का भी वर्णन किया है । अतः यहां पर शुकों के हास्यत्याग को बताना अनुचित नहीं है ॥ १०० ॥

अत्र लिखन्निति । यहाँ 'लिखन्' कहा है, लिखति' नहीं । अर्थात् 'लिखन्' मे 'लिख' धातु से 'शतृ' प्रत्यय करने से 'लिखन्' क्रिया की अप्रधानता प्रतीत हो रही है, उस कारण लिखन् क्रिया में 'तात्पर्यशून्यता' तथा 'अबुद्धिपूर्वकता' ध्वनित हो रही है । उसी प्रकार 'आस्ते'—बैठा हुआ है—कहा है, 'आसितः'—बैठ गया—नहीं कहा । 'आस्ते' कहने से प्रारंभ किये कार्य की असमाप्ति के सूचक वर्तमान कालिक 'तिङ्' प्रत्यय से यह ध्वनित हो रहा है कि 'तुम्हारे प्रसन्न होने तक वह उसी तरह बैठा रहेगा' । और 'भूमिम्'—जमीनको—कहा है, 'भूमौ'—भूमि पर—नहीं कहा । 'भूमिम्' कहने से अनुद्देश्यता ध्वनित हो रही है । अर्थात् बुद्धिपूर्वक और कुछ विशेष बात नहीं लिख रहा है । यहं 'तिङ् और सुप्' विभक्तियों से ध्वनित किया गया है ॥ १०० ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गामारुहम्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण जाणामि।
णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥ १०१ ॥
(ग्रामरुहाऽस्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं न जानामि।
नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥ १०१ ॥

अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्याः।

षष्ठीविभक्तिरूपप्रत्ययात्मकपदैकदेश का श्रृंगार व्यंजकत्व—

संबन्धस्य यथेति संबन्ध का उदाहरण अर्थात् संबंधार्थक षष्ठी विभक्तिरूप प्रत्ययात्मक पदैकदेश की श्रृङ्गार रसव्यञ्जकता का उदाहरण दे रहे हैं।

अरी ! कलह (झगड़ा) करने में तू मेरे सामने कौन चीज है ? इस प्रकार अधिक्षेप करती हुई ग्रामीणा की किसी नागरिक स्त्री के प्रति यह उक्ति है। अथवा सुधासागरकार के व्याख्यानानुसार—

बैल पर बैठी हुई किसी स्त्री को देखकर 'नागरी' स्त्रियों ने उसे 'ग्रामीण' कहकर उसका उपहास किया, तब वह कुलटा उन नागरिकी स्त्रियों से कह रही है—

गामेति। मैं ग्राम में पैदा हुई हूँ, गाँव में रहती हूँ, इस कारण नगर की चातुर्य से भरी हुई बातों को नहीं जानती हूँ, किन्तु अपने को गुण-आगरी समझने वाली नगर की स्त्रियों के पतियों को उनके देखते-देखते वश में कर लेती हुँ, मैं तो जो हूँ सो हूँ ही ॥ १०१ ॥

यहाँ पर 'नागरिकान्' न कहकर 'नागरिकाणां पतीन्' कहा है। अतः पद के एकदेशभूत संबन्धार्थक षष्ठी से 'नागरिकस्त्रियों' की अपेक्षा उनके पतियों के चातुर्यका और उनको भी अपने वश में कर लेने से अपने चातुर्यातिशय का बोधन व्यंग्य है। अथवा अनादर षष्ठी के पक्ष में 'षष्ठी चानादरे'–(पा० सू० २।३।६०) सूत्र से अनादर के अर्थ में षष्ठी विभक्ति के करने से तुम्हारी सरीखी नागरिकता का दम भरने वालियों के सामने उनके देखते-देखते उनके पतियों को अपने वश में कर लेती हूँ—इस प्रकार अपना उत्कर्ष व्यंग्य है। अर्थात् सर्व व्यंग्य रस ही यहाँ पार्यन्तिक है। प्रदीप, उद्योत और सुधासागर व्याख्याओं में इसी प्रकार बताया गया है।

अत्र नागरिकाणामिति। यहाँ 'नागरिकाणाम्' इस षष्ठीविभक्ति में रस-व्यंजकत्व है।

प्रत्ययरूपलङ्ात्मकपदैकदेश की रौद्ररसव्यञ्जकता—

प्रत्ययांश द्वारा रौद्ररस की व्यञ्जना के उदाहरण में 'वीरचरित' नाटक के द्वितीय अंक में शिव-धनुष का भंग करने वाले रामचन्द्र के प्रति कुपित हुए भगवान् परशुराम का यह वाक्य है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीदि'ति कालस्य। एषा हि भग्नमहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः।

वचनस्य यथा—

ताणं गुणग्गहणाणं ताणुक्कंठाणं तस्स पेम्मस्स।
ताणं भणिआणं सुन्दर ! एरिसिअँ जाअमवसाणम्॥ १०२॥
(तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः।
तासाम्भणितीनां सुन्दर ! ईदृशं जातमवसानम्॥ १०२॥)

रमणीय इति। 'क्षत्रियकुमार राम रमणीय (सुन्दर) था'—

यहाँ तिङन्त 'आसीत्' पद के एकदेशभूत अतीतकालार्थक (भूतकालार्थक) 'लङ्' प्रत्यय, रौद्ररस को अभिव्यंजित कर रहा है। 'कालस्य' का अर्थ है 'कालार्थक लकार', उसमें रौद्ररसव्यंजकत्व है। इस प्रत्ययांशभूत 'लङ्' लकार से ही यह प्रतीत हो रहा है कि 'शिवधनुष को तोड़ने के पूर्व रामचन्द्र रमणीय थे, अब नहीं हैं,। क्रुद्ध हुए परशुराम की उक्ति 'क्षण भर में ही इस रामचन्द्र को मार डालूंगा'—से परशुराम का क्रोधातिशय व्यक्त हो रहा है। तात्पर्य यह है कि 'आसीत्' इस अतीतकालबोधक 'लङ्' से यह ध्वनित किया गया है कि मेरे क्रोध से कवलित हुए इस क्षत्रिय कुमार का 'रमणीयत्व' अतीत हो चुका, अब इसकी रमणीयता न वर्तमान में है और न भविष्य में है, वह अब अतीत की वस्तु हो गई'—इससे 'क्षणादेनं संहरामि'-यह प्रतीति होती है, इस प्रतीति से उनका 'क्रोधातिशय' व्यंग्य हो रहा है। वृत्ति में 'इति कालस्य' कहा है। यहाँ 'कालस्य' न कहकर यदि 'लङः' कहते तो अतीत काल में लिट्, लुङ् आदि प्रत्ययान्तरों का भी विधान पाणिनि ने किया है। इसी तरह 'कालस्य' के बजाय 'प्रत्ययस्य' भी नहीं कहा, क्योंकि 'प्रत्ययस्य' कहने पर प्रकृत 'प्रत्यय' में ही व्यंजकत्व होता। अतः 'कालस्य' कहने से अतीतकाल में विहित सभी प्रत्ययों की ऐसे विषय में व्यंजकता निर्बाधरूप से हो सकती है। यह सब सोचकर ही वाग्देवतावतार श्रीमम्मटभट्ट का 'कालस्य' कहना अत्यन्त उचित ही है।

प्रत्ययरूप वचनविशेषात्मकपदैकदेश की विप्रलंभशृंगारव्यंजकता—

वचनस्येति। 'वचन' की व्यंजकता का उदाहरण, जैसे—पहले बहुतर गुणों को सुनकर उत्पन्न हुए अनुरागातिशय को प्रकट करती है, तदनन्तर नायक के अन्यत्र आसक्त होने पर नायिका की यह उक्ति है—

ताणमिति। हे सुन्दर! तुम्हारे द्वारा किये गये मेरे उन गुणवर्णनों का, उन-उन उत्कण्ठाओं का, और तुम्हारे द्वारा की जाने वाली 'तुम ही मेरी जीवित-सर्वस्व हो' इत्यादि प्रेमभरी अनेक बातों का, तथा तुम्हारे द्वारा प्रदर्शित उस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते ।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे ! चेतः ! प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि ।
किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारान्निधौ ॥ १०३ ॥

अत्र प्रहासः ।

प्रेम का क्या आज इस प्रकार से अपराधकलुषित परिपाक (अवसान) हो गया है ॥ १०२ ॥

अत्र गुणग्रहणादीनामिति । यहाँ गुणग्रहण आदि का बहुत्व (बहुविधत्व) और प्रेम का सदा समानरूप में रहने से एकत्व (एकविधत्व) को क्रमशः बहुवचन तथा एकवचन से द्योतित किया गया है । अभिप्राय यह है कि 'प्रेम' के हेतुभूत गुणग्रहण आदि अनेक प्रकार होनेपर भी उनसे उत्पन्न कार्यभूत 'प्रेम' एकजातीय ही है, वह कभी भी अन्यथाभाव को प्राप्त नहीं हुआ' अर्थात् सतत (अविच्छेदेन) प्रकर्ष-निकर्षराहित्य के कारण परमोत्कृष्ट है । इसे 'गुणग्रहण' 'उत्कण्ठा' 'भणिति' इन पदों के बहुवचन और 'प्रेम' पद के एक वचन से व्यंजित किया गया है । उससे 'विप्रलंभ' का उत्कर्ष व्यंग्य है ॥ १०२ ॥

पुरुषव्यत्यय (पुरुषपरिवर्तन) रूपपदैकदेश की शान्तरसव्यंजकता—

कोई विरक्त, किसी सुन्दरी के दर्शन से क्षुभित हुए अपने हृदय पर हँस रहा है—

'रे रे ! इति । (रे रे ! यह साक्षेप संबोधन है ।) चञ्चलनेत्रा कटाक्षमारनेवाली सुन्दरी की इच्छा करने वाले अरे दुष्ट मन ! भगवान् के प्रति स्थिर प्रेम को छोड़कर इस अत्यन्त चञ्चल मृगनयनी को देखकर क्यों नाच रहा है ? क्या तू सोच रहा है कि मैं इसके साथ विहार करूँगा ? अरे अभागे ! इस अपनी आन्तरिक अभिलाषा को छोड़ दे । इस सुन्दरी स्त्री की अथवा उसके संभोग की अभिलाषा करना सचमुच संसारसमुद्र में डुबाने वाली कण्ठ में बाँधी गई पत्थर की शिला के समान है ॥ १०३ ॥

अत्रेति । यहाँ पुरुषपरिवर्तन (पुरुषव्यत्यय) से 'प्रहास' व्यंग्य है । उदाहरणभूत उक्त पद्य का तृतीय चरण 'किं मन्ये विहरिष्यसे' है । कहने वाले का तात्पर्य 'त्वं मन्यसे, अहं विहरिष्ये' है । किन्तु यहां पर 'त्वम्' इस मध्यमपुरुष के साथ 'मन्ये' इस उत्तम पुरुष का और 'अहम्' इस उत्तम पुरुष के साथ 'विहरिष्यसे' इस मध्यम पुरुष की क्रिया का प्रयोग किया है । नियमानुसार तो 'त्वं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पूर्वनिपातस्य यथा—

> येषां दोर्बलमेव दुर्बलतया ते सम्मतास्तैरपि
> प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः ।
> ये क्ष्माशक्र ! पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-
> स्ते स्युर्नैवभवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥ १०४ ॥

अत्र पराक्रमस्य प्राधान्यमवगम्यते ।

मन्यसे' और 'अहं विहरिष्ये' ऐसा प्रयोग होना चाहिये था। किन्तु प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च'–(पा. सू. १।४।१०६) सूत्र से प्रहास (उपहास) की विवक्षा रहने पर 'मन्यति' अर्थात् 'मन' धातु के उपपद रहते पुरुषव्यत्यय का विधान करके मध्यम पुरुष के स्थान पर उत्तम-पुरुष का और उत्तम-पुरुष के स्थान पर मध्यम-पुरुष का प्रयोग करना चाहिये—यह बताया गया है। तदनुसार यहाँ पर पुरुष का व्यत्यय करके 'प्रहास' को व्यंजित किया है। एवं च परिणामविरस होने से हर्षित होना और नाचना उचित नहीं है। 'संसारवारांनिधौ' में 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्'—(पा० सू० ६।३।१४) से बाहुलकात् षष्ठी का अलुक् हुआ है। मध्यम-उत्तम पुरुषों में विपर्यय कर देने से प्रहास की अभिव्यक्ति हो रही है। उस प्रहास से शान्तरस का उत्कर्ष हो रहा है। वृत्ति में दिये गये 'अत्र प्रहासः' के आगे 'पुरुषव्यत्ययेन व्यज्यते' यह जोडना चाहिये ॥ १०३ ॥

पूर्वनिपातरूप पदैकदेश की भावव्यंजकता—

बल और नय (नीति) उभय विशिष्ट राजा लोग ही समर्थ होते हैं, इस अभिप्राय से कोई कवि किसी राजा से कह रहा है—

येषामिति। हे राजन् ! जिन राजाओं के पास केवल बाहुबल ही है, नीतिबल नहीं है, वे भी नीतिज्ञ वृद्धों के द्वारा निर्बल माने जाते हैं, क्योंकि उन राजाओं से प्रमाद होने की संभावना रहती है। और केवल नीतिबल का ही अवलम्बन करने वाले (बाहुबल से रहित) उन राजाओं से भी क्या लाभ ? क्योंकि कोई भी बलवान् आकर किसी भी समय उन्हें धर्षित कर सकता है। किन्तु हे पृथ्वीन्द्र ! पराक्रम और नीति दोनों को स्वीकार कर सुन्दर रूप से पराक्रमपूर्वक आचरण (नीति) करने वाले आपके समान पवित्र वे राजा दो-तीन से अधिक संसार में नहीं निकलेंगे ॥ १०४ ॥

यहाँ पर 'नय' पद के पूर्व 'पराक्रम' पद का जो निपात (प्रयोग) किया है, उसी से कविनिष्ठ राजविषयक 'रतिभाव' व्यंजित हो रहा है।

अत्रेति। यहाँ पर पूर्वनिपात से पराक्रम की प्रधानता अवगत होती है। यहाँ पर 'पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमाः' इस समस्त पद में 'पराक्रम' तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विभक्तिविशेषस्य यथा—

प्रधनाध्वनि धीरधनुर्ध्वनिभृति विधुरैरयोधि तव दिवसम् ।
दिवसेन तु नरप ! भवानयुद्ध विधिसिद्धसाधुवादपरम् ॥ १०५ ॥

अत्र दिवसेनेत्यपवर्गतृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति ।

'नय' पदों में से 'नय' पद 'अल्पाच्तर' है, यानी उसमें स्वर-वर्ण न्यून हैं। इस लिये 'अल्पाच्तरम्'-(पा० सू० २।२।३४) सूत्र से पूर्व निपात उसी का होना चाहिये था और तदनुसार 'नय-पराक्रम' ऐसा प्रयोग करना चाहिये था। किन्तु 'अभ्यर्हितञ्च' इस वार्तिक से 'पराक्रम' को अभ्यर्हित (श्रेष्ठ) मानकर उसका पूर्वनिपात किया गया है। इस कारण यहाँ पर 'पराक्रम' शब्द का पूर्वनिपात करने से उसका प्राधान्य (अभ्यर्हितत्व) व्यंग्य हो रहा है। इसके पूर्वनिपातन से ही वर्णनीय राजा के पराक्रम के प्रति कवि के हृदय में विशेष अनुरक्ति का भाव द्योतित हो रहा है। एवं च पराक्रम की प्रधानतापूर्वक जो 'नयस्वीकार' बताया गया है, वह राजा के उत्कर्ष को सूचित करता हुआ राजविषयक रति को पुष्ट कर रहा है; इसलिए उसमें असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यरूप भावध्वनि का व्यंजकत्व है ॥ १०४ ॥

उपपदविभक्तिविशेषरूप पदैकदेश की भावव्यंजकता—

उपपदविभक्तिविशेषरूप पदैकदेश की व्यञ्जकता से असंलक्ष्यक्रम व्यंग्यरूप ध्वनि की अभिव्यक्ति का उदाहरण—

प्रधनेति। हे धीर राजन् (नरप) ! योद्धाओं के धनुष्टंकार की ध्वनि से गूंजती हुई रणभूमि में तुम्हारे शत्रुओं ने (विधुरैः) दिन भर युद्ध किया, तथापि वे नहीं जीत सके। परन्तु तुमने उसी दिन उन शत्रु योद्धाओं से ऐसा युद्ध किया कि ब्रह्मा और सिद्धगणों के साधुवाद के साथ एक ही दिन में विजय प्राप्त करके युद्ध समाप्त कर दिया ॥ १०५ ॥

अत्र दिवसेनेति। यहाँ पर 'दिवसेन' यह अपवर्ग-तृतीया, 'फलप्राप्ति' को ध्वनित कर रही है।

विशेष विवरण—विभक्ति दो प्रकार की होती है—(१) कारक विभक्ति और (२) उपपद विभक्ति। उनमें से 'क्रियाजनकार्थिका विभक्तिः कारक-विभक्तिः। (२) उप समीपे उच्चारितं पदम् उपपदम्। तदर्थनिमित्तका विभक्तिः उपपदविभक्तिः। पद्य में प्रयुक्त 'दिवसम्' का अर्थ है 'दिवसमभिव्याप्य' अर्थात् शत्रुभिः (विधुरैः) दिवसमभिव्याप्य अयोधि, यानी निरन्तरं प्रहृतम्। 'दिवसम्' में 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे'-(पा० सू० २।३।५) सूत्र से अत्यन्त संयोग को सूचित करने के लिये द्वितीया विभक्ति की गई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था।
साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥ १०६ ॥

अत्रानुकम्पावृत्तेः करूपतद्धितस्य।

अर्थात् 'तव शत्रूणां युद्धेन न इष्टप्राप्तिरित्यर्थः।' 'भवाँस्तु दिवसेन अयुद्ध अर्थात् युद्धं कृतवान्।' यहाँ पर 'दिवसेन' में अपवर्गतृतीया की गई है। 'अपवर्गे तृतीया'-(पा० सू० २।३।६) सूत्र से, फल प्राप्ति को द्योतित करना हो तो तृतीया विभक्ति करने का विधान किया गया है। इस तृतीया विभक्ति से युद्धरूप क्रिया का जो फल अर्थात् 'विजय' उसकी प्राप्ति व्यंजित की गई है। उससे राजविषयक भावप्रकर्ष व्यंग्य हो रहा है। 'अपवर्ग' का अर्थ है फल-प्राप्तौ सत्यां क्रियापरित्यागः'—फलप्राप्ति होने पर क्रिया का त्याग। क्योंकि 'फलसिद्धौ एव उपायेच्छानिवृत्तेः'। यह पद्य, विभक्तिरूप पदैकदेश की भाव-व्यंजकता का उदाहरण है ॥ १०५ ॥

प्रकृत्यैकदेशभूत तद्धितप्रत्यय से विप्रलम्भशृङ्गारव्यञ्जकता—

अब प्रकृति के एक देशभूत 'क' रूप तद्धित-प्रत्यय में विप्रलंभ शृंगार के व्यंजकत्व को बताते हैं। यह पद्य 'मालती माधव' नाटक के प्रथम अंक से लिया गया है। 'कथितमेव नो मालतीधात्र्या लवङ्गिकया' इस 'चूर्णक' नामक गद्यांश के बाद इस उदाहरण भूत पद्य को दिया गया है। इस के चतुर्थचरण के अन्त में 'अङ्गकैस्ताम्यतीति' वाक्यांश है। यहाँ 'अङ्गकैः' पद में प्रयुक्त तद्धित 'क' प्रत्यय 'अनुकम्पा' के अर्थ में है। अतः अनुकम्पा के द्योतक 'क' प्रत्यय से विप्रलंभशृंगार की अभिव्यक्ति हो रही है—

भूयो भूय इति। निवासभवन के उपरितन मण्डप अथवा वलभी यानी छज्जे के उन्नत झरोखे में स्थित मालती ने समीप के नगर की सड़कपर बार-बार घूमते हुए माधव को ऐसा देखा, जैसे साक्षात् रति, कामदेव को देखती हो। तभी से अत्यन्त उत्कण्ठित होने के कारण नितान्त खिन्न (लुलित) हुई—मालती की देह अनुकम्पनीय अंगों से मुरझा रही है ॥ १०६ ॥

अत्रेति। यहाँ पर अनुकम्पाद्योतक 'क', यह तद्धित प्रत्यय, विप्रलंभशृंगार का व्यंजक है।

विशेष विवरण—यहाँ पर अनुकम्पा से व्यंग्य होने वाले सौकुमार्य से विप्रलंभ का परिपोष हो रहा है। अर्थात् सौकुमार्य से दुःखकी असहिष्णुता अभिव्यक्त हो रही है, और उसके द्वारा विप्रलंभ का उत्कर्ष हो रहा है। यहाँ पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते ॥ १०७ ॥

अत्र प्रशब्दस्योपसर्गस्य ।

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः ।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम् ॥ १०८ ॥

अल्पार्थक 'कन्' प्रत्यय नहीं है। अन्यथा 'अत्रानुकम्पाद्योतः (अनुकम्पाद्योतकस्य) करूपतद्धितस्य' इस वृत्तिग्रंथ का स्वारस्य नष्ट हो जायगा। वृत्तिग्रन्थ के 'करूपतद्धितस्य' के आगे 'विप्रलंभ-शृंगारव्यंजकत्वम्' यह जोडना चाहिये ॥ १०६ ॥

प्रकृत्येकदेशभूत उपसर्ग से विप्रलम्भशृङ्गारव्यंञ्जकता—

प्रकृति के एकदेशभूत उपसर्ग की विप्रलंभशृङ्गारव्यंजकता। 'मालतीमाधव' नाटक के प्रथम अंक से यह पद्य लिया गया है। इस पद्य में माधव अपने मित्र मकरन्द से अपनी कामावस्था का वर्णन कर रहा है—

परिच्छेदेति। अरे मकरन्द! मेरे हृदय में कोई विलक्षण आश्चर्यकारक कामजविकार, भरता जा रहा है। जिसकी व्यापकता या समाप्ति का कोई ठिकाना नहीं है, जिसे बताने के लिये वाचक, लाक्षणिक, व्यंजकादि कोई भी शब्द समर्थ नहीं है। और जो इस जन्म में कभी अनुभव में नहीं आया। फिर भी यह तो मेरे विवेक को समूल नष्ट करके और अज्ञान प्रवृद्ध करता हुआ अलंघनीय हो बैठा है। यह तो मेरे अन्तःकरण को जड़सा बना दे रहा है। यह ऐसा संताप दे रहा है कि मुझे कुछ सूझ नहीं रहा है ॥ १०७ ॥

अत्रेति। यहाँ 'प्रध्वंस' पद में 'प्र' शब्दरूप उपसर्ग, विप्रलंभशृङ्गार का व्यंजक है।

विशेष विवरण—'प्रध्वंसात्' यहाँ पर प्रकृति के एक देश भूत 'प्र' शब्द से विवेक का समूलोन्मूलनरूप ध्वंसप्रकर्ष द्योतित किया गया है। क्योंकि उपसर्गों को वाचक नहीं माना जाता, उस कारण मोहप्रकर्ष, उससे रागातिशय, उससे माधव का विप्रलंभशृङ्गारप्रकर्ष व्यंग्य हुआ है। 'प्रादि' और 'चादि' के स्वतः प्रयोगानर्ह होने से वे पदैकदेश के तुल्य माने जाते हैं ॥ १०७ ॥

निपातरूप पदैकदेश की वीररसव्यंजकता—

किसी राजा के प्रति मंत्री की यह उक्ति है—

कृतमिति। हे राजन्! आपने अपने मन को अहंकाराभिमुख किया नहीं कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र तुल्ययोगिताद्योतकस्य 'च' इति निपातस्य ।

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम् ।
वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद्यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥ १०९ ॥

अत्रासाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनामप्रातिपदिकवचनानां न त्व-

---

हमारे शत्रुगण विनष्ट हो ही गये। संसार में अंधकार तभी तक रहता है, जब तक सूर्य, उदयाचलके शिखर पर नहीं आता है ॥ १०८ ॥

अत्रेति । यहाँ पर 'तुल्ययोगिता' अलंकार के सूचक 'च' निपात की वीर-रसव्यंजकता है ॥ १०८ ॥

विशेष विवरण—राजा के मन का गर्वाभिमुख होना और शत्रुओं का संहार होना दोनों की एककालिकता को 'च' निपात द्योतित कर रहा है। उदित सूर्य के बिना उदयाचल जैसे अमौलिजन के समान शोभा नहीं देता, वैसे ही तुम्हारे बिना यह संसार भी शोभा नहीं देता—यह ध्वनित हो रहा है। यहाँ 'च' कार से 'मनोगर्वाभिमुखीकरण और अरिहनन'-इन दोनों प्राकरणिकों में एककालत्वलक्षण 'एकधर्म' का संबन्ध होने से 'तुल्ययोगिता' कही गई है—यह प्राचीनमत से है। वस्तुतस्तु 'मन को गर्व के अभिमुखमात्र किया और शत्रुगण निहत हुए'—इस प्रकार 'तुल्यकालमेककालं योगः सम्बन्धः ययोस्तौ तुल्ययोगिनौ तयोर्भावस्तुल्ययोगिता' इस व्युत्पत्ति के आधार पर 'तुल्ययोगिता' पद 'समुच्चय' परक है। एवं च यहाँ पर 'चकारद्वय' से स्व-समभिव्याहृत दो क्रियाओं का तुल्यकालतालक्षण समुच्चयालंकार है। उसके द्वारा वीररस का प्रकर्ष ध्वनित हो रहा है। इस समुच्चय को ही 'तुल्य-कालं योगिता' इस व्युत्पति से 'तुल्ययोगिता' शब्द के द्वारा कहा गया है। उसी से वीररस का प्रकर्ष प्रतीत हो रहा है ॥ १०८ ॥

अनेकपदैकदेशरूप प्रत्ययांशों की वीररसव्यंजकता—

राघवानन्दनाटक में रावण को उद्देश्य करके बिभीषण कह रहा है—

रामोऽसाविति । वह रामचन्द्र अपने निज पराक्रम तथा गुणों से तीनों भुवनों में अत्यन्त प्रसिद्धि को पा चुके हैं। और जिनके यश का गान, स्तुतिपाठक बन्दी (भाट) के समान वायु, जिसके एक बाण के प्रहार मात्र से पाङ्क्तिबद्ध सप्त विशाल तालवृक्षों में उत्पन्न हुए सात छिद्रों से निकलने वाले सप्त स्वरों से करता रहता है। उसको आप नहीं जानते हैं, यह हमारा दुर्भाग्य ही है ॥ १०९ ॥

अत्रासाविति । यहाँ पर 'असौ'—यह सर्वनाम, 'भुवनेषु'—यह प्रातिपदिक, 'गुणैः'—यह बहुवचन अर्थात् सर्वनाम, प्रातिपदिक, और वचन का क्रम से व्यंज-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिति न मदिति अपि तु अस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणः, भाग्यविपर्ययादित्यन्यथा-संपत्तिमुखेन न त्वभावमुखेनाभिधानस्य ।

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥ ११० ॥

कत्व है। इसी प्रकार 'अस्मद्भाग्यविपर्ययात्' में 'त्वत्' या 'मत्' आदेशों को न कहकर सर्वसंग्राहक 'अस्मत्' का प्रयोग किया है। और 'भाग्य' के अभाव-वाचक 'अभाग्य' पद का प्रयोग न करके 'भाग्य' के अन्यथा भाव (दुर्भाग्य) के वाचक 'भाग्यविपर्यय' पद का प्रयोग आदि का, इसप्रकार से जो कथन (अभिधान) किया है, उसमें व्यंजना भरी हुई है, अर्थात् यह सब प्रीतिपादन, व्यंजकता का काम कर रहा है।

विशेष विवरण—यहाँ पर सर्वनाम-प्रातिपदिक-वचन का तथा सर्वाक्षेपक (समस्तरक्षःकुलोपस्थापक) अस्मत् का और 'अभाग्यात्' इस प्रकार अभावमुखेन न कहकर 'भाग्यविपर्ययात्'—इस प्रकार अन्यथा संपत्तिमुखेन (दुर्भाग्यरूप से परिणमन) जो—व्यंग्यार्थबोधन द्वारा प्रतिपादन किया है, उससे वीर रस की व्यंजना निकल रही है। 'न तु अभावमुखेन' कहने से यह ध्वनित हो रहा है कि 'हमारा भाग्य नहीं है; ऐसा नहीं, किन्तु आप जैसे भ्राता से संबंधित रहनेवाले भाग्य से ही जन्म से सुखपूर्वक रहने वाले हम लोग थे, वही भाग्य इस समय हमारे लिये दुःखरूप फल देने वाला हो गया है।' यहाँ 'आक्षेप' का अर्थ 'व्यंजना' है। अतः सीता को नहीं लौटाओगे तो सकलरक्षःकुलक्षय होना निश्चित है—यह ध्वनित किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि 'असौ' इस सर्वनाम से 'राघवेन्द्र रामचन्द्र के महा-पराक्रमी महान् पुरुष होने' की ध्वनि निकलती है। 'भुवनेषु' इस प्रातिपदिक से 'किसी छोटे-मोटे गाँव या शहर अथवा एक भुवन में नहीं, अपितु संपूर्ण भुवनों में त्रिलोकी में वह विख्यात है, जिसे 'राम' नाम से कहा जाता है—यह ध्वनित हो रहा है। 'गुणैः' कहने से 'उस राम के गुण अपरिमित हैं, जिनकी इयत्ता (परिच्छेद) नहीं की जा सकती'—यह ध्वनित हो रहा है। 'अस्मत्' कहने से संपूर्ण राक्षसवंश की प्रतीति' ध्वनित हो रही है। 'भाग्य-विपर्यय' कहने से 'राम के साथ शत्रुता रखने पर दुर्भाग्य का कौन ठिकाना?'-यह ध्वनित हो रहा है। इस प्रकार अनेक पदार्थों से वीर रस की व्यंजना की गई है ॥ १०९ ॥

पदैकदेशरूप अनेकप्रत्ययांशों की शृङ्गाररसव्यंजकता—

तरुणिमनीति। इस चञ्चलाक्षी मृगनयनी सुन्दरी को तो विश्व की समस्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र इमनिजव्ययीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य तरुणत्वे इति धनुषः समीप इति मौलौ वसतीति त्वादिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे अस्ति कश्चित्स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति ।

सुन्दरियों की चूडामणि ही कहना चाहिये, क्योंकि इसका नवयौवन अपने उभार पर है, और इसकी भ्रूलताएँ, कामचाप (कामदेव के धनुष) जैसे अपने गुरुचरणों के समीप कटाक्षकला की शिक्षा का ग्रहण कर रहीं हैं ॥ ११० ॥

अत्रेति । यहाँ 'तरुणिमनि' में 'इमनिच्' प्रत्यय, 'अनुमदनधनुः' पद में 'मदनधनुषः समीपे इति अनुमदनधनुः' इस प्रकार का अव्ययीभाव समास; 'मौलिम्' पद में कर्मरूप आधार—इन तीनों के स्वरूप में शृङ्गार-रसव्यंजकत्व है । क्योंकि—

तरुणत्वे इति । यहाँ पर शृङ्गार रस की अभिव्यंजना में निमित्तभूत उन-उन व्यंजकों में अद्भुत शक्ति दृष्टिगोचर हो रही है । 'तरुणत्वे' में 'त्व' प्रत्यय और 'तरुणिमनि' में 'इमनिच्' प्रत्यय दोनों का अर्थ (वाच्यार्थ) एक (समान) रहने पर भी 'तरुणिमनि' पद का जो माधुर्य है, वह 'तरुणत्वे' में नहीं है । क्योंकि सुकुमार अक्षरों वाले 'इमनिच्' इस तद्धित प्रत्यय से वैसा ही नवीन वय प्रतीत होता है । और 'तरुणत्वे' कहने पर तो प्रौढाक्षर वाला 'त्व' प्रत्यय होने से वय की प्रौढता प्रतीत होती है । 'अनुमदनधनुः'—और 'मदनस्य धनुषः समीपे' दोनों का अर्थ, समान ही है । किन्तु 'मदनस्य धनुषः समीपे'—इस अर्थ में किये गये 'अनुमदनधनुः' पद के 'पूर्वपदार्थ-प्रधान-अव्ययीभाव-समास' से उत्तरपदार्थीभूत धनुष का अप्राधान्य प्रकट होता है और उससे भ्रूलताग्र में तन्निरपेक्ष वश करने का असामर्थ्य बताया गया है । अर्थात् मदनधनुष के उपलक्षणभाव को प्रकाशित करने वाले पूर्वपदार्थप्रधानअव्ययीभाव के द्वारा भ्रूलताग्र का जगद्वशीकरणत्व प्रकाशित किया गया है । उसी तरह 'मौलौ वसति' और 'मौलिमधिवसति' दोनों का वाच्यार्थ समान है ! तथापि 'मौलिम्' यहां पर जो कर्मप्रतीति हो रही है, उससे कर्मीभूत सकलललनामौलिव्याप्ति सूचित होने से 'सौन्दर्यातिशय' व्यंजित हो रहा है । और 'मौलौ' कहने पर 'आधार' एकदेशवृत्ति भी हो सकता है, उससे 'व्याप्ति' की प्रतीति नहीं हो पाती । तात्पर्य यह है । कि ऊपर प्रदर्शित इमनिच् , अव्ययीभाव, कर्मभूत आधार आदि के स्वरूप की 'तरुणत्वे' 'धनुषः समीपे', 'मौलौ वसति' आदि स्वरूपों से तुल्यता रहने पर भी तत्तत्स्वरूपों में ही कोई एक ऐसा विशेष है जो विलक्षण चमत्कारकारी है । अतः वहीं व्यंजक बन गया है । 'त्व' शब्द से प्रकृत्यर्थ का प्रौढत्व व्यंजित होता है, किन्तु इमनिच्' से प्रौढता न होने के कारण 'नवत्व' व्यंजित होता है । धनुषः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम्। वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते। अपिशब्दात्प्रबन्धेषु नाटकादिषु। एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड् भेदाः।

समीपे' यहाँ पर 'धनुष्' का अत्यन्त गुणीभाव प्रतीत होता है, किन्तु 'अव्ययीभाव' में पूर्वपदार्थ का प्राधान्य रहने पर भी उत्तर पदार्थ का किञ्चिन्मात्र ही अप्राधान्य रहता है और 'कर्मभूत आधार स्थल' में व्याप्ति का बोध होता है।

एवमिति। इसी प्रकार पदैकदेश आदि की रसव्यंजकता समझ लेनी चाहिये।

वर्णरचनानामिति। 'वर्ण' एवं 'रचना' की रसव्यंजकता आगे गुणस्वरूप-विवेचन के प्रसंग में यानी अष्टम उल्लास (सू० १५) में बतावेंगे।

अपिशब्दादिति। 'पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि' इस कारिका में प्रयुक्त 'अपि' शब्द से 'पद-पदैकदेश-वर्ण-रचना' के अतिरिक्त 'प्रबन्ध-नाटक-मुक्तक' आदि भी 'रस' के व्यंजक होते हैं—यह जानना चाहिये।

विशेष विवरण—गुणस्वरूप-निरूपण के अवसर पर वर्ण-रचना की रसव्यंजकता बताने का तात्पर्य यह है कि गुण और रचना का परिचय होने पर ही उसकी रसनिष्ठ माधुर्यादिगुणव्यंजकता का ज्ञान होना संभव है, इसलिये उनकी व्यञ्जकता यहां नहीं बताई गई है। किन्तु इमनिजादिकों की व्यंजकता तो स्वबोध्यनिष्ठतत्तद्विशेष व्यंजकता रहने से यहाँ बता दी गई है। 'अपिशब्दात् प्रबन्धेषु' की व्याख्या करते समय किसी व्याख्याकार ने यह जो कहा है कि यहाँ पुनः प्रबन्ध की व्यंजकता बताने पर भी पुनरुक्ति इसलिये नहीं होगी कि पहले 'प्रबन्ध' शब्द से संघटित अवान्तरवाक्यसमूह को कहा गया था, और यहाँ संघटित-महावाक्यरूप प्रबन्ध बताया है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि पहले केवल अर्थशक्तिमूलक प्रबन्ध के बारे में ही कहा गया है, और यहां 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' की प्रबन्धविषयता कही गई है—इसलिये पुनरुक्ति नहीं है। 'कविविवक्षितेतिवृत्त-प्रत्यायकं वाक्यं प्रबन्धः, और पञ्चसन्धिसमन्वितं पञ्चादिदशपर्यन्ताङ्कं ख्यातवृत्तकं काव्यं नाटकम्'—ये प्रबन्ध और नाटक के लक्षण हैं। 'आदि' शब्द से प्रकरणादि का भी संग्रह कर लेना चाहिये।

एवं रसादीनामिति। इस रीति से रसादि ध्वनि के गिनाये हुए—'पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य' इन दो भेदों के साथ, (१) पदांश, (२) वर्ण, (३) रचना, (४) प्रबन्ध गत चार (पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि) भेदों को जोड़ने पर छह भेद होते हैं। अर्थात् (१) वाक्य, (२) पद, (३) पदैकदेश, (४) रचना, (५) वर्ण, (६) प्रबन्ध के द्वारा प्रकाश्य होने से अलक्ष्यक्रमरस आदि ध्वनि के छह भेद होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सू० ६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत्—

व्याख्याताः ।

(सू० ६२) इस प्रकार ध्वनिकाव्य के इक्यावन भेद होते हैं।

व्याख्याता इति। इन इक्यावन भेदों की व्याख्या हो चुकी है।

विशेष विवरण—ध्वनि काव्य के निर्दिष्ट इन मुख्य इक्यावन (५१) भेदों की गणना इस प्रकार से की गई है, उन्हीं को सुखावबोधार्थ बता रहे हैं। तथाहि—

सर्व प्रथम ध्वनि के दो भेद—'अविवक्षितवाच्य और 'विवक्षितान्यपर-वाच्य' यानी 'लक्षणामूल' और 'अभिधामूल'—किये गये हैं।

इनमें से 'अविवक्षितवाच्य' (लक्षणामूल) ध्वनि के भी 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य' और 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य'—ये दो भेद हुए।

उसी तरह 'विवक्षितान्यपरवाच्य' (अभिधामूल) ध्वनि के भी 'असंलक्ष्य (अलक्ष्य) क्रमव्यंग्य' और 'संलक्ष्य (लक्ष्य) क्रमव्यंग्य'—ये दो भेद हुए।

इनमें से असंलक्ष्य (अलक्ष्य) क्रम व्यंग्य के अनेकानेक भेद किये जा सकते हैं, इसलिये उनका विस्तार करने के बजाय उसका एक ही भेद स्वीकार किया है।

(अ) एवं च—'लक्षणामूलध्वनि' के (१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, (२) अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य—ये दो भेद, और 'अभिधामूलध्वनि के भेदों में से 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' नाम का एक (१) भेद,—इन सबको जोडने से तीन (३) भेद सम्पन्न होते हैं।

अभिधामूलध्वनि का अवशिष्ट 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य'—नामक जो भेद था; उसके (१) 'शब्दशक्त्युत्थ' (२) 'अर्थशक्त्युत्थ' और 'उभयशक्त्युत्थ'—ये तीन (३) भेद किये गये। (१) उनमें से 'शब्दशक्त्युत्थ' के 'वस्तुध्वनि' और—'अलंकारध्वनि'—ये दो (२) भेद हुए।

(२) उसी तरह 'अर्थशक्त्युत्थ' के 'स्वतःसंभवी चार (४) भेद, कवि-प्रौढोक्तिसिद्ध चार (४) भेद, और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध चार (४) भेद—ये सब कुल मिलाकर बारह (१२) भेद हुए।

(३) उभयशक्त्युत्थध्वनि का एक (१) भेद हुआ। एवं च इन तीनों के भेदों को जोडने से 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के (नंबर १, २, ३, में निर्दिष्ट) ३+१२+१ =१५ भेद सिद्ध हुए।

निर्दिष्ट पन्द्रह (१५) भेदों के साथ + (अ) चिन्हांकित तीन (३) भेदों को जोड देने पर १५+३=१८ भेद हो जाते हैं।

उक्त अठारह (१८) भेदों में से जो 'उभयशक्त्युत्थ' नाम का एक भेद है, वह तो केवल वाक्य में ही रहता है, और अवशिष्ट जो सत्रह (१७) भेद हैं, वे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१)
अविवक्षितवाच्यध्वनि (लक्षणामूल)

| १ पद-प्रकाश्य-अर्थान्तरसंक्र-वाच्यध्व० | २ वाक्यप्रका अर्था-संक्र-वाच्य- | ३ पदप्र-अत्यन्ततिर-वाच्यध्व० | ४ वाक्य-प्रका-अत्य-ति-वाच्य० |

(२)
विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि) (अभिधामूल)

| १ प. प्र. असं. क्र. व्यं. ध्व. | २ वा. प्र. असं. क्र. व्यं. ध्व. | ३ पदैदेश प्रका. असं. | ४ रचना प्र. अ० क्र० व्यं. | ५ वर्ण प्र. | ६ प्रबंधप्र० |

(३)
विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि)

| १ शब्दश. मू. पद प्र. वस्तुध्व. | २ शब्दश. मू. पदप्र. अलं. ध्व. | ३ शब्दश. मू. वा. प्र. वस्तुध्व. | ४ शब्दश. मू. वा.प्र० अलं. ध्व. |

(४)
विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि)

| १ (१२ भे०) अर्थश. मू. पदप्र. द्वाद. वि. ध्व. (१२), | २ (१२ भे०) अर्थश. मू. वाक्य प्र. द्वाद. वि. ध्व. (१२) | ३ (१२ भे०) = ३६ अर्थ श. मू. प्रबं. प्र० द्वाद. वि. ध्व. (१२) |

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (संलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि)
| १
शब्दार्थोभयशक्तिमूल ध्वनि

इस रीति से शुद्ध ध्वनि के ४ + ६ + ४ + ३६ + १ = ५१ भेद होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सू० ६३)—तेषां चान्योन्ययोजने ॥ ४३ ॥
संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

न केवलं शुद्धा एवैकपञ्चाशद्भेदा भवन्ति यावत्तेषां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता संशयाऽऽस्पदत्वेनानुग्राह्यानुग्राहकतयैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन सङ्करेण परस्परनिरपेक्षरूपयैकप्रकारया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिर्गुणने ।

'पदगत' और वाक्यगत' होने से दो प्रकार के हैं। इसलिये (१७×२=३४) सत्रह को द्विगुणित करने से चौंतीस (३४) भेद हो जाते हैं।

नंबर दो में अंकित 'अर्थशक्त्युत्थ' के जो बारह (१२) भेद दिखाये गये थे, वे पद और वाक्य के अतिरिक्त 'प्रबन्धगत' भी हो सकते हैं। अतः उन बारह (१२) भेदों को इन चौंतीस (३४) भेदों के साथ जोड़ देने से छियालीस भेद (३४+१२=४६) हो जाते हैं। इन छयालीस भेदों में नंवर तीन से अंकित 'उभयशक्त्युत्थ' के एक (१) भेद को मिला देने पर (४६+१=४७) सैंतालीस भेद हो जाते हैं।

इन निर्दिष्ट सैंतालीस भेदों में 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' का एक ही (१) भेद स्वीकार किया गया है, और वह 'पदगत' तथा 'वाक्यगत' रूप से इस गणना में भी आ चुका है। किन्तु उसके अतिरिक्त वह (१) पदांश, (२) वर्ण, (३) रचना, (४) प्रबन्ध में भी हो सकता है। इसलिये उपर्युक्त सैंतालीस (४७) भेदों के साथ इन चार (४) भेदों को मिला देने से इक्यावन (४७+४=५१) भेद बन जाते हैं—इसी गणित का निर्देश, ग्रन्थकार ने 'भेदास्तदेकपञ्चाशत्' (सू० ६२) के द्वारा प्रदर्शित किया है।

(सू० ६३) उन शुद्धध्वनियों के इक्यावन भेदों को परस्पर मिलाने पर तीन प्रकार के 'संकर' और एक प्रकार की 'संसृष्टि' होने से और भी अधिक भेद हो जाते हैं।

न केवलमिति । ध्वनिकाव्य के केवल शुद्ध इक्यावन भेद ही नहीं हैं, बल्कि प्रत्येक भेद का अन्य सभी भेदों से परस्पर मिश्रण भी होता है। फिर उनका परस्पर गुणन करने पर संकीर्ण ध्वनि के भेद और भी अधिक हो जाते हैं। इक्यावन प्रकार के शुद्ध ध्वनियों का परस्पर जो मिश्रण होता है वह भी एकविध नहीं है; बल्कि चतुर्विध होता है, अर्थात् संशयास्पद होने से (१) सन्देह संकर, तथा अनुग्राह्यअनुग्राहक होने से (२) अंगांगिभाव संकर, और एक व्यंजक में अनुप्रवेश होने से (३) एकाश्रयानुप्रवेशसंकर—ये त्रिविध संकर, और परस्परनिरपेक्ष होने के कारण एक प्रकार की 'संसृष्टि'—इन चारों से गुणन करने पर दस हजार चार सौ चार (५१×५१=२६०१×४=१०४०४) भेद हो जाते हैं। इसी गणित को ग्रन्थकार ने निम्न सूत्र से बताया है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सू० ६४) वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१०४०४)—

शुद्धभेदैः सह ।

(सू० ६५)—शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५) ॥४४॥

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

खणपाहुणिआ देअरजाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ॥ १११ ॥
(क्षणप्राघुणिका देवरजायया सुभग ! किमपि ते भणिता ।
रोदिति गृहपश्चाद्भागवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी) ॥ १११ ॥

(सू० ६४) शुद्ध इक्यावन भेदों के साथ 'संकर तथा संसृष्टिकृत ध्वनि के १०४०४ भेद होते हैं, यानी 'वेद-ख-अब्धि-वियत्-चन्द्राः—उपर्युक्त अंकसंख्या को ग्रन्थकार ने सू० ६४ के द्वारा शब्दों के (अक्षरों के) द्वारा बताया है। शब्दों से अंकगत संख्या को 'अंकानां वामतो गतिः' इस नियम के अनुसार समझना चाहिये। 'वेद'=४, 'ख'=शून्य, 'अब्धि'=४, 'वियत्'=शून्य 'चन्द्र'-एक अर्थात् १०४०४ इस प्रकार अंकों के लिखने में वामतः (बाँई ओर से) गति रहती है।

शुद्ध भेदैः सहेति। इन १०४०४ भेदों को शुद्ध इक्यावन भेदों के साथ जोडने पर—

(सू० ६५) 'शर'=५, 'इषु'=५; 'युग'=४, 'ख'=शून्य, 'इन्दु'=एक यानी 'अंकानां वामतो गतिः' न्याय से १०४५५ भेद होते हैं। अर्थात् शुद्ध ५१+१०४०४= १०४५५ भेद निष्पन्न होते हैं। तात्पर्य यह है कि शुद्ध ध्वनि भेद—५१ हैं, और संकीर्ण ध्वनि भेद १०४०४ हैं, दोनों को जोड देने पर १०४५५ भेद होते हैं।

ध्वनिसांकर्यविवेचन—

तत्रेति। इस रीति से ध्वनिकाव्य के भेदों का सविस्तर निरूपण करके अब ध्वनिसांकर्य का दिग्दर्शनमात्र कराने के लिए कुछ उदाहरण दे रहे हैं—

संशयास्पदध्वनिद्वयसंकर का उदाहरण—

देवर पर अनुरक्त रहने वाली कोई उपनायिका है, जो उसके घर के किसी उत्सव में आई, तो उसकी पत्नी ने उससे कुछ भली-बुरी (कड़वी) बात कह दी, जिससे वह रूठकर चली गई है। उसे मनाने के लिए कोई स्त्री उस देवर से कह रही है।

खणपाहुणिआ इति। हे देवर ! तुम्हारी पत्नी ने; 'क्षणप्राघुणिका'=घर के किसी उत्सव में अतिथिरूप में आई उस सुन्दरी से कुछ कह-सुन दिया है, उस कारण वह बिचारी दुखी होकर घर के एकान्त पिछवाडे छज्जे पर बैठी रो रही है। उस बेचारी को जाकर मना लो ॥ १११ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणेऽर्थान्तरे संक्रमितः किमनुरणनन्यायेनोपभोगे एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति सन्देहः।

अत्रानुनय इति। यहाँ पर 'अनुनय' शब्द 'उपभोग' रूप अर्थान्तर में संक्रमित होने के कारण क्या यह लक्षणामूल अविवक्षितवाच्य ध्वनि का भेद है? अथवा संलक्ष्यक्रम (अनुरणन न्याय) की रीति से रोदननिवर्तक 'अनुनय' ही वाच्यार्थ है, और उससे 'उपभोग' रूप व्यंग्य का ही व्यंजन होने के कारण 'अभिधामूलध्वनि' है यह सन्देह हो जाने से 'सन्देहसंकर' है—इस प्रकार दो ध्वनियों का सन्देह हो रहा है और इस सन्देह में ही एक अनिर्वचनीय विलक्षण चमत्कार का अनुभव हो रहा है।

विशेष विवरण—'अनुनय' तो रोदननिवर्तक व्यापार है, उससें 'संभोग' व्यंग्य हो रहा है। 'गृहपश्चात् भागे' से विजनता को व्यक्त किया गया है। क्षणप्राघुणिका' कहने से दुःखातिशय का औचित्य व्यंजित किया गया है। और अपने घर में उत्सव रहने से सब लोगों की व्यासक्तचित्तता को व्यक्त किया है। यहाँ घर के पिछवाडे छज्जे पर बैठी रोती हुई 'उपनायिका' को मनाने के लिये प्रयुक्त 'अनुनय' शब्द स्वार्थ में अनुपपन्न होकर तद्भिन्न अर्थ-यानी लक्षणा से 'उपभोग' रूप अर्थ को ही बता रहा है? अथवा 'अनुनय' का 'रोदन निवर्तक अनुनय' ही अर्थ है और 'उपभोग' व्यंग्य है? अभिप्राय यह है कि 'अनुनय' शब्द उपभोगरूप अर्थान्तर में संक्रमित हो रहा है? या संलक्ष्यक्रम के अनुसार व्यक्त हुए उपभोग रूप व्यंग्य का व्यंजक है? इस प्रकार दोनों व्यंग्यों में संदेह होने से व्यंजक ध्वनि काव्य में भी संदेह हो रहा है कि क्या यह लक्षणामूल अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य ध्वनि का उदाहरण है, अथवा, अभिधा मूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि का उदाहरण है? एवं च व्यंग्य के सन्दिग्ध रहने से क्या यह उदाहरण अविवक्षितवाच्यध्वनि का है या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का है? इस प्रकार संदेहरूप संकरालंकार है। प्रभाकार भी यही कहते हैं—कोपस्य अभावात् व्याजरूपतया उच्यमानः अनुनयः लक्षणया उपभोगप्रतिपादकः। उपभोगगतसामञ्जस्यं व्यङ्ग्यम्। अथवा बाधाभावाद् वाच्य एव उपभोगव्यंजकः। उभयथापि उपभोगे एव तात्पर्यपर्यवसानात् संदेहस्य अदोषत्वम्'। यह सन्देहसंकर ही यहाँ पर कवि को अभीष्ट है।

अङ्गाङ्गिभावसङ्कर और एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर, इन दो सङ्करों का और संसृष्टि का एक ही उदाहरण—

अब दूसरा उदाहरण 'अनुग्राह्य-अनुग्राहक' तथा 'एक व्यञ्जकानुप्रवेश' रूप संकर और संसृष्टि दोनों का एक ही उदाहरण दे रहे हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना-
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि! धीरा भव ॥ ११२ ॥

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः। ताभ्यां सह, रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यानुग्राह्यानुग्राहकभावेन

विरही रामचन्द्र की उक्ति है—

स्निग्धेति। बगुलियाँ (बलाका) जिनके समीप विहार कर रहीं हैं ऐसे और अपनी स्निग्ध एवं श्यामल कान्ति से गगनमण्डल को व्याप्त करने वाले (लीपने वाले) सघन मेघ भले ही अच्छी तरह से उमड़ते रहें, तथा जल कणों से युक्त हवा भले ही बहती रहे, एवं मेघों के मित्र मयूरों की आनन्दभरी अव्यक्त मधुर केकाएँ (आनन्दपूर्ण शब्द) भले ही सुनाई दें, पर मैं तो कठोर हृदय राम हूँ, सब कुछ सहलूँगा, किन्तु मृदुलांगी वियोगिनी वैदेही जानकी की क्या दशा होगी ? हा ! देवि, धीरज रखना ॥ ११२ ॥

अत्र लिप्तेति। यहाँ पर 'लिप्त' और 'पयोदसुहृदां' दोनों में 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यों' की 'संसृष्टि' है। उन दोनों के साथ 'रामोऽस्मि' इस 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' का अंगांगिभाव से 'संकर' तथा 'राम' पदात्मक एक व्यंजक पद में अनुप्रवेश के कारण 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' और 'रसध्वनि' का 'एकाश्रयानुप्रवेश' रूप 'संकर' हो गया है ॥

विशेष विवरण—'लिप्त' शब्द का वाच्यार्थ 'लिपा हुआ' होता है। लेकिन 'कान्ति' से लीपना नहीं होता है। इस कारण 'लिप्त' पद अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य होकर लक्षणा से 'व्याप्त' अर्थ का बोध कराता है।

तथा 'सौहार्द'—यह चेतन का 'धर्म' है। वह 'सोहार्द (मित्रत्व) धर्म' अचेतन मेघों में संभव न हो सकने से, 'वह' भी अत्यन्त–'तिरस्कृतवाच्य' होकर लक्षणा से 'सुखदायक' अर्थ को बताता है।

इन दोनों लक्ष्यार्थों का जो अतिशय है वही व्यंग है। उन दोनों व्यंग्यों की अपनी अपनी जगह पर निरपेक्ष–रूप से स्थिति है। इसलिये यहाँ पर दोनों व्यंग्यों की 'संसृष्टि' हो रही है।

'रामोऽस्मि' में 'राम' पद, 'अत्यन्तदुःखसहिष्णुत्व'-रूप अर्थान्तर में संक्रमित है। उसका 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनिभेदों' के साथ अंगांगिभाव संकर है, और उसी 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि' का 'रसध्वनि के साथ' 'एकाश्रयानुप्रवेश-रूप' संकर भी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तरसंक्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः।

अभिप्राय यह है कि 'आकाश' तो निराकार, स्पर्शरहित है, अतः उसपर 'लेपन' होना संभव नहीं है। इस कारण इस पद्य में 'लिप्त' पद का लक्षणा से 'व्याप्त' अर्थ होता है। और 'सौहार्द' (मित्रता) चेतन का धर्म है। वह पयोद (जड मेघों) में हो नहीं सकता। अतः यहाँ 'सुहृत्' का अर्थ 'आनन्द दायक' (परितोषकारित्व) है। इन दोनों में 'वाच्यार्थ'—अत्यन्ततिरस्कृत है। इसके वक्ता 'राम' हैं, अतः केवल 'अस्मि' कहने पर भी 'अहम्' पद की प्रतीति के द्वारा 'राम' का बोध हो ही जाता है। इसलिये प्रकृत में 'राम' पद का मुख्य अर्थ अनुपयुक्त होने से लक्षणा के द्वारा वह 'दुःखसहनशील' रूप अर्थ का बोधक होता है। प्रस्तुत उदाहरण में संसृष्टि (उक्त दो अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनियों) के साथ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का अनुग्राह्य-अनुग्राहक और एकव्यंजकानुप्रवेशरूप संकर के द्वारा सम्मिश्रण हो रहा है।

'संसृष्टि' तो इसलिये कही जायगी कि 'लिप्त' और 'पयोदसुहृदाम्' की जो अपनी-अपनी अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनियां हैं, अर्थात् 'लिप्त' में जो व्यंग्य हैं, वह भी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूप व्यंग्य है, क्योंकि 'आकाश' निराकार है, इसलिये वह अमूर्त है, और कान्ति का आश्रय भी नहीं है, ऐसे आकाश का 'लेपन' होना अनुपयुक्त होने से लक्षणा के द्वारा उसका अर्थ 'व्यापन' किया जाता है। इस लक्ष्यार्थ के बल पर 'आकाश' की अत्यधिक श्यामलता रूप व्यंग्य, सहृदयों के हृदय को चमत्कार का अनुभव कराती है।

उसी तरह 'पयोदसुहृदाम्' का भी 'व्यंग्य' अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य रूप ही है, क्योंकि 'वृत्ति' तो चेतन प्राणी के मन में उठा करती है। 'मेघ' तो अचेतन है, चेतन नहीं। उसमें सौहार्दरूप मनोवृत्ति कैसे संभव हो सकती है? अतः 'सुहृत्' का वाच्यार्थ बाधित रहने से 'लक्षणा' के द्वारा 'केकाध्वनि का कारण'—यह अर्थ लिया जाता है, उससे मयूरों की 'निरन्तर केकाध्वनि' रूप व्यंग्य अर्थ, चमत्कारोत्पादक हो जाता है। 'लिप्त' तथा 'पयोदसुहृदां' इन दोनों पदों में 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि' परस्पर निरपेक्षभाव से स्थित है। इसलिये दोनों भेदों की 'संसृष्टि' है। 'रामोऽस्मि' इस पद में 'राम' पद, अत्यन्तदुःख-सहिष्णुत्व आदि अर्थान्तर में संक्रमित है। 'लिप्त' तथा 'पयोदसुहृदां' पदों की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि 'रामोऽस्मि' के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि को उपकारक है। इसलिये यहाँ पर पूर्वोक्त दो अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनियों का इस तीसरे अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि के साथ अनुग्राह्य-अनुग्राहकभाव (अंगांगिभाव) संकर है।

'राम' पद से आत्मनिन्दा की ध्वनि तो 'अनुग्राह्य' है, क्योंकि कवि की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिनिर्णयो नाम चतुर्थोल्लासः ॥ ४ ॥

ऐसी ही विवक्षा है। और 'लिप्त' तथा 'पयोदसुहृदाम्' की ध्वनियाँ उसकी 'अनुग्राहक' हैं, क्योंकि राम के हृदय-स्थित रति का उद्दीपन इन्ही ध्वनियों से हो रहा है। ये ही 'राम' पद' से प्रतीयमान 'आत्मनिन्दन' रूप व्यंग्यार्थ को पुष्ट कर रहीं हैं। उसी तरह 'एक व्यंजकानुप्रवेश' रूप संकर भी है। जैसे 'राम शब्द के अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यरूप निर्वेद आदि व्यंग्य हैं, वैसे विप्रलंभरस भी व्यंग्य है। अतः उभयसाधारण्येन व्यंजक-व्यंग्यत्वेन दोनों व्यंग्यों का एक व्यंजक में अनुप्रवेश होने से संकर हो गया हैं।

अर्थात् इसी अर्थान्तरसंक्रमित 'राम' पद में दुःखपात्रता की लक्षणा द्वारा व्यज्यमान राज्यत्याग, जटा-वल्कलधारण, पितृशोक आदि से व्यंजना द्वारा प्रतीयमान शोक, आवेश, धैर्य, निर्वेद आदि व्यभिचारिभावों से परिपुष्ट हुआ विप्रलंभ प्रकाशित होता है। इसलिये 'राम' पद में अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनि तथा रसध्वनि का 'एकाश्रयानुप्रवेश' रूप संकर है।

एवमन्यदिति। इसी प्रकार 'संसृष्टि' 'संकर' आदि के अन्य उदाहरण भी जानने चाहिये।

विशेष विवरण—सूत्र ६२ में त्रिविध संकर, और एक प्रकार की संसृष्टि के द्वारा ध्वनिभेदों को सविस्तर बताया गया। ध्वनियों की संसृष्टि और त्रिविध संकरों के उदाहरणरूप में (१) क्षण प्राघुणिका, (२) 'स्निग्धश्यामल' आदि श्लोक १११ तथा ११२ दिये गये थे। इनमें से पहले श्लोक में दो ध्वनियों का सन्देह-संकर और दूसरे श्लोक में (१) अंगांगिभाव-संकर (२) एकाश्रयानुप्रवेश-संकर तथा (३) संसृष्टि के उदाहरण बता दिये गये। अर्थात् दो श्लोकों से ही त्रिविध संकर और एक प्रकार की संसृष्टि के उदाहरण बता दिये गये हैं।

श्रीमम्मटभट्टकृत-काव्यप्रकाश की रहस्यबोधिनी व्याख्या में 'ध्वनिकाव्यनिर्णय' नामका चतुर्थ उल्लास समाप्त हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पञ्चम उल्लासः

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदानाह—

(सू० ६६) अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ ४५ ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

उल्लास संगति

इस ग्रन्थ के पहिले उल्लास में 'काव्य' के तीन भेदों (१) ध्वनिकाव्य (२) गुणीभूतव्यंग्य, (३) चित्रकाव्य को बताया था । इन भेदों में से 'ध्वनिकाव्य' की संज्ञा उसको दी गई थी कि 'जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा 'व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारकारी होता है' । और उसी को 'उत्तमकाव्य' बताया गया था । उसी ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) के अनेक भेदों तथा अवान्तर भेदों का सविस्तर निरूपण 'चतुर्थ उल्लास में कर दिया गया ।

अब प्रस्तुत पंचम उल्लास में काव्य के 'द्वितीय भेद'—अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य-नामक मध्यमकाव्य के भेदों को बताया जायगा ।

गुणीभूतव्यंग्य (मध्यमकाव्य) के आठ भेद—

एवं ध्वनाविति । इस प्रकार चौथे उल्लास में 'ध्वनि' (उत्तमकाव्य) का निरूपण करने के बाद इस पंचम उल्लास में 'गुणीभूतव्यंग्य (मध्यमकाव्य) के प्रभेदों को बता रहे है—

(सू० ६६) (१) अगूढ (व्यंग्य), (२) दूसरे का अंगभूत (व्यंग्य), (३) वाच्यसिद्धि का अंगभूत (व्यंग्य), (४) अस्फुट (गूढव्यंग्य), (५) सन्दिग्ध प्राधान्य (व्यंग्य), (६) तुल्यप्राधान्य (व्यंग्य), (७) काकु से आक्षिप्त (व्यंग्य), (८) असुन्दर (व्यंग्य),— ये गुणीभूतव्यंग्य (मध्यम-काव्य) के आठ भेद होते हैं ।

विशेष विवरण—चतुर्थ उल्लास में ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) को उसके भेद-प्रभेदों के साथ बता चुके । अब गुणीभूत व्यंग्य (मध्यमकाव्य) के अवान्तर भेदों को इस पाँचवे उल्लास में प्रदर्शित कर रहे हैं । चतुर्थ उल्लास के साथ प्रस्तुत उल्लास की अवसर संगति है । संगति छह प्रकार की हुआ करती है— 'सप्रसङ्ग उपोद्घातो हेतुताऽवसरस्तथा । निर्वाहकैककार्यत्वे षोढा संगति-रुच्यते ॥' उपर्युक्त परिगणित आठ भेदों में 'अगूढव्यंग्य' (स्फुटव्यंग्य) और गूढव्यंग्य (अस्फुटव्यंग्य) – इन द्विविध काव्यों को 'गुणीभूतव्यंग्य' में ही माना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।

अगूढं यथा—

गया है । क्योंकि 'ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य' काव्यों का निर्णय सहृदयों पर ही निर्भर है । 'ध्वनिकाव्य' उसे कहा जाता है, जो सहृदयमात्रसंवेद्य हो, और जिस 'व्यंग्य' को सर्वसाधारण सामान्य व्यक्ति भी समझ ले, उस 'अगूढव्यंग्य' को गुणीभूत व्यंग्य समझा जाता है, क्योंकि उसमें 'व्यंग्य' अत्यन्त स्पष्ट रहता है । अतः वह वाच्यार्थ के समान ही रहता है । उस कारण वाच्यार्थ की अपेक्षा उसकी प्रधानता नहीं रहती । उसी प्रकार जिस 'व्यंग्य को सहृदय भी अनायास न समझ पाये, 'उस गूढ व्यंग्य' में भी चमत्कार न रहने से उसे भी (गूढ व्यंग्य या अस्फुट व्यंग्य को भी) गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ पर सहृदयों को अनायासेन 'व्यंग्य' की प्रतीति होती है उसे ही 'ध्वनि काव्य' कहते हैं । अतः काव्य की अगूढता या अतिगूढता उसके सौन्दर्य में बाधक होती है । काव्यार्थ तो कामिनी कुचकलशन्याय से होना चाहिये । जैसे--

"नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो, नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः ।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित् सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः ॥"

न तो तैलङ्ग (आन्ध्र) देश की स्त्रियों के कुचकलश (स्तनों) के समान अत्यन्त स्पष्टतया प्रकाशमान 'अगूढ व्यंग्य' शोभा देता है, और न गुजराती (गुर्जरी) स्त्रियों के स्तनों के समान अत्यन्त अप्रकाशित (बिल्कुल ही न दिखाई देने वाला) 'गूढ व्यंग्य' आनन्ददायक होता है । किन्तु महाराष्ट्र देश की स्त्रियों के कुच-कलश के समान न अधिक अस्पष्ट और न बहुत स्पष्ट, केवल सहृदयमात्र संवेद्य व्यंग्यार्थ ही सुशोभित होता है । एवं च 'कामिनीकुचकलशन्याय' से सहृदयैकवेद्य व्यंग्य को ही ध्वनि कहना योग्य है । इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार कह रहे हैं--

कामिनीति । 'महाराष्ट्रिय कामिनी' के कुचकलश के समान 'अंशतः-गूढ़ व्यंग्य' चमत्कारजनक होता है । 'आन्ध्रकामिनी' के कुचों के समान 'अगूढ़-व्यंग्य' तो अत्यधिक स्पष्ट होने से वाच्यार्थ जैसा प्रतीत होने के कारण वह गुणीभूतव्यंग्य ही होता है ।

(१) (क) अर्थान्तर-संक्रमितवाच्यरूप व्यङ्ग्य की अगूढता—

अगूढमिति । 'अगूढ व्यंग्य' का उदाहरण, जैसे—कीचक के द्वारा किये गये पराभव को बताने वाली द्रोपदी के प्रति बृहन्नलारूपधारी अर्जुन कह रहा है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्तसूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि ॥११३॥

यस्येति। शत्रुओं द्वारा की जाने वाली पाण्डुपुत्रों की निन्दा कानों में आकर तपी हुई सलाइयों के तुल्य जिसे चुभती है, वह मैं अर्जुन आज बृहन्नला के रूप में करधनी गूँथने का काम कर रहा हूँ। मैं तो इस समय जीवित रहते हुए भी मरे के समान हूँ, क्या करूँ, कुछ कर नहीं सकता हूँ। तात्पर्य यह है कि जब कीचक के द्वारा अपना अपमान किये जाने की चर्चा द्रौपदी ने अर्जुन से की तो उसको सुनकर बृहन्नलावेषधारी अर्जुन को ऐसी पीड़ा हुई मानों किसी ने गरम-गरम शलाका उसके कानों में डाल दी हो, किन्तु प्रतिज्ञाबद्ध होने के कारण वह कुछ कर नहीं सकता था। अपनी इस विवशता को इस में बता रहा है।

विशेषविवरण—'अगूढअपरस्यांगम्'–इस पैंतालिसवीं कारिका के द्वारा गुणीभूतव्यंग्य के जो भेद बताये गये हैं, उनमें से 'अगूढव्यंग्य' का अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य में यह उदाहरण उपस्थित किया है। इस पद्य की अवतरणिका को उद्योतकार कुछ भिन्न प्रकार से बताते हैं—किसी ने बृहन्नलारूपधारी अर्जुन से यह पूछा कि 'तुम अपने अभ्युदय के लिये प्रयत्न क्यों नहीं करते हो ?' तब उसके उत्तर में अर्जुन की यह उक्ति है। पूर्व निर्दिष्ट अवतरणिका सुधासागरकार की थी।

प्राचीन व्याख्याकारों ने इस पद्य का अर्थ भिन्न प्रकार से किया है—'जिस अर्जुन का शत्रु उसके डर के कारण स्वयं अपने को धिक्कारता हुआ वह स्वयं ही मेरे (अर्जुन के) शरण में आकर अपने अपराध का प्रायश्चित्त करने के लिये अपने कानों को गरम लोहशलाका से बार-बार छेद लेता था, वही मैं (अर्जुन) आज करधनी गूँथने का काम कर रहा हूँ। इस कारण मैं आज बड़ा ही निन्दित जीवन बिता रहा हूँ, पर क्या कर सकता हूँ ?

शरणागत आये हुए शत्रु का तप्त लोह शलाका से कर्णवेध देशाचारसिद्ध है–ऐसा बहुतों का कहना है। किन्तु चक्रवर्ती भट्टाचार्य का कहना है कि शरणागत की तप्तशलाका से कर्णवेधन—यह पाश्चात्यों का आचार है। अर्थात् जिस प्रतापशाली मुझ अर्जुन का पहले ऐसा प्रभाव था कि मेरे नामश्रवणमात्र से शत्रुगण अपने ही मुख से अपने को धिक्कारते हुए अपने ही हाथ से अपने कर्णों को तप्तलोहशलाका से छेद कर मेरी शरण आते थे—वह मैं इस समय करधनी गूँथने के काम पर नियुक्त हूँ। अतः जीवित रहते हुए भी नहीं के बराबर हूँ, अर्थात् मेरा जीवन श्लाघनीय नहीं है। अतः मैं क्या करूँ–ऐसा चन्द्रिका आदि व्याख्याओं में अर्थ किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ।

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बिबिम्बम् ॥११४॥

उद्योतकार ने व्याख्या की है कि "अतो जीवन्नपि न श्वासि न जीवामि"—मैं श्वास लेता हुआ भी जीवित नहीं हूँ ।

अत्र जीवन्निति । यहाँ पर 'जीवन्' यह पद 'श्लाघ्यजीवित्व' रूप (अभिमत-कार्यशक्तत्वरूप) अर्थान्तर में संक्रमितवाच्य है । उससे 'मरणमेव श्रेयः'—मरना ही श्रेयस्कर है—यह व्यंग्य निकल रहा है । अर्थात् कहने भर के लिये यद्यपि मैं जी रहा हूँ तथापि वस्तुतः मैं जी नहीं रहा हूँ, मेरा यह जीवन प्रशंसा के योग्य नहीं है । इस समय मैं वह अर्जुन नहीं हूँ, क्या करूँ । यहाँ पर 'जीवन्' इस अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य गुणीभूत व्यंग्य का 'प्रशंसनीय जीवन के अभाव में अनुताप' व्यंग्य है । यहाँ पर 'जीवन्' इस पद का वाच्यार्थ 'श्लाघ्यत्वविशिष्ट जीवन' रूप अर्थान्तर में संक्रमित हो गया है । इसका व्यंग्य 'अनुतापातिशय' है । इस अनुतापातिशयरूप व्यंग्य को असहृदय-साधारण लोग भी वाच्यार्थ की तरह समझ जाते हैं—इसलिये यहाँ 'व्यंग्य' अगूढ है । एवं च यह अगूढाख्यगुणीभूत व्यंग्य है । इस कारण यह 'अगूढव्यंग्य मध्यमकाव्य' है । यह उदाहरण—लक्षणामूलध्वनि का जो 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य' भेद है, उसके गुणीभूत होने का है । यहाँ 'जीवन्' पद की 'श्लाघ्यजीवित्व' रूप अर्थ में लक्षणा हुई है । क्योंकि जो जीवित है, उसका 'जीवनाभावबोधन' करने में बाध होता है; इसलिये उपादान लक्षणा हुई है । यहाँ 'श्लाघ्यजीवित्व' लक्ष्यतावच्छेदक है । 'नञ्' के द्वारा उसका अभाव बोधन करने से 'कष्टजीवित्व' का बोध होता है, और अनुताप के कारण ही 'जीवन' की निन्दा कर रहा है, इसलिये 'अनुतापातिशय' व्यंग्य है । वह सर्वजन वेद्य होने से अगूढ ही है ॥ ११३ ॥ (१ क)

(ख) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूप व्यङ्ग्य की अगूढता—

पुनः लक्षणामूलध्वनि के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यनामक भेद के गुणीभूत होने का उदाहरण दे रहे हैं । अर्थात् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य होने पर अगूढ व्यंग्य का द्वितीय उदाहरण दे रहे हैं ।

रतिश्रम से अलसाई नायिका को प्रातः प्रबोध का ध्यान न रहने से कोई सखी उसे कह रही है—

उन्निद्रेति । विकसित हुए लाल कमलों (कोकनद) के पराग से पिशंगित अंगों वाले ये पीले-पीले से भ्रमर घर की वापियों पर मधुर गुंजार कर रहे हैं । और सद्यो-विकसित जपापुष्प के समान यह आरक्तवर्ण सूर्यबिम्ब उदयाचल का स्पर्श करते सुशोभित हो रहा है ॥ ११४ ॥ (१ ख)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ।

अत्रेति । इस पद्य में 'उदयाचलचुम्बिबिम्बम्' कहा गया है। किन्तु 'बिम्ब' अर्थात् सूर्यबिम्ब तो अचेतन (जड) है, अतः उसमें मुखसंयोगव्यापाररूप-चुम्बन का सम्बन्ध, बाधित है। इस कारण 'चुम्बि' (चुम्बन) पद, लक्षणा के द्वारा केवल संयोगमात्र (सामान्य संयोग) को बता रहा है। अतः चुम्बनरूप अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का व्यंग्य—'उदयाचल से सूर्य का संबन्ध होने पर उषः काल का आरंभ'–बताया गया है। यह व्यंजन सर्वजनसंवेद्य होने से अगूढ है। यह व्यंग्य, बाच्यार्थ के समान ही अचमत्कारकारी रहने से इसे 'ध्वनि' काव्य न कहकर 'गुणीभूतव्यंग्य मध्यम काव्य' ही कहा जाता है। यहाँ 'मधुपाः' कहकर यह सूचित किया है कि 'मत्त भी जग गये हैं।

विशेष विवरण—'चुम्बन' का मुख्यार्थ—वक्त्रसंयोग है। अचेतन रविबिम्ब में उसका अन्वय (सम्बन्ध) न हो सकने से वह बाधित हो रहा है, अतः 'सामान्य—विशेषभावसम्बन्ध' से संयोगमात्र लक्षित होने के कारण वह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य हो गया है। यहां—व्यंग्य अर्थ है—'उषःकालारम्भ'। वह वाच्यार्थ जैसा होने से अगूढ है, इसलिये 'गुणीभूत' हो गया है। इसी अभिप्राय को प्रदीप और उद्योतकार ने भी 'संयोगत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदकस्य मुख्यार्थसाधारणत्वेऽपि प्रकृतेऽनेन रूपेण मुख्यार्थस्य अचले अनन्वयात् अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम्'—ग्रन्थ से कहा है। इसी अभिप्राय से वृत्तिकार ने कहा है—अत्रेति। वृत्तिग्रन्थमें 'चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य' के आगे 'व्यंग्यमगूढम्'–यह जोड़ लेना चाहिये। एवं च 'अगूढव्यंग्य' को मध्यमकाव्य के नाम से कहा जाता है। विवरण, विस्तारिका, सारबोधिनी आदि व्याख्याकारों ने भी इसी अभिप्राय को व्यक्त किया है। यहाँ 'गृहदीर्घिकासु' तथा 'कोकनद' आदि पदों से ध्वनित हो रहा है कि दीर्घिका के समीप रहने से गुंजार श्रवण, सुगन्ध का आघ्राण और 'कोकनद' की यौगिक व्युत्पत्ति के बल पर उपस्थापित चक्रवाकशब्दरूप जागरणसामग्री सन्निहित है। इस पर भी आलस में भरी अंगडाई लेती हुई नायिका कहती है कि मैं सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रही हूँ। तब सखी कहती है—'एतच्चकास्ति···बिम्बम्'। इस प्रकार लक्षणामूल ध्वनि के दोनों भेदों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य) से संबन्धित अगूढव्यंग्य के दो उदाहरण प्रदर्शित कर दिये ॥ ११४ ॥ (१ ख)

अब अभिधामूलध्वनि के अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमरूप व्यंग्य की अगूढता का उदाहरण दे रहे हैं—

यह पद्य राजशेखरकृत 'बालरामायण' के दशम अंक से लिया गया है। लंका से अयोध्या को लौटते समय श्री जानकी जी से भगवान् रामचन्द्र कह रहे हैं—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि ! राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥ ११५ ॥ (१)

अत्र केनाप्यत्रेत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य । 'तस्याप्यत्र' इति युक्तः पाठः।

अत्रासीदिति । हे जानकी ! हम दोनों भाइयों को यहाँ पर नाग पाश से बांधा गया था। और यहाँ पर तुम्हारे देवर लक्ष्मण के वक्षस्थल पर जब शक्ति प्रहार किया गया, तब हनुमानजी द्रोणाचल पर्वत को ले आये थे। और यहाँ पर लक्ष्मण के दिव्य बाणों ने मेघनाद को परलोक (यमपुरी) पहुँचा दिया था। और हे मृगाक्षि ! यहाँ पर किसी ने राक्षसपति (रावण) के कण्ठाटवी को काट डाला था ॥ ११५ ॥ (१ग)

अत्रकेनापीति। यहाँ पर 'केनापि' इस पद से प्रकाश्यमान जो अर्थ-शक्तिमूल 'अनुरणनरूप' संलक्ष्यक्रमव्यंग्य है, वह भी अगूढ है, यानी वाच्यार्थ की तरह ही है। अतः इसे 'ध्वनि' न कहकर 'गुणीभूत व्यंग्य' ही कहा गया है। यहाँ 'केनाप्यत्र' के स्थान पर 'तस्याप्यत्र' कहा होता तो बहुत उचित रहता ॥ ११५ ॥ (१ग)

विशेष विवरण—राजशेखर कृत 'बालरामायण' नामक नाटक के दसवें अंक में रावण को मार कर आकाशमार्ग से पुष्पकविमान के द्वारा अयोध्या को वापस जाते हुए श्रीरामचन्द्र, अपनी पत्नी सीताजी को युद्ध के तत्तद् घटनास्थलों को बता रहे हैं। एक ही समरभूमि तत्तत् पराक्रमपूर्ण कर्म की अधिकरण होने से नवनवाय-मान अद्भुत रस की आलम्बन बन गई हैं, इस कारण उक्त पद्य में 'अत्र' पद का ग्रहण पुनः पुनः किया गया है। अथवा 'अनेक अत्र' पदों से भिन्न-भिन्न स्थानों को बता रहे हैं यह भी कहा जा सकता है।

'फणिपाशबन्धनविधिः' में 'विधि' शब्द के उपादान से 'स्व-पराभव' को छिपाया है, क्योंकि 'विधि' का अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता, वह दुर्लङ्घ्य होता है। हनुमताद्रोणाद्रिरत्राहृतः' से हनुमान् के पराक्रम को प्रकट किया गया है। हनुमान्‌जी उस पर्वत पर पैदा हुई केवल औषधि ही नहीं लाये, अपितु अनेक औषधियों समेत समूचे पर्वत को ही लाकर सामने रख दिये। 'भवद्देवरे' कहकर 'भवत्' सर्वनाम के द्वारा वात्सल्योपादानत्वेन सीता के सम्बन्ध का प्रदर्शन किया गया है, जिससे 'पराभव' की जानकारी न हो सके और उपकारप्रकाशन भी हो सके। उसी तरह 'रावणपुत्र' न कहकर 'इन्द्रजित्' कहकर यह बताया कि महान् पराक्रमी देवराज इन्द्र को जिसने जीत लिया था, उस महान् प्रबल पराक्रमी वीर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गं रसादि अनुरणनरूपं वा।

को भी लक्ष्मण ने मार दिया। इससे तुम्हारे देवर लक्ष्मण का ऐसा पराक्रम-प्रकर्ष है। अर्थात् लक्ष्मण के पराक्रम-प्रकर्ष को ध्वनित किया गया है। 'कण्ठाटवी' कह कर यह बताया है कि एक कण्ठ के कटने पर पुनः दूसरा कण्ठ उत्पन्न हो जाता था, अतः पुनः उसे काटना पड़ता था, इसलिये 'अटवी' कहा गया है। अहंकार प्रकट न हो पाये इस भय से धीरोदात्त नायकस्वरूप राम ने 'मया' न कहकर 'केनापि' कहा है।

यहाँ पर 'केनापि' पद से निष्पन्न अर्थशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रम रामरूप व्यंग्य-अगूढ है। वृत्ति में उक्त 'अनुरणनरूपस्य' के आगे 'व्यंग्यस्य अगूढत्वम्' इतना जोडलेना चाहिये। 'तस्याप्यत्र' पाठ रहने पर व्यंग्य के गूढ़ हो जाने से उक्त पद्य 'ध्वनि' काव्य' के अन्तर्गत हो सकता है।

अभिप्राय यह है—'किम्' शब्द की शक्ति 'अनिर्धारित विशेष' में होती है। अतः उससे 'मया' इस व्यङ्ग्य की प्रतीति सहजतया सभी को स्फुट हो जाती है। अर्थात् उक्त उदाहरण में तीन चरणों के द्वारा अनुनायक हनुमान्, उपनायक लक्ष्मण, प्रतिनायक रावण का निर्देश होने पर भी चतुर्थचरण में धीरोदात्तनायक राम, अनुक्त रहने पर भी अर्थशक्ति से उसी की प्रतीति होती है। चतुर्थचरण में 'केनापि' कह देने से वह प्रतीयमान 'राम' प्रसिद्धिवशात् वाच्यायमान सा हो जाने से अगूढ़ हो जाता है, उसमें गूढ़ता नहीं रह पाती। अतः ध्वनिकाव्य की श्रेणी में उक्तपद्य की स्थिति नहीं हो पाती है, किन्तु 'केनाऽपि' के बजाय 'तस्यापि' कह देने पर वही पद्य, ध्वनिकाव्य की श्रेणी में गिना जा सकता है, क्योंकि तत्तत्प्रभावों के अतिशय के कारण विश्वविख्यात हुए रावण को भी पराजित कर देने के कारण धीरोदात्तनायक राम के उत्कर्ष की प्रतीति में कुछ गूढता रहती है। क्योंकि 'लक्ष्मणशरैः कृत्ता' ऐसा अन्वय करने का भी भ्रम, आपाततः हो सकता है। किन्तु तदनन्तर प्रबलप्रतापप्रभावशाली लंकाधिपति रावण को मारने वाला 'राम' ही हो सकता है, ऐसी पर्यालोचना करने पर समझ में आता है कि रावणहन्ता 'राम' है। एवं च रावणहननकर्ता 'राम' रूप व्यंग्यार्थ गूढ हो जाने से उक्त पद्य, 'ध्वनि काव्य' की श्रेणी में आ सकेगा—यह वृत्तिकार का अभिप्राय है॥११५॥(१ग)

ये तीन उदाहरण, गुणीभूतव्यंग्य के 'प्रथम भेद'—अगूढव्यंग्य के बताये गये।

अपराङ्गव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य—

(२) अब गुणीभूत व्यग्य के 'दूसरे भेद'—अपरांग व्यंग्य' के आठ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

अपरस्येति। 'अपरस्य' रसादेः वाच्यस्यवा वाक्यार्थीभूतस्य' का अर्थ इस प्रकार है—'अपरस्य रसादेः' का अर्थ है 'रस आदि के'। यहाँ 'आदि' शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥ ११६॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्य।

से 'भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता' रूप असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम' को समझना चाहिये। तथा वाच्यस्य-का विशेषण है 'वाक्यार्थीभूतस्य'। इस विशेषण का अर्थ है कि 'वाक्यतात्पर्यविषयतया प्रधानस्य' अर्थात् वाक्य के तात्पर्य का विषय होने से प्रधान बना हुआ। एवं च निष्पन्न अर्थ यह हुआ कि 'अपर' यानी रसादि अथवा वाक्य के तात्पर्यविषयीभूत वक्तव्य (वाच्य) अर्थ का, जब असंलक्ष्य क्रम रूप 'रसादि' अंग हो, अथवा अनुरणनरूप वस्तु, अलंकार आदि संलक्ष्यक्रम, अंग (उपकारक अथवा उत्कर्षक) हो तब 'अपरांगव्यंग्य' नामक गुणीभूतव्यंग्य होता है। अभिप्राय यह है कि 'असंलक्ष्यक्रम और अनुस्वानाभ संलक्ष्य क्रम' ये दोनों 'अपरांगव्यंग्य' कहलाते हैं।

(क)—अपराङ्गरूप गुणीभूतव्यङ्गय—

एक रस अन्य रस का अंग होने पर अपरांगव्यंग्यनामक मध्यमकाव्य का प्रथम उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

महा भारत में 'स्त्रीपर्व' के चोवोसवें अध्याय में रणभूमि पर कट कर गिरे हुएं भूरिश्रवा के हाथ को उठाकर उसकी वधू प्रलाप कर रही है—'यथेति'। जैसे—

अयमिति। यह वही हाथ है, जो रति क्रीडा के समय मेरी करधनी खींचा करता था, मेरे परिपुष्ट स्तनों को मसला करता था, नाभि, नितम्ब और जंघा का स्पर्श किया करता था, नीवी (वसनग्रंथी) को खोलने के लिए उत्सुक रहा करता था। (किन्तु अब वही मुझे रुलाने के लिये रणभूमि में इस दुरवस्था में कट कर गिरा हुआ है)॥ ११६॥ (२ क)

अत्रेति—यहाँ पर 'शृंगार रस', 'करुणरस' का अंग है।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में शृंगार और करुण दो रसों का वर्णन है। यहाँ स्मर्यमाण शृंगार रस, वाक्यार्थीभूत प्रकृत (प्रधान) करुणरस का अंग है। क्योंकि भूरिश्रवा की पत्नी अपने पति के कटे हुए हाथ को उठाकर प्रलाप कर रही है। इसलिए प्रकृत करुणरस ही प्रधान है, और पूर्वानुभूत रशनोत्कर्षणादि तत्तत् शृङ्गारावस्थाओं की क्रियाओं का स्मरण कर रही है। इसलिए 'शृङ्गार' स्मरणीय होकर अंग है। इसीलिये वह गुणीभूत है। यहाँ शृङ्गार का विषय 'नायिका' है और शृंगार का आश्रय 'नायक' है; क्योंकि वही तो नायिका के शोक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का प्रकर्षक है। अतः वह शृङ्गार, नायिकाश्रित 'करुण' का अंग है। क्योंकि वह 'करुण' का पोषक हो गया है।

'रशनोत्कर्षी' का विग्रह 'उत्कर्षंनीत्युत्कर्षी', 'रशनायाः उत्कर्षी' रशनोत्कर्षी। यहां पर 'सुप्यजातौणिनिस्ताच्छील्ये'—(पा० सू० ३।२।७८) सूत्र से 'ताच्छील्य' अर्थ में णिनि' प्रत्यय किया गया है।

चान्द्रिकाकार ने 'रशनाम् उत्कर्षति'—यह विग्रह किया है। इस विग्रह की भी उपपत्ति लग सकती है। यहां यह शंका हो सकती है कि सूत्र में 'अजातौ' कहा गया है। 'रशना' शब्द तो जातिवाचक है। तब 'णिनि' प्रत्यय कैसे होगा? क्योंकि 'अजातौ किम्' यह कह कर 'ब्राह्मणान् आमंत्रयिता' यह प्रत्युदाहरण प्रदर्शित किया गया है। तथापि इसका समाधान यह हो सकता है कि 'सुप्यजातौ' सूत्र में 'ताच्छील्य' के समभिव्याहार से और 'ब्राह्मणान् आमन्त्रयिता' के आनुगुण्य से 'प्राणि-जाति' का ही पर्युदास किया गया है। इसलिए 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' में 'ब्रह्म' शब्द जातिवाचक होने पर भी 'णिनि' प्रत्यय किया गया है। यहाँ पर 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'वेद' है। इस बात को तत्त्वबोधिनीकार ने स्पष्ट करते हुए नवीन के मत से 'णिनि' प्रत्यय की उपपत्ति कर दी है। अतः दूसरे विग्रह में भी 'णिनि' प्रत्यय हो सकता है।

यहां 'करुण' रस ही प्रधान है, क्योंकि 'शोक' की चर्वणता (स्पष्टता) के कारण 'करुण' ही आस्वाद गोचर हो रहा है। और 'शृगार' अंग है, क्योंकि पूर्वानुभूत शृङ्गारोचित रशनाकर्षणादिविलासस्मरण करना ही 'शोक' का पोषण कर रहा है। लोक व्यवहार में दृष्टि गोचर होता है कि अत्यन्त प्रियवस्तु नष्ट होने पर शोकातिशय हुआ करता है। एवं च 'करुण' की दृष्टि से इस काव्य को 'ध्वनि' भी कह सकते हैं। किन्तु 'शृगार स्थायी' को लेकर इसे गुणीभूत-व्यंग्य कहा गया है। शोक के आवेशाधिक्य से 'शृंगार' पुष्ट नहीं हो पाया है। चतुर्थ उल्लास में 'रसस्यांगत्वात्' कहा गया था। अतः यहां पर यह 'रसवदलंकार' हो गया है। उक्त उदाहरण के द्वारा एक 'रस', दूसरे 'रस' का अंग कैसे होता है, यह बता दिया।

(ख) रस की भावाङ्गता में अपराङ्गव्यङ्ग्य नामक मध्यमकाव्य—

अब द्वितीय उदाहरण में बता रहे हैं कि 'एक रस', 'भाव' का अंग कैसे बनता है। यहां पर रस की भावांगता में अपरांगव्यंग्य नामक मध्यमकाव्य का उदाहरण दे रहे हैं।

भगवान् भव (शिव), भवानी (पार्वती) को मनाने के लिए जब उनके पादावनत हो गये, तब पार्वतीजी का मानभंग हो जाने से उनके नेत्रों की आरक्तता नष्ट हो जाने का वर्णन प्रस्तुत पद्य में किया जा रहा है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्तितालक्तक-
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
स्पर्धाबन्धसमृद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ।। ११७ ।।

अत्र भावस्य रसः ।

कैलासेति । कैलास पर्वत पर निवास करने वाले महादेव (शिवजी) के ललाट प्रदेश (भाल प्रदेश) स्थित अग्निरूप तृतीय नेत्र की अरुण (लाल) कान्ति से जिनमें आलते (लाक्षारस) की शोभा सम्पन्न हो गई है (आलता लगा हुआ-सा प्रतीत हो रहा हैं) इस प्रकार की पार्वती के चरणों की नखकान्ति (द्युति) तुम्हारी सर्वदा रक्षा करे ।। ११७ ।।

यहाँ कवि नें उत्प्रेक्षा की है कि क्रोध के कारण पार्वती जी के नेत्रों की जो आरक्तता (लाली) है, उसको जीतने की इच्छा से ही मानों दोनों कान्तियों ने नखकान्ति से शर्त बदी हो । उस स्पर्धाबन्ध के कारण जब उन पादनखों की लाल कान्ति को अत्यधिक वृद्धिङ्गत हुई देखा, तभी पार्वती जी के नेत्र, जो क्रोध के कारण लाल कमल (कोकनद) के समान सरस लाल कान्ति को धारण किये हुए थे, उस लाल कान्ति ने अपना पराजय हुआ समझ कर वह (नेत्रों की लाल कान्ति) तुरन्त भाग खड़ी हुई । अर्थात् नख की वृद्धिगत हुई लाल कान्ति ने, नेत्रगत उस लालकान्ति को तुरन्त भगा दिया । अर्थात् पार्वती जी का क्रोध शान्त हो गया ।। ११७ ।। (२ ख)

अत्र भावस्य रस इति । यहाँ पर पार्वतीविषयक भक्ति रूप 'भाव' का शिवनिष्ठ पार्वतीविषयक 'संभोग शृंगार रस' अंग है । 'अत्र भावस्य रसः' के आगे 'अङ्गम्' जोड़ लेना चाहिये ।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में कवि ने यह भाव व्यक्त किया है कि किसी समय भगवती पार्वती रूठ गई थीं । उन्हें प्रसन्न करने के लिये भगवान् शिवजी उनके चरणों पर अपना मस्तक झुकाए हुए थे । तब शिवजी के ललाट में स्थित लाल-लाल अग्नि-रूप तृतीय नेत्र की लाल कान्ति, भगवती के नखों की स्वाभाविक लाल कान्ति पर गिरने से उन नखों की स्वाभाविक लाल कान्ति अत्यधिक लाल हो उठी । ऐसा प्रतीत होता था कि मानों दोनों कान्तियों (द्युतियों) ने आपस में होड़ (शर्त) बदी हो । अत एवं उस नैसर्गिक नखकान्ति से स्पर्धा करने वाली रुठी हुई पार्वती जी के नेत्रों की क्रोधजनित लाल कान्ति, उस नख कान्ति से अपने को पराजित समझकर अविलम्ब (तत्क्षण) भाग गई । तात्पर्य यह है कि शिवजी को पादावनत हुए देखकर पार्वती जी का क्रोध तत्क्षण दूर हो गया ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्ताऽसि तुभ्यं नमः।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥ ११८ ॥

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य।

यहाँ पर 'त्रायताम्' कहने से पार्वती विषयक 'रति' भाव, कविनिष्ठ प्रतीत हो रहा है, वही यहाँ प्रधान है। यह 'रति' (भक्ति) देवविषयक होने से 'रतिर्देवादिविषया भाव इत्यभिधीयते' के अनुसार 'भाव' रूप है। इस पद्य में महादेवनिष्ठ, पार्वतीविषयक संभोग-श्रृंगार का भी वर्णन किया गया है। क्योंकि पार्वतीजी के मानापनोदनार्थ शिवजी के जिस व्यापार का वर्णन है, वह संभोगश्रृंगार को व्यक्त कर रहा है। यहाँ पर कविनिष्ठ पार्वतीविषयक 'रति'-रूप भाव में, पार्वती-परमेश्वर का 'श्रृंगार' अंग बन गया है। क्योंकि 'कैलासालयत्व' आदि से परमैश्वर्यसंपन्न होते हुए भी अपनी नेत्रपीडा की परवाह न कर शिवजी, जिसकी प्रसन्नता प्राप्त करने के निमित्त उसके पैरों पर गिर रहे हैं, उस पार्वती के प्रति कवि के हृदय में भक्ति होना उचित ही है। अतः वही प्रधान अर्थ है, और उसी के परिपोषार्थ (भावप्रकर्षार्थं) ही यहां श्रृंगार का उपादान किया गया है। इसलिये श्रृंगार रस, यहां पर 'भाव' का अंग हो गया है। और 'रस' के अंग होने से यहां भी 'रसवदलंकार' ही है ॥ ११७ ॥ (२ ख)

(ग) 'भाव' की भावाङ्गता में अपराङ्ग व्यंङ्ग्यनामक मध्यमकाव्य—

इस तीसरे उदाहरण में यह दिखाया जायगा कि एकभाव, दूसरे भाव का अंग किस प्रकार होता है ?

जयन्तभट्टकृत दीपिका व्याख्या के अनुसार पंचाक्षरी नामक कवि ने भोजराज की स्तुति में इस श्लोक की रचना की है। भाव की भावाङ्गता में मध्यमकाव्य का यह उदाहरण है—

अत्युच्चा इति। चारों तरफ ऊँचे-ऊँचे पर्वत और विशाल समुद्र दिखाई दे रहे हैं। उन जैसे भयंकर इन भारी वस्तुओं को अपने पर धारण करती हुई भी, हे पृथ्वी! तुम किञ्चिन्मात्र भी थकती नहीं हो, ऐसी अद्भुत साहसमयी तुमको मेरा प्रणाम है। इस प्रकार आश्चर्य से अभिभूत हुआ मैं जब तक बार-बार पृथ्वी की प्रशंसा कर ही रहा था, तब तक उस पृथ्वी को भी धारण करने वाले हे राजन्! तुम्हारे भुज की याद आ गई, जो उसके भी भार को धारण किये हुए है। तब पृथ्वी की प्रशंसा (स्तुति) करती हुई मेरी वाणी कुण्ठित हो गई ॥ ११८ ॥ (२ ग)।

अत्र भूविषय इति। यहाँ पर पृथ्वीविषयक कविनिष्ठ 'रति' रूप 'भाव',

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बन्दीकृत्य नृप द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
शिलष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्त्वदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥ ११९ ॥

अत्र भावस्य रसाभास-भावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धद्योत्यौ।

कविनिष्ठ राजविषयक 'रति' रूप दूसरे 'भाव' का अंग हो गया है। अतः यह अपराङ्गव्यंग्य मध्यमकाव्य का उदाहरण है ॥ ११८ ॥

विशेष विवरण—इस उदारण के पूर्वार्ध में 'हे पृथ्वि' इस संबोधन पद का अध्याहार करना चाहिये और उत्तरार्ध में 'हे राजन्' इस पद का अध्याहार करना चाहिये। इस उदाहरण में भूविषयक कविनिष्ठ रतिभाव, राजविषयक कविनिष्ठ रतिभाव का उत्कर्षक होने से अंग हो गया है। वृत्ति में दिये गये 'रतिभावस्य' के आगे 'अङ्गम्' जोड़ लेना चाहिये। यहाँ भूविषयक भाव, राजा का वर्णन करने के लिये आरोपित होने से आहार्य है। इसीलिये वह अपुष्ट है। भाव का अंग होने से यहाँ 'प्रेयोऽलंकार' है।

(घ) रसाभास और भावाभास में भावाङ्गता होने पर अपराङ्गव्यङ्ग्य नामक मध्यमकाव्य—

अब रसाभास और भावाभास में भावाङ्गता होने पर अपरांगव्यंग्यसंज्ञक मध्यम काव्य का उदाहरण दे रहे हैं, जिसमें राजविषयक 'रतिभाव' प्रधान है, और पद्य के पूर्वार्ध से प्रकाश्य 'श्रृङ्गाराभास' तथा उत्तरार्ध से प्रकाश्य 'भावाभास' उसके अंग बन गये हैं।

बन्दीकृत्येति। कोई कवि राजा की स्तुति कर रहा है हे राजन्! आपके 'सैनिक', मृग के समान कातर दृष्टि वाली शत्रुओं की स्त्रियों को हठपूर्वक हरण करके (बन्दी बनाकर) उनके प्रियतम पतियों के सामने अर्थात् उनकी परवाह न कर उनका बलात् आलिंगन करते हैं। सैनिकों की इस धृष्टता पर जब स्त्रियाँ क्रुद्ध हो जाती हैं, तब उनके क्रोध को शान्त करने के लिए और उनको प्रसन्न करने के लिए प्रणाम करते हैं। उन सैनिकों से बचने के लिए स्त्रियों के इधर-उधर हटने पर उनको चारों ओर से पकड़ लेते हैं। और धृष्टतापूर्वक बलात् उनका चुम्बन करते हैं, और तुम्हारे शत्रु यह कहकर तुम्हारी स्तुति करते हैं कि हे औचित्य के समुद्र! अर्थात् उचित कार्य के करने वाले हे राजन्! हम सबके पुण्यपुञ्जों से हम आपको देख पा रहे हैं। अतः आपके दर्शन से अब हमारी समस्त विपत्तियाँ नष्ट हो गई हैं ॥ ११९ ॥ (२ घ)

अत्र भावस्येति। यहाँ पूर्वार्ध में सैनिकों का अननुरक्त पर-स्त्री-विषयक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥ १२० ॥

शृङ्गाराभास, और उत्तरार्ध में शत्रुनिष्ठराजविषयक रतिरूप भावाभास, ये दोनों कविनिष्ठ राजविषयक 'रति' भाव के अंग बन गये हैं।

विशेष विवरण—उक्त पद्य के पूर्वार्द्ध में राजा के सैनिकों का शत्रु की स्त्रियों के साथ जो शृङ्गार का वर्णन किया गया है, वह अनौचित्य से प्रवर्तित होने के कारण 'रसाभास' है। क्योंकि अनुरक्त स्त्री के प्रति की गई रति से तो रसनिष्पत्ति हो सकती है, किन्तु अननुरक्त शत्रुस्त्रियों के प्रति प्रदर्शित रति से रसाभास ही व्यक्त हुआ है, रस नहीं।

इसी तरह पद्य के उत्तरार्ध में प्रत्यर्थियों यानी शत्रुओं द्वारा प्रकृत राजा की स्तुति की गई—बताया है। किन्तु वह भी अनौचित्य से प्रवर्तित होने के कारण 'भावाभास' ही है।

इस पद्य में 'रसाभास' तथा 'भावाभास' दोनों ही अप्रधान (अंग) हैं। प्रधान (अंगी) तो कविनिष्ठ राजविषयक 'रति' है। कवि, राजा की स्तुति कर रहा है; इसलिए कविनिष्ठ राजविषयक रति ही प्रधान है। इस कारण रसाभास तथा भावाभास दोनों ही उसके अंग हैं। अतः यह अपरांगव्यंग्यरूप गुणीभूत-व्यंग्य का उदाहरण है। यहाँ रसाभास या भावाभास के अंग बन जाने से 'ऊर्जस्वी' नाम का अलंकार है।

यहाँ 'पश्यतां प्रेयसाम्' में 'षष्ठी चानादरे'—(पा० सू० २।३।३८) सूत्र से अनादर के अर्थ में षष्ठी विभक्ति की गई है। 'औचित्यवारांनिधे !' यहाँ 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्'—(पा० सू० ६।३।१४) सूत्र से बाहुलकात् 'षष्ठी' का अलुक् यानी षष्ठी का लोप नहीं हुआ है। चतुर्थ उल्लास के 'एषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारांनिधौ' में भी षष्ठी का अलुक् हुआ है।

(ङ) भावाङ्गभावशान्तिव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य—

अब 'भावशान्ति' जहाँ 'भाव' का अंग बन जाती है ऐसे 'अपरांगव्यंग्य' नामक मध्यमकाव्य का उदाहरण दे रहे हैं—

अविरलेति। हे राजन् ! तुम्हारी अनुपस्थिति में यानी तुम्हारे परोक्ष में निरन्तर तलवार चलाने, तथा भ्रुकुटियों को चढ़ाकर काटो-मारो-तोड़ो-फोड़ो आदि तिरस्कार पूर्ण वाक्यों से डराने, और पुनः पुनः हुंकार-सिंहनादरूपी गर्जनाओं के द्वारा तुम्हारे शत्रुओं का बड़ा अभिमान दिखलाई देता था, किन्तु अब तुम्हें देखते ही वह अभिमान, क्षणभर में न जाने कहाँ उड़ गया ॥ १२० ॥ (२ ङ)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

अत्र भावस्येति । यहाँ पर शत्रुओं के 'मद' भाव का प्रशम यानी 'भावशान्ति', अंग है, और कविनिष्ठ राजविषयक 'रति' भाव, प्रधान है । इसलिए 'रति' भाव का 'भावशान्ति' अंग बन गया है । अतः यह अपरांगव्यंग्य का उदाहरण है । यहाँ पर 'भाव प्रशान्ति' के अंग होने से 'समाहितालंकार' है ।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में 'कम्पनैः-गर्जनैः' इत्यादि तृतीया विभक्ति,-'अभेद' के अर्थ में 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्'—वार्तिक से की गई है, जैसे 'धान्येन स्वर्णेन वा धनवान्' में अभेदार्थक तृतीया होती है । 'मदो रेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः'—उक्त कोश के अनुसार 'मद' शब्द यद्यपि 'गर्व' का वाचक है, तथापि यहाँ पर अभेदार्थकतृतीयाविभक्त्यन्त 'कम्पनैः, तर्जनगर्जनैः' पदों के अर्थों के साथ सामानाधिकरण्य की उपपत्ति लगाने के लिए 'मद' शब्द को 'मदकार्य' परक समझना चाहिये—ऐसा उद्योतकार का अभिप्राय है । किन्तु चन्द्रिकाकार ने करणार्थक तृतीया मानकर 'कम्पन, तर्जन, गर्जनादि चिह्नों (लिंगों) से प्रतीयमान जो शत्रुमद, वह तुम्हें देखते ही तत्क्षण कहीं भाग गया'—ऐसी व्याख्या की है ।

वृत्तिकार ने 'अत्र भावस्य भावप्रशमः' लिखा है । 'भावप्रशमः' का अर्थ 'भावस्य प्रशमः शान्तिः' अर्थात् 'भावशान्तिः' है । वह 'भावशान्ति'—यहाँ पर 'रतिभाव' के प्रति 'अंग' हो गई है ।

(शंका)—उक्त पद्य में 'स मदो गतः' कहने से वह 'मदाख्य गर्वरूप' भाव का प्रशम तो 'वाच्य' हो गया है, तब उसे व्यंग्य कैसे कहा जायगा ?

(समा०)—कम्पनादिरूपमद के अर्थ को बतानेवाले 'कम्पनैः, गर्जनैः'—अभेदार्थक इन दोनों तृतीयाओं से 'मद' शब्द गर्वाख्यभावकार्यपरक है । अर्थात् गर्वाख्य जो भाव, उसका जो कम्पन-तर्जन-गर्जनात्मक कार्य, तत्परक है । इसलिए 'गर्वप्रशम' व्यंग्य ही है, वाच्य नहीं है । गर्व के कार्यरूप कम्पनादि का प्रशम होने पर (शान्त होने पर) गर्व का प्रशम (शान्ति) व्यंग्य है, यह अर्थात् सिद्ध हो जाता है । अतीत अर्थ वाले 'ददृशे' पद का उपादान करने से 'गर्वाख्यभाव' (मद) पुष्ट नहीं हो पाया है । अथवा आहार्य होने से भी उसे अपुष्ट कह सकते हैं ।

चन्द्रिकाकार ने जो यह कहा है कि "अत्र गत इत्यनेन अचेतने मदे मुख्यार्थबाधात् 'नाशो' लक्ष्यते । तदतिशयश्च व्यङ्ग्यो राजविषयकरतिभावस्याङ्गम् ।" अर्थात् 'गतः' का मुख्यार्थ गमन, अचेतन 'मद' में बाधित होने से 'गतः' पद से लक्षणा के द्वारा 'नाश' अर्थ लक्षित किया गया है; और 'उसका अतिशय'-व्यंग्य है, जो राजविषयक रतिभाव का अंग है । अतएव वृत्तिकार ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां
कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते।
अन्याभिधायि तव नाम विभो! गृहीतं
केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम्॥ १२१॥

अत्र त्रासोदयः।

'प्रशमः' कहा है। चन्द्रिकाकार के व्याख्यान का अनुसरण करके सुधासागरकार ने भी कहा है कि "ननु गत इति प्रशमस्य वाच्यतया कथं भावप्रशमतेति चेत्? उच्यते—गत इत्यनेन गमनस्य मुख्यार्थस्य बाधाच्छान्त इत्यर्थोलक्ष्यते। तेन प्रशमातिशयो व्यज्यते इति।" किन्तु ये दोनों व्याख्यायें उचित प्रतीत नहीं हो रही हैं। वृत्तिकार ने 'भावस्य भावप्रशमः' कहकर 'प्र' शब्द को अतिशयार्थक बताया है। 'अतिशय' का व्यंग्य होना नहीं बताया है। किन्तु 'प्रशम' शब्द से 'शान्तिमात्र' विवक्षित है और शान्तिमात्र की व्यंग्यता विवक्षित है। अतएव 'रस-भावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः' इस बयालिसवें सूत्र में और 'भावस्यशान्ति-रुदयः' इस पचासवें सूत्र में केवल 'शान्ति' पद का ही ग्रहण किया है। इसीलिए प्रदीपकार ने—'अत्र भावस्य भावप्रशमः' इस वृत्ति की व्याख्या करते हुए कहा है कि "अत्र वैरिणो गर्वरूपो भावः, तस्य 'शमो' राजविषयकरतिभावे अङ्गम् इत्यत्र 'शम' पदमेवोपात्तम्, न तु प्रशमपदम्। तथा च वृत्तौ 'प्र' शब्दार्थोऽविवक्षित एवेत्यर्थसिद्धम् इति॥ १२०॥

(च) भावाङ्गभावोदयव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य—

भावोदय की भावाङ्गता होने पर अपराङ्गव्यंग्य संज्ञक—मध्यम काव्य का उदाहरण—

साकमिति। हे राजन्! तुम्हारा शत्रु, अपने मित्रों सहित मृगनयनी कान्ता के साथ मद्यपान की लीला में जैसे ही प्रवृत्त हुआ, वैसे ही श्लेष से (अनेकार्थक होने के कारण) अन्य अर्थ का अभिधायक (वाचक) तुम्हारा नाम, किसी व्यक्ति के द्वारा किसी कार्यवश उच्चारण करते ही वहाँ पर (मधुपान गोष्ठी में) एकाएक विषम अवस्था पैदा हो गई। अर्थात् तुम्हारा नाम कान पर पड़ते ही सब लोग घबड़ा गये, इधर-उधर भाग खड़े हुए॥ १२१॥ (२ च)

अत्रेति। यहाँ पर 'त्रास' रूप भाव का उदय, कविनिष्ठराजविषयक 'रति' भाव का अंग बन गया है। अतः यह उदाहरण भी 'अपरांगव्यङ्ग्य' नामक गुणी-भूतव्यंग्य का है।

विशेष विवरण—यहाँ पर सहसा उत्पन्न हुई विषमावस्था से व्यंग्य होने वाले 'त्रास' रूप व्यभिचारीभाव का उदय हुआ है, और वह कविनिष्ठ राज-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।
प्रमोदं वो दिश्यात्कपटवटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥ १२२ ॥

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः ।

विषयक 'रति' भावका अंग है। यहाँ पर 'भावोदय' के अंग होने से 'भावोदय' संज्ञक अलंकार है ॥ १२१ ॥

(छ) भावांगभावसन्धिव्यंग्यरूप गुणीभूतव्यंग्य—

भावसन्धि की भावाङ्गता में अपरांगव्यङ्ग्य संज्ञक मध्यमकाव्य का उदाहरण दे रहे हैं—भगवान् शिव की प्राप्ति के लिए तपश्चरण करती हुई पार्वती के समक्ष कपटवेष धारण कर आये हुए शिवजी का वर्णन इस पद्य में किया जा रहा है:—

असोढेति । उस बाल्यकाल में पार्वती के द्वारा की जाने वाली कठोर तपस्या की असहनीयता को देखकर शिवजी द्रवित हो गये, अतएव पार्वती के द्वारा अनुभूयमान दुःख को सहन न कर सकने वाले शिवजी, तत्काल ही पार्वती जी के मनोरथ की पूर्ति कर देने के लिए उद्यत हो उठे। किन्तु साथ ही पार्वती जी की शिव के प्रति अनुरागपरक विश्वस्त रूप से की जाने वाली बातों का रस लेने वाले शिवजी, एक ओर तो पार्वती के बाल्यकाल की सुकुमारता के कारण कठोर तप की असहनीयता को देखकर अपने कपटपूर्ण ब्रह्मचारी के वेष को त्याग कर फलदान करने में विलम्ब की अक्षमता से होने वाली त्वरा, और दूसरी ओर अनुराग भरी बातों के रसास्वाद के कारण उस कपटवेष के परित्याग करने में शिथिलता, इस प्रकार त्वरा और शिथिलता दोनों से ही युगपत् आक्रान्त हुए स्मरहर शिवजी तुम्हें आनन्दित करें।

अत्रावेगेत्यादि। यहाँ पर 'त्वरा' और 'शैथिल्य' पदों से गम्यमान स्मरहरगत 'आवेग और धैर्य' इन दो भावों की सन्धि, कविनिष्ठ शिवविषयक रति-भाव की अंग है। यहाँ पर 'त्वरा' से 'आवेग' और 'शैथिल्य' से 'धैर्य' गम्य है। आवेग और धैर्य के आहार्य होने से उक्त दोनों भाव अपुष्ट हैं। भावसंधि के अंग होने से 'भावसन्धि' अलंकार है।

विशेष विवरण—यह पार्वती मुझे ही पाने के लिए इतनी कठोर तपस्या कर रही है यह देखकर शिवजी के मन में एक ओर तो यह भाव उत्पन्न हुआ कि मैं कपट से धारण किये हुए अपने ब्रह्मचारी के वेष को दूर कर स्वयं को क्यों न प्रकट कर दूँ कि मैं ही तो वह शिव हूँ, जिसकी प्राप्ति के लिए तुम ऐसे उग्र तप को कर रही हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पश्येत्कश्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः कासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कश्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥ १२३ ॥

किन्तु दूसरी ओर यह भाव उत्पन्न हुआ कि पार्वती की मेरे प्रति अनुरागपूर्ण बातें इस अज्ञात रूप में हीं सुनी जा सकती हैं। इसलिए पूर्वसंकल्प को रोक लेते हैं। इस प्रकार शिवजी के मन में 'त्वरा' और 'शैथिल्य' इन दो भावों की सन्धि है।

(ज) भावाङ्गभावशबलताव्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यंग्य—

भावशबलता के भावाङ्ग होने पर अपरांगव्यंग्यसंज्ञक मध्यमकाव्य का उदाहरण दे रहे हैं। इस पद्य में कोई कवि, किसी राजा की स्तुति करता हुआ उसके वननिवासी शत्रु की उभरते यौवनवाली कन्या की अवस्था का वर्णन कर रहा है। वह उद्भिन्नयौवना कन्या जब वनमें फल-फूल, किसलिए इकट्ठा कर रही थी, तब वहाँ किसी कामुक के प्रति उसके मन में अनुराग हो गया। उस समय कामुक से कन्या के द्वारा की जाने वाली बातों का वर्णन कवि कर रहा है—

पश्येदिति। (१) कामुक पुरुष जब उसको एकान्त में पकड़ना चाहता है तो वह कन्या उससे मना करती हुई कहती है—'अरे! कोई देख लेगा'—(शंका)।

(२) फिर भी कामुक उसके समीप आ जाता है, तो वह कहती है—'अरे! चपल! हट जा'—(असूया), इससे प्रेमभरी असूया सूचित होती है।

(३) कहीं निराश होकर यहाँ से वह चल ही न दे, इसलिए कन्या कहती है—'अरे! जलदी क्या है? इतने अधीर क्यों हो रहे हो?—(धृति)

(४) फिर उसे याद आती है कि 'मैं कुमारी हूँ',—इस प्रकार से प्रेमलीला करना मेरे लिए उचित नहीं है—(स्मृति)

(५) किन्तु शीघ्र ही वह कामपरवश होकर कहने लगी कि 'मुझे हाथ का सहारा दो यानी पकड़ लो—(श्रम)

(६) आत्मसमर्पण कर चुकने पर अपनी दीनता को प्रकट करने लगी कि 'ह-ह-हा'—(दैन्य)

(७) अनन्तर उसे विवेक (ज्ञान) पैदा होता है, और कहती है कि 'कुमारी-पन में कन्या का यह आचरण, कुलमर्यादा का 'अतिक्रमण यानी उल्लंघन' है।—(विबोध)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र शङ्काऽसूयाधृतिस्मृतिदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता ।

---

(८) जब वह कामुक निराश होकर वहाँ से चल देता है, तब उत्सुक होकर कहती है कि 'अरे, तुम कहाँ जाते हो ? (औत्सुक्य) ।

हे राजन् ! आपके भय से भाग कर बन का आश्रय लिये हुए शत्रु के भोजन, आभूषण आदि के लिये फल, फूल किसलय आदि को तोड़ती हुई कन्या अपने किसी कामुक से इस प्रकार कहती है ॥ १२३ ॥ (२ ज)

अत्रेति । यहाँ पर 'पश्येत् कश्चित्' से (१) शंका, 'चल चपलरे' से (२) असूया, 'का त्वरा' से (३) धृति, 'अहं कुमारी' से (४) स्मृति, 'हस्तालम्बं वितर' से (५) श्रम, 'ह ह हा' से (६) दैन्य, 'व्युत्क्रमः' से (७) विबोध, और 'क्वासि यासि' से (८) औत्सुक्य—इन आठ भावों की शबलता (मिश्रण) है, और यह 'भावशबलता, कविनिष्ठ स्तूयमान राजविषयक 'रति' भाव की अंग है । ये ही रसवदादि अलंकार हैं ।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में 'पश्येत् कश्चित्'—कोई आदमी देखलेगा—इस शंका से 'संगोपनीय पुरुषचेष्टा' व्यंग्य हुई । चल चपल रे'—अरे चपल अर्थात् स्वच्छन्दाचरण शील चल-हट—से काकुविशेषसहकृत होने के कारण रागानुविद्ध असूया' व्यंग्य हो रही है । 'का त्वरा' यह कथन, सत्वर जिगमिषा निवारणार्थ है—इससे 'धृति' व्यंग्य है । 'अहं कुमारी' के आगे 'अस्मि' जोड़ लेना चाहिये, इससे मुझ कुमारी कन्या को ऐसी स्वतंत्रता उचित नहीं है, यह 'स्मरण' व्यंग्य है । 'हस्तालम्बं वितर'—हस्तरूप अवलम्ब दो—यह कहकर 'श्रम' को व्यंजित किया गया है । 'ह ह हा' इस प्रकार के वाक्यप्रयोगजनक भाव से 'दैन्य' व्यंग्य हो रहा है । 'व्युत्क्रम' अर्थात् कन्यागमनरूप विपरीत आचरण हो रहा है,—यह कहकर 'विबोध' व्यंग्य हुआ है । 'क्वासि' (क्व + असि) यहाँ 'असि' पद 'त्वम्' के अर्थ में विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है । जैसे तीसरे उल्लास के बीसवें श्लोक में 'अत्रास्मि करोमि सख्यः' अंश का 'अस्मि' पद 'अहम्' के अर्थ में विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है । 'क्वासि यासि'—कहाँ जा रहे हो—से 'औत्सुक्य' व्यंग्य हुआ है । इसके द्वारा पूर्व-पूर्व भाव का उपमर्द करके उत्तर-उत्तर भाव का उदय बताया गया है । यहाँ 'भावशबलता' के अंग होने से 'भावशबलता' अलंकार है । चतुर्थ उल्लास के बयालिसवें सूत्र की वृत्ति में 'ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्ते' ऐसा पहिले जो कहा था, उसी को यहाँ पर 'एते च रसवदाद्यलंकाराः' से बताया गया है । अर्थात् गुणीभूत हुए ये 'रसादि' ही 'रसवद् आदि अलंकार' कहलाते हैं । (१) रसवत् , (२) प्रेयस् , (३) ऊर्जस्वी, (४) समाहित, (५) भावोदय, (६) भावसंधि, (७) भावशबलता—ये सात 'रसवदलंकार'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एते च रसवदाद्यलङ्काराः। यद्यपि भावोदयभावसन्धिभावशबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्।

हैं। चौथे उल्लास में 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि' का प्रतिपादन करते समय 'रस' के साथ ही रसाभास, भाव, भावाभास और भावशान्ति आदि का भी उल्लेख किया गया था। वहीं पर यह भी बताया था कि 'जहाँ 'अन्य वाक्यार्थ' की प्रधानता रहने पर रस आदि' उसके अंग बन जाते हैं, तब वहाँ 'गुणीभूतव्यंग्य' समझा जाता है। और वहाँ पर 'रस' जब 'अन्य का अंग' हो जाता है तब वहाँ उसे 'रसवत्' अलंकार कहा जाता है। तथा 'भाव' जब 'अन्य का अंग' हो जाता है, तब उसे 'प्रेय' अलंकार कहा जाता है। और 'रसाभास तथा भावाभास' जब 'अन्य के अंग' हो जाते हैं, तब उन्हें 'भावशान्ति' अलंकार कहा जाता है, और 'भावशान्ति' आदि जब अन्य के अंग हो जाते हैं, तब उन्हें 'समाहित' आदि अलंकार कहते हैं। इनके उदाहरणों को 'गुणीभूतव्यंग्य' के प्रसंग में बताया जायगा' ऐसी प्रतिज्ञा ग्रन्थकार ने की थी। तदनुसार ग्रन्थकार ने 'अपराङ्गव्यंग्य' नामक गुणीभूतव्यंग्य का निरूपण करते हुए तदनुरूप आठ उदाहरणों को बता दिया। उसी का स्मरण ग्रन्थकार एते इति। 'एते रसवदाद्यलंकाराः' से करा रहे हैं। अर्थात् ये ही पूर्वोक्त रसवदादि अलंकार हैं।

शंका—महिमभट्ट, भामह आदि प्राचीन आलंकारिक आचार्यों ने तो 'गुणीभूतो रसो रसवत्' 'भावस्तु प्रेयः' रसाभावाभासौ ऊर्जस्वि' 'भावशान्तिः समाहितः'—कह कर 'रसवत् अलंकारों' में उक्त चारों को ही गिनाया है। भावोदय, भावसन्धि, तथा भावशबलता' को नहीं गिनाया है। अतः रसवदादि अलंकार के पाँच ही उदाहरण ग्रन्थकार को देने चाहिये थे। भावोदय आदि के तीन उदाहरण अधिक क्यों बताये ?

समाधान—श्रीमम्मट भट्ट ने उक्त शंका के समाधान में यह कहा है कि शंका करने वाले की शंका ठीक है। यद्यपि पूर्वोक्त चारों का परिगणन रसवदादि अलंकारों में स्पष्टतया किया गया है, तथापि जहाँ 'भावशान्ति' को 'समाहित' अलंकार' के नाम से कहा है, वहाँ 'समाहित' पद 'भावोदय आदि शेष तीनों का भी उपलक्षण हो सकता है, क्योंकि उन तीनों में भी अलंकार का 'परोत्कर्षकत्व' रूप बीज निहित है, इसलिए इन तीनों का भी रसवदादि अलंकारों में गिनना अनुचित न होगा। इसी अभिप्राय से उनके भी उदाहरणों को यहाँ बताया गया है। इसी बात को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

यद्यपीति। महिमभट्ट आदि प्राचीन अलंकारशास्त्रियों ने यद्यपि 'भावोदय 'भावसन्धि' तथा 'भावशबलता को 'रसवदादि' अलंकार नहीं कहा है, तथापि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः, यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्रभेदादिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति, तथाऽपि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती'ति क्वचित्केनचिद्व्यवहारः।

अन्य रसवदादि अलंकारों के समान ये भी दूसरे के उत्कर्षकारक होते हैं। एवं च गुणीभूत रसादि के समान भावोदय आदि में भी अलंकारत्व व्यवहार के बीजरूप परोत्कर्षकत्व के घटित होने से विनिगमनाविरहात् भावोदय आदि में भी अलंकारत्व है—ऐसा यदि कोई बुद्धिमान् कह दे, तो उन्हें क्या उत्तर दिया जायगा? इसलिये यहाँ पर रसवदादि अलंकारों के प्रसंग में उन तीनों को भी बता दिया है।

विशेष विवरण—अलंकारसर्वस्वकार ने भावोदय, भावसंधि, भावशबलता तीनों को उन्हीं के अपने नाम पर ही पृथक अलंकार के रूप में बताया है।

एवं च वृत्तिकार का आशय यह है—भावोदय आदि तीनों में अलंकारत्वव्यहार के लिये परोत्कर्षकत्वरूप बीज के विद्यमान रहने पर भी उन्हें यदि अलंकार नहीं कहें तो प्राचीन लोग कहेंगे कि इन्हें उनका ज्ञान नहीं है, अतः नहीं बता पाये—यह आक्षेप हमारे ऊपर लगाया जायगा। परन्तु वस्तुतः रसवदादि अलंकार प्राचीनों को ही मान्य हैं। ग्रन्थकार को मान्य नहीं है। अलंकार उन्हीं को जाता है, जो अंगोपकार द्वारा अंगी के उपकारक होते हैं। इसीलिए अष्टम उल्लास में (सू० ८८) 'अंगद्वारेण' कहा गया है। ये तो गुणों की तरह साक्षात् उपकारक होने से इनमें अंगोपकारद्वारक अंग्युपकारकत्व नहीं है। इसलिए इनमें गुणीभूतव्यंगत्व ही है—ऐसा सुधासागरकार का कहना है। नरसिंह ठक्कुर ने भी कहा है कि वृत्तिकार ने 'कश्चित्' शब्द के प्रयोग से यह सूचित किया है कि यह 'पर-मत' है। हमारे मत में रसवदादिकों का अलंकारत्व नहीं है। भावोदयादि में भी अलंकारता नहीं है।

शंका—'अयं स रशनोत्कर्षी' में प्रकरणगम्य करुण की प्रधानता रहने से ध्वनित्व है, तब उसे गुणीभूतव्यंग्य क्यों कहा गया है? उक्त शंका का समाधान, 'यद्यपि सः' ग्रंथ से दिया जा रहा है। अथवा ऐसी भी शंका हो सकती है कि जहां रसध्वनि होती है, वहाँ भावध्वनि भी अवश्य रहता है। अर्थात् किसी प्रधान व्यंग्य को लेकर ध्वनित्व और किसी अंगभूत को लेकर गुणीभूत व्यंग्यत्व—इन दो निमित्तों का समावेश रहने से विनिगमना-विरहात् व्यपदेश (नामकरण) का नियम कैसे हो सकेगा? इस शंका के निरसनार्थ कह रहे हैं—

समाधान—यद्यपि स इति। यद्यपि ऐसा एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा जिसमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य का (उत्तम-मध्यम काव्य का) अपने अवान्तर भेद (प्रभेद) 'आदि' शब्द से विजातीय प्रभेद के साथ अंगांगिभावरूप संकर या दोनों के प्रधान रहने पर संसृष्टि न हो। फिर भी 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' प्रधानता को ध्यान में रखकर नामकरण किया जाता है—इस नियम के अनुसार कहीं किसी विशेष नाम से व्यवहार किया जाता है। अर्थात् एक उदाहरण में दो या अधिक भेदों के होने पर भी जो प्रधान या अधिक चमत्कारजनक होता है उसी के अनुसार उसका नामकरण या व्यवहार हुआ करता है। 'यत्र यन्मुखेन चमत्कारस्तत्र तेनैव व्यवहारः'। एवं च अंगभूत रसादिकों का चमत्कृतिरूप आतिशय रहने पर गुणीभूतव्यंग्यत्व और अंगी का चमत्कृतिरूप आतिशय रहने पर ध्वनित्व का व्यवहार होना है। एवं च 'अयं स रशनोत्कर्षी' में करुणरस की ध्वनि रहने पर भी गुणीभूतव्यंग्य शृंगार का ही चमत्कारास्वादन होने से उसी के नाम से व्यवहार किया गया है, ध्वनित्वेन उसका व्यवहार नहीं किया गया। अब चमत्कारोत्पादकता किसमें है—इसका निर्णय तो सहृदयों का हृदय ही कर सकता है। अतः 'अयं स रशनोत्कर्षी' में करुण की मुख्यता रहने से उसी की प्रधानता है—यह कहने वालों का खण्डन हो जाता है। क्योंकि कवि का संरंभ, शृङ्गार के वर्णन में है—ऐसा सारबोधिनी-नरसिंहमनीषा आदि व्याख्याओं में कहा गया है।

(घ) शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य अलंकारध्वनि की वाच्यांगता—

अभी तक जो उदाहरण प्रदर्शित किये गये उनमें 'एक असंलक्ष्यक्रम रसादि-ध्वनि', दूसरे 'व्यंग्य भावादि ध्वनि' का अंग हो रहा है—यह बताया गया था। इसलिए वे 'रसवदलंकारों' के उदाहरण थे। रसवदलंकारों का विशेष महत्त्व होने के कारण ही उनके उदाहरणों को बड़े विस्तार से प्रदर्शित किया गया। अब उसी अपरांगव्यंग्य के दो उदाहरण और उपस्थित कर रहे हैं। इनमें क्रमशः संलक्ष्य-क्रमव्यंग्य अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि दोनों, वाच्य के अंग हो रहे हैं। वैसे तो वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि व्यंग्य हैं, किन्तु वे वाच्य का अंग बन गये हैं। इसलिए ये दोनों अपरांगव्यंग्यरूप गुणीभूत व्यंग्य के उदाहरण हैं।

शब्दशक्तिमूल अनुरणनरूप उपमालंकार (लक्ष्यक्रम) के वाच्यांग होने पर अपरांगव्यंग्यरूप मध्यम काव्य का उदाहरण दे रहे हैं—

क्षेमेन्द्रकृत कविकण्ठाभरण के अनुसार भट्टवाचस्पति का यह पद्य है। राज-सेवा से निर्विण्ण हुए किसी कवि की यह उक्ति है। कवि किसी भिक्षुक के मुख से रामचन्द्रजी के साथ उनके साम्य का वर्णन करवा रहा है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।
कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ।। ११४ ।।

अत्र शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः ।

जनस्थाने इति । भगवान् रामचन्द्र कनकमृग (सुवर्णमृग) की तृष्णा में विवेकहीन होकर दण्डकारण्य के स्थानविशेषरूप जनस्थान में उसके पीछे भागते फिरते थे, और मैं भी उनके समान कनक (सुवर्ण=सोने) की मृगतृष्णा में (धन की प्राप्ति के लिए) विवेकशून्य होकर जनस्थान में (नगरों में) भटकता फिरा। और सीता का अपहरण होने के बाद रामचन्द्र जी रोते हुए तथा बार-बार, पग-पग पर 'वैदेहि !' हे वैदेहि ! पुकारते-कहते फिरते थे, तथा मैं भी धनियों के सामने धन की याचना करते हुए आँखों में आँसू भरे हुए पग-पग पर बार-बार 'दीजिये' 'दीजिये' इस प्रकार पुकारता हुआ (वै) निश्चितरूप से कहता फिरता था। रामचन्द्रजी ने रावण की (लङ्काभर्तुः) दससंख्यावली मुखपङ्क्ति पर (वदनपरिपाटी पर), बाणों का प्रयोग (इषु घटना) किया था। उसी तरह मैंने भी धूर्त धनियों के (काभर्तुः) मुख की भावभङ्गियों पर अर्थात् इशारों पर (वदन-परिपाटी पर) उनकी इच्छानुसार सारा व्यवहार (घटना अलम्) किया (कृता)।

इस प्रकार मैंने राम के समान ही सब कार्य किये, और रामत्व (रामसदृशता) तो प्राप्त कर लिया, किन्तु मैंने राम की तरह 'कुश-लवसुता' नहीं पाई। अर्थात्—रामचन्द्रजी ने 'कुश-लवौ सुतौ यस्याः सा'=कुशलवसुता यानी सीता को प्राप्त किया। 'तु' किन्तु मैंने 'कुशलं प्रचुरं वसु धनं यस्य तत्'=कुशलवसु, तस्य भावः = कुशल-वसुता यानी विपुलधनता को 'न अधिगता' अर्थात् नहीं प्राप्त किया ।। १२४ ।। (२ झ)

अत्रेति । यहाँ राम के साथ भिक्षुक का उपमानोपमेयभाव, शब्दशक्तिमूल-संलक्ष्यक्रमव्यंग्य है। उसको 'मयाप्तं रामत्वं' कहकर वाच्यार्थ का अंग बना दिया है। इसलिए यह वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्यरूप गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण हो गया है।

विशेष विवरण—इसमें संलक्ष्यक्रमव्यंग्य अलंकार ध्वनि, वाच्य का अंग हो रहा है। यहाँ उपमालंकार व्यंग्य है, साथ में श्लेषालंकार भी है। भिक्षुक का रामचन्द्र के साथ उपमानोपमेयभाव शब्दशक्ति के द्वारा व्यंग्य रूप से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वयं प्रतीत हो रहा है। परन्तु कवि ने अन्तिम चरण में 'मयाप्तं रामत्वं' कहकर उस व्यंग्यरूप उपमानोपमेयभाव को वाच्यरूप 'मयाप्तं रामत्वं' का अंग बना दिया है। इसलिए यह पद्य गुणीभूतव्यंग्य का उदाहरण बन गया है। अन्यथा यह उत्तम ध्वनिकाव्य कहलाता। यही पद्य हनुमत्कवि के हनुमन्नाटक के दसवें अंक में भी उपलब्ध होता है, किन्तु इससे, भट्टवाचस्पति की कृति उसे कहने में कोई बाधा नहीं होगी, क्योंकि हनुमत्कवि ने अपने नाटक में अनेक कवियों के पद्यों को यथास्थान उद्धृत किया है। जैसे कालिदास के 'ग्रीवाभंगाभिरामम्' राजशेखर के बालरामायण के 'सद्यःपुरीपरिसरेऽपि', तथा मुरारि कवि के अनर्घराघव के 'समन्ताद्‌दुत्तालैः सुरसहचरी' आदि पद्य भी हनुमन्नाटक में उपलब्ध होते हैं।

भिक्षुक ने यह बताया है कि मैंने राम का धर्म जो 'रामत्व' है, उसे तो प्राप्त कर लिया किन्तु कुशल अर्थात् परिणाममुरस अथवा उद्वेगनिरास करने में निपुण अथवा आयतिशुद्ध धन (वसु) भाव (ता) को नहीं पाया। और रामचन्द्र ने तो कुशलवसुता (कुशलवौ सुतौ यस्याः सा) इस व्युत्पत्ति से अर्थ हुआ 'सीता' को पाया। एवं च श्लेष से उपस्थित पदार्थों के अभेदारोप से 'रामत्व' की उपपत्ति हो जाती है।

यहाँ पर शब्दशक्ति की महिमा से पादत्रयद्योत्य प्रकृत और अप्रकृत रूप कवि तथा राम में जो उपमा है, वह, 'मयाप्तं रामत्वम्' इससे रामत्वप्राप्ति रूप वाच्यार्थ, उपकारकत्वेन रूपेण कवि को अभिप्रेत रहने से उपमा में वाच्यांगत्व है। 'जनस्थानादि शब्दों' की परिवृत्त्यसहता होने से शब्दशक्तिमूलता है। 'रामत्वम् आप्तम्' इस कथन से ही वाच्यार्थ की सिद्धि हो जाती है, इसलिए यहाँ 'उपमा', वाच्यसिद्धि में अंग नहीं है। 'इव' आदि शब्दों के न होने से 'उपमा' वाच्य नहीं है। इस कारण यहाँ 'उपमालंकार' नहीं है, अपि तु 'मध्यमकाव्यत्व' ही है। यहाँ प्रकृत कवि है और अप्रकृत राम है, दोनों में उपमानोपमेयभाव-रूपसाम्य, व्यंजना से जाना जाता है। कवि ने 'मयाप्तं रामत्वं' कहकर 'अन्यत्र अन्यतादात्म्यारोपरूप अतिशयोक्ति स्वरूप' 'मयाप्तं रामत्वं' इस वाच्य का उसे (उपमानोपमेयभावरूप साम्य को) उत्कर्षक (अंग) बना दिया है। एवं च शब्द-शक्तिमूल - संलक्ष्यक्रमव्यंग्य - अलंकारध्वनि की वाच्यांगता का यह उदाहरण बता दिया।

(ख) अर्थशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वस्तुध्वनि की वाच्याङ्गता—

अर्थशक्तिमूलक अनुरणनरूप (लक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य) वस्तुध्वनि के वाच्यांग होने पर अपरांगव्यंग्य नामक मध्यमकाव्य का उदाहरण दे रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आगत्य संप्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गीमम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।
एनां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते तन्वङ्गि ! पादपतनेन सहस्ररश्मिः ॥१२५॥

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः ।

बिना अनुनय के ही अपने मान का त्याग कर देने वाली नायिका का उसकी सखी उपालंभ कर रही है—

आगत्येति । हे तन्वङ्गि ! यह सहस्ररश्मि (सूय) पता नहीं कहाँ रात्रि को बिताकर अब (प्रातःकाल) धीरे से आकर अपने वियोग में दीन-हीन बनी हुई पद्मिनी पैरों पर गिरकर अनुनय विनय करते हुए (किरणों को बिखेरता हुआ) उसे कैसे मना रहा है—जरा देख ले ॥ १२५ ॥ (२ ब)

अत्रेति । यहाँ पर अर्थशक्ति से प्राप्त वस्तुरूप संलक्ष्यक्रम व्यंग्य—जो 'नायक-नायिका का व्यवहार' है, वह ध्वनित हो रहा है । किन्तु वह 'ध्वनि' नहीं है, अपितु 'गुणीभूतव्यंग्य' ही है । क्योंकि इस व्यंग्यार्थ पर निर्भर न रहने वाले (अपेक्षा न करने वाले) 'रवि-अंभोजिनी' वृत्तान्तरूप (वस्तुरूप) वाच्यार्थ का आरोप्य-आरोप्यमाणभाव (अध्यारोप) संबंध से वह व्यंग्यार्थ अंग बन गया है । अर्थात् वह अपरांग व्यंग्यरूप ही है । एवं च उस (नायक-नायिकाव्यवहाररूप) व्यंग्यार्थ की अपेक्षा न रखने वाले रवि-कमलिनी के वाच्य-भूत व्यवहार पर अर्थशक्तिमूल - वस्तुध्वनिरूप नायकव्यवहार का अध्यारोप किया गया है ।

विशेष विवरण—उक्त पद्य में 'रवि-कमलिनी का व्यवहार' वाच्यार्थ है, और 'नायक-नायिका का व्यवहार' व्यंग्यार्थ है । वह, वाच्यरूप रवि-कमलिनी व्यवहार पर आरोपित होकर ही स्थित है । इसलिए वह वस्तुभूत व्यंग्य अर्थ, वाच्य का अंग बन जाने से उसे गुणीभूत व्यंग्य कहा गया है । यहाँ जिज्ञासा होती है कि वाच्यांग व्यंग्य (अपरांग व्यंग्य) और आगे कहे जाने वाले वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य में क्या भेद है ? इसका समाधान यह है कि 'व्यंग्यार्थ', जब निरपेक्ष-वाच्यार्थ का अंग बन जाता है, तब वह (व्यंग्यार्थ) 'वाच्यांग' व्यंग्य कहलाता है । और जब 'व्यंग्यार्थ' सापेक्ष-वाच्यार्थ की आवश्यकतापूर्ण करने के लिए उसका अंग बनता है, तब वह वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य कहलाता है । एवं च वाच्यार्थ की निरपेक्षता और सापेक्षता पर ही दोनों का भेद (अन्तर) निर्भर है । 'वाच्य' सापेक्ष होता है यानी वाच्यार्थ अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ की अपेक्षा करता है ।

इसी अभिप्राय की सूचना ग्रंथकार ने उक्त पद्य की वृत्ति में प्रयुक्त 'निरपेक्ष'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्द से कर दी है। इस पद्य में 'सहस्ररश्मि और अंभोजिनी' (रवि-कमलिनी) के वृत्तान्त का वर्णन किया गया है, जो—वाच्यार्थरूप है। इस वर्णन के साथ ही नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति भी हो रही है, जो व्यंग्यार्थरूप है। परन्तु वहाँ पर नायक-नायिका के उपस्थित न रहने से, उनके व्यवहार की प्रतीति व्यंग्य होने पर भी उसे 'मुख्य' नहीं कह सकते। दूसरी ओर रवि-कमलिनी व्यवहार वाच्यरूप और पूर्ण है, उसे किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है। तथापि नायक-नायिका-व्यवहार, जो व्यंग्यार्थ रूप है, उससे वाच्यार्थ में उत्कर्ष (चमत्कारातिशय) अवश्य हो जाता है।

यहाँ पर 'पाद' शब्द श्लिष्ट (परिवृत्त्यसह) रहने से शब्दशक्तिमूलत्व की भी संभावना की जा सकती है, तथापि परिवृत्तिसह शब्दों की अधिकता रहने से उन्हीं की प्रधानता मानी जायगी, अतः अर्थशक्तिमूलत्व का व्यवहार किया गया है। क्योंकि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' यह नियम है।

दूसरी बात यह है कि 'पादपतन' शब्द-प्रयोग के बिना भी नायक-नायिका वृत्तान्त की प्रतीति होती है, किन्तु उसकी प्रधानता नहीं है। वस्तुतः यह भी है कि 'अंघ्रिपतन' शब्द के प्रयोग करने पर भी वृत्तान्त की प्रतीति हो सकती है। अतः परिवृत्ति-सहत्व होने के कारण शब्दशक्तिमूलत्व न हो होकर अर्थशक्तिमूलत्व का व्यवहार जो किया गया है, वह उचित ही है।

यहाँ पर बिना अनुनय-विनय कराये ही अपने मान को त्याग देनेवाली नायिका पर उसकी सखी उपालंभ दे रही है। सहस्ररश्मि' कह कर अनेक-नायिकाओं का होना ध्वनित किया गया है। अंभोजिनीम्' कह कर जो बताई जा रही है, उसमें पद्मिनीत्व सूचित किया गया है। 'क्वचिदपि' से उपनायिका के घर में ही—इस निश्चयाभाव को बताया है। तत्रापि तीन याम (प्रहर) ही, अधिक नहीं। अभिप्राय यह है कि उसके अपराध का निश्चय न रहने पर भी वह, स्वयं ही आकर उस कमिलिनी के जो (अंभोजिनी जल (३) से पैदा होने के कारण स्वयं भी जड़ है) पाद पतन के द्वारा पैरों में गिरकर अनुनय कर रहा है। अरी देखले, कामुक और कामुकी में ऐसा व्यवहार चलता है। और तू पुनः कितने ही समय से पर नायिका में आसक्त रहने वाले उस धूर्त के सामने स्वयं अपना मान त्याग कर बिना अनुनय के ही उस पर प्रसन्न हो गई। कवि का अभिप्राय यहाँ पर नायक-नायिका के व्यवहार को बताना ही है। यह नायक-नायिका का वृत्तान्त (व्यवहार) व्यज्यमान (व्यंग्य) है। रवि-कमलिनी वृत्तान्त (व्यवहार) जो वाच्य है, उस पर अभिन्नतया (अभेदेन) पूर्वोक्त व्यंग्य को आरोपित किया गया है। इस प्रकार आरोप्यमाण वह व्यंग्यार्थ, उस वाच्यार्थ का उत्कर्ष कर रहा है। इसलिये उस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथा—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥ १२६ ॥

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत् ।

व्यंग्यार्थ में वाच्यांगता ही है। यही समासोक्ति अलंकार है, ऐसा उद्योतकार ने बताया है।

वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्गरूप मध्यमकाव्यका उदाहरण—

वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथेति । वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यंग्यरूप मध्यमकाव्य का उदाहरण, इस प्रकार है—नायक को नायिका की अवस्था बताने के लिये एक सखी सामान्यतः वर्षा का वर्णन कर रही है।

भ्रमिमरतिमिति । जलद-भुजग यानी मेघरूप सर्प, उससे उत्पन्न ये विषरूप वर्षा के जलकण, वियोगिनी स्त्रियों के लिये बलपूर्वक 'भ्रमि'—मानसिक उद्विग्नता, 'अरति'—विषयभोग की इच्छा न होना या अरुचि, अलसहृदयता'—उदासीनता, 'प्रलय'—निश्चेष्टता अर्थात् बाह्येन्द्रियों का न चल पाना, 'मूर्छा'—चित्त की स्तब्धता अर्थात् बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों की चेष्टा न होना अथवा चित्त का बाह्येन्द्रियों के साथ संबंध न हो पाना, 'तम'—चारों ओर अंधेरा छा जाना, 'शरीरसाद'—देह पीडा अथवा शरीर की कृशता, और अन्तिम अवस्था 'मरण'—प्राणनाश कर देते हैं॥१२६॥ (३ क)

अत्र हालाहलं मिति । यहाँ 'विष' पद से हालाहल व्यंग्य है। वह 'मेघ' पर आरोपित 'सर्प' रूप वाच्यार्थ की सिद्धि का उपकारक (अंग) है। अतः यह वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्य का उदाहरण है।

विशेष विवरण—यहाँ पर 'जलद इव भुजगः' मेघरूप सर्प,—यह रूपण (अभेदारोप यानी रूपक) तब तक सिद्ध नहीं हो पाता, जब तक जल वाचक 'विष' शब्द से हालाहल व्यंजित नहीं होता। इसलिए यह व्यंग्यार्थ, प्रधानीभूत भुजग-रूप वाच्यार्थ की सिद्धि में अंग (उपकारक) है। इस वाच्यार्थ की प्रधानता, रूपक में ही हो पाती है। यहाँ 'जलदभुजग' में 'उपमा' नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि उपमा में पूर्व पदार्थ की प्रधानता रहती है। जिससे 'वाच्य' यानी भुजग को जलद (मेघ) रूप कहना होगा, यानी भुजग (सर्प) रूप जलद कहना होगा। अतः जल और गरल के उद्गारित्व रूप समानधर्मता के कारण जलद-भुजग में रूपण की उपपत्ति ही संगत होती है। इसी बात को चन्द्रिकाकार ने बताया है—'यहाँ पर 'व्यंग्य' जो 'हालाहल' है, वह अप्रकृत होने से 'जलद भुजग' शब्द से प्रतिपादित रूपक (वाच्यार्थ) का निश्चायक हो गया है। अन्यथा 'जलद' का 'भुजगत्व' के साथ कोई संबंध न रहने से 'भुजग इव जलदः' इस प्रकार पूर्व पदार्थ प्रधान उपमित समास करने के कारण उपमालंकार कहना होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा वा—

गच्छाम्यच्युत ! दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा ।
इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसा-
माश्लिष्यन्पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपी हरिः पातु वः ॥ १२७ ॥

पदार्थ प्रधान उपमित समास करने के कारण उपमालंकार कहना होगा और व्यंग्य के साथ वाच्य का अभेदेन अध्यवसाय करने पर जलद में भुजगत्व की उपपत्ति हो जाती है, तब उत्तर पदार्थ-प्रधान रूपक की उपपत्ति हो जाती है।' कवि की विवक्षा 'रूपक' के बताने में ही है। 'उपमा' के बताने में नहीं है। 'विष' शब्द का अर्थ जल है और हालाहल रूप गरल भी है। किन्तु 'जल' अर्थ 'अभिधा' से नियंत्रित होने के कारण 'हालाहल रूप गरल' अर्थ ही व्यंग्य है। इस पद्य के वाच्य और व्यंग्य दोनों के प्रतिपादक पदों का वक्ता एक ही (कवि) है, अलग-अलग नहीं हैं।

अब वाच्यसिद्ध्यंग व्यंग्य का एक दूसरा उदाहरण भी बता रहे हैं। इस दूसरे उदाहरण को बताने का उद्देश्य यह है कि इसके वाच्य और व्यंग्य अर्थ के प्रतिपादक पदों का वक्ता एक न होकर भिन्न-भिन्न हैं। एवं च अन्यवक्तृक शब्द होने पर वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यंग्य का उदाहरण, जैसे—

गच्छामीति। गोपी कहती है कि हे अच्युत। अर्थात् हे श्रीकृष्ण, मैं जाती हूँ। अच्युत ने पूछा, कि अरी! क्यों जा रही है? तो गोपी ने कहा कि क्या आपके दर्शनमात्र से कोई तृप्ति हो रही है? कोई तृप्ति नहीं हो रही है।

एवं च यहाँ एकान्त में आपके पास रुके रहना निष्फल है, कोई लाभ नहीं है। प्रत्युत इसप्रकार एकान्त में हम दोनों के साथ रहने पर दुर्जन लोग अनेक प्रकार की अन्यथा कल्पनाएँ करने लगेंगे। लोग सोचेंगे कि ये दोनों रति-संभोग के निमित्त ही इस एकान्त में एकत्रित हुए हैं—यह वाच्यार्थ है। इस प्रकार 'अच्युत' सम्बोधन से सूचित-व्यर्थ बैठे (रुके) रहने से अलसाई हुई गोपी का आलिंगन कर पुलकित हुए श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें—यह तो वाच्यार्थ हुआ।

किन्तु व्यंग्यार्थ, यह प्रकट किया गया है कि—गोपी ने उसे श्रीकृष्ण नाम से संबोधित न कर 'अच्युत' नाम से संबोधित किया, जिससे यह ध्वनित किया कि 'हे च्युति रहित! ऐसे एकान्त में हम जैसी सुन्दर युवती नायिका को पाकर भी अपने धैर्य से स्खलित न होने वाले, क्योंकि हमसे संभोग करने के लिए प्रयत्नशील नहीं हो रहे हो। हमारी तृप्ति तो संभोग द्वारा स्खलन होने पर ही हो सकती

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्राच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य।
एतच्चैकत्रैकवक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेदः।

अस्फुटं यथा—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता।
नादृष्टेन न दृष्टेन भवता लभ्यते सुखम् ॥ १२८ ॥

है, केवल आपको देखते रहने से नहीं। विना संभोग के यहाँ केवल बैठे बैठे देखते ही रहें तो दुष्ट लोग हमारे प्रति अन्यथा संभावना भी कर सकते हैं। किन्तु यदि संभोग कर लेते तो दुर्जनकृत अन्यथा संभावना से कोई दुःख न होगा। किन्तु यहाँ तो संभोग के अभाव में व्यर्थ ही आत्मवंचना होगी—यह व्यंग्यार्थ है। इस प्रकार पूर्वार्ध में 'अच्युत' संबोधन को ऐसी स्वरभंगिमा से कहकर गोपी ने व्यंजित किया कि तुम्हारा धैर्य किञ्चिन्मात्र भी स्खलित नहीं हुआ है—इस व्यञ्जना के द्वारा यह सूचित किया कि यहाँ तुम्हारे पास बैठे रहना निरर्थक है। एवं च सम्बोधन और भंगिमा दोनों से सूचित किये गये, वृथावस्थान और खेद, उनसे अलसाई हुई गोपी को अपने भुजपाश में लेकर आनन्दित होने वाले श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें॥ १२७॥ (३)

अत्रेति। उक्त उदाहरण में भी 'अच्युत' आदि पद से जो व्यंग्य अर्थ—'संभोग चाहने वाली सुन्दरी युवती के प्रति विमुखता'—निष्पन्न हो रहा है, वह 'गुणीभूत व्यंग्य मध्यमकाव्य' ही है, ध्वनिकाव्य नहीं है। क्योंकि इस व्यंग्य के द्वारा 'इत्यामंत्रणभंगिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्'—इस वाच्यार्थ की ही सिद्धि की गई है। अर्थात् इस विशेषण की सार्थकता, उक्त व्यंग्यार्थ पर ही निर्भर है।

एतच्चेति। यह वाच्यसिद्ध्यंग और व्यंग्य, ये दोनों अर्थ एकत्र अर्थात् 'भ्रमिमरति' उदाहरण में एकवक्तृगत हैं, और अपरत्र यानी दूसरे उदाहरण 'गच्छाम्यच्युत' में वाच्य और व्यंग्य ये दोनों अर्थ, भिन्नवक्तृगत हैं। पूर्वार्ध में वक्त्री गोपी है, और उत्तरार्ध में वक्ता कवि है। दोनों उदाहरणों में यही भेद है।

अस्फुटव्यङ्ग्यनामक मध्यमकाव्य का उदाहरण—

अस्फुटमिति। अस्फुट (अस्पष्ट) व्यंग्यनामक मध्यमकाव्य का उदाहरण दे रहे हैं। कोई प्रेयसी अपने प्रिय से कह रही है। जैसे—

अदृष्ट इति। आपके न दिखाई देने पर 'आप कब दिखाई देंगे'? इस प्रकार दर्शन की उत्कण्ठा होती रहती है, और दिखलाई पड़ने पर वियोग का भय लगा रहता है। एवं च आपके अदृष्ट या दृष्ट होने पर भी अर्थात् दोनों अवस्थाओं में सुखप्राप्ति आपसे नहीं होती है॥ १२८॥ (४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्राद्दष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम् ।

सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥ १२९ ॥

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

अत्रेति । यहाँ प्रेयसी के कहने से यह सूचित किया जा रहा है कि 'हे प्रिय ! आप ऐसा कोई उपाय करें कि जिससे न तो आप अदृष्ट रहें और न आपके विश्लेष का ही भय हो, अर्थात् आप सर्वदा मेरे पास ही बने रहें'—यह व्यंग्य अर्थ है । किन्तु इस व्यंग्य को समझ पाना सहृदयों के लिए भी अधिक क्लिष्ट है ।

विशेष विवरण—यहाँ पर अदर्शन और वियोगभय दोनों का परिहाररूप व्यंग्य अस्फुट है । इस पद्य में 'भवता' में हेतौ तृतीया है ।

सन्दिग्धप्राधान्य व्यंग्य नामक मध्यमकाव्य का उदाहरण—

जैसे—

हरस्त्विति । चन्द्रोदय के आरंभ में समुद्र का धैर्य जैसे किञ्चिन्मात्र च्युत हो जाता है, उसी तरह भगवान् शिव ने किञ्चिन्मात्र अधीर होकर बिम्बफल के तुल्य रक्ताधरवाली उमा के मुख पर अपने नेत्रों को सञ्चरित किया । अर्थात् उत्सुक होकर उमा के मुख को देखने लगे ।

अत्रेति । यहाँ पर उमा के मुख का शिवजी चुम्बन करना चाहते थे—यह प्रतीयमान व्यंग्यार्थ-प्रधान है—या नेत्रों का व्यापार (देखना)—यह वाच्यार्थ प्रधान है, इसका निर्णय न होपाने से यह सन्देहास्पद है । अतः यह सन्दिग्ध-प्राधान्य व्यंग्य का उदाहरण है ।

विशेष विवरण—कुमारसम्भव काव्य के तृतीय सर्ग से इस पद्य को लिया गया है । उमा के मुखारविन्द को देखकर भगवान् हर. (शिव) की चेष्टा का वर्णन कवि ने किया है । 'विलोचनानि' इस बहुवचन के प्रयोग से 'उत्कण्ठातिशय' को अभिव्यक्त किया है । यहाँ पर 'अधरं परिचुम्बितुमैच्छत्'—यह व्यङ्ग्य है । और 'युगपत् लोचनत्रयव्यापारणम्'—यह वाच्य है । इन दोनों में चमत्कार-प्रयोजकत्वरूप प्राधान्य का निर्णय किसी साधक-बाधक प्रमाण के न होने से सन्देह हो रहा है कि यहाँ वाच्यार्थ प्रधान है या व्यंग्यार्थ प्रधान है ? क्योंकि वाच्यार्थ अलौकिक होने से जैसा चमत्कारकारी है, वैसे ही उत्कण्ठातिशय का व्यंजक होने से भी वह चमत्कारकारी है । अतः सन्दिग्धप्राधान्यव्यंग्य वाला यह मध्यमकाव्य है । यहाँ वाच्य और प्रतीयमान दोनों अर्थों में समानरूप से चमत्कारप्रयोजकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥ १३० ॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षणात् क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम्।

काकाक्षिप्तं यथा—

है—क्योंकि किसी साधक-बाधक प्रमाण के न होने से किसी एक अर्थ में उसका निर्णय नहीं हो पा रहा है। यहाँ 'विलोचनव्यापारण और धैर्यपरिवृत्ति'—ये दोनों अनुभाव वाच्य हैं, यदि ये दोनों औत्सुक्यादि व्यभिचारिभाव अभिव्यञ्जित होकर स्थायिचर्वणा में पर्यवसित होते हैं तो व्यंग्य की प्रधानता कही जा सकती है। क्योंकि व्यंग्यीभूत इच्छा को अभिव्यंजित करके ही औत्सुक्य आदि का व्यंजन हो सकता है। और यदि रतिकार्य होने से आहत्यैव (स्पष्टतया) स्थायिचर्वणा में उनका पर्यवसान होता है तो वाच्य का प्राधान्य कहा जा सकता है। किन्तु इसका निर्णय करने में कोई विनिगमक नहीं है। क्योंकि दोनों में ही प्रधान प्रत्यासन्नत्व और भावत्व है। इस कारण इसमें 'तुल्यप्रधानता' नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि दोनों का विश्राम पृथक् नहीं है।

तुल्यप्राधान्यव्यंग्यवाले मध्यम काव्य का उदाहरण—

ब्राह्मणेति। अरे रावण! ब्राह्मणों के अपमान (अतिक्रमण) करने की आदत का त्याग करना आपके ही कल्याण के लिए होगा, अन्यथा यदि उस स्वभाव का त्याग नहीं करोगे तो तुम्हारा मित्र जामदग्न्य दुर्मना (दुश्मन) हो जायगा। और यदि अपनी आदत छोड़ दोगे तो जामदग्न्य (परशुराम) तुम्हारा मित्र बना रहेगा ॥ १३० ॥ (६)

अत्र जामदग्न्य इति। इस पद्य में जामदग्न्य (परशुराम) ने क्रुद्ध होकर जिसप्रकार समस्त क्षत्रियों को मार दिया था (इक्कीस बार निःक्षत्रिय पृथिवी कर दी थी) वैसे ही 'यह परशुराम समस्त राक्षसों का भी विनाश क्षण भर में कर देगा'—इस दण्डरूप व्यंग्यार्थ का और 'भूत्युपदेश तथा मित्रत्वाभिधानरूप सामोपायात्मक' वाच्यार्थ का प्राधान्य समान (तुल्य) ही है। 'दुर्मनायते' इस गंभीरोक्ति से वाच्यार्थ में भी चमत्कार भरा हुआ है। विग्रह की तरह संधि अनर्थनिवारक होने से विवक्षित है। इसलिए यह तुल्यप्राधान्यवाले गुणीभूतव्यंग्यरूप मध्यमकाव्य का उदाहरण है।

काकाक्षिप्त व्यंग्य का उदाहरण—

काकु (ध्वनि विकार) से आक्षिप्त अर्थात् झटिति समझ में आने वाले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥ १३१ ॥

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादिव्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम्।

(प्रत्यायित) गुणीभूतव्यंग्य (मध्यम काव्य) का उदाहरण, जैसे—वेणीसंहार नाटक के प्रथम अंक में संधिश्रवण से कुपित हुए भीमसेन की सहदेव के प्रति यह उक्ति है।

मथ्नामीति। अरे सहदेव! यदि आपका राजा युधिष्ठिर पाँच ग्राम की शर्त पर कौरवों के साथ सन्धि (मित्रता) कर भी ले, तो क्या मैं संग्राम में कौरवकुल (दुर्योधनादि सौ भाइयों) का क्रोधपूर्वक संहार नहीं करूँगा? अर्थात् क्या मैं उन्हें छोड़ दूँगा? और दुःशासन के वक्षःस्थल (हृदयस्थल) को फोड़कर क्या मैं उसका रुधिर (रक्त) पान नहीं करूँगा? तथा दुर्योधन की ऊरुओं (सक्थियुग्म) को क्या मैं गदा से भंग नहीं करूँगा? अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार यह सब मैं अवश्य ही करूँगा। युधिष्ठिर भले ही सन्धि कर लें। ॥ १३१ ॥ (७)

अत्रेति। इस पद्य में 'नाश अवश्य ही करूँगा'—यह व्यंग्यार्थ है। वह 'काकु' से शीघ्र प्रतीत हो रहा है। इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति 'न मथ्नामि, न पिबामि, न संचूर्णयामि'—इत्यादि निषेधरूप वाच्यार्थ के साथ-साथ ही हो रही है।

विशेष विवरण—यहाँ पर कुरुकुल के क्षय की प्रतिज्ञा करने वाले भीमसेन के द्वारा 'न मथ्नामि' कहना तो उसकी प्रतिज्ञा के विरुद्ध है। इस कारण 'नञ्' में 'काकु' की प्रतीति हो रही है। तथा च काकु से प्रतीयमान होने वाला 'न मथ्नामि इति न' इस प्रकार जो नञर्थान्तर है, वह प्रकृत नञर्थ में अन्वित हो— रहा है। तब अभावाभावरूप 'मथ्नाम्येव' इस प्रकार व्यंग्यार्थ के अवधारण (निश्चय) का बोध हो जाता है। 'सुयोधनोरू'—यह द्वितीया का द्विवचन है। 'भवतां नृपतिः' कहकर यह बताया है कि 'मेरा अथवा प्रजा का वह राजा नहीं है, क्योंकि उसने केवल अपनी बुद्धि से राज्य का त्याग किया है, मेरी या प्रजा की सलाह से नहीं। ऐसा वह तुम्हारा राजा ग्रामपञ्चकरूप पण पर भले ही सन्धि कर ले। 'इन्द्रप्रस्थं वृकप्रस्थं जयन्तं वारणावतम्। देहि मे चतुरोग्रामान् पञ्चमं किंचिदेव तु' ॥ 'पञ्चमं कञ्चिदेव तु' यह भी पाठान्तर है। युधिष्ठिर ने उक्त पाँच ग्रामों की शर्त रखी थी। यहाँ पर 'मथ्नामि' मथन आदि में वर्तमान काल का प्रयोग क्रोधातिशय के कारण किया गया है। अथवा "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा"—इस पाणिनिसूत्र (३।३।१३१) के अनुसार वर्तमान सामीप्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असुन्दरं यथा—

वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणकोलाहलं सुणन्तीए।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं॥ १३२॥

(वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वा सीदन्त्यङ्गानि॥ १३२॥)

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम्।

(भविष्यत्) अर्थ में 'लट्' का प्रयोग किया गया है। 'दुर्योधन' पद का प्रयोग न कर 'सुयोधन' पद का प्रयोग करके यह सूचित किया है कि 'सहज ही में यानी अनायास ही ऊरुभंग करदूंगा'। सम्पूर्ण कुरुकुल के क्षय की प्रतिज्ञा रहने से 'कौरवशतम्' में 'शत' शब्द का अर्थ 'अनन्त' है। यहाँ पर 'मथ्नाम्येव'— यह अवधारण, 'व्यंग्य' है।

शंका—'मथ्नाम्येव' इस व्यंग्य में यदि चमत्कार है तो इसे ध्वनिकाव्य न कह कर गुणीभूतव्यंग्य क्यों कहा गया है?

समा०—यहाँ मथनादिनिषेध (न मथ्नामि) रूप वाच्यार्थ के समकाल ही व्यंग्यार्थ प्रतीयमान होकर व्यवस्थित (स्थित) है। दोनों अर्थों की समकालीन प्रतीति होने से व्यंग्यकृतचारुत्व में वाच्य की अनिवार्हकता का ज्ञान न हो पाने से ध्वनित्व नहीं है, अपितु गुणीभूतत्व ही है। किन्तु जहाँ पर 'काकु' से भी विलम्बेन प्रतीति होती है वहाँ तो 'ध्वनित्व' माना ही जाता है। जैसे 'गुरुः खेदं खिन्ने' (का० प्र० तृ० उ० १५) में ध्वनित्व माना गया है।

प्रस्तुत में काकु के बिना वाक्यार्थ बाधित रहने से (अपूर्ण रहने से) उसकी प्रतीति ही नहीं हो पायेगी। किन्तु काकाक्षिप्त व्यंग्य, सिद्धरूपवाक्यार्थ का बाध दूर कर देता है। और वाच्यसिद्ध्यङ्ग तो पदार्थ की सिद्धि करता है—यही दोनों में भेद है।

असुन्दर व्यंग्यरूप मध्यम काव्य का उदाहरण—

घर के समीप ही किसी वेतस निकुञ्ज में नायक को आने का संकेत स्वयं देने पर भी गुरुजनों के परवश रहने से और घर के कामकाज में लगी रहने से वहाँ न पहुँच सकने वाली किसी नायिका का वर्णन किया गया है। जैसे—

वाणीरेति। वेतस निकुञ्ज से उड़ते हुए पक्षियों के कलरव को सुनते ही घर के काम-काज में लगी हुई वधू के अंग-अंग आकुल हो रहे हैं॥१३२॥ (८)

अत्रेति। इस पद्य में यह बताया गया है कि 'वेतसनिकुंज में जिससे मिलने का समय निश्चत किया था, वह प्रेमी नायक (कृतसंकेत) दिये गये निश्चित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सू० ६७) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥४६॥

यथायोगमिति । व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा । ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात् ॥ इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ॥

समय पर उस कुंज में पहुँच गया था'—इस व्यंग्यार्थ से 'वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि'—वधू (नायिका) के अंग-अंग आकुल (शिथिल) हो रहे हैं'—यह वाच्यार्थ ही अतिशयचमत्कारकारी प्रतीत हो रहा है। इसलिए यह पद्य गुणीभूतव्यंग्यवाले असुन्दरव्यंग्यनामक मध्यम काव्य का उदाहरण है।

विशेष विवरण—'सीदन्ति' इस वर्तमानकाल के निर्देश से 'अवसाद' के 'अविराम' को सूचित किया गया है। 'शृण्वन्त्याः' और 'सीदन्ति' में वर्तमानकालिक प्रत्ययों के प्रयोग से श्रवण और अवसादरूप कारण-कार्य के पौर्वापर्यविपर्ययरूप अतिशयोक्ति अलंकार की प्रतीति हो रही है, और उससे 'उत्कण्ठातिशय' व्यंङ्ग्य हुआ है। क्योंकि पक्षियों के उड़ने की ध्वनि को सुनते ही (शब्दश्रवण समकाल ही) समस्त अंगों के अवसाद की जो अनुपरमता (सन्तन्यमानता) वह अपने अतिशयित सौन्दर्य से 'उत्कण्ठातिशय' में पर्यवसित हो जाती है। यहाँ शरीरावसाद रूप जो अनुभाव है, वही वाच्य है। और वही अतिशय और औत्सुक्य के सहित अनुराग की अधिकताकृत मदनपारतन्त्र्य का बोधक है। और जो व्यङ्ग्य है, वह तो वाच्य का मुखप्रेक्षक हो गया है। यहाँ व्यंग्य की प्रतीति होने पर भी, वाच्यार्थ को उसकी अपेक्षा नहीं है। उसकी अपेक्षा बिना किये ही वह विप्रलंभ का पोषक बन गया है। अतः वाच्य में ही चमत्कार की विश्रान्ति हो गई है। एवं च वाच्य की ही प्रधानता, हो जाने से उसी में तात्पर्य की विषयता है। इसलिये असुन्दरव्यंङ्गययुक्त यह मध्यम काव्य है। 'अंगानि सीदन्ति'—यह वाच्य है और 'दत्तसंकेतो लतागहनं प्रविष्टः'—यह व्यङ्ग्य है, जो असुन्दर है।

(सू० ६७) एषामिति। गुणीभूत के अवान्तर भेद यथासंभव पूर्वोक्त ध्वनिभेदों के समान ही समझने चाहिये।

यथायोगमिति। कारिका में 'यथायोगम्' कहने का अभिप्राय यह है कि—"जब वस्तुमात्र से (वाच्यालंकार-रहित प्रतिपादित अर्थ से) अलंकारों को अभिव्यंजित किया जाता है, तब उनकी (अलंकारों की) ध्वन्यंगता (ध्वनिव्यवहारप्रयोजकता) निश्चितरूप से रहती है। क्योंकि 'काव्य' शब्द का व्यवहार उस अलंकार के आश्रित होता है। तात्पर्य यह है कि 'वस्तु' से 'अलंकार' व्यङ्ग्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सू० ६८) सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः ।

सालङ्कारैरिति । तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः, तदुक्तं ध्वनिकृता—

'स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सहप्रभेदैः स्वैः ।

सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥' इति ॥

रहने पर उसे 'गुणीभूतव्यंग्य' नहीं कहा जाता, अपितु उसे 'ध्वनिकाव्य' ही कहा जाता है ।''

ध्वनिकार श्री आनन्दवर्धन के उक्त कथनानुसार यही निश्चित होता है कि जहाँ 'वस्तुमात्र' से 'अलंकार' व्यंग्य होता है, वहाँ गुणीभूतव्यंग्य नहीं होता ।

विशेष विवरण—गुणीभूतव्यंग्य के भेदोपभेदों को पूर्वोक्त ध्वनिभेदों के समान ही बना लेना चाहिये । पहले ध्वनि के मुख्य भेद ५१ किये थे । तदनुसार ही गुणीभूतव्यंग्य के पूर्वोक्त ८ भेदों में से प्रत्येक भेद के ५१ भेद बनने चाहिये, किन्तु वे नहीं बन पाते हैं । इसीलिये ग्रन्थकार ने ध्वन्यालोक से 'व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण' कारिका को उद्धृत करके बता दिया है कि जहाँ 'वस्तु' से 'अलंकार' व्यंग्य होता है, वहाँ 'व्यंग्य' को गुणीभूत नहीं माना जाता । अर्थात् उस काव्य को 'गुणीभूतव्यंग्य' नहीं कहते । तब 'स्वतः संभवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध' 'वस्तु' से 'अलंकार' व्यंग्य के ३ भेदों के पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत रूप से प्रत्येक के ३ भेद होकर कुल ३ × ३ = ९ भेद होते हैं । किन्तु ये ९ भेद 'गुणीभूतव्यंग्य' में संभव ही नहीं हो सकते । अतः गुणीभूतव्यंग्य के प्रत्येक भेद के ४२ अवान्तर भेद (उपभेद) होते हैं, क्योंकि ध्वनि के समान होने वाले ५१ भेदों में से उक्त ९ भेदों को घटाने से (५१−९=४२) सिर्फ ४२ भेद ही गुणीभूत व्यंग्य के हो पाते हैं, ५१ भेद नहीं । गुणीभूतव्यंग्य के पूर्वोक्त शुद्ध आठ (८) भेदों से उक्त अवान्तर ४२ भेदों को गुणित कर देने पर ४२×८=३३६ शुद्ध भेद गुणीतभूत व्यंग्य के हो जाते हैं । ग्रन्थकार मम्मटभट्ट का तात्पर्य यही है कि गुणीभूतव्यंग्य के मुख्य भेद ४२ होते हैं, किन्तु ध्वनिकाव्य के मुख्य भेद ५१ होते हैं ।

(सू० ६८) अलंकाररूप उन्हीं गुणीभूतव्यंग्य के भेदों के साथ ध्वनि का अपने भेदों के साथ 'संसृष्टि' और 'संकर' के रूप में मिश्रण होता है ।

सालङ्कारैरिति । 'सालंकारैः' शब्द से 'एकशेष' द्वारा दो अर्थों की प्रतीति होती है—(१) अलंकाररूप से स्थित और (२) अलङ्कारों के साथ उपस्थित । इसी बात को ध्वनिकार ने कहा है—

जब 'ध्वनि' का अलंकार सहित (सालंकार) गुणीभूतव्यंग्य के भेदोप-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(सू० ६९) अन्योन्ययोगादेवं स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी ॥४७॥

एवमनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना, तथा हि—शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम्, का गणना तु सर्वेषाम् ।

भेदों के साथ संकर और संसृष्टि का मिश्रण होता है, तब वह अनेक भेदों से विशिष्ट होकर अधिक सुशोभित हो जाता है ।

(सू० ६९) इस प्रकार एक-दूसरे के मिश्रण से भेदों की संख्या बहुत अधिक हो जायगी ।

एवमिति । इस प्रकार अवान्तर भेदों (उपभेदों) का परिगणन करने से ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के भेदों की गणना बहुत ही अधिक वृद्धिंगत होती है । जैसे—एकमात्र शृङ्गार रस के भेदोपभेदों की गणना ही इतनी बढ़ जाती है, जिसका कोई ठिकाना नहीं । यदि सभी ध्वनिभेदों और गुणीभूतव्यंग्यभेदों की गणना करते बैठें तो कभी पार ही नहीं लग सकेगा ।

विशेष विवरण—ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अनुसार तो ध्वनि, और गुणीभूतव्यंग्य तथा वाच्य-अलंकारों की संसृष्टि एवं संकर के कारण इतने प्रचुर भेद हो जाते हैं, जिनका गिनना-गिनवाना कभी संभव ही नहीं हो सकता । इसी बात को ध्वनिकार ने केवल संकेत से कह दिया है । ध्वनिकार ने अपनी कारिका में 'सालंकारैः' पद का प्रयोग करके बहुत कुछ बातें बता दी हैं । व्याख्याकारों ने व्याख्या करते हुए उक्त पद को 'वाच्यालंकार' तथा 'गुणीभूतव्यंग्य' दोनों का बोधक बताया है । क्योंकि काव्य के मुख्य (प्रधान) अर्थ का उत्कर्षाधायक 'गुणीभूतव्यंग्य' होता ही है । उसके कारण काव्य को शोभा उत्पन्न होने से उसको भी 'अलंकार' शब्द से कह सकते हैं । 'उपमा' आदि वाच्य अलंकार तो अलंकार शब्द से व्यवहृत होते ही हैं । अतः 'सालंकारैः' पद से 'उपमादि वाच्यालंकार तथा गुणीभूतव्यंग्य' दोनों का बोध होता है । ये दोनों अर्थ परस्पर भिन्न हैं ।

शंका—ये दो भिन्न अर्थ 'सालंकारैः' इस एक ही पद से कैसे निकलते हैं ? दो भिन्न-भिन्न अर्थों को बताने के लिए 'सालंकारैः' पद का प्रयोग दो बार करना चाहिये था ।

समा०—शंका करने वाले का अभिप्राय यह है कि 'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते' इस नियम के अनुसार दोनों अर्थों को व्यक्त करने के लिए 'सालंकारैः' पद को दो बार कहना चाहिये । किन्तु व्याकरण का एक नियम है कि 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' । इस नियम के अनुसार भिन्नार्थक एकरूपाकार दो पदों का 'एकशेष' किया गया है । जैसे 'माता च पिता च पितरौ', 'श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ' यहाँ पर एकशेष किया जाता है, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये । अतः एक 'सालंकार'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पद का लोप होकर एक ही 'सालंकार' पद शेष रह गया है। उसी से दोनों अर्थ निकलते हैं। एक जगह अर्थात् 'गुणीभूतव्यंग्य' के लिए जब 'सालंकारैः' शब्द का प्रयोग किया जायगा तब 'अलंकार' पद (शब्द) भावप्रधान मानकर उसका अर्थ 'अलंकारत्व' (अलंकृति, शोभा) रूप धर्म होगा। उसका विग्रह 'अलंकृतिः-अलंकारः, अलंकारेण शोभया सहिताः सालंकाराः' किया जायगा। गुणीभूत-व्यंग्य काव्य में 'व्यंग्य अर्थ' स्वयं गुणीभूत होने पर भी 'प्रधान अर्थ' का शोभाजनक हो जाता है। अतः गुणीभूतव्यंग्य के भेदों को अलंकृतियुक्त (सालंकार) कह सकते हैं। इस पक्ष में कारिका के 'सालङ्कारैः तैः' का अर्थ 'तैरेव अलंकारैः' होगा। अर्थात् 'शोभाजनकैः समासोक्ति-रसवदादिरूप गुणीभूतव्यंग्यै'रेव अलंकारैः किया जायगा। क्योंकि 'आगत्य संप्रति'—(का० प्र० ५।१२५) उदाहरण में गुणी-भूतव्यंग्यरूप जो नायिका-नायक वृत्तान्त है, वह वाच्यरूप रवि-कमलिनी वृत्तान्त का उत्कर्ष कर रहा है, अतः समासोक्ति अलंकार है।

दूसरे पक्ष में 'सालंकारैः' का अर्थ 'अलंकारसहित' होगा। अर्थात् 'अलंकार-सहितैः तैः' यानी 'उपमादिवाच्यालंकारसहितैश्च, गुणीभूतव्यंग्यभेदैः' होगा। इन्हीं दोनों पक्षों को वृत्तिकार ने 'तैरेव अलंकारैः, अलंकारयुक्तैश्च तैः'—से बताया है। इनके साथ 'ध्वनेः'—ध्वनि के भेदों को 'संसृष्टि' (तिल-तण्डुल के समान मिश्रण अर्थात् योग) तथा 'संकर' (नीर-क्षीर की तरह मिश्रण अर्थात् याग) हो सकता है। इस कथन में तीन बातें उपस्थित होती है—(१) ध्वनि के भेद, (२) गुणीभूतव्यंग्य के भेद, जो स्वयं अलंकाररूप हैं, (३) वाच्यालंकार—इन तीनों का संसृष्टि तथा अनेक प्रकार के संकर के हो जाने से कितने ही भेद हो सकते हैं। 'अन्योन्ययोगादेवं स्यात्'—(सू० ६९) में 'एवमन्योन्ययोगात्' कहने का तात्पर्य यह है कि 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यंग्य' के शुद्ध (सजातीय) और विजातीय संमिश्रण से भेदोपभेदों की गणना इतनी अधिक हो जायगी जिसे समझना-समझाना शक्ति के बाहर हो जायगा। अर्थात् उन भेद-प्रभेदों का अन्त ही नहीं हो पायगा। ध्वनिकार का मुख्य ध्येय तो ध्वनि के स्वरूप को बताना ही है, उनके भेदोपभेदों की असंख्य गणना का प्रदर्शन करना नहीं है। असंख्य गणना का प्रदर्शन करने पर तो अध्येता उलझन में पड़ जायगा। अतः अपने मुख्य ध्येय को ही उन्होंने 'बहुधा ध्वनिः प्रकाशते' कहकर ध्वनि के अनन्त भेदों की ओर संकेत मात्र कर दिया है। उसी का अनुसरण काव्यप्रकाशकार ने भी 'भेदसंख्यातिभूयसी' कहकर किया है। उन भेदों की गणन-प्रक्रिया को बताते बैठना उन्हें अभीष्ट नहीं है।

तथापि काव्यप्रकाश के व्याख्याकार सुधासागरकार ने 'भेदसंख्यातिभूयसी' की व्याख्या स्पष्टरूप से कर ही दी, जो इस प्रकार है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'शुद्धैः सहैकपञ्चाशद्भेदैर्भेदा यथा ध्वनेः।
संकीर्णा हि समाख्याताः शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५)॥
शुद्धैः शरयुगव्यक्तैः (४५) सहात्रापि तथा बुधैः।
गुणीभूतव्यंग्यभेदा बाणाब्धीन्दुगजाः (८१४५) स्मृताः॥
मध्यमोत्तमयोरेवं भेदयोर्गुणने पुनः।
भूताश्वाङ्केषुशरभूबाणस्तम्बेरमा (८५१५५९७५) मताः॥
चतुर्भिर्गुणने प्राग्वद् विज्ञेया गुणकोत्तमैः।
खाकाशाङ्काग्निपक्षर्तुव्योमवारिधिवह्नयः (३४०६२३९००)॥
दिक्प्रदर्शनमेतच्चालङ्कारोद्भूतसंकरैः।
परार्धाधिकतां याति गणनेति न दर्शिता॥"

संसृष्टि और संकर के कारण भेद संख्या—

पूर्वोक्त इक्यावन (५१) ध्वनि-भेद के त्रिविध संकर और एक प्रकार की संसृष्टि के द्वारा भेदों का विस्तार करते हुए काव्यप्रकाशकार ने गुणन प्रणाली से ५१×५१=२६०१×४=१०४०४ भेद, संकर तथा संसृष्टि से होने वाले बताये। उनके साथ पुनः इक्यावन (५१) शुद्ध भेदों को मिलाकर १०४०४+५१=१०४५५ भेद, संकर और संसृष्टि के कारण ध्वनिकाव्य के बताये थे। इसी निर्दिष्ट रीति से गुणीभूतव्यंग्य काव्य के प्रत्येक भेद के ४२×४२×४=७०५६ भेद, संकर तथा संसृष्टि के द्वारा होंगे। इनके साथ शुद्ध भेदों को मिला देने पर ७०५६+४२=७०९८ भेद, गुणीभूतव्यंग्य के प्रत्येक अवान्तर भेद के होंगे। इसी प्रकार आठों अवान्तर भेदों को मिलाकर गुणीभूतव्यंग्य के ७०९८×८=५६७८४ भेद बनाये जा सकते हैं।

काव्यप्रकाशकार ने गुणीभूतव्यंग्य में प्रत्येक अवान्तर भेद के शुद्ध भेद ४२ (अर्थात् ५१—९=४२) बताये हैं।

सुधासागरकार ने ४५ शुद्ध भेद स्वीकार किये हैं। उस स्थिति में ४५×४५=२०२५×४=८१०० प्रकार के संसृष्टि, और संकर भेदों के साथ ४५ भेदों को मिला देने पर ८१००+४५=८१४५ भेद होते हैं। पुनः उनको ध्वनि के १०४५५ भेदों के साथ गुणा करके १०४५५×८१४५=८५१५५९७५ संख्या होती है। इस संख्या को पुनः ४ से (तीन प्रकार के संकर और एक प्रकार की संसृष्टि से) गुणा करने पर यानी ८५१५५९७५×४=३४०६२३९०० संख्या, ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के भेदों की हो जाती है।

सुधासागरकार ने गुणीभूतव्यंग्य के मूल भेद ४५ मानकर गणना की है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात् ,

---

और काव्यप्रकाशकार ने गुणीभूतव्यंग्य के मूल भेद ४२ मानकर गणना की है। क्योंकि वस्तु से अलंकार व्यंङ्ग्य होने पर तो 'ध्वनिकाव्य' ही कहलाता है। उसे गुणीभूतव्यंङ्ग्य नहीं कहते। अतः ध्वनिकाव्य के ५१ भेदों में से वस्तु से अलकार व्यंङ्गवाले ९ भेदों को निकाल दिया जाय तो गुणीभूतव्यंङ्ग्य काव्य के ४२ भेद ही होते हैं। (वस्तु से अलंकारव्यंग्य के ९ भेद इस प्रकार होते हैं— (१) स्वतः संभवी, (२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध और (३) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति-सिद्ध। फिर इन तीनों में से प्रत्येक के (पदगत,) (२) वाक्यगत और (३) प्रबन्धगत—ये तीन-तीन भेद होकर वस्तु से अलंकारव्यंग्य के ९ भेद होते हैं) काव्य-प्रकाशकार के अनुसार गुणीभूतव्यंग्य की संख्या इस प्रकार होगी—गुणीभूव्यंग्य के मूल भेद ४२ के हिसाब से ४२×४२=१७६४×४=७०५६, और संकर-संसृष्टि से होने वाले भेदों के साथ शुद्ध ४२ भेदों के जोड़ देने पर ७०९८ भेद, गुणीभूतव्यंग्य के प्रत्येक अवान्तर भेद के होंगे। ध्वनि भेदों के साथ इनका गुणन करने पर १०४५५ ×७०९८ = ७४२०९५९० प्रकार की ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंङ्ग्य के भेदों की संख्या केवल संसृष्टि की होगी। संकर-संसृष्टि दोनों भेद बनाने के लिये उक्त संख्या को ४ से गुणा करने पर यह संख्या ७४२०९५९०×४=२९६८३८३६०हो जायगी। यह संख्या गुणीभूतव्यंग्य के प्रत्येक भेद की ध्वनि भेदों के साथ संकर तथा संसृष्टि से होगी। फिर आठों भेदों की संकर—संसृष्टि की गणना करने पर यह संख्या अठगुनी हो जायगी, अर्थात् २९६८३८३६०×८=२३७४७०६८८० संख्या बनेगी। इन संख्याओं का निश्चय दो प्रकार से किया जाता है—(१) गुणनप्रक्रिया से और दूसरा संकलनप्रक्रिया से। गुणन का प्रकार लीलावतीकार ने बताया है— "गुण्यान्त्यमङ्कं गुणकेन हन्यादुत्सारितेनैवमुपान्त्यमादीन्। गुण्यस्तथोऽधो-गुणखण्डतुल्यस्तैः खण्डकैः संगुणितो युतो वा॥" इस प्रकार गणित करना अत्यन्तश्रम साध्य है। यह सब गणित करना प्रकृत में अनुपयुक्त होने से ग्रन्थकार ने उसे न बताकर 'भेद संख्यातिभूयसी' कह कर उसकी ओर संकेत मात्र कर दिया है।

इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के भेदों को बताकर अब वादियों की विप्रति-पत्तियों का परिहार करते हुए व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता को बताने के लिये आरंभ कर रहे हैं।

सङ्कलनेनेति। 'संकलन' का अर्थ संग्रह (संक्षेप) है।

संक्षेप में यही कह सकते हैं कि 'व्यंङ्ग्य' तीन प्रकार का होता है। अतः ध्वनि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा हि—किंचिद्वाच्यतां सहते किंचित्त्वन्यथा, तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रम्, विचित्रं त्वलङ्काररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यम्, तथापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते।

के भी तीन प्रकार हैं। ग्रन्थकार ने 'व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्' कहा है। व्यंग्य के 'वस्तु, अलंकार, रस' ये तीन रूप हुआ करते हैं।

तथाहीति। जैसे—व्यंग्य के उक्त तीन रूपों में से कोई अर्थात् 'वस्तु' तथा 'अलंकार' रूप दो प्रकार का ध्वनि, वाच्यता को सहन कर सकता है, यानी वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि के रूपमें जो अर्थ, व्यंग्यरूप से प्रतीत होता है' वह (अर्थ) कभी वाच्यरूप से भी प्रतीत हो सकता है। और कोई (रसध्वनि) अन्य प्रकार का होता है। अर्थात् कभी वाच्य न हो सकनेवाला यानी वाच्यता को न सहने वाला होता है। उनमें से वाच्यता को सहन करने वाला 'व्यंङ्ग्यार्थ' भी 'विचित्र' तथा 'अविचित्र' दो प्रकार का होता है। 'अविचित्र'—वस्तुमात्र और 'विचित्र' अलंकार रूप होता है। प्रधान होने से (व्यंग्य होने से) वह 'व्यंङ्ग्यार्थ' यद्यपि अलंकार्य है, अलंकार नहीं है। तथापि 'ब्राह्मण-श्रमण-' न्याय से वैसा (अलंकार नाम से) कहा जाता है।

विशेष विवरण—वृत्ति में 'अस्य ध्वनेः' कहा गया है। 'अस्य' का अर्थ गुणीभूतव्यंग्यस्य समझना चाहिये, और 'ध्वनेः' के आगे 'च' जोड़ लेना चाहिये। यानी 'अस्य गुणीभूतव्यंग्यस्य और ध्वनेश्च' समझना चाहिये। ग्रन्थकार के द्वारा यहाँ 'च' का प्रयोग न करने पर भी 'अहरहर्नयमानो गामश्वं पुरुषं पशुम्' की तरह समुच्चयार्थक 'चकार' की कल्पना की गई है—यह समझना चाहिये। अथवा 'ध्वनेः' का अर्थ 'ध्वननव्यापार (व्यंजनाव्यापार) से उपहित (युक्त) ध्वनि का' कर लेने पर गुणीभूतव्यंग्य का भी संग्रह हो सकता है।

यद्यपि ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के भेदों की गणना करना संभव नहीं है, तथापि संकलन की दृष्टि (समष्टि की दृष्टि) से देखने पर ध्वनि (व्यंग्य-रूप अर्थ), वस्तु, अलंकार और रस-भाव आदि के रूप में तीन ही प्रकार का हो सकता है। उस व्यंग्य अर्थ को कभी वाच्य की तरह भी बताया जा सकता है। अर्थात् कुछ व्यंग्यार्थ ऐसे होते हैं, जो वाच्यता को सहन कर लेते हैं। और कुछ व्यंग्यार्थ ऐसे हैं, जो स्वप्न में भी वाच्य की तरह नहीं बताये जा सकते। यानी कभी भी वाच्यता को वे सहन नहीं कर पाते। इन दोनों में से वाच्य बन सकनेवाला (वाच्यता को सहन करने वाला) व्यंग्यार्थ, 'अविचित्र' और 'विचित्र' भेद से दो प्रकार का होता है। 'अविचित्र' तो वस्तुमात्र (अनलंकृत अर्थ) है, और 'विचित्र'—अलंकार रूप अर्थ है। तात्पर्य यह है कि ध्वनि के जितने भी भेद हैं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृंगारादिशब्देन वाऽभिधीयेत। न चाभिधीयते। तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे

उनकी प्रतीति एकमात्र व्यञ्जनाव्यापार से ही होती है, और कोई अन्य मार्ग नहीं है। अतएव ध्वनि के 'वाच्यतासह' और 'अवाच्यतासह'—ये दो भेद किये हैं। उनमें 'वाच्यतासह' के भी 'विचित्र' और 'अविचित्र' दो भेद किये। विचित्र को 'अलंकारध्वनि' और अविचित्र को 'वस्तुध्वनि' नाम से बताया है। तीसरा 'रसादिध्वनि', जो वाच्यतासह नहीं है, अर्थात् वह कभी भी वाच्य, नहीं बनता और न बनाया जा सकता है। वह सर्वदा व्यंग्य ही रहता है। इसी बात को ग्रन्थकार ने 'संकलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः,..................विचित्रं त्वलंकाररूपम् ,—तक के ग्रन्थ से बताया है। यहाँ 'ध्वनेस्त्रयो भेदाः' कहकर तीन में ही भेद का विश्राम, जो प्रदर्शित किया है, उसका प्रयोजन 'व्यञ्जना' की दृढता का प्रतिपादन करना ही है। भेदों को और अधिक संक्षेप में कहा जाय तो 'अविवक्षितवाच्य' और 'विवक्षितान्यपरवाच्य' दो ही भेद बताये जा सकते हैं। और भी अधिक संक्षेप में बताना हो तो सर्वोत्थानबीजरूप एक ही स्फोटात्मक व्यंग्य कहा जा सकता है। उसी को 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिप्रतिपाद्य सच्चिदानन्दरूप निर्गुण-सगुण-विलक्षण 'वस्तु' कहा जा सकता है। इसी रहस्य को वाग्देवतावतार श्री मम्मट भट्ट ने संकलन और व्यवकलन (समष्टि और व्यष्टि) के द्वारा ब्रह्माण्डावयवगणना में विराट् रूप से एकता की जो प्रतीति होती है, वह व्यंजना के द्वारा ही होती है, इसे सूचित किया है।

शंका—अलंकार के व्यंग्य होने पर उसमें मुख्य रूप से 'ध्वनि' शब्द का व्यवहार किया जाता है, तब उस स्थिति में उसे 'अलंकार' क्यों कहते हैं? क्योंकि जो दूसरे को अलंकृत करता है, उसे अलंकार कहा जाता है। जब वह व्यंग्य रहता है, तब वह स्वयं ही अलंकार्य रहता है, अलंकारक नहीं।

समा०—अलंकार की प्रधानता रहने पर भी उसे ब्राह्मण-श्रमणन्याय से 'अलंकार' कहा करते हैं। ब्राह्मण-श्रमण न्याय का स्वरूप इस प्रकार है—कोई ब्राह्मण, बौद्धदीक्षा लेकर बौद्धश्रमण (बौद्ध संन्यासी) हो जाने पर भी, अन्य श्रमणों से उसे अलग बताने के लिए उसके पूर्वस्वरूप के द्वारा अर्थात् ब्राह्मणश्रमण कहकर उसे सूचित किया जाता है; उसी तरह 'अलंकार' के व्यंग्य रहने पर उसके अलंकार्य हो जाने पर भी वस्तुरूप व्यंग्यार्थ से उसको पृथक् बताने के लिए 'अलंकार' कहा गया है।

रसप्रतीति के होने में व्यंजना की अनिवार्यता—

रसादिलक्षणस्त्विति। 'लक्ष्यते ज्ञायते अनेन इति लक्षणम्'—इस व्युत्पत्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते, तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः ।

से 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'नाम' है। एवं च 'रसादिलक्षणः' का अर्थ होगा 'रसादिनामकः'। यहाँ पर 'आदि' शब्द से 'भाव आदि' सभी अलक्ष्यक्रम का संग्रह किया गया है ।

पूर्वोक्त दोनों प्रकार के वाच्यतासह 'अविचित्र' और 'विचित्र' अर्थात् वस्तुरूप और अलंकाररूप अर्थों के अतिरिक्त एक ऐसा भी अर्थ है, जिसे 'रसादिरूप अर्थ' कहते हैं। जो स्वप्न में भी 'वाच्य' नहीं होता है। क्योंकि उसकी वाच्यता यदि होगी तो 'रसादि' शब्द से या 'शृंगारादि' शब्द से ही अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा हो पायगी। किन्तु 'रसादि या शृंगारादि' शब्द, अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा 'रस' को नहीं बताते। क्योंकि उन रसादि या शृंगारादि शब्दों का प्रयोग किये जाने पर भी 'विभाव' आदि का प्रयोग न करने पर 'रस आदि' का अनुभव नहीं होता है, और 'रसादि या शृंगारादि' शब्दों का प्रयोग न किये जाने पर भी 'विभाव आदि' का प्रयोग करने पर 'उस रस आदि' का अनुभव होता है। एवं च 'विभावादि के प्रयुक्त होने पर ही 'उस रसादि' की प्रतीति होती है'—यह बात अन्वय-व्यतिरेक से निश्चित होती है। अतः वह रसादिध्वनिरूप अर्थ, 'व्यंग्य' ही होता है। अर्थात् कभी भी वाच्य नहीं होता। और उसी तरह लक्षणा के प्रयोजक हेतु मुख्यार्थबाध आदि के न होने से वह रसादिरूप अर्थ लक्षणागम्य (लक्षणीय) भी नहीं है। निष्कर्ष यह है कि 'रसादिरूप अर्थ' की प्रतीति व्यंग्य ही है, यानी व्यंजनाव्यापार से ही हो सकती है।

विशेष विवरण—अभिधामूलक ध्वनि में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रसादिरूप अर्थ की अनुभवात्मक प्रतीति के निमित्त 'व्यञ्जनावृत्ति' का स्वीकार करना नितान्त आवश्यक है। उस रसादिरूप अर्थ की प्रतीति, क्या केवल रस-भाव आदि शब्दों के कहने मात्र से अथवा शृंगार-निर्वेदादि पदों के कहने मात्र से हो जायगी ? 'अभिधीयेत' में प्रयुक्त 'लिङ्' लकार का अर्थ 'चर्वणारूप इष्टसाधनत्व' है। वह चर्वणारूप इष्टसाधनत्व (रसादि) की प्रतीति तो 'विभाव-अनुभावादि' के प्रयुक्त होने पर ही होती है, और उनके प्रयुक्त न होने पर नहीं होती है—इस अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा यह निश्चय हो जाता है कि 'विभावादि के अभिधान से ही उसकी (रसादि की) प्रतीति होती है, अन्यथा नहीं। 'नयननलिनीकोलाकृष्टं पिबन्ति रसं प्रियाः'—और 'शृंगारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रम्'—इत्यादि उदाहरणों में विभावादि से प्रतीत का ही अनुवाद, अवशिष्ट के सम्पादन के लिए किया गया है। अतः कोई दोष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यंग्यं विना लक्षणैव

नहीं है। जहाँ कहीं मुख्यतः उसी के अभिप्राय से रसादि पदों का प्रयोग किया जाता है वहीं पर 'स्वपदाभिधान' दोष होता है।

शंका—अलंकारादिकों को भी 'अलंकार' शब्द से कहने पर या 'उपमा आदि' शब्द से उसका उपादान करने पर चमत्कार प्रकट नहीं होता है, तब 'रसादि' में ही क्या विशेषता है?

समा०—पदसमन्वय के आधार पर उन उपमादि अलंकारों की कचित् प्रतीति होने पर भी उनमें चमत्कार दिखाई देता है, यह बात रसादिकों में नहीं है। वहाँ तो विभावादि के द्वारा ही चमत्कार की प्रतीति होती है।

शंका—'विभावादि के वाचक शब्दों से रसप्रतीति के होने का नियम है। किन्तु उनका 'रस' में संकेत तो है नहीं, अतः शक्ति न होने से वहाँ लक्षणा व्यापार के द्वारा वे विभावादि, 'रस' को लक्षित करते हैं—यह क्यों नहीं कहा जाता?

समा०—मुख्यार्थबाधेति। मुख्यार्थबाधादि तीन हेतुओं के न रहने से वहाँ लक्षणा नहीं होती। इसलिये वे विभावादि, 'रस' को लक्षित नहीं कर सकते। यदि यह कहें कि तात्पर्य के अनुपपन्न होने से 'यष्टीः प्रवेशय' की तरह लक्षणा हो जायगी, तो यह कहना भी उचित नहीं होगा। क्योंकि 'आदि' पद से 'योग (संबन्ध), रूढि, और प्रयोजन का होना भी लक्षणा के लिए अपेक्षित होता है। इस पर यदि कहें कि विभावादि के साथ 'रस' का 'ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव' रूप योग (संबन्ध) तो हैं ही। तो यह कहना भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि वृत्ति के बिना ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध को भी नहीं कहा जा सकता। तथा च तात्पर्य का विषय होने वाले रस की भी प्रतीति होने से और वह रस, स्वप्रकाश तथा आनन्दमय-संविद्विश्रान्तिरूप होता है। अतः ऐसे रस को लक्ष्य कहने पर उसका अन्य कोई प्रयोजन बताना संभव नहीं होगा। तथा विभावादिवाचक पदों की 'कुशल' आदि पदों की तरह प्रसिद्धि न होनेसे उन्हें रूढ कहना भी संभव नहीं है। इसलिये लक्षणा के द्वारा 'रस' को नहीं बताया जा सकता। रस में ही पार्यन्तिक विश्रान्ति के होने से प्रयोजनान्तर की भी कल्पना नहीं की जा सकती। और प्रयोजन आदि के प्रदर्शन किये बिना लक्षणा नहीं हुआ करती। क्योंकि लक्षणा तो हेतुत्रय के सापेक्ष होती है। अतः एक मात्र व्यंजनावृत्ति ही ऐसी है, जो 'रस' का बोध करा पाती है। तर्ककर्कश नैयायिकों ने केवल मात्सर्यवश व्यंजना का स्वीकार न कर लक्षणा कहना आरंभ कर दिया है।

अर्थान्तरसङ्क्रमितेति। अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि के अर्थान्तर-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम्, शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम्।

संक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इन दोनों में वस्तुमात्ररूप व्यंग्य के बिना लक्षणा हो ही नहीं सकती,—इस बात को पहिले (सू० २४, २५ में) बता चुके हैं।

विशेष विवरण—जैसे अभिधामूलध्वनि (असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य) में रसादिरूप अर्थ की प्रतीति व्यंजनावृत्ति के बिना नहीं होती, उसी तरह ध्वनि के अन्य भेदों में भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति व्यंजना के बिना नहीं होती है। इसी को बताने के लिए लक्षणामूलध्वनि के दोनों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) भेदों में भी व्यंजना की आवश्यकता होती है। लक्षणामूलध्वनि (अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य) के उदाहरण 'त्वामस्मि वच्मि' और (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य का) 'उपकृतं बहु तत्र' उदाहरण पहले बता दिये गये हैं। इन दो उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण में 'वच्मि' आदि पद 'उपदेश' रूप अर्थान्तर में संक्रान्त हो जाते हैं, और द्वितीय उदाहरण में 'उपकृत' आदि पद अपने स्वार्थ का अत्यन्त परित्याग कर 'अपकृत' आदि अर्थों को सूचित करते हैं। इनमें लक्षणा का आधार व्यंग्य-प्रयोजन की प्रतीति ही है, क्योंकि व्यंग्यप्रयोजन के अभाव में लक्षणा ही नहीं हो पायेगी। उस व्यंग्य-प्रयोजन का ज्ञान, अभिधा या लक्षणा से नहीं हो सकेगा। इस बात को 'नाभिधासमयाभावात्' और 'हेत्वभावान्न लक्षणा' से कह चुके हैं इसलिए लक्षणामूलध्वनि के दोनों (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य) भेदों में प्रयोजन की प्रतीति तभी हो सकेगी जब व्यंजनावृत्ति को स्वीकार किया जायगा।

शब्दशक्तिमूले त्विति। जैसे लक्षणामूलध्वनि में 'वस्तु' 'व्यंग्य होती है, वैसे ही अभिधामूलध्वनि में भी 'वस्तु' और 'अलंकार' व्यंग्य होते हैं। अभिधामूल-ध्वनि के 'शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ—ये तीन भेद होते हैं। उनमें से शब्दशक्त्युत्थध्वनि में 'संयोगो विप्रयोगश्च' के अनुसार संयोगादि के आधार पर किसी एक अर्थ में अभिधा का नियन्त्रण जब हो जाता है, तब उसी अर्थ को अभिधा बताती है, तदतिरिक्त दूसरे अर्थ को नहीं। दूसरे अर्थ की प्रतीति व्यंजनाव्यापार से ही होती है, और उसी के साथ वाच्यार्थ (प्राकरणिक) का जो उपमानोपमेयभाव आदि प्रतीत होता है, उसका (उपमा आदि अलंकार का) व्यंग्यत्व निर्विवाद है।

अभिधामूल शब्दशक्त्युत्थध्वनि में व्यंजना की आवश्यकता—

विशेष विवरण—पहले बता चुके हैं कि अभिधामूलध्वनि के दो भेद (असंलक्ष्य-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षासन्निधियोग्यतावशात्परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्त्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम् ।

क्रमव्यंग्य और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य) होते हैं। उनमें से असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य 'रसादिध्वनि' है, जो व्यंजनावृत्ति से ही गम्य होता है। दूसरा जो संलक्ष्यकमव्यंग्य है, उसके तीन भेद (शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ) होते हैं। उनमें से शब्दशक्त्युत्थ-ध्वनि में अनेकार्थक शब्द का प्रकरण आदि के अनुरोध से एक अर्थ नियंत्रित हो जाने पर जो अनियन्त्रित दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, उसे शाब्दीव्यंजना अथवा शब्दशक्त्युत्थध्वनि कहा जाता है। इस ध्वनि के दो भेद (वस्तु और अलंकार) होते हैं। इनकी प्रतीति व्यञ्जनाव्यापार से ही हो पाती है। उसी तरह यहाँ प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थों में जो उपमानोपमेयभावादि अलंकार की प्रतीति होती है, वह भी व्यंजना व्यापार से ही होती है।

अर्थशक्तिमूलेऽपीति। अर्थशक्तिमूलध्वनि में जहाँ विशेष अर्थ में शक्तिग्रह (संकेतग्रह) करना उचित नहीं होता, तब सामान्य (जाति) रूप पदार्थों का परस्पर संसर्गरूप विशेष, पदों के द्वारा उपस्थित न होने पर भी आकांक्षा, सन्निधि और योग्यता के बल पर वाक्यार्थ को उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार 'अभिहितान्वयवाद' में 'व्यंग्य अर्थ' को अभिधाशक्ति के द्वारा बताने की (अभिधेय मानने की) बात ही कहाँ उपस्थित होती है ?

विशेष विवरण—अभिधामूलक ध्वनि का दूसरा भेद 'अर्थशक्तिमूलध्वनि' है। इसमें भी 'व्यक्ति' में शक्तिग्रह (संकेत ग्रह) को स्वीकार करने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष के उपस्थित होने से 'व्यक्ति' रूप विशेष अर्थ में शक्तिग्रह को उचित नहीं माना गया है, और 'सामान्य' (जाति) में ही शक्तिग्रह माना गया है। तब सामान्य (जाति) रूप पदार्थों का जो परस्पर संसर्गरूप विशेष है; वह यद्यपि वाक्यघटक किसी पद के द्वारा नहीं बताया गया है, तथापि आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि के सामर्थ्य से वाक्यार्थ (परस्पर संसर्ग) के रूप में 'तात्पर्याशक्ति' से उपस्थित कराया जाता है—यही 'अभिहितान्वयवाद' है। अतः इसमें भी (इस सिद्धान्त में भी) जब 'वाक्यार्थ' ही अभिधेय नहीं हो पा रहा है; तब उसके पश्चात् (वाक्यार्थप्रतीति के बाद) उपस्थित होने वाले 'व्यंग्यार्थ' को अभिधेय कैसे कहा जा सकता है ? वृत्तिकार का अभिप्राय यह है कि अभिहितान्वयवादी श्रीकुमारिलभट्ट को भी, 'व्यंग्यार्थ-प्रतीति' के लिए 'व्यंजनाव्यापार' ही स्वीकार करना होगा, क्योंकि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अभिधा' के द्वारा तो व्यंग्यार्थ की प्रतीति होगी ही नहीं । अतः व्यंग्यार्थ-प्रतीति के लिए व्यंजना के सिवाय अन्य कोई उपाय ही नहीं है ।

वृत्तिकार की 'सामान्यरूपाणां............वाक्यार्थः' इस पंक्ति में थोड़ा-सा क्रमविपर्यास करना चाहिये, जिससे पंक्ति का अर्थ समझने में सरलता होगी। इस प्रकार क्रमविपर्यास करना शास्त्रीय मर्यादा के विरुद्ध भी नहीं है। जैसे—वेद में 'अग्निहोत्रं जुहोति' के बाद 'यवागूं पचति' वाक्य पढ़ा गया है, किन्तु क्रमबोधक 'अर्थ'—प्रमाण के आधार पर (अर्थक्रम के अनुसार) अनुष्ठानक्रम में परिवर्तन कर दिया जाता है। अर्थात् पहिले 'यवागूपाक' किया जाता है, बाद में 'अग्निहोत्रहोम' किया जाता है। यानी मीमांसा के निर्णयानुसार 'पाठक्रम' को स्वीकार न कर 'आर्थक्रम' को वरीयता दी गई है। उसी तरह यहाँ भी 'सामान्यरूपाणां पदार्थानां विशेषरूपः परस्परसंसर्गः यत्र अपदार्थोऽपि आकांक्षासन्निधियोग्यतावशात वाक्यार्थः'—इत्यादि पदों का अन्वय उक्त क्रम से करना चाहिये। अर्थात् 'अर्थक्रमानुरोधेन पाठक्रमे अनादरः' किया जाता है।

अभिधामूलक अर्थशक्त्युत्थध्वनि में व्यञ्जना की आवश्यकता—

पहिले बता चुके हैं कि लक्षणामूलकध्वनि के दोनों भेदों में, तथा अभिधामूलक-ध्वनि के—'असंलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि में और संलक्ष्यक्रम के शब्दशक्त्युत्थ वस्तुध्वनि तथा अलंकारध्वनिरूपभेदों में 'व्यञ्जनावृत्ति' की ही आवश्यकता होती है। उसी तरह अब उसी अभिधामूल के 'अर्थशक्त्युत्थध्वनि' के अठारह (१८) भेदों में भी व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता को ग्रन्थकार ने बताया है।

अर्थशक्त्युत्थध्वनि में पहिले 'वाच्यार्थ' की उपस्थिति होती है, उसके बाद 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति होती है। अत एव उसे 'अर्थशक्त्युत्थ' कहते हैं।

वाक्य से अर्थप्रतीति के संबन्ध में गंभीर विवेचन व्याकरण, न्याय और मीमांसाशास्त्र में किया गया है। 'व्याकरण' को पदशास्त्र', 'न्याय' को प्रमाण-शास्त्र और 'मीमांसा' को वाक्यशास्त्र कहते हैं। अतः वाक्यार्थनिर्णय में मीमांसाशास्त्र तथा उसके जानने वाले मीमांसकों की ही प्रधानता मानी जाती है। अर्थशक्त्युत्थध्वनि के विवेचन में पहिले 'वाक्यार्थज्ञान' की ही आवश्यकता होती है। वह वाक्यार्थनिर्णय मीमांसकों के अधीन है। इसीलिये ग्रन्थकार ने स्वसम्मत व्यंजनावृत्ति की आवश्यकता के निरूपणार्थ मीमांसकों के दो सम्प्रदायों की चर्चा उपस्थित की है।

श्रीकुमारिलभट्टपाद ने 'अभिहितान्वयवाद' की स्थापना की है, और श्री प्रभाकर भट्ट (गुरु) ने 'अन्विताभिधानवाद' की स्थापना की है। प्रभाकर भट्ट को कुछ लोग प्रभाकर मिश्र भी कहते हैं। वाक्यार्थ के विवेचनार्थ उपर्युक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

येऽप्याहुः—

शब्दवृद्धाभिधेयाँश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥ १ ॥
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्ति द्वयात्मिकाम् ।
अर्थापत्त्यावबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥ २ ॥

महामीमांसकों ने दो वादों का उपस्थित किया है और बड़े समारोह के साथ उनका उपपादन भी किया है ।

ग्रन्थकार ने उक्त दो वादों को इस प्रसंग में उपस्थित करके यह बताना चाहा है कि दोनों महामीमांसकों के मतों में जब कि 'वाक्यार्थ' ही 'अभिधाशक्ति' से उपस्थित (अभिधेय) नहीं होता है, तब उस अनभिहित वाक्यार्थ से प्रतीयमान 'व्यंग्यार्थ' को 'अभिधेय' बताना कहाँ तक उचित है ? अर्थात् बिलकुल अनुचित है, क्योंकि कुमारिल के अभिहितान्वयवाद में—वाक्यघटक पद अपनी अभिधाशक्ति से तो अपने-अपने शुद्ध अर्थ को बताते हैं। अर्थात् अभिधाशक्ति से केवल पदार्थों की उपस्थिति होती है। उसके बाद अभिहित पदार्थों के परस्परसंसर्गरूप वाक्यार्थ की प्रतीति 'तात्पर्य' नामक शक्ति से होती है, 'अभिधा' से नहीं। जब वाक्यार्थ की प्रतीति ही अभिधाशक्ति से नहीं हो पाती, तो वाक्यार्थप्रतीति के बाद होने वाली व्यंग्यार्थ-प्रतीति को अभिधाशक्ति से गम्य (अभिधेय) कैसे कहा जायगा ? अतः 'अभिहितान्वयवाद' में भी व्यंग्यार्थप्रतीति के लिये 'व्यंजना वृत्ति' को ही मानना होगा। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है। एवं च 'व्यंग्यार्थ' को अभिधेय कहना कभी भी सम्भव नहीं है ।

अभिहितान्वयवाद में व्यंग्यार्थ के अभिधेयत्व (वाच्यत्व) का निरसन करके अन्विताभिधानवाद में भी व्यंग्यार्थ की अनभिधेयता को बताने की इच्छा से प्रथमतः उनके मत का उपपादन कर रहे हैं—

येऽप्याहुरिति। जो 'अन्विताभिधानवादी' प्राभाकरमीमांसक यह कहते हैं कि—बालक को आरंभिक (पहले पहल) ज्ञान (आद्या व्युत्पत्ति) वृद्धव्यवहार से ही होता है। इस वृद्धव्यवहार में बालक की दृष्टि से दो प्रकार के वृद्ध हैं—(१) व्युत्पादक उत्तम वृद्ध (प्रयोजक वृद्ध) और (२) प्रयोज्यवृद्ध (मध्यमवृद्ध)। व्युत्पित्सु (जिज्ञासु, शक्तिग्रहणेच्छु) बालक को वृद्धव्यवहार के देखते रहने से व्युत्पत्ति (शक्तिज्ञान, शब्दार्थज्ञान आदि) हो जाती है। इसी अभिप्राय को निम्नांकित दो कारिकाओं से ग्रन्थकार बता रहे हैं—

शब्दवृद्धेति। बालक, 'शब्दवृद्धाभिधेयान्' अर्थात् कान से सुनाई देते वाले 'देवदत्त गामानय' इत्यादि वाक्यरूप शब्द को, तथा 'प्रयोजकवृद्ध और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रयोज्यवृद्धों को, और 'अभिधेय' यानी गवानयनादिरूप अभिधेय अर्थ को 'प्रत्यक्षेण' प्रत्यक्ष के हेतुभूत (निमित्त) श्रोत्र, चक्षुरादि से 'पश्यति' देखता है (साक्षात् करता है)। अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय से 'शब्द' को और चक्षुरिन्द्रिय से दोनों 'वृद्धों तथा अभिधेय' को देखता है। एवं च 'प्रयोजकवृद्ध—प्रयोज्यवृद्ध, प्रयुज्यमान शब्द और गवानयनादि क्रिया' ये सब, प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। कारिकागत 'श्रोतुश्च' के 'च'कार को 'प्रतिपन्नत्व' के साथ जोड़ना चाहिये। 'अनुमान' पद को यहाँ पर करणल्युडन्त (अनुमीयते अनेनेत्यनुमानम्) समझना चाहिये। तब अर्थ होगा कि प्रयोज्यवृद्धश्रोता की वाक्यार्थाभिज्ञता (प्रतिपन्नत्व) को अनुमितिकरणभूत गवानयनादि रूप चेष्टा—(क्रिया–व्यापार) त्मक हेतु से वह बालक 'पश्यति' जानता है, अर्थात् अनुमान करता है। 'श्रोतुः' का अन्वय 'चेष्टया' के साथ करना चाहिये।

कारिकागत 'अन्यथानुपपत्त्या' का 'अर्थापत्त्या' के साथ अभेदेन अन्वय करना चाहिये। तब अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्तिप्रमाण से 'द्व्यात्मिकां शक्तिं बोधेत्' यानी वाचकत्व और वाच्यत्व दोनों प्रकार की शक्ति (संकेत), यानी वाक्य-वाक्यार्थ के सम्बन्ध को अन्यथानुपपत्ति—'गामानय इत्यादिवाक्यश्रवणात् गवानयनाद्यर्थज्ञानम् एतद्वाक्येन एतदर्थस्य वाच्य-वाचकसंबंधं विना अनुपपन्नम्'—रूप (अनुपपत्ति रूप) अर्थापत्ति (अर्थापत्तिनामक प्रमाणरूप हेतु) से जानना चाहिये। उसके बाद 'त्रिप्रमाणकं संबन्धम् अवबोधेत' अर्थात् उक्त रीति से प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्तिरूप तीन प्रमाणों से अवगत हुए सम्बन्ध (संकेत) को जानना चाहिये। अभिप्राय यह है कि आवापोद्वाप के द्वारा 'गो' शब्द का 'गो' ही अर्थ है, 'अम्' विभक्ति का 'कर्मत्व' अर्थ है—इस रीति से विशेषतः पद-पदार्थ-निष्ठतया निश्चय करना चाहिये। एवं च शक्तिग्रह को त्रिप्रमाणक बताया गया है। प्रभा, चक्रवर्ती, उद्योतादि व्याख्याकारों ने भी इसी शैली से उक्त कारिकाओं की व्याख्या की है।

विशेष विवरण—ऊपर बता चुके हैं कि अभिहितान्वयवादी भाट्टमीमांसकों को भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जनाव्यापार ही मानना होगा। उसी तरह अन्विताभिधानवादी मीमांसकों को भी व्यंग्यार्थ के बोधनार्थ व्यञ्जनाव्यापार ही मानना होगा। तथाहि—

अन्विताभिधानवाद में भी व्यञ्जना की अनिवार्यता—

'अन्विताभिधानवाद' के समर्थक प्रभाकर मीमांसक हैं। इनका कहना है कि 'प्रत्येक पद' अभिधाशक्ति से अन्वित अर्थ को ही बताता है, अनन्वित अर्थ को नहीं। अर्थात् सामान्यरूप से अन्वित अर्थ ही उपस्थित होता है। किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष अर्थ के साथ अन्वित अर्थ की उपस्थिति नहीं होती, क्योंकि एक ही शब्द का अनेक शब्दों के साथ भिन्न-भिन्न रूप में प्रयोग होता है। इनके मत में अभिधा से ही अन्वित अर्थ की उपस्थिति होने के कारण इन्हें वाक्यार्थ प्रतीति के लिए 'तात्पर्या' शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

शंका—किसी विशेष अर्थ के साथ अन्वित हुए अर्थ को ही अभिधा-शक्ति क्यों नहीं बताती ?

समाधान—किसी विशेष अर्थ से अन्वित हुए शब्द का उस विशेष अर्थ में शक्तिग्रह मानने पर आनन्त्य और व्यभिचार दोष होंगे। इसलिए सामान्यरूप से अन्वितमात्र में ही शक्तिग्रह माना है। किसी विशेष अर्थ के साथ अन्वितरूप में शक्तिग्रह नहीं होता है।

एवं च 'विशेष अर्थों के सम्बन्धविशेषरूप वाक्यार्थ' को ही उपस्थित करने में अभिधाशक्ति समर्थ नहीं हो पाती, तब उस वाक्यार्थ के बाद प्रतीत होने वाले 'अतिविशेषभूत व्यङ्ग्य अर्थ' की प्रतीति को अभिधा से बताना कहाँ तक उचित होगा ? अर्थात् व्यंग्यार्थ को अभिधा से बताये जाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः इस अन्विताभिधानवाद में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए 'व्यंजनाव्यापार' को ही मानना होगा।

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद दोनों ही में व्यंग्यार्थ के बोधन के लिए व्यञ्जनावृत्ति को माने बिना काम नहीं चलता, क्योंकि अभिधाशक्ति से वह काम नहीं हो पा रहा है। प्रभाकर मीमांसक का सिद्धान्त है कि 'अन्वित अर्थ में' ही शक्तिग्रह होता है, अनन्वित में नहीं। 'अस्माच्छब्दात् अयमर्थो बोद्धव्यः'—अमुक शब्द से अमुक अर्थ समझना चाहिये—यह 'शक्तिग्रह' का स्वरूप है। इस शक्तिग्रह के कतिपय उपाय शास्त्रकारों ने बताये हैं—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान-कोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, वाक्यशेष, विवृति (व्याख्या), सिद्ध (ज्ञात) पद की सन्निधि आदि उपायों से किसी अर्थ में शब्द का शक्तिग्रह होता है। इन सभी उपायों में से 'व्यवहार' उपाय की प्रधानता सर्वसम्मत ही है। अन्य उपायों का उपयोग बड़ी अवस्थावाले अध्ययनशील लोगों के लिए हो सकता है, किन्तु छोटे बालक के लिए तो 'व्यवहार' संज्ञक उपाय ही शक्तिग्रह का सरल उपाय है। क्योंकि छोटा बालक अपने घर में हमेशा देखता-सुनता रहता है कि माता-पिता (उत्तमवृद्ध), अपने छोटे भाई या पुत्र या नौकर आदि (मध्यमवृद्ध) से कह देते हैं कि 'गाम् आनय'—गौ को ले आओ। तब मध्यमवृद्ध 'गौ' को ले आता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। किन्तु वह छोटा बालक न तो 'गाम्' शब्द का अर्थ जानता है और न ही 'आनय' शब्द का अर्थ जानता है। लेकिन माता या पिता (उत्तमवृद्ध) के द्वारा कहे गये—'गाम् आनय' शब्द को उस बालक ने सुना है। और तदनन्तर ही मध्यमवृद्ध (पुत्र, नौकर या छोटे भाई) के द्वारा की जानेवाली 'गवानयन' क्रिया को देखता भी है। उसे देखकर बालक अनुमान करने लगता है कि मध्यमवृद्ध ने जो 'गवानयन क्रिया' की है, वह उत्तमवृद्ध के वाक्य को सुनने के अनन्तर ही की है। अतः मध्यमवृद्ध ने उत्तमवृद्ध के द्वारा कहे गये वाक्य का अर्थ समझा है। अनुमान का आकार यह होगा—'अयमेतच्छब्दजन्यैतदर्थगोचरज्ञानवान्, एतच्छब्दश्रवणानन्तरमेतदर्थगोचरचेष्टावत्त्वात्'—इस अनुमान से बालक को विश्वास (निश्चय) हो जाता है कि उत्तमवृद्ध के उच्चरित वाक्य (गाम् आनय) का यही (गवानयन) अर्थ है। तात्पर्य यह है कि बालक को संपूर्ण वाक्य का अर्थ अवगत हो जाता है। तथापि वाक्यघटक प्रत्येक शब्द का अर्थ अभी ज्ञात नहीं हुआ है। तदनन्तर 'गाम् नय'–गौ को ले जाओ, 'अश्वम् आनय' घोड़े को ले आओ, इन वाक्यों को सुनकर और तदनन्तर ही मध्यमवृद्ध के द्वारा की जानेवाली क्रिया (गोनयन और अश्वाऽऽनयन) को देखते रहने से उस बालक को पूर्वोच्चरित वाक्य के प्रत्येक शब्द का अर्थ समझ में आ जाता है। 'शक्तिग्रह' प्राप्त करने की इसी व्यावहारिक प्रक्रिया को आजकल के अंग्रेजी शिक्षादीक्षित 'इन् डायरेक्ट मेथड्' कहते हैं। इसी प्रक्रिया को ग्रन्थकार ने—'शब्दवृद्धाभिधेयाँश्च……… त्रिप्रमाणकम्' इन दो कारिकाओं के द्वारा बताया है। इन कारिकाओं के अर्थ को समझने के लिए निम्नांकित शैली को बुद्धिगत कर लेना चाहिये—

(१) इन कारिकाओं में प्रत्येक वाक्य का कर्ता 'बाल' है।

(२) कारिकागत 'प्रत्यक्षेणात्र पश्यति' के 'प्रत्यक्ष' शब्द से चाक्षुष और श्रावण प्रत्यक्ष के साधनभूत 'चक्षु' और 'श्रोत्र' होते हैं। तथा 'पश्यति' शब्द 'शृणोति' का भी उपलक्षक है। क्योंकि 'वृद्ध' और 'अभिधेय' (गवानयनानयनादि) को तो चक्षु से देखते ही हैं। किन्तु 'शब्द' का ज्ञान, चक्षु से न होकर 'श्रोत्र' से ही होता है।

(३) 'वृद्ध' शब्द से 'उत्तमवृद्ध', अर्थात् पिता, माता, गुरु आदि आज्ञा देने वाला, और 'मध्यमवृद्ध' से छोटा भाई, पुत्र, नौकर आदि को समझना चाहिये।

'येऽप्याहुः'—इस वृत्तिग्रन्थ से लेकर आगे बताये गये 'इतिविशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्'—तक एक वाक्य है। इस वाक्य से 'अन्विताभिधानवाद' के स्वरूप को बताया गया है। तदनन्तर 'यद्यपि' से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति प्रतिपादितदिशा—

देवदत्त गामानयेत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति अनेनास्माद्वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्न इति तच्चेष्टयाऽनुमाय तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं

लेकर 'इत्यन्विताभिधानवादिनः' तक के ग्रन्थ से 'अन्विताभिधानवाद' के सूक्ष्म रूप को बताया है। तदनन्तर ग्रन्थकार ने उसका खण्डन किया है।

इति प्रतिपादितदिशेति। वृत्तिगत 'इति प्रतिपादितदिशा' का आगे दिये गये 'अवधारयति' के साथ अन्वय करना चाहिये। उक्त दोनों कारिकाओं का विवरण ग्रन्थकार स्वयं कर रहे हैं—देवदत्तेत्यादि। 'देवदत्त गामानय'········ नयति सति' तक का अंश, 'शब्दवृद्धाभिधेयाँश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति'—इस कारिकांश का विवरणरूप है। और 'अनेनास्माद् वाक्यात्·········तच्चेष्टयानुमाय' तक का अंश, 'श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया'—इस कारिकांश का विवरणरूप है। तथा 'तयोरखण्ड·········बालस्तत्र व्युत्पद्यते'—तक का अंश, 'अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्। अर्थापत्त्या'—इस कारिकांश का विवरणरूप है। 'वाच्य-वाचकभावलक्षणं संबन्धम्'—यह अंश, कारिकागत 'शक्तिं' का विवरणरूप है। 'परतः चैत्र गामानय·····तमर्थमवधारयतीति'—तक का अंश, 'त्रिप्रमाणकम्'—इस कारिकांश का विवरणरूप है। इस प्रकार कारिका और उसकी वृत्ति को समझने पर अन्विताभिधानवाद के उपपादक वृत्ति-ग्रन्थ का अर्थ इस प्रकार होगा।

देवदत्त गामानयेति। 'देवदत्त'! गाय को लाओ'—इस प्रकार पिता-गुरु आदि उत्तमवृद्ध (प्रयोजकवृद्ध) के द्वारा किये गये वाक्य-प्रयोग के पश्चात् एक जगह से दूसरी जगह पर सास्ना (गलकम्बल) युक्त अर्थ (गोरूप वस्तु) को ले आते हुए मध्यमवृद्ध (पुत्र आदि प्रयोज्यवृद्ध) को देखकर 'अनेन अस्माद् वाक्यादेवं विधोऽर्थः प्रतिपन्नः'—इस मध्यमवृद्ध ने उत्तमवृद्ध के द्वारा कहे गये 'गाम् आनय' वाक्य से इस प्रकार का गवानयन रूप अर्थ, समझा है—ऐसा, उस मध्यमवृद्ध की गवानयनरूप चेष्टा से बालक ने 'अयमेतच्छब्दजन्यैतदर्थगोचरज्ञानवान्, एतच्छब्दश्रवणानन्तरमेतदर्थगोचरचेष्टावत्त्वात्'—यह अनुमान कर लिया, और अखण्डवाक्य तथा अखण्डवाक्यार्थ दोनों के वाच्य-वाचकभावरूप संबंध को 'अर्थापत्ति' नामक प्रमाण से निश्चित किया। इस रीति से उक्त व्युत्पित्सु बालक को अखण्ड वाक्य और अखण्ड वाक्यार्थ दोनों के वाच्य-वाचकभाव संबन्ध का ज्ञान हो जाता है। एवं च तीनों प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति) की सहायता से वाक्य और वाक्यार्थ दोनों का स्वरूप जिसमें है ऐसा शक्तिज्ञान (संकेत ग्रहण)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सम्बन्धमवाधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते परतः 'चैत्र गामानय, देवदत्त अश्वमानय, देवदत्त गां नय' इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तन्तमर्थमवधारयतीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सङ्केतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् ।

होता है। वह शक्ति, 'आश्रयत्वेन' शब्दों में और 'विषयत्वेन' अर्थों में रहती है।

विशेष विवरण—बालक को शक्तिज्ञान (संकेत-ग्रहण) तीन प्रमाणों के बल पर होता है—यह बताया गया है।

शंका—उपर्युक्त कथन हृदयग्राही नहीं हो रहा है, क्योंकि—जिस छोटे से बालक को अभी शब्दार्थ का भी ज्ञान नहीं है, उसे अनुमान की प्रक्रिया तथा अर्थापत्ति का ज्ञान होगा, यह कैसे संभव हो सकता है ?

समाधान—यद्यपि अनुमान की प्रक्रिया से तथा अर्थापत्ति-प्रमाण से बालक का परिचय नहीं है, तथापि उसके ज्ञान में वे सहायक होते ही हैं, भले ही उस बालक को उनकी प्रत्यभिज्ञा न हो। अतः उपर्युक्त कथन में कोई अनौचित्य नहीं है।

अब आवाप और उद्वाप के द्वारा विशेष में संकेत-ग्रह (शक्तिग्रह) के प्रकार को बताते हैं। क्योंकि शब्द से अर्थज्ञान का होना किसी वृत्ति के बिना अनुपपन्न है। अन्यथा अतिप्रसंग होगा। उस स्वाभाविक सम्बन्धरूप शक्ति का ज्ञान, आवापोद्वापदर्शनसहकृत अर्थापत्ति से होता है। आनयनान्वित 'गो' में 'गो' पद की शक्ति है। क्योंकि 'तदितराऽप्रतिपाद्यत्वे सति प्रतिपाद्यत्व-रूपा' वह शक्ति है।

परत इति। 'परतः' अर्थात् क्रियान्वित कारक में 'कारक' पद की ओर कारकान्वित क्रिया में 'क्रिया' पद की शक्ति का ज्ञान होने पर, उत्तमवृद्ध पुनः मध्यमवृद्ध से कहता है कि 'चैत्र ! गामानय'—चैत्र गाय को लाओ, 'देवदत्त ! अश्वमानय'—देवदत्त घोड़े को लाओ, 'देवदत्त ! गां नय'—देवदत्त ! गाय को ले जाओ—तब इन वाक्यों को सुनकर वह बालक तत्तत् शब्द के तत्तत् अर्थ को निश्चित रूप से जान जाता है। इस 'अन्वय-व्यतिरेक' से प्रवर्तक-निवर्तक वाक्य ही प्रयोग के योग्य होता है। इसलिए वाक्यगत अन्वित पदों का ही अन्वित पदार्थों के साथ संकेत (शक्ति) का ग्रहण किया जाता है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि केवल शुद्ध (अनन्वित) पदार्थों का संकेत-ग्रह नहीं हुआ करता। जैसा कि अभिहितान्वयवादियों ने बताया था। अतः 'विशिष्टा एव' यानी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अन्वयविशिष्ट (परस्परान्वित) पदार्थ' ही 'वाक्यार्थ' कहे जाते हैं। 'न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' वाक्यार्थः, अर्थात् शुद्ध (अनन्वित) पदार्थों का, बाद में ज्ञात होने वाला वैशिष्ट्य (सम्बन्ध, संसर्ग) वाक्यार्थ नहीं है।

विशेष विवरण—ग्रन्थकार ने 'अन्विताभिधानवाद' और 'अभिहितान्वयवाद' को 'विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः' और 'न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्' से क्रमशः बता दिया है। प्रभाकर के 'अन्विताभिधानवाद' में परस्पर अन्वित पदार्थों को ही वाक्यार्थ के रूप में, पदों के द्वारा उपस्थित किया जाता है। और 'अभिहितान्वयवाद' में प्रथमतः पदों के द्वारा केवल (शुद्ध, अनन्वित) पदार्थों को उपस्थित किया जाता है। पश्चात् आकांक्षा आदि की सहायता से उनका परस्पर अन्वय (संसर्ग) होता है।

ग्रन्थकार ने 'आवाप-उद्वाप' शब्द का प्रयोग किया है। अतः उनका स्वरूप जानना आवश्यक है। 'चैत्र गामानय'—यहाँ 'आवाप' है। 'देवदत्त गां नय'—यहाँ उद्वाप है। विशेष में शक्ति का अवधारण अन्वय-व्यतिरेक से होता है। अर्थात् 'गो' आदि पदों के आवाप-उद्वाप (गो आदि पदों के प्रयोग और अप्रयोग) से जो अन्वय-व्यतिरेक की प्रतीति होती है, उसीसे 'गो' आदि पदार्थों की प्रतीति होती है। जैसे—'गो' 'पदसत्त्वे एव गवार्थप्रतीतिः' और 'गोपदस्य असत्त्वे गवार्थस्य अप्रतीतिः'—इसलिए 'गो' पद का ही 'गौ' अर्थ है—यह निश्चय हो जाता है।

शंका—तथापि आकांक्षा आदि की महिमा से पदार्थवैशिष्ट्यरूप वाक्यार्थ की प्रतीति हो सकती है। तब 'विशिष्ट पदार्थों को वाक्यार्थ कहने की और उसमें शक्ति मानने की आवश्यकता क्या है ?

समाधान—ग्रन्थकार ने इसका समाधान यह दिया है कि 'प्रवृत्ति-निवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यम्'। 'प्रवृत्ति-निवृत्तिकारि'—यह हेतुगर्भविशेषण हैं। अतः प्रवृत्ति-निवृत्तिकारि वाक्य ही होता है, इसलिए वही प्रयोग करने के योग्य है। जैसे—'गामानय' यह वाक्य गवानयन के प्रति प्रवृत्तिकारि है। 'प्रयोग योग्यम्' कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द-प्रयोग दूसरे के लिए (परार्थ) किया जाता है। वाक्य से ही दूसरे की इष्ट-अनिष्ट साधनों में प्रवृत्ति, निवृत्ति हुआ करती है। इसलिए वाक्य का ही सर्वदा प्रयोग किया जाता है। उस वाक्य में पदों के ही उपस्थित रहने के कारण अन्वित अर्थ में उन्हीं का अभिधान-सामर्थ्य है—यह निश्चित किया जाता है।

व्युत्पत्तिग्रहण का प्रकार जो प्रदर्शित किया गया है, उस कारण यह कहा जा रहा है कि 'वाक्यत्वेन परस्परान्वितबोधकतया स्थित (वाक्यस्थित) परस्पर-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि

साकांक्ष (अन्वित) पदों का ही अन्वित पदार्थों (पदार्थान्तर से संसृष्ट हुए) के साथ संकेत (शक्ति) ग्रहण किया जाता है। अतः 'दण्डेन गामभ्याज' में करणान्वित 'गो' में 'गो' पद की शक्ति नहीं मानी गई है, क्योंकि 'प्रत्यय' अपने प्रकृत्यर्थ के प्रति ही साकांक्ष रहता है। अर्थात् कारक को क्रिया की ही आकांक्षा रहती है। अन्वित में व्यवहार होने के कारण ही परस्पर संसृष्ट (संबद्ध, अन्वित) तथा पद-वृत्ति के विषय (पदशक्य) हुए पदार्थ ही 'वाक्यार्थ' कहलाते हैं यानी वाक्य-प्रतिपाद्य होते हैं। अर्थात् परस्परसंसृष्ट पदार्थ ही, वाक्यप्रतिपाद्य होते हैं। 'विशिष्टा एव' यहाँ 'एव'कार से व्यवच्छेद्य को बताया गया है। एवं च अभिहितान्वयवादियों ने जो यह कहा था कि—'पदैरभिधया प्रतिपादितानामर्थानामाकांक्षायोग्यतासन्निधिवशाद् भासमानः सम्बन्धरूपोऽर्थोऽपदार्थोऽपि तात्पर्याख्यया वृत्त्या वाक्यार्थः'—वह उचित नहीं है।

प्रदीपकार का भी यही अभिप्राय है—'उक्तरीति से संकेतग्रह तो प्रथमतः व्यवहार से ही होता है', क्योंकि व्याकरणादि अन्य संकेत-ग्राहकों को शाब्दबोध की अपेक्षा रहने से उनका प्राथम्य नहीं है। मध्यमवृद्ध का गवानयन-प्रवृत्त्यादिरूप व्यवहार हमेशा ही उत्तमवृद्धोक्त 'गामानय' वाक्य के सुनने पर ही होता है। केवल 'गो' पद के श्रवण करने मात्र से कभी नहीं होता। किन्तु वाक्यस्थित पदों के अर्थ, नियत-रूप से पर-पदार्थ के साथ अन्वित रहते हैं। जैसे—'गो' शब्द 'गामानय' में 'आनयन' के साथ, 'गां रक्ष' में 'रक्षण' के साथ अन्वित है। अतः व्यवहार-मूलक संकेतग्रह, अन्वित 'गो' आदि में ही होता है। उसी तरह तदुत्तरभावी होने वाले व्याकरणमूलक शक्तिग्रह भी अन्वितपदार्थ-विषयक ही होते हैं। इस कारण अन्वयबोधार्थ तात्पर्यावृत्ति' के स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं होती।'

शंका—'गामानय' में जो 'आनयन' पद है, वही तो 'अश्वमानय' में भी है, यह निर्णय प्रत्यभिज्ञा के बल पर हम कर लेते हैं। अर्थात् दोनों वाक्यों में एक ही 'आनयन' पद है। एवं च 'आनयन' पद का 'गवान्वितत्व' या 'अश्वान्वितत्व' अर्थ नहीं है। किन्तु उभयसाधारणता लाने के लिए सामान्यतः 'अपरपदार्थान्वितानयनत्वेन अपर-पदार्थान्वितानयन ही 'आनयन' का अर्थ है। तथा च 'गामानय' इत्यादि में 'गवान्वयरूप विशेषान्वय के बोधनार्थ 'तात्पर्यवृत्ति' को स्वीकार करना ही होगा। इसी शंका को ग्रन्थकार वृत्तिग्रन्थ के द्वारा बता रहे हैं।

शंका—यद्यपीति। यद्यपि 'गामानय' इस वाक्य के अतिरिक्त 'अश्वमानय' इस दूसरे वाक्य में कहे गये (प्रयुक्त किये गये) 'आनय' आदि पद का प्रत्यभिज्ञा (तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा) की महिमा से 'यह वही पद है, जो पूर्व-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः सङ्केतगोचरः तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूत-

---

वाक्य में प्रयुक्त हुआ था'—ऐसा निश्चय किया जाता है। इसलिए सामान्यतः अन्य पदार्थ के साथ अन्वित हुए पदार्थ में ही संकेतग्रह होता है। विशेष में अन्वितरूप से नहीं। अन्वित में शक्तिग्रह मानने वाले के पक्ष में 'संसर्ग-विशेष' तो अवाच्य ही रहेगा, क्योंकि इतर-पदार्थान्वित में ही 'शक्तिग्रह' का होना बताया जा रहा है। अन्यथा 'गामानय' कहने के बाद 'गाम् अपसारय' कहने पर 'तदेव इदम्'—यह वही पद है, ऐसो प्रत्यभिज्ञा तो होगी नहीं। क्योंकि गवानयन और उसका अपसारण, ये दोनों अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए उनके वाचकशब्द भी भिन्न-भिन्न हैं। तब 'विशेष' का बोध कैसे होगा ? जैसे नैयायिकों के मत में 'गोत्वेन सामान्यतः शक्तिग्रह' होने पर भी आकांक्षादिवशात् 'गोविशेष' का बोध होता है, उसी तरह सामान्यतः 'अपरपदार्थान्वितत्वेन विशेष' में शक्तिग्रह होने पर भी आकांक्षादिवशात् समभिव्याहृत-'गाम्' पदार्थके साथ जो अन्वय होता है, उसके बल पर 'गवान्वितत्वरूप' विशेष के साथ अन्वय का बोध हो जाता है। 'गाम्' पदार्थ के साथ अन्वित हुआ आनयन' पदार्थ ही 'गवान्वित आनयन' है—यह समाधान ग्रन्थकार के शब्दों में अब बता रहे हैं—

समाधान—तथापीति। अन्विताभिधानवादी 'विशेष' (व्यक्ति) के बोधार्थ यह समाधान दे रहा है कि 'सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एव असौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वात्'। इस ग्रन्थ का अभिप्राय यह है कि शंका करने वाले ने जो कहा है कि 'विशेष' में अन्वित रूप से शक्तिग्रह न होने से 'विशेष' का बोध कैसे होगा ? यह शंका यद्यपि आपाततः ठीक प्रतीत हो रही है; तथापि परस्परसम्बद्ध (व्यतिषक्त) पदार्थों के तथाभूत होने से अर्थात् 'विशेषरूप' रहने से ही 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस नियम के अनुसार 'सामान्य से अवच्छादित (अवच्छिन्न) यानी 'गोत्वेन अवच्छिन्न समस्त गायों' में जैसे शक्तिग्रह होता है। अथवा जैसे 'घटस्य रूपम्' में षष्ठी का अर्थ संबन्ध-सामान्य है, फिर भी सम्बन्धत्वेन 'समवाय' रूप सम्बन्धविशेष में शक्तिग्रह होता ही है। उसी तरह वह शक्तिग्रह (संकेतग्रह) विशेषरूप में ही परिणत हो जाता है। अर्थात् अपर पदार्थान्वित आनयनत्वरूप सामान्यधर्म से अवच्छिन्न हुए विशेष में संकेतग्रह हो जाता है, जिससे समस्त 'आनयनादि' पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। क्योंकि परस्पर अन्वित (व्यतिषक्त) पदार्थ विशेषरूप (तथाभूत) ही होते हैं—यह अन्विताभिधानवादियों का कहना है। अर्थात् परस्पर सम्बद्ध हुए अर्थों का ही शब्द अपनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्वादित्यन्विताभिधानवादिनः । तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः

अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतिपादन (अभिधान) करता है । यही अन्विताभिधानवाद का स्वरूप है । यानी 'अन्वितानामर्थानामभिधानमन्विताभिधानम्'—यह प्राभाकर मीमांसकों का मत है ।

विशेष विवरण—पहिले बता चुके हैं कि 'अन्विताभिधानवाद' में वाक्य के द्वारा 'परस्पर अन्वित पदार्थों' को ही वाक्यार्थ के रूप में उपस्थित किया जाता है । और 'अभिहितान्वयवाद' में प्रथमतः पदों के द्वारा केवल (शुद्ध, अनन्वित) पदार्थों को उपस्थित किया जाता है । बाद में उनका परस्पर अन्वय (संबन्ध) होता है । व्यवहार के द्वारा शक्तिग्रह की पद्धति को भी बताया गया है । तदनुसार 'गामानय' आदि वाक्य को सुनकर किये गये 'गवानयन' आदि व्यवहार के द्वारा अन्वित-पदार्थ में ही शक्तिग्रह (संकेत-ग्रह) होता है, केवल 'पदार्थ' में नहीं, यह भी बता दिया गया है । तथापि जिज्ञासा यह होती है कि यह अन्वय (संबंध) किसके साथ गृहीत होता है । किसी 'विशेष अर्थ' के साथ या 'सामान्य अर्थ' के साथ ? 'विशेष अर्थ' के साथ अन्वय मानने पर उसमें शक्तिग्रह नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'गवानयन' व्यवहार से 'गोविशिष्ट आनयन' में यदि शक्तिग्रह कहें तो 'अश्वमानय' कहने पर पूर्व हुए शक्तिग्रह से अब अर्थ ज्ञान नहीं हो सकेगा । अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न वाक्यों में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ बोला जाता है । किसी एक अर्थ के साथ अन्वित होने वाले में शक्तिग्रह मानने पर किसी दूसरे वाक्य में प्रयुक्त उसी शब्द से अर्थबोध नहीं हो पायेगा । अतः निष्कर्ष यह निकला कि किसी विशेष अर्थ के साथ अन्वित अर्थ में शक्तिग्रह (संकेतग्रह) नहीं हो सकता । केवल सामान्यरूप से अन्वित अर्थ में शक्तिग्रह माना जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में 'अन्विताभिधानवाद' की सिद्धि नहीं हो पायेगी । अन्विताभिधानवाद के सिद्ध्यर्थं तो 'विशेष' के साथ अन्वित हुए अर्थ में ही शक्तिग्रह का होना आवश्यक है ।

इस पर अन्विताभिधानवादी का कहना है कि यद्यपि एक ही शब्द (पद), भिन्न-भिन्न शब्दों के साथ बोला जाता है, उस कारण किसी विशेष अर्थ के साथ अन्वित हुए में शक्तिग्रह का होना संभव नहीं हो सकता है । इसलिए सामान्यरूप से अन्वित अर्थ में ही शक्तिग्रह मानना होगा—इतना तो वादी का कहना ठीक है, तथापि 'निर्विशेषं न सामान्यम्'–सामान्य के अन्तर्गत विशेष तो रहता ही है—इस नियम के अनुसार प्रत्येक सामान्य का विशेष में पर्यवसान अवश्य होता है । बिना विशेष के कोई सामान्य नहीं रहता है । इस कारण सामान्यरूप से अन्वित अर्थ का पर्यवसान भी 'विशेष' में होता है । वाक्य में अन्वित पदार्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सङ्केतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तरगतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा ।

'विशेष' ही है, वे सामान्यरूप नहीं हैं। इसलिए विशेष के साथ अन्वित अर्थ में शक्तिग्रह (संकेतग्रह) के स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है। अतः विशेषान्वित में शक्तिग्रह की उपपत्ति अच्छी तरह से हो जाती है।

अन्विताभिधानवादियों को भी 'व्यंजना' की आवश्यकता—

तेषामपीति। ग्रन्थकार 'व्यञ्जना' वृत्ति की अनिवार्यता सिद्ध करने के लिए कह रहे हैं कि 'तेषामपि मते' यानी अन्विताभिधानवादियों के मत में भी 'सामान्य-विशेषरूप' पदार्थ ही शक्तिग्रह (संकेतग्रह) का विषय होता है। तब उससे (कर्मत्वादि रूप सामान्य-विशेष अर्थ से) भिन्न, अर्थात् उसके भी बाद में प्रतीत होने वाला (प्रतीयमान), 'गामानय' इत्यादि वाक्यार्थ-मध्यनिविष्ट जो 'अतिविशेष' रूप अर्थ (गो, अश्व आदि व्यक्ति-विशेष के साथ अन्वित आनयन) संकेतित नहीं हो सका है; इसी कारण उसे वाच्यार्थ नहीं (अवाच्य) माना जा रहा है, तथापि अन्विताभिधानवादियों के यहाँ वह, पदार्थ के रूप में प्रतीत तो हो रहा है, किन्तु वह वाच्य नहीं है। ऐसी परिस्थिति में 'निःशेषच्युत' इत्यादि में वाच्यार्थबोध के भी बाद प्रतीयमान होने वाला 'विधि' रूप अर्थ, जो वाच्यरूप निषेध से (तदन्तिकगमननिषेधविरोधी तदन्तिकगमनरूप अर्थान्तर) व्यंग्य हो रहा है, उसके (विध्यर्थरूप व्यङ्ग्यार्थ के) बारे में 'वाच्य' होने की चर्चा (उसके वाच्यत्व का अनुसन्धान) करना तो बहुत दूर की बात है। क्योंकि वाक्यार्थ ही जब अनभिधेय है, तब उसकी प्रतीति के अनन्तर वक्तृबोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य से प्रतीयमान होने वाला व्यङ्ग्यार्थ तो अत्यन्त विप्रकृष्ट है।

विशेष विवरण—ग्रन्थकार ने (१) सामान्य, (२) सामान्यविशेष, (३) अतिविशेष तीन शब्दों का उल्लेख किया है। उनमें 'सामान्य' शब्द से 'साधारण रूप से अन्वितत्वमात्र' में तात्पर्य है। और 'सामान्यविशेष' का अर्थ 'कर्मत्वा-दिरूपसे अन्वितत्व' है तथा 'अतिविशेष' का अर्थ 'गो, अश्व आदि व्यक्तिविशेष के साथ अन्वितत्व' है। व्यञ्जनावादी का कहना है कि प्रभाकर के अन्विता-भिधानवाद को यदि स्वीकार किया जाय तो 'संकेतग्रह' 'सामान्यरूपसे अन्वित अर्थ' में ही कहना होगा, किन्तु उससे व्यवहार नहीं हो पायगा। जैसे किसी को घड़ा मंगाना है, तो उसने 'घटमानय'—घड़ा ले आओ—के बजाय 'वस्तु आनय'—वस्तु ले आओ कह दिया। किन्तु सुनने वाले व्यक्ति को 'वस्तु आनय' कहने से 'घटानयन' घट लानारूप अर्थ—का ज्ञान नहीं हो पायगा। यद्यपि 'वस्तु' शब्द से यच्च यावद् वस्तुओं का ज्ञान हो रहा है, तदन्तर्गत 'घट' भी है। अतः 'वस्तु'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्द 'घट' का भी ग्राहक हो सकता है। तथापि सामान्यरूप से 'घट' के ग्राहक 'वस्तु' शब्द से युक्त हुए 'वस्तु आनय' वाक्य से 'घट लाने' का अर्थ बोध, श्रोता को नहीं हो सकेगा। उसके लिए तो विशेषरूप से 'घट' शब्द को ही कहना होगा अर्थात् 'घटमानय' वाक्य का ही प्रयोग करना होगा। इतना तो ठीक है कि 'वस्तुत्वेन'—'वस्तु' पद-वाच्य 'घट' है, किन्तु 'घटत्वेन' वह (घट) अवाच्य ही है।

उसी तरह यद्यपि 'अपरपदार्थान्वितानयनत्वेन' (अभिहितान्वयवाद में केवल आनयनत्वेन) 'आनयन' पदवाच्य 'गवानयन' है, तथापि वह (गवानयन) 'गवानयन-त्वेन' अवाच्य ही है। अतः वह असंकेतित है। भले ही, वाक्यगम्य वह गवानयन, प्राथमिक बोध का विषय होता हो, तथापि उसे अभिधेय (अभिधाव्यापार का विषय) नहीं कहा जायगा। जब वही अभिधेय नहीं बन पाया तो तदनन्तर होने वाले व्यङ्ग्यार्थबोध को अभिधेय कैसे कहा जायगा ? उस व्यंग्यार्थबोध के लिए तो व्यंजना ही माननी होगी।

सामान्यरूप से अन्वित अर्थ में संकेतग्रह को मानने पर यदि व्यवहार करना संभव नहीं हो रहा है तो सामान्यान्वित (सामान्यरूप से अन्वित) में संकेतग्रह मत मानिये। 'निर्विशेषं न सामान्यम्'—इस नियम के अनुसार 'सामान्य-विशेष' में संकेतग्रह को मान लीजिये। तब 'गाम् आनय' इत्यादि वाक्यों में 'आनय' आदि पदार्थों का संकेतग्रह केवल सामान्यतः अन्वित पदार्थ में नहीं, अपितु 'सामान्य-विशेष' रूप से (कर्मत्वादिरूप से) अन्वित अर्थ में ही होता है। 'आनय' के साथ जब 'गाम्' या 'अश्वम्'—ये विशेष शब्द बोले जाते हैं, तब उससे (आनय शब्द से) सामान्यान्वित (सामान्यरूप से अन्वित) अर्थ की प्रतीति न होकर 'सामान्यविशेष' (कर्मत्वादिरूप से अन्वित) अर्थ की ही प्रतीति होती है। 'गाम् आनय'—इस वाक्य में कर्मभूत 'गाम्' पद, 'सामान्यविशेष' है। इसलिए 'आनय' पद, उस 'सामान्यविशेष' से अन्वित अर्थ का ही बोधक होता है। जब 'गाम्' के स्थान पर 'अश्वम्' का प्रयोग करते हैं, तब 'आनय' पद, कर्मभूत 'अश्व' से अन्वित 'आनयन' का बोधक हो जाता है। क्योंकि 'अश्वम् आनय' वाक्य में 'कर्म-त्वेन अन्वित अश्व' ही 'सामान्यविशेष' है। एवं च 'सामान्यविशेष' अर्थ में संकेत-ग्रह मानने पर पूर्व उपस्थित दोष ('सामान्यमात्र' में संकेत ग्रह मानने पर उपस्थित होने वाला दोष) प्राप्त नहीं होता है।

'गाम्', 'अश्वम्' आदि को 'सामान्यविशेष' कहने का कारण यह है कि यद्यपि 'गाम् आनय, अश्वम् आनय' आदि वाक्योंमें 'आनय' का सम्बन्ध 'गाम्' 'अश्वम्' आदि विशेष पदार्थों के साथ हो रहा है, तथापि वे (गाम्; अश्वम्) पद 'आनय' क्रिया के साथ 'कर्मत्व' रूप से ही (कर्मत्वेन रूपेण ही) अन्वित हो रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः ।

वह 'कर्मत्व', 'गो, अश्व' दोनों में समान रूप से (समानभाव से) रहता है। 'आनय' क्रिया, सकर्मक है। उसे 'कर्म' की अपेक्षा रहती है। इस 'आनय' क्रिया के साथ; कभी 'गाम्' तो कभी 'अश्वम्' उसके (उस क्रिया के) कर्म के रूप में अन्वित होते हैं। इस वाक्य में यद्यपि, 'गाम्, अश्वम्' पद, विशेष हैं, तथापि वे अपने विशेष-रूप से (व्यक्तिगत रूप से व्यक्तित्वेन रूपेण) अन्वित न होकर केवल 'कर्मत्व' रूप सामान्य (साधारण) संबंध से ही अन्वित हो रहे हैं। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'सामान्यविशेष' (कर्मत्वेन तो सामान्यरूप है और व्यक्तित्वेन विशेषरूप है) शब्द-प्रयोग इनके लिए किया है। एवं च 'सामान्यमात्र' में संकेतग्रह के बजाय 'सामान्य-विशेष' में संकेतग्रह का होना बताया गया है। 'गाम् आनय', 'अश्वम् आनय' आदि वाक्यों में यद्यपि 'गाम्' 'अश्वम्' पद, 'विशेष' हैं, तथापि दोनों में समानरूप से रहने वाला जो 'कर्मत्व' है, उस कर्मत्व रूप से ही वे पद 'आनय' क्रिया के साथ अन्वित हो रहे हैं। यही पदों का 'सामान्यविशेष' रूप है।

'गोत्व' और 'अश्वत्व' अथवा 'गो' और 'अश्व' आदि विशेष-व्यक्ति को यहाँ पर 'अतिविशेष' शब्द से कहा गया है। यह 'अतिविशेष'-रूप, वाक्यार्थ में प्रतीत होता है। किन्तु उसमें 'संकेतग्रह' नहीं होता है, क्योंकि 'व्यक्तिविशेष' में संकेत मानने पर 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार' दोष होंगे। यह व्यक्तिरूप 'अतिविशेष' अर्थ, वाक्यार्थ में प्रतीत होने पर भी उसमें (अतिविशेष में) संकेतग्रह न होने के कारण वह असंकेतित अर्थ है। अतः उसे 'वाच्यार्थ' नहीं माना जा सकता। अर्थात् वह 'अनभिधेय' है। उसके ज्ञान के लिए 'अभिधा' के अतिरिक्त किसी अन्य 'वृत्ति' को ही मानना होगा। एवं च 'अन्विताभिधानवाद' को स्वीकार करने पर भी उस 'अतिविशेष' अर्थ के बोधनार्थ 'तात्पर्या' या इसी प्रकार की अन्य किसी वृत्ति को मानना होगा। ऐसी स्थिति में वाक्यार्थ 'बोध' के अनन्तर प्रतीत होने वाले 'व्यङ्ग्यार्थ बोध' को 'अभिधेय' समझना कैसे संगत हो सकेगा ?

एवं च 'अभिहितान्वयवाद' के समान ही 'अन्विताभिधानवाद' में भी वाक्यार्थरूप 'अतिविशेष' का ज्ञान 'अभिधा शक्ति' से नहीं हो पा रहा है। इस कारण दोनों मतों में वाक्यार्थ ही जब 'अभिधा' के द्वारा अवगत नहीं हो पा रहा है, तब 'व्यङ्ग्यार्थ' के अभिहित होने की चर्चा का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार बता रहे हैं—

अनन्वित इति। 'अभिहितान्वयवाद' में 'अनन्वित अर्थ' वाच्य होता है, और 'अन्विताभिधानवाद' में सामान्यरूप से पदार्थान्तरमात्र से 'अन्वित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थ' वाच्य होता है। किन्तु 'अन्वितविशेष', अभिहितान्वयवाद में तथा 'अन्विताभिधानवाद' में कथमपि वाच्य नहीं होता है। अतः दोनों सिद्धान्तों में वाच्यार्थ से भिन्न ही वाक्यार्थ होता है। यानी 'अपदार्थ' (पदार्थ से भिन्न अर्थात् वाच्यार्थ से भिन्न) ही वाक्यार्थ होता है। जब 'वाक्यार्थ' ही स्वयं अपदार्थ (अनभिधेय) है, तब उसके बाद अवगत (प्रतीत) होने वाला जो 'व्यङ्ग्यार्थ' है, उसके वाच्य होने की कल्पना तो स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। अर्थात् 'व्यङ्ग्यार्थ' तो कभी वाच्य हो ही नहीं सकता। उस व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए तो इन दोनों वादियों को भी व्यञ्जना को स्वीकार करना ही होगा।

निरूपित अंश का सिंहावलोकन—

अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधान की प्रक्रिया सुकुमार-मति छात्रों को बड़ी कठिनाई से अवगत हो पाती है। उसे सुदृढ़ करने के लिये दृढ़ संस्कार की अपेक्षा होती है। तदर्थ आरंभ से अभी तक किये निरूपण को पुनः एक बार संक्षेप में बता दे रहे हैं। ग्रन्थकार मम्मटभट्ट, लोचनकार अभिनवगुप्तपाद के अनुयायी हैं। मीमांसकों को 'वाक्यतत्त्ववित्' कहा जाता है। अतः मीमांसकों के यहाँ वाक्यार्थविचार कैसे किया जाता है, उसे ग्रन्थकार ने प्रकृत प्रसंग में अपनी अभिमत व्यंजनासिद्धि के निमित्त उनके सिद्धान्तों को उपस्थित किया है। उनमें भाट्टमीमांसकों का 'अभिहितान्वयवाद' का सिद्धान्त है और प्राभाकर मीमांसकों का 'अन्विताभिधानवाद' का सिद्धान्त है। अभिहितान्वयवाद में 'वाक्यार्थ' का स्वरूप केवल 'पदार्थ' का स्वरूप नहीं है। क्योंकि पदार्थ (पद का अर्थ) 'सामान्य (जाति) रूप हुआ करता है। और वाक्यार्थ 'विशेषरूप' हुआ करता है। पदार्थ को (पद के अभिधेय अर्थ को) समान्य (जाति) रूप नहीं मानेंगे तो आनन्त्य और व्यभिचार दोष प्राप्त होंगे, और वाक्यार्थ को विशेषरूप इसलिए कहा जाता है कि वह, जाति (सामान्य) वाचक पदों के अर्थों का आकांक्षादिवशात् परस्पर संसर्ग (अन्वय) रूप अर्थ है, जो 'तात्पर्य' नामक वृत्ति से जाना जाता है। अतः व्यङ्ग्य-रूप अर्थ (अर्थशक्तिमूलध्वनि में 'वस्तु' या 'अलंकार' रूप अर्थ) को 'अभिधेय' (अभिधा से प्रतिपाद्य) नहीं कहा गया है। अतः पदार्थसंसर्ग (अन्वय) रूप अर्थ यानी वाक्यार्थ ही जब अभिधेय (अभिधावृत्ति से बोध्य) नहीं हो पारहा है तो व्यंग्यार्थ, जो वाक्यार्थ (पदार्थों के परस्पर संसर्गात्मक अर्थ) से सर्वथा विलक्षण (भिन्न) है, उसे अभिधेय कैसे कहा जायगा ? व्यंग्यार्थ तो विधिनिरूपक वाक्य में कहीं निषेधात्मक और निषेधनिरूपक वाक्य में कहीं विध्यात्मक भी हुआ करता है। एवं च अभिहितान्वयवाद में भी 'व्यंग्यार्थ' अभिधेय नहीं होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदप्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इति, तत्र निमि-

उस व्यंग्यार्थ के बोधनार्थ, अभिधा के अतिरिक्त किसी अन्य वृत्ति को ही स्वीकार करना होगा, जिसे 'व्यञ्जना' वृत्ति के नाम से कहा जाता है।

प्राभाकरों के अन्विताभिधानवाद में परस्पर अन्वित पदार्थ (स्वभावतः एव परस्पर सम्बद्ध पदार्थ) अभिधाशक्ति से ज्ञात हुआ करते हैं। इस मत में अनन्वित पदार्थ, अभिधेय नहीं हुआ करते। ये अन्वित पदार्थ, केवल सामान्यरूप नहीं हैं, अपितु सामान्यरूप पदार्थ से आक्षिप्त 'विशेषरूप' ही हैं। ये सामान्य-विशेषरूप पदार्थ ही अभिधेय हुआ करते हैं। उस 'सामान्य-विशेष' अर्थ के अतिरिक्त और तदुत्तरवर्ती होने वाला जो 'अतिविशेषरूप अर्थ' है, वह तो अवाच्य ही है, तथापि पदार्थ के रूपमें उसकी प्रतीति होती है। जब वही अभिधेय (वाच्य) नहीं हो रहा है, तब उसके भी बाद होने वाला जो व्यंग्यार्थ है उसे वाच्य (अभिधेय) कैसे समझा जायगा ? यानी वह तो कभी अभिधेय हो ही नहीं सकता। उसके बोधार्थ इन अन्विताभिधानवादियों को भी 'व्यंजना' माननी ही होगी। दोनों मीमांसकों के सिद्धान्तों में 'वाक्यार्थ' तो 'संसर्ग' रूप ही है, वह पदार्थ (किसी पद का अर्थ) नहीं है। वह (वाक्यार्थ) तो 'अति-विशेष' रूप है।

एवं च 'अन्वितविशेषरूप' वाक्यार्थ तक भी जब 'अभिधा' नहीं पहुँच पा रही है, तब उसके बाद होने वाले व्यंग्यार्थ तक उसकी (अभिधा की) पहुँच कैसे हो पायेगी ? उसके बोधनार्थ 'व्यञ्जना' को मानना होगा। उस पर मीमांसक पुनः कहता है कि जैसे वाच्यार्थ का ज्ञान एकमात्र अभिधा से ही हो जाता है, तदतिरिक्त अन्य किसी वृत्ति की आवश्यकता नहीं होती, उसी तरह 'व्यंग्यार्थ' का बोध भी एक मात्र 'अभिधा' से ही हो सकता है। उसके लिए भी तदतिरिक्त 'व्यञ्जना' आदि किसी अन्य वृत्ति की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'नैमित्तिक (कार्य) को देखकर ही उसके निमित्त (कारण) की कल्पना की जाती है'—इस नियम के आधार पर 'व्यंग्यार्थ' रूप नैमित्तिक (कार्य) भी 'शब्द' रूप 'निमित्त' से ही होता है। 'शब्द' और 'व्यंग्यार्थ' दोनों में निमित्त-नैमित्तिक (कारण-कार्यभाव) संबन्ध है। अतः 'अभिधा' से ही उस व्यंग्यार्थरूप नैमित्तिक का ज्ञान हो सकता है। उसके लिए व्यंजना मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी बात को ग्रन्थकार अग्रिम ग्रन्थ से बता रहे हैं—

यदपीति। मीमांसकों के द्वारा जो यह कहा जाता है कि 'नैमित्तिक' (कार्य) के अनुसार उसके निमित्त (कारण) की कल्पना की जाती है। तदनुसार 'शब्द और व्यंग्यार्थ' का 'निमित्त—नैमित्तिकभाव' संबन्ध रहने से शब्द,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ? शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वं, ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य कथं, ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव स चान्वितमात्रे, एवं च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यविचारिताभिधानम् ।

अपनी अभिधाशक्ति से ही उसे बताने में समर्थ है। उसे बताने के लिए अन्य वृत्ति (व्यञ्जना) की कल्पना करना उचित नहीं है।

तत्र निमित्तत्त्वमिति। मीमांसक के उपर्युक्त कथन पर आलंकारिक उससे पूछ रहा है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति में शब्द का निमित्तत्व 'कारकत्व' रूप है, या 'ज्ञापकत्व' रूप है ? 'शब्द' को आप कारक रूप से निमित्त नहीं कह सकते, क्योंकि 'शब्द' तो 'अर्थ का प्रकाशक हुआ करता है, उत्पादक' नहीं। जो 'कार्य' का उत्पादक होता है, उसे 'कारक' कहा जाता है। इसलिए व्यंग्यार्थ के प्रति 'शब्द' का निमित्तत्व 'कारकत्व' रूप नहीं है। 'शब्द' का 'ज्ञापकत्वरूप' निमित्तत्व भी तब उपपन्न होगा, जब 'अर्थ' पहले से ज्ञात रहेगा, क्योंकि 'ज्ञापकत्वन्तु अज्ञातस्य कथम्' ? जो ज्ञात ही नहीं है उसका ज्ञापन कौन कैसे करा पायेगा ? ज्ञात तभी कहलायेगा जब उसका ज्ञान हो। और 'ज्ञान' संकेतग्रह हुए बिना होता नहीं, वह तो संकेतग्रह से ही होता है। वह 'संकेतग्रह' आपके मत के अनुसार अन्वित मात्र में ही (सामान्यरूप से अन्वित मात्र में ही) होता है। 'विशेष' में तो होता नहीं। एवं च 'शब्द' रूप निमित्त का नियतनिमित्तत्व यानी 'विशेष' के साथ संकेत, जब तक निश्चित न हो पाये, तब तक उस शब्द से विशेष (नैमित्तिक) अर्थ की प्रतीति ही कैसे हो सकेगी ? अर्थात् नहीं हो सकती। अतः 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते'—नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की जाती है—यह कथन, विवेकपूर्ण नहीं है।

विशेष विवरण—'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते'—इस नियम को उपस्थित कर मीमांसक, 'व्यञ्जनावादी' को यह समझाने का प्रयत्न कर रहा है कि तुम्हारे (व्यंजनावादी के) व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी 'शब्द' से ही होती है। उसकी प्रतीति में 'शब्द' ही एकमात्र निमित्त है। तात्पर्य यह है कि व्यंग्यप्रतीति 'नैमित्तिकी' है। शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त के उपलब्ध न होने से 'शब्द' को ही व्यंग्यप्रतीति में निमित्त कहना होगा। कोई भी 'निमित्त' कारक या ज्ञापक दो ही रूपों में उपलब्ध हुआ करता है। इसके अतिरिक्त उसका अन्य कोई रूप नहीं है। किन्तु 'व्यंग्यप्रतीति' में शब्द को कारकनिमित्त नहीं कह सकते, क्योंकि वह 'अर्थ' का जनन, उत्पादन नहीं करता। इसलिए उसे व्यंग्यार्थ के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रति कारकरूप में निमित्त नहीं मान सकते। अतः ज्ञापकत्व (बोधकत्व) रूप से ही शब्द में निमित्तत्व मानना होगा। तब शब्द और व्यंग्यार्थ दोनों का 'ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव' (बोध्य-बोधकभाव) रूप जो निमित्त-नैमित्तिकभाव है, उसके उपपत्त्यर्थ किसी शक्ति (वृत्ति) को मानना होगा। बिना उसके माने 'ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव' (निमित्त-नैमित्तिकभाव) ही नहीं बन सकेगा। शब्द में 'अर्थबोधन' कराने वाली शक्ति 'अभिधाशक्ति' ही मानी जाती है। अतः वाच्यार्थ (मुख्यार्थ, शक्यार्थ) की तरह व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी 'अभिधा' शक्ति से ही हो जायगी, क्योंकि शब्दश्रवणानन्तर जितनी भी वाच्य वा व्यंग्यरूप अर्थ की प्रतीति होती है, वह अभिधाशक्ति के द्वारा ही शब्द से होती है। उस अर्थ प्रतीति के समय शब्द तथा उसकी अभिधाशक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई उपस्थित नहीं है। इसलिए एक अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति की कल्पना करना निरर्थक है।

इस पर व्यञ्जनावादी ने मीमांसक को उत्तर दिया कि व्यंग्यार्थप्रतीति कराने में 'शब्द' ज्ञापक रूप से निमित्त होता है। परन्तु वह, ज्ञापकरूप से निमित्त तभी हो सकता है कि जब 'अर्थ' के साथ उसका संकेतग्रह हो। आपके (मीमांसक प्राभाकर के) सिद्धान्तानुसार संकेतग्रह तो सामान्यरूप से अन्वितमात्र में ही होता है। 'विशेष' में संकेतग्रह तो होता ही नहीं है। अतः ज्ञापकनिमित्तरूप-शब्द का जबतक व्यंग्यार्थविशेष के साथ संकेतग्रह न हो, तब तक वह अभिधाशक्ति के द्वारा उसे कैसे बता पायेगा? एवं च मीमांसकमतानुसार जब विशेष (व्यक्ति) के साथ ही अन्वित रूप में शक्तिग्रह (सङ्केतग्रह) नहीं होता है, तो अतिविशेषरूप व्यंग्यार्थ के साथ उसका (संकेतग्रह का) होना संभव ही कहाँ होगा? इसलिए अभिधा से व्यंग्यार्थ प्रतीति नहीं हो सकती। उसके लिए तो व्यंजना ही माननी होगी। अभिप्राय यह है कि व्यंजनावादी को भी व्यंग्यार्थ की उपस्थिति कराने में शब्द का ज्ञापकत्वरूप निमित्तत्व मान्य है। किन्तु वह ज्ञापकत्वरूपनिमित्तत्व तभी संभव होगा जब व्यञ्जना को स्वीकार किया जायगा, उसके बिना नहीं। शब्द में अर्थबोधन की निमित्तता तो व्यापारसापेक्ष ही होगी। जैसे वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के बोधन में 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' व्यापार माने जाते हैं। उसी तरह यहाँ भी किसी व्यापार को अवश्य ही मानना होगा। अन्यथा शब्द में निमित्तता का निश्चय न होने से 'व्यंग्यार्थ नैमित्तिक' है—यह आपका कथन ही सिद्ध नहीं हो पायेगा। यदि बिना व्यापार के ही शब्द को निमित्त कहें, तो अभिधा और लक्षणा को भी मानने की आवश्यकता नहीं होगी—हमारे इस अभिप्राय को बिना समझे ही व्यंजना-विरोधी मीमांसक ने व्यंजना की अनावश्यकता बताई है, यह बताने के लिए ही ग्रन्थकार ने 'अविचारिताभिधानम्' कहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोव्यापार इति', 'यत्परःशब्दः स शब्दार्थ' इति च विधिरेवात्र वाच्य इति, तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्ते-

अब भट्टमतोपजीवी भट्टलोल्लट आदि के पक्ष की ओर से पुनः शंका उपस्थित की जारही है।

येत्विति। भट्टलोल्लट आदि मीमांसक जो यह कहते हैं कि व्यंग्यार्थ के बोधन में यह 'अभिधा' व्यापार ही बाण के समान दीर्घ-दीर्घतर चल रहा है। और जिस अभिप्राय से 'शब्द' का उच्चारण किया गया है, वही उसका अर्थ है। अतः यहाँ अर्थात् 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' इत्यादि में 'निषेध' से 'विधि' रूप अर्थ वाच्य ही है। उसके बोधनार्थ 'व्यञ्जना' मानने की आवश्यकता नहीं है। उसकी प्रतीति अभिधा से ही हो जायगी। इस प्रकार व्यंजनाविरोधी मीमांसक भट्टलोल्लट के कहने पर व्यञ्जनावादी कहता है कि 'तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानाम्प्रियाः'। अर्थात् व्यञ्जना को अनावश्यक समझने वाले वे मूर्ख, मीमांसकोक्त 'तात्पर्यबोधकयुक्ति' यानी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के तात्पर्य को भी नहीं समझ रहे हैं। इसलिए व्यंजना को अनावश्यक बता रहे हैं।

विशेष विवरण—भट्टलोल्लट का कहना है कि जैसे एक ही बार छोड़ा हुआ बाण, कवचभेदन, उरोविदारण और प्राणहरण तीनों काम करता है, उसी तरह एक ही बार उच्चारण किया हुआ शब्द एक ही व्यापार से वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ तीनों का बोध करा देता है। उसके लिए शब्द में भिन्न-भिन्न शक्तियों को मानने की आवश्यकता नहीं है। व्यंग्यार्थ की प्रतीति, अभिधा से ही हो सकती है। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए एक दूसरी युक्ति भी बता रहे हैं कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' जिस अर्थ के बोधनार्थ 'शब्द' को बोला जाता है, वही उस शब्द का अर्थ होता है। एवं च रूढ्यर्थ के बोधनार्थ शब्दप्रयोग करने पर वह रूढ्यर्थ ही उस शब्द का अर्थ होगा, और लक्ष्य या व्यंग्य कहे जाने वाले अर्थ के बोधनार्थ शब्द का प्रयोग करने पर वही उस शब्द का 'वाच्यार्थ' कहलायेगा। तात्पर्य यह है कि सभी अर्थ एकमात्र 'अभिधा' से ही जाने जा सकते हैं। इसलिए किसी भी अर्थ की प्रतीति कराने के लिए 'व्यंजना' आदि व्यापार मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस पर व्यंजनावादी उसका निरसन करते हैं—

तेऽपीति। व्यंजनावादी ग्रन्थकार ने संक्षेप में इतना ही कह दिया कि भट्टमतोपजीवी भट्टलोल्लट मीमांसकोक्त 'तात्पर्यवाचोयुक्ति' के अभिप्राय को नहीं समझ पाया है। व्यंजना-विरोधी भट्टलोल्लट ने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'—इस तात्पर्यवाचोयुक्ति का अभिप्राय यह समझा है कि 'लक्ष्य, व्यंग्य' सभी अर्थों को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देवानां प्रियाः । तथा हि 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्त्तकस्वक्रियाभिसंबन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति । ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं ताव-

---

वाच्यार्थ ही मान लेना चाहिये । किन्तु उस 'तात्पर्यवाचोयुक्ति' का अभिप्राय यह नहीं है । 'देवानां प्रिय' शब्द का 'मूर्ख' के अर्थ में वार्तिककार ने निपातन किया है—'देवानाम्प्रिय इति च मूर्खे निपात्यते' ।

'तात्पर्यवाचोयुक्ति' का मीमांसासम्मत वास्तविक अभिप्राय, ग्रन्थकार बता रहे हैं—

तथा हीति । 'भूत' शब्द का अर्थ है 'सिद्ध' और 'भव्य' का अर्थ है 'साध्य' अर्थात् क्रिया । पङ्क्ति का अर्थ इस प्रकार होगा—'सिद्ध और क्रियारूप साध्य दोनों के साथ-साथ पठित होने पर 'सिद्ध' पदार्थ, क्रिया के लिए (क्रिया का अंग) हुआ करता है ।'—इस नियम के अनुसार क्रिया के साथ अन्वित होनें वाला 'कारक' (कर्ता, कर्म, करण आदि सिद्ध द्रव्य), प्रधान क्रिया का अंग बन जाने से, प्रधान क्रिया की सम्पादक अपनी अंगभूत क्रिया के संबंध से साध्य जैसा ही हो जाता है । कोई भी 'द्रव्य'—सिद्ध पदार्थ ही कहलाता है, साध्य नहीं । तथापि कभी-कभी वह (सिद्ध पदार्थ), साध्य जैसा लगने लगता है । किन्तु उसकी वह साध्यता, मुख्य नहीं होती, बल्कि गौण ही रहती है ।

शंका—कारकपदार्था इति । कारक पदार्थ तो क्रियारूप नहीं होते, तब उनमें प्रवर्तना-विषयत्व कैसे होगा ?

समाधान—'गामानय' इत्यादि वाक्य में 'गाम्' इत्यादि कारक पदार्थ हैं। उनका सम्बन्ध 'आनयन' आदि क्रियापदार्थ के साथ होता है । इस प्रकार सम्बद्ध हुए (अन्वित हुए) वे कारक पदार्थ, 'आनयन' रूप प्रधान क्रिया का सम्पादन करने वाली जो 'गाय' की 'चलन' रूप क्रिया उसके आश्रय रहने से ('गो' रूप कारक, गाय की चलन क्रिया का आश्रय होने से) 'साध्य' जैसे—(साध्यायमान-से) हो जाते हैं । अर्थात् स्वरूपतः सिद्ध होने पर भी साध्यक्रिया से विशिष्ट हो जाने के कारण साध्य जैसे लगने लगते हैं । जैसे पूर्वोत्पन्न होता हुआ भी 'घट', रक्तता की दशा में 'रक्तो घटो जातः' व्यवहार का विषय हो जाता है, उसी तरह सिद्धरूप होते हुए भी कारकों का साध्यक्रिया के साथ सम्बन्ध होने पर उनमें भी लाक्षणिक (भाक्त) साध्यरूपता कही जाती है, यानी उनमें गौणरूप से साध्यता (क्रियारूपता) रहती है । उसकी भाक्तता (लाक्षणिकता) को बताने के लिए ही ग्रन्थकार ने 'साध्यायमानताम्' में 'क्यङ्' प्रत्यय का प्रयोग किया है । यह बात विस्तारिका, सारबोधिनी व्याख्याकारों ने भी बताई है । उद्योतकार इस प्रकार समझाते हैं कि 'घटमानय'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्विधीयते। यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धे 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ती'त्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयं हवनस्यान्यतः सिद्धेः, 'दध्ना जुहोती'त्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम्।

में आनयन (समीपदेशसंयोग) प्रधान क्रिया है। उसकी हेतुभूत (निर्वतक) जो घट की स्पन्द क्रिया (पूर्वदेशसंयोगध्वंसहेतुविभागजनकस्पन्दः) है। 'घट' स्वरूपतः सिद्ध रहने पर भी स्पन्दाश्रयत्वेन उसमें साध्यत्व रहता है। घट के आनयन के समय सर्वप्रथम 'नोदनात् अभिघाताद् वा कर्म उत्पद्यते' घट में क्रिया होती है। उस क्रिया से 'विभाग' होता है। उस विभाग से पूर्वदेशसंयोग का नाश और उत्तरदेशसंयोग होता है।

घट में विभागोत्पादक जो कर्म है, वह अप्रधानक्रिया है, उसे 'स्पन्द' कहते हैं। यद्यपि घट अपने स्वरूप से सिद्ध है, तथापि स्पन्द का आश्रय होने से वह पूर्ण सिद्ध नहीं है। घट में 'नोदन' (ज्ञानपूर्वक) की हुई क्रिया अथवा अभिघात (टक्कर) से उत्पन्न क्रिया के होने पर वह (घट) स्पन्द का आश्रय बन जाता है। और आश्रय बन जाने से वह साध्य जैसा लगने लगता है। इसी बात को मम्मटभट्ट ने लिखा है कि 'प्रधान क्रिया' (आनयन क्रिया) की निर्वतक (हेतुभूत) जो 'स्वक्रिया', (नोदनक्रिया अथवा अभिघात से उत्पन्न स्पन्द) उसके संबन्ध से 'घट' आदि सिद्ध पदार्थ, साध्य जैसे लगने लगते हैं।' यह सब कहने का अभिप्राय यही है कि 'भूत' (सिद्ध) पदार्थ में कभी भी मुख्यसाध्यता नहीं रहती, अपितु गौणसाध्यता प्रतीत होती है। 'क्रिया' में ही मुख्यसाध्यता रहती है। एवं च लौकिक, वैदिक दोनों प्रकार के वाक्यों में प्रधानता (मुख्यता) 'क्रिया' भाग की ही हुआ करती है।

ततश्चेति। अतः 'अदग्धदहन' न्याय से (अग्नि अदग्धभाग को ही जलाता है, दग्ध हुए को नहीं) विधिवाक्य में जितना अंश (भाग) प्रमाणान्तर से प्राप्त नहीं (अप्राप्त) है, उतने ही अंश का विधान किया जाता है। जैसे—ऋत्विक्-प्रचरण, प्रमाणान्तर से प्राप्त होने के कारण 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इस वाक्य में 'लोहितोष्णीषत्वमात्र' का अर्थात् उष्णीष के भी केवल 'लौहित्य' का विधान किया जाता है। इसीके समान 'दध्ना जुहोति' इस विधिवाक्य में भी 'होम' की प्राप्ति, 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस उत्पत्तिवाक्यरूप प्रमाणान्तर ('अग्निहोत्रं जुहोति'—इस उत्पत्ति वाक्य) से होने के कारण दधि के 'करणत्वमात्र' (दधिनिष्ठ करणत्व) का ही विधान किया जाता है, क्योंकि हवनसाधनत्वेन आक्षेप से दधिद्रव्य की भी प्राप्ति हो जाती है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह नियम है। इसलिए 'दध्ना जुहोति' से होम का विधान नहीं किया जाता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशेष विवरण—भट्टलोल्लट का कहना यह था कि 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति तो अभिधा से ही हो सकती है। व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए 'व्यंजना' को मानने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम के अनुसार जहाँ पर जिस अर्थ को बताने की इच्छा से 'शब्द' बोला जाय, वहाँ पर वही, उस शब्द का अर्थ होता है। अतः जहाँ केवल 'वाच्यार्थ' को बताने की इच्छा से 'शब्द' बोला गया हो, वहाँ उतना ही उसका अर्थ होगा। और जहाँ उसके अतिरिक्त 'लक्ष्यार्थ' या 'व्यंग्यार्थ' को बताने की इच्छा से शब्द बोला गया हो, वहाँ वही अर्थ (लक्ष्यार्थ या व्यंग्यार्थ ही) उस शब्द का वाच्यार्थ होगा। अतः सभी प्रकार के अर्थों का ज्ञान, एकमात्र 'अभिधा' से ही हो सकता है। इसलिए किसी भी अर्थ को बताने के लिए 'व्यंजना आदि व्यापार' को मानने की आवश्यकता नहीं है।

इस पर व्यंजनावादी ध्वनिकार के अनुयायी ग्रन्थकार मम्मटभट्ट कहते हैं कि भट्टलोल्लट ने 'तात्पर्यवाचोयुक्ति' का जो अर्थ समझा है कि 'लक्ष्य, व्यंग्य आदि सभी प्रकार के अर्थों को अभिधा ही बता देगी'—वह ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे—'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि वाक्यों में केवल 'होम' क्रिया का विधान किया जाता है, कहीं पर 'दध्ना जुहोति' वाक्य में प्रमाणान्तर से 'होम' क्रिया की प्राप्ति होने से उस (होमक्रिया) के साधनभूत केवल 'दधि' द्रव्य का ही विधान अभिप्रेत होता है। कहीं पर 'सोमेन यजेत' जैसे वाक्य में 'सोम' और 'याग' दोनों की प्राप्ति अन्य किसी प्रमाण से न होने के कारण दोनों का (सोमविशिष्ट-याग का) विधान अभिप्रेत रहता है, कहीं पर 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' जैसे वाक्यों में 'प्रचरण' की प्राप्ति प्रमाणान्तर से होने के कारण 'लोहितोष्णीषत्व' का विधान अभिप्रेत रहने पर भी 'उष्णीषत्व' की प्राप्ति को देखने से केवल 'लौहित्य' का (विशेषण का) विधान ही अभिप्रेत है।

'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' यह वाक्य 'ज्योतिष्टोम' की विकृति जो 'श्येनयाग' है, उसके प्रकरण में पढ़ा गया है। 'उष्णीष' कहते हैं—शिरोवेष्टनवस्त्र को। 'याग' दो प्रकार के होते हैं—एक 'प्रकृति' याग और दूसरे 'विकृति' याग। प्रकृति याग उन्हें कहते हैं, जिनमें उसे अपेक्षित यच्च यावत् समग्र अंग बताये गये हों। 'यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः'—यह 'प्रकृति' का लक्षण है। और जिनमें अपेक्षित समस्त अंगों को नहीं बताया गया हो केवल विशेष-विशेष अंगों को ही बताया जाता है और कह दिया जाता है कि अन्य अवशिष्ट प्रक्रिया को प्रकृतियाग के समान ही कर लेना—'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' ऐसे यागों को 'विकृति' याग कहते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्योतिष्टोम के विकृतिभूत श्येनयाग के प्रकरण में पठित 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' वाक्य को सुनने से लगता है कि इसमें 'ऋत्विक्-प्रचरण' का विधान किया गया होगा। किन्तु यहाँ 'ऋत्विक् प्रचरण' का विधान नहीं किया गया है, क्योंकि श्येनयाग के प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोमयाग में 'सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विजः प्रचरन्ति' वाक्य से ऋत्विक्-प्रचरण का विधान हो चुका है। अतः 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' नियम (अतिदेश वाक्य) के अनुसार अपने विकृतिभूत श्येनयाग में 'ऋत्विक् प्रचरण' प्राप्त हो जाता है। उसका 'श्येन' में पुनः विधान करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अप्राप्त का ही विधान किया जाता है।

निष्कर्ष यह है कि वैदिक विधिवाक्यों में जहाँ जितना अंश, किसी अन्य प्रमाण (वाक्यान्तर) से अप्राप्त रहता है, उतने ही 'अंश' का विधान, वहाँ अभीष्ट माना जाता है। क्योंकि लौकिक व्यवहार में देखा जाता है कि 'अग्नि जले हुए (दग्ध) को पुनः नहीं जलाता है, किन्तु न जले हुए (अदग्ध) को ही जलाता (दहन करता) है।' एवं च वैदिक विधिवाक्य कभी भी प्राप्त का विधान (प्रापण) या ज्ञात का ज्ञापन नहीं किया करता, अपितु अप्राप्त का ही विधान, अज्ञात का ही ज्ञापन किया करता है। 'अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्'-यह न्याय ऐसे स्थलों पर ही अनुग्राहक होता है। तात्पर्य यह है कि जितना अंश, अप्राप्त रहता है, उसीके बोधन में विधि-वाक्य का तात्पर्य रहता है। वही उस विधि का विधेय (प्रतिपाद्य) अर्थ हुआ करता है—यही 'तात्पर्यवाचो युक्ति' का अर्थ है। अतः 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस तात्पर्यवाचोयुक्ति का तात्पर्य (अर्थ) यह नहीं है कि सभी प्रकार के लक्ष्य, या व्यंग्य अर्थ, 'शब्द' के वाच्यार्थ (अभिधा के प्रतिपाद्य) होते हैं। अन्यथा भट्टलोल्लट के आराध्यचरण कुमारिलभट्टपाद 'लक्षणा' वृत्ति को स्वीकार क्यों करते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भट्टपाद के अनुयायी भट्टलोल्लट आदि मीमांसकों ने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस तात्पर्य-वाचोयुक्ति के वास्तविक अभिप्राय को न समझने के कारण उसके आधार पर 'व्यंग्यार्थ' को भी 'वाच्यार्थ' कह डाला। उन्होंने अपने ही शास्त्र के वचन का अर्थ ठीक-ठीक नहीं समझ पाया। ऐसी स्थिति में उन्हें 'देवानां प्रिय' (मूर्ख) न कहें तो क्या कहें ?

'भूत-भव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते'—इस वाक्य के अर्थबोधनार्थ यह समझना आवश्यक है कि 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (मी० सू० १।२।८१) और 'दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम–' (मी० भा० १।१।१) के कथनानुसार सम्पूर्ण वेदवाक्य कर्मपरक (क्रियार्थक) ही हैं। जो कर्मपरक न हों उन्हें अनर्थक (अप्रमाण) ही माना जायगा। यही कारण है कि—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्वचिदुभयविधिः क्वचित् त्रिविधिरपि यथा 'रक्तं पटं वये'त्यादौ एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा ततश्च यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यन्न तु प्रतीतमात्रे, एवं हि 'पूर्वो धावती'त्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात् ।

वेद में कहे गये 'यूप' 'आहवनीय' आदि अक्रियारूप सिद्ध पदार्थों को आनर्थक्य दोष से बचाने के लिए किसी विधिवाक्य अथवा निषेधवाक्य के साथ उनकी एकवाक्यता करके उन्हें कर्म (क्रिया) का अंग माना जाता है। इसी अभिप्राय को बताने के लिए 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' और 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' वाक्य को मम्मट ने यहाँ लिखा है। 'भूत' का अर्थ है—'सिद्ध अर्थ' यानी जो क्रियारूप अर्थ नहीं है, तथा 'भव्य' का अर्थ है—'साध्य अर्थ' यानी जो क्रियारूप अर्थ है। किसी वाक्य में जब 'सिद्ध और साध्य' दोनों अर्थों का एक साथ उल्लेख रहने पर उनमें से 'भूत' (सिद्ध) पदार्थ 'भव्य' के लिए (साध्यरूप क्रिया के लिए) माना जाता है। यानी उसे क्रिया का अंग कहा जाता है। अतः विधि-निषेधरूप क्रिया के प्रधान रहने से विधिवाक्य में 'सिद्धपदार्थ' के कथन करने पर भी क्रियारूप विधि की ही प्रधानता मानी जाती है। यही वास्तविक अभिप्राय उक्त दोनों का है। 'आम्नायस्य-क्रियार्थत्वात' सूत्र से क्रिया की ही प्रधानता को सूचित किया गया है। उसी बात को 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' के द्वारा बताया गया है। लौकिक वाक्य में भी 'उद्देश्य' और 'विधेय' दो अंश रहते हैं। अर्थात् 'कर्ता' को उद्देश्य और 'क्रिया' को 'विधेय' कहा करते हैं। उनमें 'विधेय' अंश ही प्रधान रहता है। निरुक्तकार यास्काचार्य ने भी 'भावप्रधानमाख्यातम् , सत्वप्रधानानि नामानि, तद्यत्र उभे भावप्रधाने भवतः' कहकर उपर्युक्त बात का समर्थन किया है। 'आख्यात' अर्थात् तिङन्तपद में 'भाव' (क्रिया) की प्रधानता रहती है। और उसी धातु से बने 'नाम' पद में द्रव्य की प्रधानता रहती है। किन्तु जहाँ वाक्य में 'नाम' और 'आख्यात' दोनों होते हैं, वहाँ भाव (क्रिया) की ही प्रधानता होती है। इसी अभिप्राय को 'भूतं भव्याय उपदिश्यते' वाक्य से बताया गया है।

क्वचिदिति। कहीं-कहीं उभयविधि (दो का विधान) भी होता है, कहीं कहीं त्रिविधि (तीन का विधान) भी होता है। जैसे—'रक्तं पटं वय' इस वाक्य में अपेक्षा के अनुसार कभी एक का विधान, कभी दो का विधान और कभी तीन का भी विधान हुआ करता है। एवं च निष्कर्ष यह है कि जो विधेय होता है, उसमें ही तात्पर्य हुआ करता है। इसलिए वाक्य में जो शब्द 'उपात्त' (उच्चरित) हो, उसी के अर्थ में वाक्य का तात्पर्य रहता है। किसी प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थ में नहीं। यथाकथञ्चित् प्रतीत होने वाले अर्थ में भी तात्पर्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वीकार किया जाय तो 'पूर्वो धावति' पहिला दौड़ता है, इत्यादि में 'पूर्व' शब्द का तात्पर्य 'अपर' आदि अर्थ में भी कहा जा सकता है ।

विशेष विविरण—ग्रन्थकार ने एक विधि, द्विविधि, त्रिविधि, उभयविधि आदि शब्दों का उल्लेख किया है, उनमें से उभयविधि का उदाहरण, जैसे—'सोमेन यजेत' यह विशिष्ट विधि है, इसमें (विशिष्टरूप में) सोम और याग उभय (दोनों) का अस्तित्व है ।

त्रिविधि का उदाहरण—'यदाग्नेयोऽष्टाकपालः' यहाँ पर 'द्रव्य, देवता और याग' तीनों का विधान किया गया है । एवं च वेद की तरह लोक में भी विधि का तात्पर्य अप्राप्त अंश में ही रहता है । जैसे—'रक्तं पटं वय' यहाँ एक का, दो का, या तीन का भी विधान अर्थात् केवल रक्तगुण की, पटभाव की, वयन की सिद्धि न रहने पर यानी जिसकी और जितने की सिद्धि न हो उतने का ही विधान किया जाता है । जैसे 'ब्राह्मणं स्नातं भुक्तं समानय' यहाँ पर स्नान और भोजन दोनों की प्राप्ति रहने से आनयनमात्र का ही विधान किया जाता है और 'ब्राह्मणं स्नातं भोजयित्वा समानय' यहाँ पर स्नान तो प्राप्त है; अतः भोजन और आनयन दो का विधान किया जाता है । तथा 'ब्राह्मणं स्नपयित्वा भोजयित्वा समानय' कहने पर किसी की भी प्राप्ति न होने से स्नान, भोजन, आनयन तीनों का विधान किया जाता है । यह सब बताने का अभिप्राय यह है कि जितना अंश अप्राप्त रहता है, उतने में ही वाक्य का तात्पर्य समझना चाहिये । एवं च जितना अंश विधेयकोटि में हो उतने में ही तात्पर्य रहता है । यह अभिप्राय 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का है । अतः वाक्यगत शब्दों में से ही किसी शब्द के अर्थ में वाक्य का तात्पर्य रह सकता है । किन्तु जो शब्द, वाक्य में है हो नहीं, उसके अर्थ में वाक्य का तात्पर्य कैसे समझा जा सकता है ? व्यंजनावादी जिस अर्थ को व्यङ्ग्य कहना चाहता है; वह अर्थ तो येन केनापि संबंधेन ज्ञायमान अर्थात् प्रतीयमान अर्थ है, किसी उपात्त शब्द का (वाक्य में उच्चारित शब्द का) अर्थ नहीं है, यानी वृत्त्युपस्थित अर्थ नहीं है । एवं च व्यंग्य अर्थ, किसी शब्द के द्वारा वृत्त्युपस्थापित न होने से कहीं भी उसकी विधेयता नहीं कही जा सकती । अतः न तो उसमें अनधिगतार्थगन्तृत्वरूप प्रामाण्य नियामक तात्पर्य ही है और न शब्द की शक्ति ही है । अतः भट्टलोल्लट ने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस मीमांसाशास्त्र की युक्ति के सहारे 'व्यङ्ग्यार्थ' में तात्पर्य मानकर उसे वाच्यार्थ बनाने का जो प्रयत्न किया था, वह सफल नहीं हो पाया ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यत्तु 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था' इत्यत्र एतद्गृहे न भोक्तव्यमित्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इति उच्यते—तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः। न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्था इत्युपात्तशब्दार्थे एव तात्पर्यम्।

शंका—यदि प्रतीतमात्र (प्रतीयमान अर्थ यानी व्यङ्ग्यार्थ) में तात्पर्य को मान लिया जाय तो क्या हानि है ?

समाधान—जिस किसी सम्बन्ध से प्रतीयमान हुए अर्थ में भी तात्पर्य को यदि स्वीकार किया जायगा तो 'पूर्वो धावति' कहने से 'अपरो धावति' का भी बोध होने लगेगा। क्योंकि 'पूर्वत्व' तो निश्चित ही 'अपर' की अपेक्षा रखता है। इसलिए पूर्वत्वज्ञानकाल से ज्ञायमान 'पश्चिम' (अपर) पदार्थ भी कदाचित् तात्पर्य का विषय होता हुआ 'पूर्व' शब्द का वाच्य हो जायगा। अतएव जयन्तभट्ट ने स्पष्ट व्याख्या कर दी है—'यदेव वस्तु विधेयं साध्यं तत्रैव तस्मिन्नेव वस्तुनि तात्पर्यमित्युपात्तस्यैवोक्तस्यैव शब्दस्य सम्बन्धिनि, अर्थे अभिधेये तात्पर्यं पर्यवसानम्', 'ततश्च यावदेव विधेयं तावत्येव तात्पर्यं विधेयं च शब्दोपात्तमेवेति सुष्ठूक्तं 'शब्दोपात्ते, एव तात्पर्यम्' इति। 'यदि च प्रतीतमात्रे तात्पर्यं तदा 'पूर्वो धावति' इत्यादौ पूर्वादिसमानसंवित्संवेद्यतया प्रतीतेऽपराद्यर्थेऽपि कदाचित् तात्पर्यं स्यात्'-इस प्रकार प्रदीपकार ने भी इसी बात को पुष्ट किया है। उद्योतकार ने भी इसी प्रकार कहा है।

शंका—यत्त्विति। पूर्वपक्षी मीमांसक भट्टलोल्लट उक्त कथन पर पूछते हैं—कि 'विषं भक्षय', 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'—विष भले ही खा लेना किन्तु इसके घर में भोजन मत करना—यहाँ पर 'विषं भक्षय' इस वाक्य का 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः'—अर्थात् 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्' इसके घर भोजन मत करना—इस अर्थ में तात्पर्य माना जाता है। इससे स्पष्ट हो रहा है कि 'उपात्त शब्द' के अर्थ से भिन्न अर्थ में 'तात्पर्य' माना गया है। और उसे ही यहाँ पर 'वाक्यार्थ' कहा गया है।

समाधान—तत्रेति। 'विषं भक्षय, मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस उदाहरण में जो 'च' का प्रयोग किया गया है, वह दोनों स्वतंत्र वाक्यों की एकवाक्यता की सूचना देने के लिए है।

शंका—न चेति। दो आख्यात (तिङन्त क्रियापदों से युक्त) वाक्यों में अङ्गाङ्गिभाव नहीं हुआ करता है।

समाधान—विषभक्षणवाक्यस्येति। 'विषं भक्षय'—यह विषभक्षण वाक्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किसी मित्र (सुहृत्) ने कहा है। इसलिए उसमें अंगत्व की कल्पना करनी चाहिये। उक्त वाक्य को अग मान लेने पर 'विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा मास्य गृहे भुङ्क्थाः'—उसके घर में भोजन करना विषभक्षण से भी अधिक बुरा है, इसलिए उसके घर भोजन कदापि नहीं करना चाहिये। एवं च 'विषं भक्षय' वाक्य का तात्पर्य 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इन उपात्त शब्दों के 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्' अर्थ में ही है।

विशेष विवरण—भट्ट मम्मट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' नियम के आधार पर वाक्यगत वाचक शब्द के वृत्त्युपस्थापित अर्थ में ही वाक्य का तात्पर्य होता है। अतः यथा कथञ्चित् प्रतीत होने वाले अथ में तात्पर्यनिर्णायक उक्त नियम नहीं लगता। अन्यथा 'पूर्वो धावति' का तात्पर्य 'अपरो धावति' अर्थ में भी मानना होगा।

सिद्धान्ती के उक्त कथन पर भट्टलोल्लट ने पुनः प्रश्न किया कि यदि वाक्योपात्त शब्दों के वाच्यार्थ में ही वाक्य का तात्पर्य होता है तो 'विष भले ही खा ले, किन्तु उसके घर में भोजन न करे' क्योंकि शत्रु के घर भोजन करना विष-भक्षण से भी भयंकर है, इसलिए 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्'—इसके घर में भोजन नहीं करना चाहिये—इस अर्थ में तात्पर्य है, और यही वाक्य का अर्थ भी है। किन्तु इस अर्थ का वाचक शब्द, वाक्य में उपात्त (उच्चरित-प्रयुक्त) नहीं है। ऐसी स्थिति में व्यंजनावादी का जो कथन है कि 'उपात्त शब्द के अर्थ में' ही तात्पर्य होता है, उसे कैसे स्वीकार किया जाय ?

इस पर ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने उत्तर दिया कि 'विषं भक्षय' 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' ये स्वतन्त्र; परस्पर निरपेक्ष दो वाक्य हैं। यहाँ पर वाक्यप्रयुक्त 'च'कार के बल पर 'दोनों वाक्यों' की एकवाक्यता होती है। एकवाक्यता होने से यहाँ पर 'विषं भक्षय' वाक्य का तात्पर्य उपात्त शब्द (मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः) के ही अर्थ में है, अनुपात्त शब्द के अर्थ में नहीं है।

आक्षेप—उक्त कथन पर भट्ट लोल्लट ने पुनः आक्षेप किया कि 'एकतिङ् वाक्यम्' जिसमें एक तिङ् (तिङन्त क्रिया पद) हो उसे 'एक वाक्य' कहते हैं। अतः उक्त वाक्य में 'भक्षय' और 'भुङ्क्थाः' दो तिङन्त क्रियाएँ हैं। इसलिए यह एक वाक्य नहीं है, अपितु भिन्न-भिन्न दो वाक्य हैं। अपने में वे दोनों पूण हैं, स्वतंत्र हैं। दोनों समप्रधान हैं। इसलिए 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्'—(मी० सू० ३।१।२२) इस न्याय के अनुसार जैसे दो 'गुणों' में उनकी अपनी समता के कारण परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, वैसे ही दो 'प्रधानों' में भी अपनी समता के कारण ही परस्पर सम्बन्ध नहीं होगा। क्योंकि संबंध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होगा तो 'अंगांगिभाव' (विशेषण-विशेष्यभाव) से ही होगा। उसके बिना एक-वाक्यता नहीं हो पायेगी। अतः दोनों ही वाक्य स्वतन्त्र होने के कारण उनमें अंगांगि-भाव का (विशेषण-विशेष्यभाव) होना संभव ही नहीं है, और उसके सम्भव न होने से दोनों की एकवाक्यता को बताना उचित नहीं है। एवं च वाक्य में जो उपात्त शब्द हैं, उनके अर्थ में तात्पर्य नहीं है।

उक्त आक्षेप पर व्यञ्जनावादी ग्रन्थकार मम्मट भट्ट समाधान दे रहे हैं कि 'विषं भक्षय' वाक्य को स्वतंत्र पृथग् वाक्य मानना ठीक नहीं होगा, क्योंकि सुहृद्-वाक्य होने से उसका अर्थ ही अनुपपन्न हो जायगा, अनुपपन्न होने पर वह व्यर्थ हो जायगा। अतः सुहृद्-वाक्य होने से उसका अन्वयसम्बन्ध तो होना ही चाहिये। किन्तु साक्षात् 'कर्तृ कर्मभाव' से अन्वय तो होगा नहीं, क्योंकि वह बाधित है। दोनों वाक्य परस्पर एक-दूसरे के उपपादक होने से मुख्यार्थ को लेकर यदि उनका सम्बन्ध करें तो वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'विष भक्षण' वाक्य किसी सुहृत् या माता का होने से वह 'मुख्यार्थ' में बाधित है। क्योंकि कोई सुहृत (मित्र) या माता अपने मित्र अथवा पुत्र को विषभक्षण करने की सलाह नहीं दे सकती। अतः 'विष-भक्षण' वाक्य मुख्यार्थ में बाधित है। एवं च यह मान लिया जाता है कि दोनों वाक्यों 'विषं भक्षय' और 'मा च अस्य गृहे भुङ्क्थाः' में परस्पर अङ्गाङ्गिभावरूप अन्वय छिपा हुआ है। वह 'अंगांगिभावरूप अन्वय', समुच्चयबोधक 'च'कार से प्रकट हो रहा है। क्योंकि यहाँ पर दोनों वाक्यों को समुच्चित करने वाला 'च' पद का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार दोनों वाक्यों में अंगांगिभाव मानना ही पड़ता है। किन्तु वह (अंगांगिभाव) तभी बनेगा कि जब सुहृत्-प्रयुक्त 'विषं भक्षय' वाक्य का अर्थ 'विष खालो' यह मुख्यार्थ नहीं कहा जायगा। बल्कि 'विषभक्षण' से इतना अनिष्ट नहीं है, जितना इस व्यक्ति के घर में भोजन करने पर होगा, अर्थात् विषभक्षण में 'अनिष्ट कम' है, किन्तु इसके घर भोजन करने में 'अनिष्ट अधिक' है।—इस 'लक्ष्यार्थ' को स्वीकार किया जायगा। यह 'लक्ष्यार्थ' लक्षणा के बिना नहीं बनेगा। एवं च लक्षणा के तीनों हेतु (मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग और रूढि-प्रयोजनान्यतर) यहाँ विद्यमान हैं। सुहृद्वाक्य होने से 'विषभक्षण' रूप 'मुख्यार्थ का बाध' हो रहा है। तदनन्तर 'मुख्यार्थ' के साथ 'लक्ष्यार्थ' का 'विरोधितारूप सम्बन्ध' अर्थात् 'योग' भी है। और 'सर्वथा नास्य गृहे भुङ्क्थाः'—यह बोधन करना ही प्रयोजन है। अतः 'लक्षणा' को मानकर 'विषभक्षण' वाक्य में ही अंगत्व की कल्पना करनी चाहिये। एवं च 'विषं भक्षय' वाक्य की 'विषभक्षणाधिकबलवदनिष्टानुबन्धित्वविशिष्ट-तद्गृहभोजन' में लक्षणा की गई है। इस प्रकार लक्षणा करके उसका (विष-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणीत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम् , कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घ-

---

भक्षण वाक्य का) 'सर्वथा के अर्थ से गर्भित 'मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इस वाक्यार्थ में हेतुत्वेन अन्वय होता है। अभिप्राय यह है कि 'विषं भक्षय' यह वाक्य, अग्रिम वाक्य (मास्य गृहे भुङ्क्थाः) में हेतु बनकर उससे सम्बद्ध (अन्वित) हो जाता है। इस प्रकार दोनों वाक्य परस्पर सम्बद्ध होकर एकवाक्य हो जाते हैं। एक महावाक्य बन जाने पर उससे अर्थ यह निकलेगा कि 'विषभक्षणादपि एतद् गृहभोजनमनिष्टहेतुरतः सर्वथा नास्य गृहे भुङ्क्थाः' अर्थात् 'विषभिक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनम्' 'इसके घर का भोजन, विषभक्षण से भी अनिष्टकर (बुरा) है, इसलिए कभी भी इसके घर, भोजन मत करना'—यह लक्ष्यार्थ तभी निकलता है कि जब दोनों वाक्य, समुच्चित होकर (अंगांगिभावापन्न होकर) एक महावाक्य का रूप धारण कर लेते हैं। अन्यथा नहीं। तथा च यह अर्थ, वाक्योपात्त शब्द (उच्चरित शब्द) प्रयुक्त ही है यानी उपात्त शब्द का ही यह अर्थ है। अनुपात्त शब्द का नहीं है, तब उसे (उस अर्थ को) अर्थापत्ति प्रमाण से गम्य होना कैसे कहा जायगा ? अतः 'उपात्त शब्दार्थे एव तात्पर्यम्'—अर्थात् उपात्तस्यैव शब्दस्य अर्थे तात्पर्यम्—इस नियम की संगति हो जाती है। इसलिए अब स्पष्ट हो गया कि तद्वाक्यस्थशब्दोपस्थापित अर्थ में ही तात्पर्य है। अतः भट्टलोल्लट ने 'यत्परः शब्दः' इत्यादि वचन को प्रस्तुत करके जो कहा, वह उस वचन के तात्पर्य को न समझ कर ही कहा था। एवं च 'यत्र वाक्यं स्वार्थे न विश्राम्यति यथात्रैव सुहृद्वक्तृकत्वात् , तत्र अमुख्यार्थे तात्पर्यात् लक्षणा। यत्र तु स्वार्थबोधोत्तरमितरत् प्रतीयते तत्र व्यञ्जनैव इति। जहाँ वाक्य का पर्यवसान अपने स्वार्थ में नहीं होता है, जैसे यहीं पर मित्रवक्तृक होने से, वहाँ अमुख्य अर्थ में तात्पर्य होने से लक्षणा होती है। किन्तु जहाँ स्वार्थबोध हो जाने के बाद अन्यार्थ की प्रतीति होती है, वहाँ व्यञ्जना ही होती है।

प्रश्न—भट्टलोल्लटादि मीमांसक प्रश्न करते हैं—

यदिचेति। और यदि ऐसा मान लें कि 'शब्द' का श्रवण करने के पश्चात् जितना भी 'अर्थ' ज्ञात होता है, उस सबके ज्ञात होने में 'शब्द' का एकमात्र 'अभिधाव्यापार' ही काम करता है, तो क्या हानि है ?

उत्तर—व्यञ्जनावादी साहित्यिक उत्तर देता है—वैसा मानने पर 'ब्राह्मण पुत्रस्तेजातः' अर्थात् हे ब्राह्मण ! तुम्हें पुत्र उत्पन्न हुआ है, तथा 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' अर्थात् हे ब्राह्मण ! तुम्हारी कुमारी कन्या गर्भवती हो गई है—इत्यादि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। किमिति च श्रुति-लिंग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वंबलीयस्त्वमित्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यंग्यत्वम्।

वाक्यों के सुनने से मन में क्रमशः उत्पन्न होने वाले 'हर्ष' तथा 'शोक' को भी वाच्य क्यों न माना जाय? एवं च उपर्युक्त वाक्यों से मन में उत्पन्न होने वाले हर्ष-शोकादि अर्थ, जो वस्तुतः वाच्य नहीं हैं, उनको भी 'वाच्य' मानना पड़ेगा, यही हानि है। व्यञ्जनाविरोधी मीमांसक 'अभिधा' और 'लक्षणा' दो शब्द व्यापारों को तो मानता है, किन्तु 'व्यञ्जना' का विरोध करता है। अतः व्यञ्जनावादी साहित्यिक उस पर आक्षेप कर रहा है कि उसी तरह 'लक्षणा' मानने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। उसे (लक्षणा को) भी क्यों माना जाय? क्योंकि 'लक्षणीय' अर्थ में भी दीर्घ-दीर्घतर (यथेच्छ रबड़ की तरह चाहे जितनी दूर तक खींचे जा सकने वाले) अभिधा व्यापार से ही लक्षणीय अर्थ (लक्षणा से प्राप्त होने वाले लक्ष्यार्थ) भी प्रतीति (ज्ञान) हो ही जायगी। तब 'व्यञ्जना' की तरह 'लक्षणा' को भी स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। केवल 'अभिधा' व्यापार से ही आपका काम (शब्दार्थबोध) चल जायगा, तब 'लक्षणा' को आप (मीमांसक) क्यों मान रहे हो? इस प्रकार से मीमांसक के मत में 'लक्षणा' का तो उच्छेद ही हो जायगा।

इस पर भी मीमांसक यदि यह कहें कि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि स्थल में 'अभिधा' से ही 'गङ्गादि' अर्थप्रतिपादन द्वारा 'तीरादि' अर्थ का भी प्रतिपादन कर पाना असंभव नहीं है। अतः हम मीमांसकों के मत में 'लक्षणा' को अतिरिक्त वृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए हमारे मत में 'लक्षणा' का यदि उच्छेद हो जाता है, तो भी वह 'उच्छेद' हमारे लिए दोषावह नहीं है।

उस पर व्यञ्जनावादी साहित्यिक उससे पूछता है—'किमिति चेति'। आप मीमांसक लोगों को 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्या'—इन छह अङ्ग-बोधक प्रमाणों में से पूर्व-पूर्व प्रमाण को प्रबल और उत्तर-उत्तर प्रमाण को दुर्बल मानने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि शब्दश्रवण के अनन्तर प्रतीयमान होने वाले सभी प्रकार के अर्थों की प्रतीति 'अभिधा' से ही हो जाती है, जिस कारण आपको न 'लक्षणा' की और न 'व्यञ्जना' की आवश्यकता पड़ती है। सब काम आपकी 'अभिधा' से ही हो जाता है। उसी तरह अङ्गबोधक प्रमाणों में प्रबल-दुर्बल भाव को विचारने की आवश्यकता भी आपको नहीं होनी चाहिये, क्योंकि आपके मतानुसार शब्दश्रवण के अनन्तर होने वाली सभी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अभिधा' व्यापार से ही होगी, जब श्रुति से उपस्थापित अर्थकी तरह लिङ्गादि प्रमाणों से अनुगृहीत हुए अर्थ भी 'अभिधेय' होने से छहों श्रुति-लिङ्गादि प्रमाण, अपने-अपने अर्थों को 'खले कपोतन्याय' से समकाल में (युगपत्) ही उपस्थित कर देंगे, तब उन प्रमाणों में प्रबल-दुर्बलभाव के विचारने का कोई प्रश्न ही नहीं होगा, क्योंकि उनमें प्रबल-दुर्बलभाव का निर्णय तो 'अर्थ-सन्निकर्ष-विप्रकर्ष' के आधार पर किया जाता है। जब अर्थ-विप्रकर्ष है ही नहीं तब कोई भी प्रमाण 'दुर्बल' क्यों कहलायेगा ? सभी को प्रबल ही समझना होगा।

यदि शब्द श्रवण के अनन्तर सभी प्रतीतियों का कारण 'अभिधा-व्यापार' ही होता तो जैमिनिमुनि 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य·········अर्थविप्रकर्षात्' सूत्र के द्वारा पूर्व-पूर्व प्रमाण को प्रबल और उत्तर-उत्तर प्रमाण को दुर्वल क्यों बताते ? उससे स्पष्ट हो रहा है कि सर्वत्र 'अर्थोपस्थिति' 'अभिधाव्यापार' से ही नहीं हुआ करती। ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसा मीमांसक नहीं होगा कि जो 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि स्थलों में व्यज्यमान विधिरूप (तदन्तिकगमन) अर्थ को अभिधेय (वाच्य) कहने का दुराग्रह करेगा। अत एव आप के एकदेशी प्रभाकरगुरु के 'अन्विताभिधानवाद' में भी निषेधरूप वाच्यार्थ से प्रतीयमान विधिरूप जो अर्थ है, उसमें 'व्यङ्ग्यत्व' सिद्ध हो ही जाता है।

विशेष विवरण—यहाँ पर ग्रन्थकार ने श्रुतिलिङ्गादि छह प्रमाणों की चर्चा की है। मीमांसादर्शन में यह चर्चा जहाँ की है उसे 'बलाबलाधिकरण' कहते हैं। यह अधिकरण, पूर्वमीमांसा के तृतीय अध्याय के तृतीयपाद का सप्तम अधिकरण है। इस अधिकरण की रचना जैमिनिमुनि के चौदहवें सूत्र पर की गई है। सूत्र रचना इस प्रकार है—

"श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थवि-प्रकर्षात्" अर्थात् उक्तसूत्र के द्वारा यथाक्रम उक्त श्रुत्यादिकों का एकत्र उपनिपात होने पर, पर-प्रमाण विलम्ब से अर्थोपस्थापक होने से, दुर्बल माना जाता है और पूर्व-पूर्व प्रमाण, प्रबल माना जाता है। उक्त सूत्र के द्वारा बताये गये श्रुतिलिङ्गादि छह प्रमाणों को 'विनियोजक प्रमाण' (अङ्गाङ्गित्वरूपविनियोगबोधक प्रमाण) कहते हैं। 'अङ्गत्व' का अर्थ है—'उपकारकत्व'। और 'अङ्गित्व' का अर्थ है—'उपकार्यत्व'। 'विनियोग' का अर्थ है—'सम्बन्ध'। एवञ्च उपकार्योप-कारकभावरूप सम्बन्ध (विनियोग) के बोधक प्रमाण—ये छह बताये हैं। जहाँ एक ही पदार्थ का सम्बन्ध, दो पदार्थों के साथ दो प्रमाणों के द्वारा बताये जाने पर दो प्रमाणों में विरोध उपस्थित होता है। उस विरोध के उपस्थित होने पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उन दो प्रमाणों में समुच्चय या विकल्प नहीं किया जाता, अपितु एक प्रमाण से दूसरे प्रमाण का 'बाध' किया जाता है। वह बाध, प्रबल प्रमाण के द्वारा दुर्बल प्रमाण का ही किया जाता है। श्रुत्यादि प्रमाणों में जो प्रमाण, जिससे 'पर' हो वह अपने पूर्ववर्ती प्रमाण की अपेक्षया दुर्बल माना जाता है। दुर्बल इसलिए माना जाता है कि उस पर-प्रमाण का विनियोज्य अर्थ (पदार्थ) विप्रकृष्ट (दूरवर्ती) रहता है। अर्थात् वह पर-प्रमाण अपने अर्थ का विलम्ब से प्रत्यायक (बोधक) हो पाता है। उपर्युक्त सूत्र में परिगणित प्रमाणों में से प्रथम प्रमाण 'श्रुति' है। उसका लक्षण 'निरपेक्षो रवः श्रुतिः' आपदेवीय आदि अनेक ग्रन्थों में किया गया है। अर्थात् स्वकरणीभशेषत्वबोध (अङ्गत्वबोधन) में प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाला (निरपेक्ष) जो 'रव' (शब्द), उसे 'श्रुति' कहते हैं। लक्षण में केवल 'रव' मात्र यदि कहें तो 'वाक्य' आदि में अतिव्याप्ति होगी। उसके निवारणार्थ 'निरपेक्ष' कहा गया है। 'प्रभा' व्याख्याकार ने भी 'निरपेक्षः स्वार्थबोधे शब्दान्तरानपेक्षो रवः शब्दः श्रुतिरित्यर्थः' कह कर उपर्युक्त अभिप्राय को ही स्पष्ट किया है। कुछ लोग 'निरपेक्षत्व' की व्याख्या 'इतरप्रामाण्यानधीनप्रामाण्यकत्वं चात्र निरपेक्षत्वम्' करते हैं।

यह 'श्रुति' अनेक प्रकार की होती है। जैसे—(१) विधात्री श्रुति, (२) अभिधात्री श्रुति, (३) विनियोक्त्री श्रुति। उनमें से 'लिङ्, लोट्, तव्य' इत्यादि श्रुति को 'विधात्री श्रुति' कहते हैं। और 'व्रीहिभिर्यजेत' इत्यादि 'अभिधात्री' श्रुति है। जिसके सुनने मात्र से 'सम्बन्ध' की प्रतीति होती है, उसे 'विनियोक्त्री' श्रुति कहते हैं।

'विनियोक्त्री' श्रुति के पुनः तीन भेद किये जाते हैं—(१) 'विभक्तिरूपा' विनियोक्त्री श्रुति (२) 'एकाभिधानरूपा विनियोक्त्री श्रुति' (३) 'एकपदरूपाविनियोक्त्री श्रुति'। (१) विभक्तिरूपा श्रुति का उदाहरण—'व्रीहीन् प्रोक्षति'। यहाँ 'क्रियाजन्यफलभागित्वरूप कर्मत्व' को बताने वाली द्वितीयाविभक्तिरूपश्रुति के द्वारा 'प्रोक्षण' में व्रीह्यङ्गत्व का बोधन किया जा रहा है। यह जो 'प्रोक्षण' है, वह व्रीहि के स्वरूपसम्पादनार्थ नहीं है, क्योंकि प्रोक्षण के बिना भी व्रीहि के स्वरूप की कोई अनुपपत्ति नहीं है। अतः वह 'प्रोक्षण' व्रीहि में अपूर्वसाधनत्व के सम्पादनार्थ होने से 'अपूर्वसाधनत्वप्रयुक्त' है। यहाँ 'अपूर्व' का अर्थ है 'अदृष्ट' जिसे 'पुण्य' कहा जाता है। व्रीहि पर प्रोक्षण किये बिना ही यदि 'याग' का अनुष्ठान किया जायगा तो 'अपूर्व' की उत्पत्ति नहीं होगी। इसी अभिप्राय से बालबोधिनीकार ने अनुपनीतानुष्ठितवेदाध्ययनस्यापूर्वाऽजनकत्ववत् व्रीहीणां प्रोक्षणमकृत्वा तैर्व्रीहिभिरनुष्ठितस्य यागस्याऽपूर्वानुपपत्तेरिति' कहकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्पष्ट किया है। तृतीयाविभक्ति का उदाहरण 'व्रीहिभिर्यजेत'—यहाँ पर तृतीया-विभक्तिरूप श्रुति के द्वारा 'व्रीहि' में यागाङ्गत्व का बोधन किया जारहा है।

सप्तमी विभक्ति का उदाहरण—'यदाहवनीये जुहोति' यहाँ पर सप्तमी-विभक्तिरूप श्रुति से 'आहवनीय' मे होमाङ्गत्व बताया गया है। कारक विभक्तियों को ही 'श्रुति' शब्द से कहा जाता है। चक्रवर्तिभट्टाचार्य कहते हैं—'अभिधातुं पदेऽन्यस्मिन्ननपेक्षो रवः श्रुतिः'। 'अभिधातुं प्रकृत्यर्थेन सह स्वार्थान्वयमनुभावयितु पदान्तरविषयाकाङ्क्षाशून्यो रवः शब्दः श्रुतिः। अतः श्रवणमात्रेणार्थमनुभावयन्ती श्रुतिरुच्यते'। 'सह', चतुर्थी आदि के अर्थ में अथवा नमः आदि शब्दों के योग में जो 'तृतीया', आदि विभक्तियाँ होती हैं, उन्हें 'उपपद विभक्ति' कहते हैं। उपपद विभक्तियों को 'सह' आदि पदों की अपेक्षा रहती है। इसलिए उपपदविभक्तियों को 'श्रुति' नहीं कहते। एतन्मूलक ही 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' वचन है। कारकविभक्तिरूपश्रुति का उदाहरण, जैसे—'व्रीहीनवहन्ति'। यहाँ द्वितीया विभक्ति के श्रवण करने मात्र से ही अवहननक्रिया में 'व्रीहियों' का विनियोग होना अवगत होता है। और 'मासं गुडधानाः' 'क्रोशं कुटिला नदी' यहाँ पर जो द्वितीया विभक्ति है, वह 'उपपदविभक्ति' है, इसलिए वह 'श्रुति' नहीं है, क्योंकि यहाँ पर 'मासम्'—इत्यादि में 'बुद्धिस्थ यावत् अवयवसम्बन्धरूप व्याप्ति' 'द्वितीया विभक्ति' का अर्थ है। तथा च व्याप्तिरूप अन्तर्भूत क्रिया की अपेक्षा रहने से 'उपपदविभक्ति' सापेक्ष हुआ करती है। इसलिए उसे 'श्रुति' नहीं माना जाता है। ये तो 'विभक्तिरूपा श्रुति' के उदाहरण हुए।

(२) एकाभिधानरूपा (समानाभिधानरूपा) श्रुति का उदाहरण, जैसे—'पशुना यजेत' इस वाक्य में 'पशुना' यह तृतीया विभक्ति के एकवचन का रूप है। यहाँ पर 'पशु' शब्द से तृतीया विभक्ति के एकवचन की विवक्षा होने पर 'टा' प्रत्यय किया, उसके स्थान पर पुँल्लिङ्ग को सूचित करने के लिए 'आङो नाऽस्त्रियाम्' इस पाणिनिसूत्र से 'ना' आदेश करने पर 'पशुना' यह तृतीया के एकवचन का रूप बना। तब 'ना' आदेश के सुनते ही 'एकवचन' तथा 'पुँस्त्व' दोनों की प्रतीति होती है, और उसी से 'करण-कारक' का भी बोध होता है। एवं च 'पशुना' पदगत एक ही प्रत्ययरूप अंश से तीनों की उपस्थिति हो रही है। तब 'पुँस्त्व' और 'एकत्व' में (लिङ्ग और संख्या में) कारकाङ्गत्व होने का ज्ञान 'समानाभिधान' (एकाभिधान) श्रुति से होता है। उसी तरह दूसरा पद 'यजेत' है। उसमें दो अंश हैं—एक 'धातु' का और दूसरा 'प्रत्यय' का। धातु को 'प्रकृति' शब्द से भी कहा जाता है। उक्त पद में 'यज' धातु (प्रकृति) है और 'त' प्रत्यय है। 'प्रत्यय' में भी दो अंश (भाग) हैं—एक 'साधारण' अंश और दूसरा 'विशेष' अंश।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनमें से साधारण अंश 'आख्यातत्व' है और विशेष अंश 'लिङ्त्व' है। अपने 'लिङ्त्व' अंश के द्वारा वह 'त' प्रत्यय, 'शाब्दी भावना' (प्रेरणा या प्रवर्तना) को बताता है और अपने 'आख्यातत्व' अंश से 'संख्या' आदि को बताता है। उस 'संख्या' का धात्वर्थ 'याग' में अङ्गत्वेन अन्वय होता है। अर्थात् प्रत्ययार्थ 'संख्या', अपने धात्वर्थ 'याग' को अंग बन जाती है। प्रकृति और प्रत्यय मिलकर 'एक पद' निष्पन्न होता है। यहाँ पर यागरूप 'धात्वर्थ' को बताने वाला 'यज' प्रकृति है और 'संख्या' को बताने वाला 'त' प्रत्यय है। तब प्रकृति और प्रत्यय दोनों को जोड़ देने पर 'यजेत' यह एक पद तैयार होता है। इसलिए 'याग' में 'संख्या' का अन्वय 'एकपद' नामक श्रुति से हुआ है।

एवं च अङ्गत्वबोधक (गुण-प्रधानभाव के ज्ञापक) छह प्रमाणों में से सर्वप्रथम 'श्रुति' प्रमाण है। उसके तीन भेद (तीन प्रकार) किये गये हैं--(१) विधात्री, (२) अभिधात्री और (३) विनियोक्त्री। उनमें से विधायक लिङ्, लेट्, लोट्, तव्य, अनीयर् आदि स्वरूपवाली 'श्रुति' (शब्द) को 'विधात्री श्रुति' (प्रवर्तनाबोधिका, प्रेरित करनेवाली) कहते हैं। और 'व्रीहिभिर्यजेत' में जो 'व्रीहि' पद अथवा 'यवैर्यजेत' में जो 'यव' पद, उसी तरह अन्यान्यस्थलों में अन्य अन्य पद 'अभिधात्री श्रुति' (शक्त्या अर्थबोधन करनेवाली) के नाम से कहलाते हैं। यद्यपि 'विनियोग' प्रकरण में विधात्री और अभिधात्री श्रुति का निरूपण करने का कोई औचित्य नहीं है तथापि श्रुतिनिरूपण का प्रसंग चलने के कारण और विधि के सहकारी होने के कारण उनका भी निरूपण कर दिया गया है। (३) विनियोक्त्री-श्रुति--'यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव सम्बन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री श्रुतिः'। जिसके सुननेमात्र से सम्बन्ध की प्रतीति होती है। उसे 'विनियोक्त्री' श्रुति कहा जाता है। इस श्रुति के भी तीन भेद 'विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा और एकपदरूपा' नाम से बताये गये हैं।

'श्रुतिप्रमाण' अपने अगले लिङ्गादि' प्रमाणों की अपेक्षा अधिक प्रबल माना जाता है। क्योंकि इसे अङ्गाङ्गिभाव (गौण-प्रधानभाव) बोधनरूप कार्य के करने में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती। वह स्वयं ही अङ्गाङ्गिभाव का निर्णय कर देता है। किन्तु उत्तरवर्ती लिङ्गादि प्रमाणों में ऐसी शक्ति नहीं है कि वे निरपेक्ष होकर (अन्य प्रमाण की सहायता के बिना) अङ्गाङ्गिभाव का निर्णय कर सकें। उन्हें अपना कार्य करने में पूर्व-पूर्व प्रमाण की सहायता लेनी पड़ती है। अतः उन्हें अङ्गाङ्गिभाव के निर्णयरूप अपना कार्य करने में विलम्ब लगता है। इसलिए उत्तरवर्ती सभी प्रमाणों की अपेक्षा 'श्रुति प्रमाण' को प्रबल समझा जाता है। अत एव 'ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस वाक्य से द्वितीया श्रुति की प्रबलता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के आधार पर इन्द्रदेवतावाली 'ऐन्द्री' ऋचा का 'गार्हपत्योपस्थान' (गार्हपत्याग्नि की स्तुति) में विनियोग किया जाता है, अर्थात् 'ऐन्द्री' ऋचा, 'गार्हपत्योपस्थान' की अंग मानी जाती है। अभिप्राय यह है कि ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्योपस्थान किया जाता है, 'इन्द्र' देवता का उपस्थान नहीं।

(२) लिङ्गप्रमाण—

'शब्दस्य अर्थविशेषप्रकाशनसामर्थ्यं लिङ्गम्'। शब्द का जो अर्थविशेष-प्रकाशन करने का सामर्थ्य है, उसे 'लिङ्ग' प्रमाण कहते हैं। कहा भी है—'सामर्थ्यं सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभिधीयते'। कहीं-कहीं 'सर्वशब्दानां' के स्थान पर 'सर्व-भावानां' भी पाठ है। प्रकृत प्रसंग में वह अनुपयुक्त रहने पर भी उचित प्रतीत हो रहा है। क्योकि उससे 'अर्थसामर्थ्य' का भी ग्रहण किया जासकेगा। 'सामर्थ्यं रूढिरेव'-सामर्थ्य का अर्थ 'रूढि' है। किन्तु इसे आगे आने वाले 'समाख्या' प्रमाण से भिन्न समझना चाहिये। क्योकि आगे बताये जानेवाले 'समाख्या' प्रमाण का अर्थ 'यौगिकशब्द' है। अतः यौगिकशब्दरूप 'समाख्या' से यह रूढिरूप 'लिङ्ग' भिन्न है। इसलिए दोनों प्रमाण परस्पर भिन्न हैं। लिङ्ग प्रमाण का उदाहरण—'बर्हि-र्देवसदनं दामि' है। 'दाप्' लवने—धातु से 'दामि' रूप सिद्ध होता है। 'देवसदनं' पुरोडाश-सदन (स्थान) भूत बर्हि (कुश=दर्भ) को मैं 'दामि' काटता हूँ—यह अर्थ, उक्त वाक्य का है। अतः 'दामि' इस श्रुत पद के सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण के आधार पर उक्त 'मन्त्र' बर्हिर्लवन (बर्हिच्छेदन) का अङ्ग माना जाता है। दूसरा उदाहरण—'अग्नये जुष्टं निर्वपामि'। यहाँ पर 'निर्वपामि' पद से निर्वापप्रकाशन-सामर्थ्यरूप लिङ्ग प्रमाण से उक्त मन्त्र, 'निर्वाप' का अंग माना जाता है, क्योंकि 'यस्य मंत्रस्य यत्प्रकाशनसामर्थ्यं तस्य तदङ्गत्वम्' यह नियम है। प्रथम उदाहरण में 'बर्हि' शब्द से 'कुश'=दर्भ अर्थ ही लिया जाता है। कुश के सदृश 'उलप' आदि अन्य तृणों का ग्रहण नहीं किया जाता। यह 'लिङ्ग प्रमाण' अपने उत्तरवर्ती 'वाक्य' आदि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल माना जाता है। अतः लिङ्गप्रमाण से ही उक्त उदाहरणों में अङ्गत्व का निर्णय किया गया है।

(३) वाक्यप्रमाण—

'परस्पराकांक्षावशात्कचिदेकस्मिन्नर्थे पर्यवसितानि पदानि वाक्यम्' परस्पर आकांक्षा के कारण किसी एक अर्थ में पर्यवसित होनेवाले पदों को 'वाक्य' प्रमाण कहते हैं। 'वाक्य' का अर्थ 'समभिव्याहार' (सहोच्चारण) है। अर्थात् 'अङ्ग' और 'अङ्गी' पदार्थों का सहोच्चरण करना है। वाक्यप्रमाण का उदाहरण—'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' इसमें 'पर्ण' (पलाश) और 'जुहू' का समभिव्याहार (सहो-च्चारण) किया गया है। इसलिए इस-वाक्यप्रमाण के आधार पर 'जुहू' के प्रति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'पर्णता' को अंग माना गया है। 'जुहू' एक यज्ञीय पात्रविशेष है, इसमें हवि को रखकर अग्नि में आहुति दी जाती है। यह 'जुहूपात्र' पलाश की लकड़ी से बनाया जाता है। यह वाक्यप्रमाण अपने उत्तरवर्ती 'प्रकरण' आदि अन्य प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल होता है। अत एव 'इन्द्राग्नी इदं हविरजुषेतामवीवृधेतां महो-ज्यायोऽक्राताम्' यह मंत्र दर्शयाग के साथ पठित होने के कारण 'समभिव्याहाररूप वाक्य' प्रमाण से केवल दर्शयाग का ही अंग होता है। प्रकरणप्रमाण के आधार पर सम्पूर्ण दर्श-पूर्णमासयाग का अङ्ग नहीं है।

(४) प्रकरणप्रमाण--

'परस्पराकांक्षा प्रकरणम्'—अङ्ग और अङ्गी दोनों की परस्पर आकांक्षा को 'प्रकरण' प्रमाण कहते हैं। जैसे—'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' यहाँ पर दर्शपूर्णमास के द्वारा स्वर्ग का सम्पादन करे, यानी स्वर्गापूर्व को प्राप्त करे। यह बोध होने पर उपकारक की आकांक्षा होती है कि 'कथमाभ्यां स्वर्गं भावयेत्' यानी दर्शपूर्णमास से स्वर्गापूर्व को कैसे सम्पन्न करें? यह 'अङ्गी दर्शपूर्णमास' के सम्बन्ध में आकांक्षा हुई।

तथा फलवान् 'आग्नेय' आदि यागों के समीप 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, आज्यभागौ यजति' इत्यादि वाक्यों ने फलरहित प्रयाजादि यागों को बताया है। तब इन वाक्यों में प्रयोजन की आकांक्षा होती है। क्योंकि 'समिद्यागेन भावयेत्'—ऐसा बोध होने पर किसी फलविशेष के श्रुत न होने से उसके प्रयोजन की आकांक्षा होती है अर्थात् 'किमेतेषां प्रयोजनम्' ऐसी उपकार्याकांक्षा होती है। एवं च प्रयाजादि-यागों को 'प्रयोजन' की आकांक्षा और दर्शपूर्णमास यागों को 'कथंभावाकांक्षा' होने पर परस्पराकांक्षारूप प्रकरण प्रमाण से प्रयाजादिकों में दर्शपूर्णमास को अङ्गता मानी जाती है। यह 'प्रकरण' प्रमाण उत्तरवर्ती स्थानादि प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल होता है। अत एव 'अक्षैर्दीव्यति, राजन्यं जिनाति' इत्यादि पदार्थ 'अभिषेचनीय-सोमयाग' के समीप पठित हैं, तथापि 'स्थान' प्रमाण से उसके अङ्ग नहीं माने जाते, किन्तु 'प्रकरण' प्रमाण के आधार पर उन्हें राजसूय का ही अङ्ग माना जाता है।

(५) स्थानप्रमाण—

'समानदेशत्वं स्थानम्' देश की समानता को स्थान-प्रमाण कहते हैं। इसी का दूसरा नाम 'क्रम' भी है। यह प्रमाण दो प्रकार का है, एक 'पाठसादेश्य' और दूसरा 'अनुष्ठानसादेश्य'। कहा भी है—'तत्र क्रमो द्विधैवेष्टो देशसामान्य-लक्षणः। पाठानुष्ठानसादेश्याद्विनियोगस्य कारणम् ॥' पाठक्रम भी दो प्रकार का होता है—एक 'यथासंख्यपाठ और दूसरा 'सन्निधिपाठ'। स्थान-प्रमाण का उदाहरण, जैसे— ज्योतिष्टोम प्रकरण में उपाकरण, नियोजन आदि पञ्चांग बताये गये हैं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वे स्थानप्रमाण के आधार पर अग्नीषोमीयपशु के अङ्ग कहे जाते हैं। यह स्थान प्रमाण अपने उत्तरवर्ती समाख्या-प्रमाण की अपेक्षा प्रबल है। अत एव 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे' यह मन्त्र स्थान-प्रमाण के प्रबल रहने से सान्नाय्यपात्रों के शोधन का अङ्ग माना जाता है। 'पौरोडाशिक' इस दुर्बल समाख्या-प्रमाण से यह मंत्र पुरोडाशपात्रों के शोधन का अङ्ग नहीं माना जाता।

(६) समाख्याप्रमाण--

'यौगिकः शब्दः समाख्या'। यौगिक शब्द को 'समाख्या' कहते हैं। नाम शब्द चार प्रकार के होते हैं--(१) यौगिक, (२) रूढ, (३) योगरूढ, (४) यौगिकरूढ। आध्वर्यव, पाचक इत्यादि शब्द यौगिक हैं। इसी को 'समाख्या' कहते हैं। जहाँ अवयवार्थ का ज्ञान होता है उसे 'यौगिक' कहते हैं। जो अवयवशक्ति की अपेक्षा न रखकर केवल समुदायशक्ति से ही अर्थ का बोधन करता है उस शब्द को 'रूढ' कहते हैं। जैसे—'गो' आदि शब्द, रूढ-शब्द कहे जाते हैं। जो अवयवशक्ति के विषय में समुदायशक्ति से भी प्रवृत्त होता है, उसे 'योगरूढ' कहते हैं। जैसे---'पङ्कज' आदि शब्द। पङ्कजादि शब्दों में ही अवयवशक्ति से अर्थात् पङ्क-जनि-कर्तृत्वेन रूपेण और समुदायशक्ति से अर्थात् पद्मत्वेन रूपेण पद्मबोधकत्व रहता है। जो अवयवशक्ति और समुदायशक्ति दोनों के द्वारा रूढ्यर्थ का स्वतन्त्ररूप से बोधन करता है, उसे 'यौगिकरूढ' शब्द कहते हैं। जैसे--उद्भिद् आदि शब्द।

यह समाख्या वैदिक, लौकिक दो प्रकार की होती है। 'होतृचमस' इस वैदिक समाख्या के आधार पर 'होता' को चमसभक्षण का अङ्ग माना जाता है। 'आध्वर्यव', 'हौत्र' इन लौकिक सामाख्याओं के आधार पर अध्वर्यु, होता आदि, तत्तत् पदार्थों के अङ्ग माने जाते हैं।

विनियोजक श्रुत्यादि छह प्रमाणों के लक्षण कण्ठस्थ करने के लिए निम्न श्लोक-पद्य उद्धृत किये जा रहे हैं—

"अभिधातुं पदेऽन्यस्मिन्ननपेक्षो रवः श्रुतिः।
सर्वत्रावगता　　शक्तिर्लिङ्गमित्यभिधीयते ॥
संहत्यार्थं ब्रवद्वृन्दं पदानां वाक्यमुच्यते।
प्रधानवाक्यस्याङ्गोक्त्याकाङ्क्षा प्रकरणं मतम् ॥
स्थानं समानदेशत्वं समाख्या यौगिको रवः ॥"

'निःशेषच्युतचन्दनम्' जैसे 'विधि' आदि में शक्ति है ही। उस विध्यर्थ के अप्राप्त रहने से वह विधेय के रूप में तात्पर्य का विषय हो सकता है, क्योंकि उससे प्राथमिक अर्थबोध हो ही जाता है, किन्तु वाक्य का विराम नहीं होता है, क्योंकि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किञ्च कुरु रुचिमिति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम्? न ह्यत्राऽसभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात्।

उससे विवक्षित अर्थ का बोध नहीं हो रहा है। अन्यथा अवान्तरवाक्यार्थ का बोध होने पर महावाक्यार्थ का बोध नहीं हो सकेगा। इस रीति से शब्दश्रवण के अनन्तर जितने अर्थ की प्रतीति होती है, वह प्रतीति केवल अभिधा से नहीं होती है, किन्तु उसके लिये आकांक्षा आदि की अपेक्षा करनी पड़ती है। इसीलिए श्रुति आदि प्रमाणों में पूर्व-पूर्व प्रमाणों के सहयोग से ही उत्तर-उत्तर प्रमाणों की बोधकता हो पाती है। अतः जैमिनि सूत्र से विरोध भी नहीं हो पाता है।

वक्त्रादि के वैशिष्टय की सहकारिता से क्वचित् अज्ञात अर्थ को बताने के लिए अभिधा का भी उपयोग किया जा सकता है। ऐसी शंका उपस्थित करने पर दूषणान्तर को दिखा रहे हैं—

किञ्चेति। 'कुरु रुचिम्' इन दो पदों को विपरीत कर देने पर काव्य में (काव्यान्तर्वर्तिनि) 'रुचिङ्कुरु' पढ़ा जायगा। तब अश्लीलता दोष के स्पष्ट हो जाने पर भी उस काव्य को दुष्टकाव्य क्यों कहा जाय? क्योंकि यहाँ पर अश्लील (असभ्य अर्थात् योनि का अंकुर अथवा भगनासा) अर्थ का काव्यान्तर्वर्ती अन्य पदार्थों के साथ अन्वय तो है नहीं। इसलिए उसे वाच्यार्थ भी नहीं कह सकते। अतः वह अश्लील अर्थ अनभिधेय ही है। इस अश्लील अर्थ को यदि व्यङ्ग्य न कहें तो उस जैसे अश्लील प्रयोगों को काव्य में परित्याज्य नहीं कहना चाहिये।

मूल में स्थित 'काव्यान्तर्वर्तिनि' के स्थान पर कहीं कहीं 'कन्तर्गर्तिनी' भी पाठ उपलब्ध होता है। तब अर्थ इस प्रकार करना होगा—'कु-शब्दः अन्तर्वर्ती यत्र तादृशे वैपरीत्ये अर्थात् 'रुचिं कुरु' इत्येवं रूपे'। 'रुचिं कुरु' में सन्धि करने पर 'चिङ्कु' पद निष्पन्न होता है। लाटभाषा में 'चिङ्कु' शब्द का अर्थ—'योन्यन्तर्गर्ती अङ्कुर' होता है। यह बात सरस्वती-तीर्थ आदि अनेक विद्वानों ने बताई है। काव्यप्रकाशदर्पण में विश्वनाथ ने भी 'चिङ्कुपदं कश्मीरादिभाषायामश्लीलार्थ-बोधकम्' ऐसी उसकी व्याख्या की है।

विशेष विवरण—व्यञ्जनावादी मम्मटभट्ट ने व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता को बताकर मीमांसकों का खण्डन कर दिया है। पुनः अपनी साहित्यशास्त्रीय पद्धति से भी कतिपय युक्तियों को उपस्थित कर रहे हैं, जिनसे व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता का अनुभव हो सके। उनमें से एक युक्ति तो यह दी जा रही है कि 'कुरु रुचिम्' शब्दों को यदि विपरीत क्रम से रखें, तो 'रुचिं कुरु' पढ़ना होगा। सन्धि कर देने पर 'चिङ्कु' पद सुनाई देगा। तब वह, स्त्रीगुह्याङ्गवाचक 'चिङ्कु' पद के तुल्य होने से व्यञ्जना के द्वारा स्त्रीगुह्याङ्ग का उपस्थापक हो जाने के कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यंग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽ-

'अश्लीलत्व' दोष होगा, किन्तु यहाँ पर 'स्त्रीगुह्याङ्ग' (भगनासा) रूप असभ्य (अश्लील) अर्थ 'रुचि' और 'कुरु' दोनों में से किसी भी पद का वाच्यार्थ नहीं है। एवं च जब 'अश्लील अर्थ' वाच्य ही नहीं है, और 'अभिधा के सिवाय अन्य कोई अर्थबोधक वृत्ति भी नहीं है, तब अश्लील अर्थ की प्रतीति कैसे हो पायेगी ? अर्थात् असभ्य अर्थ की प्रतीति होगी ही नहीं। तब इस प्रकार के प्रयोगों को काव्य में वर्जित नहीं कहा जा सकेगा। किन्तु सहृदय विद्वान् लोग ऐसे प्रयोगों को अश्लील अर्थ के व्यञ्जक मानकर उन्हें वर्जित करते हैं। किन्तु 'अन्वित एवार्थोऽभिधेयः'–अन्वित अर्थ ही अभिधेय होता है—इस अन्विताभिधान के मत में व्यञ्जना का स्वीकार न करने से अनभिधेय अश्लील प्रयोगों को वर्जित करना संभव नहीं होगा, क्योंकि वह अश्लील अर्थ, किसी से भी अन्वित नहीं है, इसीलिए वह अभिधेय नहीं है, क्योंकि अन्वित अर्थ ही अभिधेय होता है। अतः अभिधा के अतिरिक्त व्यञ्जना को भी अवश्य मानना होगा।

अन्वित अथ का अनुभव कराने वाली 'आनुभाविकी शक्ति' ही होती है, जो अनन्वित अर्थ का अनुभव नहीं कराती। क्योंकि कोई भी पद, अपने अर्थ का अनुभव तभी करा पाता है कि जब वह दूसरे पद के अर्थ के साथ अन्वित होता है। अत एव 'पद' को अनुभावक कहते हैं। यदि किसी पद का अर्थ, किसी दूसरे पद के अर्थ से अन्वित नहीं होता हैं तो, उस 'पद' को अनुभावक नहीं कहते, यानी वहाँ शाब्दबोध नहीं हो पाता। इसीलिये यह नियम किया गया है कि 'शक्तिमत् पदमेव अनुभावकं नाऽशक्तिमद्'। एवं च अन्वित शक्तिमत् पद ही 'अनुभावक' होगा, और कोई नहीं; तथापि 'स्मारिका शक्ति' तो अनन्वित पद में भी रहती है। अतः 'आनु-भाविकी शक्ति' के न रहने पर भी 'स्मारिका शक्ति' के बल पर 'चिङ्कु' आदि पदैकदेश भी असभ्य अर्थ का स्मरण कराने वाले होने से काव्य का दुष्टत्व होना संभव हो सकता है। इसलिए दूसरा दोष दिखा रहे हैं—

यदि चेति। 'यदि च' इस ग्रन्थ से दूसरी युक्ति बता रहे हैं। साहित्य-शास्त्र के दोषप्रकरण में दो प्रकार के दोष बताये गये हैं—एक तो 'नित्यदोष' और दूसरे 'अनित्यदोष'। उनमें से 'असाधुपदत्व' आदि दोष, प्रत्येक रस के अपकर्षक होने के कारण उन्हें 'नित्यदोष' माना जाता है, और 'श्रतिकटुत्व आदि दोष', 'करुण, शृंगार' आदि कोमल रसों में ही माने जाते हैं। 'वीर, रौद्र, भयानक' आदि रसों में उनको दोष के रूप में नहीं माना जाता। इस कारण उन्हें 'अनित्यदोष' कहा जाता है।

यदि 'वाच्य-वाचकभाव' से पृथक् 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव' को स्वीकार न

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्, न चानुपपन्नं सर्वस्यैव विभक्ततया प्रतिभासात् वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यंग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था ।

'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' ॥

किया जाय तो 'नित्यदोष' और 'अनित्यदोष' की व्यवस्था नहीं हो सकेगी। किन्तु जब 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव' को पृथक्‌रूप से स्वीकार करने पर व्यञ्जनावृत्ति से प्रतीयमान भिन्न-भिन्न रसों के अनुकूल या प्रतिकूल होने के कारण नित्यदोष और अनित्य दोषों की व्यवस्था का होना संभव हो सकता है, तब व्यञ्जनावृत्ति को अवश्य मानना ही होगा। इसी अभिप्राय को ग्रन्थकार ने 'यदि च' ग्रन्थ से बताया है।

यदि चेति। यदि वाच्य-वाचक भाव से भिन्न अर्थात् 'वाच्य-वाचकभाव' के बिना यानी 'अभिधा' के अतिरिक्त व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव को नहीं मानते हैं तो 'असाधुपदत्व' (च्युतसंस्कारत्व यानी व्याकरणाननुगतत्व अथवा व्याकरणव्युत्पत्तिशून्यत्व) आदि 'नित्यदोष' कहे जाते हैं, और 'कष्टत्व' (श्रुतिकटुत्व) आदि 'अनित्यदोष' कहे जाते हैं—यह दोष-विभाग नहीं कह सकेंगे।

न चेति। और उक्त विभागव्यवस्था को अनुपपन्न भी नहीं कह सकते हैं। क्योंकि सभी सहृदय विद्वानों को नित्यदोष तथा अनित्यदोषों को पृथक्-पृथक् (विभक्ततया) प्रतीति हुआ करती है। इसलिए उस दोष-विभाग को स्वीकार करना ही होगा।

वाच्य-वाचकभावव्यतिरेकेणेति। वाच्य-वाचक भाव (अभिधारूप-व्यापार) से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव (व्यञ्जनारूप व्यापार) को मानने पर तो व्यङ्ग्य (रस आदि) के अनेक प्रकार (बहुविध) होने से क्वचित् (कहीं पर ही और किसी सहृदय को ही) किसी के औचित्य के कारण दोष-विभाग की व्यवस्था उपपन्न हो ही जाती है। इसलिए व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार करना ही होगा।

यह व्यवस्था महाकवि कालिदास के प्रयोग में भी दिखाई देती है। जैसे: द्वयमिति।

"द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।
कला च सा कान्तिमता कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥"

कुमारसम्भव काव्य के पञ्चम सर्ग में तप करती हुई पार्वती का छल करते हुए शिवजी अपनी ही निन्दा कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि हे पार्वती! कपाल को धारण करने वाले (अस्थिविशेष को धारण करने वाले दरिद्र और बीभत्स रूप वाले) शिव के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम् ?

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ।

समागम की इच्छा रखने के कारण 'चन्द्रमा की सुन्दर कला' और उससे भी 'अधिक सुन्दर तुम' (पार्वती) दोनों शोचनीय हो गये हो।

इत्यादाविति। इत्यादि काव्य में शिव के वाचक (अभिधायक) 'पिनाकी' आदि पद की अपेक्षा 'कपाली' आदि पदों में काव्यानुगुणत्व क्यों अधिक स्वीकार किया जाता है ?

विशेष विवरण—उक्त उदाहरण में 'कपाली' पद से अपवित्र 'बीभत्स' कपाल (अस्थि) धारण के कारण उसका स्पर्श करना, दर्शन करना भी उचित नहीं है, अतः वह सर्वथैव हेय (त्याज्य) है—यह अर्थ अभिव्यञ्जित होता है। यदि 'कपाली' पद की जगह 'पिनाकी' पद का प्रयोग करें तो कपाली और पिनाकी दोनों पदों से अभिधेय 'शिव' अर्थ की उपस्थिति में कोई अन्तर नहीं होगा, तथापि 'पिनाकी' पद से धनुर्धारिता की प्रतीति होने से वीरत्व का बोध होगा, 'निन्दा' की प्रतीति नहीं होगी। व्यञ्जनावृत्ति को मानने पर कपाल-सम्बन्ध के कारण सकल-अमङ्गलनिधानत्व, दुराचारत्व, स्पर्श-सम्भाषणादि की अयोग्यता का बोध होने से भगवान् शिव 'बीभत्सरस' के आलम्बन हो पाते हैं, तब निन्दा के अतिशय का बोधन होता है। उन शिवजी का संसर्ग चाहने वाले अत्यधिक शोचनीय प्रतीत होते हैं। उस कारण पार्वती के हृद्गत भाव का निवारण 'कपाली' पद के प्रयोग से ही हो सकता है, इसलिए उसके प्रयोग में काव्यानुगुणता (काव्योत्कर्षता) मानी गई है। अन्यथा व्यञ्जनावृत्ति को न मानने पर सभी पदों (शब्दों) का स्थान वाचकरूप से तुल्य ही है, तब 'कपाली' जैसे विशेष पद के प्रयोग में कोई विलक्षण चमत्कार नहीं होना चाहिये। किन्तु सहृदयों को चमत्कार का अनुभव तो होता है। अतः वाच्य-वाचक भाव से भिन्न 'व्यङ्ग्य-व्यंजकभाव' को मानना ही होगा।

अपि चेति। व्यञ्जनावृत्ति के स्वीकार करने में एक और भी युक्ति बता रहे हैं। 'वाच्यार्थ' और 'व्यङ्ग्यार्थ' दोनों में से जो वाच्यार्थ है, वह सभी प्रकार के ज्ञाताओं के लिए साधारण (एकरूप) होता है, क्योंकि 'शक्यतावच्छेदक' नियत रहता है। अतः वाच्यार्थ का स्वरूप निश्चित रहता है।

नहीति। क्योंकि 'गतोऽस्तमर्कः'—सूर्य अस्त हो गया—इत्यादि स्थलों में कहीं भी और कभी भी वाच्यार्थ अनेक नहीं होते। सभी जगह और सबके लिए वाच्यार्थ का स्वरूप (आकार) एक-सा (समान) ही रहता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न हि 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्तप्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामहे इति, सांध्यो विधिरुपक्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, सन्तापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतोऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति।

प्रतीयमानस्त्विति। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) तत्तत् प्रकरण के वक्ता, बोद्धा, (प्रतिपत्ता) आदि के आधार पर अनियत (पृथक्-पृथक्) अर्थात् अनेक प्रकार का हो जाता है। क्योंकि उसका व्यङ्ग्यतावच्छेदक नियत नहीं होता, यानी अनियत (अनिश्चित) होता है।

तथा चेति। जैसे—'गतोऽस्तमर्कः'—सूर्य अस्त हो गया—यह वाक्य सुनकर वीर लोग समझते हैं कि शत्रु पर (सपत्न के प्रति) प्रत्यवस्कन्दन (चढाई करने) का यह अवसर है। अभिसरणमिति। यदि रसिक नायिका उक्त वाक्य को सुनती है तो वह समझती है कि नायक के संकेतित स्थान पर अभिसरण करने का उपक्रम (तयारी) करना चाहिये। उसकी सखी या दूती कहती है कि 'प्राप्तप्रायस्ते प्रेयान्'—तुम्हारा प्रियतम संकेत स्थल पर पहुँच ही रहा है, समझो। कर्मेति। काम करने वाले नौकर, मजदूर यदि उक्त वाक्य को सुनते हैं, तो वे समझते हैं कि काम करने से छुट्टी हो गई है अर्थात् काम समाप्त करना चाहिये। सान्ध्य इति। यदि ब्राह्मणादि कोई द्विज उक्त वाक्य को सुनता है, तो वह समझता है कि सायंकालीन सन्ध्याविधि का अनुष्ठान करना चाहिये। दूरमिति। कार्यवशात् बाहर जाने वाले को उसका आप्त उक्त वाक्य को कहता है तो सुनने वाला समझता है कि दूरं मा गाः—बहुत दूर मत जाना—अन्धेरा हो रहा है। सुरभय इति। जब कोई गृहस्थी ग्वाले से उक्त वाक्य को कहता है तब ग्वाला समझता है कि 'सुरभयो (गावः) गृहं प्रवेश्यन्ताम्—गौओं को घर में ले चलो, अब हिंसकजीवों का आने का समय हो गया है, अब वन में घूमना उचित नहीं है। सन्ताप इति। दिन भर अत्यन्त सन्तप्त हुए बन्धुओं से उक्त वाक्य जब कहा जाता है, तब बन्धुजन समझते हैं कि 'सन्तापोऽधुना न भवति' अब तापदायक गरमी नहीं है। दूकानदारों में से कोई उक्त वाक्य को बोलता है, तो भृत्य (नौकर) वर्ग समझते हैं कि 'विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्ताम्'—विक्रेय वस्तुओं को समेट लिया जाय अर्थात् दूकान बन्द की जाय। नायक के आगमन के प्रसंगमें कोई प्रोषितभर्तृका नायिका 'गतोऽस्तमर्कः'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना—

मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम्॥ १३३॥

इत्यादौ संशय-शान्त-शृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण—

वाक्य को जब सुनती है, तब वह कह उठती है कि 'नाऽगतोऽद्यापि प्रेयान्' आज भी या अभी तक मेरा प्रियतम नहीं आया। इस रीति से भिन्न-भिन्न स्थलों पर असंख्य प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ, एक ही वाक्य से तत्तत्प्रकरण, वक्ता, बोद्धव्य, आदि के कारण प्रकट होते हैं। इसी तरह 'उदितं मण्डलं विधोः'—चन्द्रमण्डल उदित हुआ है—इस एक ही वाक्य से दूती, अभिसारिका, विरहिणी, सखी आदि में से किसी के द्वारा जब कहा जाता है, तब उससे यथाक्रम अभिसरण-विधि, निषेध, जीवनाभाव, पतिप्राप्ति आदि अनेक व्यङ्ग्य अर्थ प्रकाशित होते हैं। अतः वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की संख्या में भेद होने से भी व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न ही कहना होगा।

विशेष विवरण—व्यञ्जनावृत्ति की सिद्धि में चार हेतुओं को बताया गया है। अब वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता बताने के लिए और आठ हेतुओं को बता रहे हैं—(१) स्वरूपभेद, (२) प्रतीतिभेद, (३) कालभेद, (४) आश्रयभेद, (५) निमित्तभेद, (६) कार्यभेद, (७) संख्याभेद, (८) विषयभेद।

स्वरूपभेद के कारण वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता के तीन उदाहरण—

(१) वाच्य-व्यङ्ग्ययोरिति। 'निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटम्' में वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के क्रमशः 'निषेध' और 'विधिरूप' होने से वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ भिन्न है—यह स्वरूप भेद का उदाहरण है।

(२) मात्सर्यमिति। भर्तृहरिकृत शृङ्गारशतक का यह पद्य है—कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक मे चतुर हे आर्यो! आप लोग पक्षपातरहित होकर विचार करके निर्णयात्मक बात बताइये कि मैं करूँ तो क्या करूँ? क्या पर्वतों की उपत्यकाओं (नितम्बों) की शरण लूँ अथवा हाव-भाव के साथ हँसती-हँसाती सुन्दर-रमणियों के नितम्बों की शरण लूँ?॥ १३३॥

इत्यादाविति। इस उदाहरण में वाच्यार्थ तो संशयरूप है, और व्यङ्ग्यार्थ शान्त और शृङ्गारी, एतदन्यतरगतनिश्चय है। यही दोनों का स्वरूपवैलक्षण्य (स्वरूपभेद) है। 'किमु' और 'उत' ये दोनों संशयार्थक हैं। आपाततः संशयरूप उत्तर से 'शान्त पुरुष पर्वत नितम्बों का ही सेवन करें और शृंगारीपुरुष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विलासिनी सुन्दरियों के नितम्बों का ही सेवन करें'—यह निश्चयात्मक उत्तर ध्वनित हो रहा है।

विशेष विवरण—कार्याऽकार्यविचारचतुर श्रद्धेय लोगों से कोई संशयित व्यक्ति कह रहा है कि आप लोग इस सन्दिग्धस्थल में दोनों पक्षों का शान्तचित्त से विचार कर लें। ऐसा न करें कि दो पक्षों में से किसी एक ओर पक्षपात करके दूसरे पक्ष को असूया से देखें। अथवा मेरे प्रश्न के उत्तर देने के परिश्रम के कारण मेरे प्रति मत्सर करें। खूब अच्छी तरह से विचार करके प्रमाणमर्यादा के साथ (समर्याद यानी सप्रमाण) मेरे कर्तव्य को सयुक्तिक बताने की कृपा करें। मेरे प्रश्न की अवहेलना न करें। कहीं-कहीं 'इदं वदन्तु' यह भी पाठ है। तब वहाँ 'निर्धार्य' ऐसा अध्याहार कर लेना चाहिये, और संशय की उभयकोटियों में किसी एक का निश्चय करके मुझ से कहें! चन्द्रिकाकार कहते हैं कि आर्यों के उत्तररूप में उत्तरार्ध की व्याख्या करने वालों का क्या अभिप्राय है? यह हम नहीं जानते।

यहाँ पर वाच्यार्थ-'संशय' है। और व्यङ्ग्यार्थ-शान्तश्रृंगार्यन्यतरगतनिश्चय है। अतः 'वाच्यार्थ और 'व्यङ्ग्यार्थ' के स्वरूप का भेद (वैलक्षण्य) स्पष्ट है।

उद्योतकार ने इसी अभिप्राय को अपनी व्याख्या में स्पष्ट किया है—

"मात्सर्यम् एकतरपक्षपातेनेतरत्रासूयाम् उत्सार्य त्यक्त्वा मयि वा प्रश्नादिना क्लेशदानात् मात्सर्यं परगुणद्वेषः, तत् त्यक्त्वा विचार्य नत्ववहेलनया समर्यादं प्रमाणमर्यादासहितं यथा तथा सप्रमाणमितियावत् कार्यं कर्तव्यम् उदाहरन्तु सयुक्तिकं कथयन्त्वित्ति प्रश्ने, आर्याणामुत्तररूपमुत्तरार्धम् एते वा सेव्या एते वेति। किमु उतेति च संशयार्थकम्। अत्रापाततः संशयरूपेणोत्तरेण शान्तैः पर्वतनितम्बा एव सेव्याः, श्रृंगारिभिर्विलासिनीनितम्बा एव सेव्या इति निश्चयरूपमुत्तरं ध्वन्यते"।

उपर्युक्त समस्त अभिप्राय को ध्यान में रखकर वृत्तिकार कह रहे हैं कि 'संशय' तो वाच्यरूप है, और व्यङ्ग्य, 'शान्त अथवा श्रृंगारी वक्ता पुरुष में उनके उचित एककोटिकनिश्चय' है।

शंका—'संशय' को उक्त वाक्य का वाच्य कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वह (संशय) तो 'ज्ञान' है, जो उक्त वाक्य से जन्य है।

समाधान—'संशय्यते, इति संशयः' इस व्युत्पत्ति से 'संशय' शब्द 'विषय' को ही बता रहा है। उसी प्रकार 'निश्चीयते इति निश्चयः' इस व्युत्पत्ति से 'निश्चय' शब्द भी 'विषय' को ही बता रहा है। इसीलिए ज्ञानरूप संशय के लक्षणभूत गौतमसूत्र के वार्तिककार ने 'संशय्यते विषयः अनेन' यह व्युत्पत्ति 'संशय' पद की प्रदर्शित की है। प्रदीपकार ने व्यंग्य को—'तदुचितैककोटि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कथमवनिप ! दर्पो यन्निशातासिधारादलनगलितमूर्ध्नां विद्विषां स्वीकृता श्रीः ।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥१३४॥

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य, पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य,

---

निश्चयरूपः' कहा है, उसे उद्योतकार ने अपनी व्याख्या में स्पष्ट कर दिया है — 'सेवाद्वये, एकाधिकरणकत्वाऽसंभवादैच्छिकविकल्पानुपपत्त्या शान्त-शृङ्गारिभेदेन व्यवस्थितविकल्पे पर्यवसानं, स च व्यापारान्तराविषयत्वाद् व्यङ्ग्यः' ।

दो सेवाओं में एकाधिकरणता का संभव न हो सकने से ऐच्छिक विकल्प हो नहीं सकता, तव शान्त-शृङ्गारी दोनों भिन्न व्यक्ति होने के कारण व्यवस्थित विकल्प ही दो सेवाओं में मानना होगा। वह व्यवस्थित विकल्प किसी अन्य व्यापार का विषय न होनें से उसे व्यङ्ग्य (व्यञ्जनाव्यापार का विषय) ही कहना होगा। एवं च वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है।

(३) कथमिति। हे राजन्! खड्ग की तीक्ष्ण धारा से जिनके मस्तक काट कर गिरा दिये हैं, उन शत्रुओं की सम्पत्ति को आपने ले लिया है, उस कारण आप को गर्व करना क्या उचित है ? क्योंकि उन क्षत-विक्षत अंग वाले शत्रुओं ने भी आपके शत्रुहन्ता होने की प्रिय कीर्ति का अपहरण कर लिया है। और वे उसे अपने साथ स्वर्ग ले गये हैं ॥ १३४ ॥

इत्यादाविति। इस उदाहरण में 'वाच्यार्थ' और 'व्यङ्ग्यार्थ' यथाक्रम 'निन्दा' तथा 'स्तुति' रूप है। अतः दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न होने से 'वाच्य' और 'व्यङ्ग्य' अर्थ पृथक्-पृथक् हैं।

विशेष विवरण—उक्त पद्य का वाच्यार्थ है कि 'हे राजन्! आपने अपने शत्रुओं के मस्तकों को काटकर उनके वैभव, (सम्पत्ति) को अपने अधीन कर लिया; यह उचित ही किया है, तथापि उसपर आपको इतना अभिमान करना उचित नहीं है, क्योंकि समस्त शत्रुओं के दिवंगत (मृत) होने पर आप उनके वैभव (लक्ष्मी) का अपहरण कर पाये हैं। आपके सभी शत्रु मर चुके थे और आप जीवित तथा सशक्त थे। ऐसी स्थिति में मृत व्यक्तियों के वैभव का अपहरण कर लेना, कौन बड़ी बात है ? किन्तु आपके शत्रु तो आपसे भी बढ़कर हैं, क्योंकि उनके मस्तक कटने पर एवं उनके मृत हो जाने पर भी वे, आपके जीवित रहते हुए तथा रक्षा करने में सशक्त रहते हुए भी आपकी उपस्थिति में आपके देखते-देखते वे अंगहीन शत्रुगण आपकी प्रिय (वल्लभा) कीर्ति को अपने साथ लेकर स्वर्ग चले गये'। अतः 'मृतशत्रुओं की श्री का हरण करने पर गर्व करना अनुचित है'—यह वाच्यार्थ आपाततः प्रतीयमान निन्दा रूप है। किन्तु इस निन्दा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्दाश्रयत्वेन शब्द-तदेकदेश-तदर्थ-वर्णसंघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्य-सहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्धव्यपदेशयोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य, गतोऽस्तमर्क इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः—

रूप वाच्यार्थ से 'आपने अपने समस्त शत्रुओं को मार दिया, जिससे आप की कीर्ति, स्वर्गतक पहुँच (व्याप्त हो) गयी है' अर्थात् 'सकलशत्रुविनाशनेन त्रैलोक्यविश्रुतकीर्तिस्त्वम्'—व्यञ्जित हो रही है। यहाँ 'निन्दा' वाच्य है और 'स्तुति' व्यङ्ग्य है। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के स्वरूप में भेद स्पष्ट है। अर्थात् निन्दा-स्तुति वाले उनके स्वरूप (वपुष्) को तीन उदाहरणों के द्वारा बताकर वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ को पृथक् बताते हुए व्यञ्जना व्यापार की आवश्यकता को बताया गया है।

वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता को बताने वाले अन्य सात हेतु (कारण) और भी हैं।

(१) पूर्वपश्चाद्भावेनेति। वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति 'पूर्वपश्चाद्भाव' के क्रम से हुआ करती है। अतः दोनों अर्थों की प्रतीति में जो 'कालभेद' है, वह भी दोनों की परस्पर भिन्नता को बता रहा है।

(२) शब्दाश्रयत्वेनेति। 'वाच्यार्थ' केवल शब्द के आश्रित रहता है, किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ', 'शब्द', 'शब्द के एक देश', 'शब्द के अर्थ, वर्ण और सङ्घटना के आश्रित रहता है। अतः दोनों का आश्रयभेद है, वह भी दोनों की परस्पर-भिन्नता को बता रहा है।

(३) शब्दानुशासनज्ञानेनेति। केवल शब्दानुशासन के ज्ञान से (व्याकरण और कोशादि के ज्ञान से) वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाता है, किन्तु निर्मल प्रतिभा की सहायता से एवं व्याकरण-कोशादि के ज्ञान से 'व्यङ्ग्यार्थ' का ज्ञान होता है। इस प्रकार दोनों अर्थज्ञान के 'निमित्त' भिन्न-भिन्न हैं। एवञ्च 'निमित्तभेद' भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता को बता रहा है।

(४) बोद्धृमात्रेति। केवल वाच्यार्थमात्र का ज्ञान रहने के कारण उस ज्ञाता को सामान्य प्रकार का 'बोद्धा' कहा जाता है। किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ' का अनुभव करने वाले को 'विदग्ध' (सहृदय, चतुर) कहा जाता है। इस प्रकार दोनों अर्थों के ज्ञाताओं की भिन्न-भिन्न संज्ञा से पहिचान होती है। इसलिए यह 'संज्ञाभेद' भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के भेद का साधक होता है।

(५) वाच्यार्थ के ज्ञान से केवल प्रतीतिमात्र होती है, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वणं अहरं।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्हिं ॥ १३५ ॥
(कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥ १३५ ॥)

इत्यादौ सखीतत्कान्तादिगतत्वेन विषयस्य च भेदेऽपि यद्येकत्वं, तत्कचि-

---

के ज्ञान से चमत्कार का अनुभव होता है। इसलिए 'कार्यभेद' से भी वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता सिद्ध होती है।

(६) 'गतोऽस्तमर्कः--सूर्यास्त हो गया--इत्यादि स्थल में पूर्व बतायी गई पद्धति के अनुसार वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की संख्याओं का भेद भी उनकी भिन्नता का साधक होता है। इसलिए 'संख्याभेद' भी दोनों के भेद (भिन्नता) को बताता है।

अब दोनों अर्थों के भिन्न होने में सातवाँ निमित्त बता रहे हैं—

कस्सवेति। किसी पर-पुरुष के द्वारा किये दन्तक्षत के कारण अपनी प्रिया के व्रणयुक्त अधर को देखकर किसे क्रोध न होगा? अरी! तुझे अनेकवार मना करने पर भी भीतर बैठे हुए भौंरेवाले कमल को तैने सूँघ ही लिया तो अब उसका फल भी भोग॥ १३५॥

इत्यादाविति। इत्यादि उदाहरण में 'वाच्यार्थ' तो 'सखी' विषयक है। और 'व्यङ्ग्यार्थ' उसके 'पति' से सबद्ध है। एवं च वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। अतः 'विषयभेद' भी दोनों अर्थों के भेद का साधक होता है। दोनों अर्थों में इतनी भिन्नता रहने पर भी यदि दोनों को एक ही मान लिया जाय तो 'नील-पीत' आदि पदार्थों (वस्तुओं) में भी भेद नहीं मानना चाहिये।

विशेष विवरण—'वाच्यार्थ' और 'व्यङ्ग्यार्थ' की भिन्नता में सात कारण उपस्थित किये गये हैं। वे सात कारण इस प्रकार हैं—(१) कालभेद, (२) आश्रयभेद, (३) निमित्तभेद, (४) संज्ञाभेद, (५) कार्यभेद, (६) संख्याभेद और (७) विषयभेद। 'कालभेद' के सम्बन्ध में प्रदीपोद्योतकार ने स्पष्ट बताया है कि 'कालभेदस्तु सर्वत्र वाच्यप्रतीतेर्व्यङ्ग्यप्रतीतिकारणत्वात् पूर्वं हि वाच्यः प्रतीयते, पश्चात्तु व्यङ्ग्य इति'।

'अभिधा' और 'व्यञ्जना' के आश्रयभेद के बारे में तथा एकदेश और संघटना के सम्बन्ध में चक्रवर्ती, कमलाकरभट्ट आदि व्याख्याकारों ने कहा है कि "वाक्यस्यशब्दाश्रितत्वाऽभावेऽपि वृत्तिपरमिदम्। तथा च, अर्थं शब्दयन्ति ज्ञापन्ति शब्दा वाचकाः, ते अभिधाया आश्रयाः, एकदेशाः प्रकृत्यादयः, सङ्घटना पदानां पौर्वापर्येण विन्यासः। इमे व्यञ्जनाया आश्रयाः।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। उक्तं हि—'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च'—इति।

परे तु 'परम्परया वाच्यादेः, शब्दाश्रितत्वसम्भवाद्वाच्यव्यङ्ग्ययोराश्रयभेदमाह शब्देत्यादि। वाच्यस्य शब्दाश्रयत्वेन व्यङ्ग्यस्य तु शब्दः, पदं, तदेकदेशः प्रकृति-प्रत्ययादिः, तदर्थः शब्दार्थः, सच वाच्यो लक्ष्यो व्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधोऽपि, वर्णाः प्रसिद्धाः, संघटना रचना तदाश्रयत्वेन च वाच्यव्यङ्ग्ययोराश्रयस्य भेदेऽपीत्यर्थः। प्रदीपकार ने भी ऐसी ही व्याख्या की है—'वाच्यस्य शब्दमात्रमाश्रयः प्रतीयमानस्य तु शब्दैकदेशभूतकाकादितदर्थं वर्णसंघटना, इत्याश्रयभेदः'।

सातवें उदाहरण में यह बताया है कि प्रवासी पति के वापस आने पर यदि वह अपनी प्रिय पत्नी के अधर को उपपति के द्वारा दष्ट हुआ देख लेगा तो अवश्य ही रुष्ट हो जायगा। इसलिए उस नायिका की कोई सखी उसकी निरपराधिता के बोधनार्थ, उक्त पद्य के द्वारा उसके पति की प्रतारणा कर रही है। अपनी पत्नी के व्रणयुक्त अधर को देखकर किस पुरुष को क्रोध नहीं आवेगा? क्रोध आना स्वाभाविक ही है अर्थात् हर किसी को क्रोध आवेगा। मैंने तुझ से कहा था कि 'भ्रमरयुक्त पद्म को मत सूंघ अन्यथा वह अवश्य ही काट लेगा' अर्थात् 'षिङ्गनिधुवन उस विलासी के साथ संभोग मत करना' इस प्रकार रोकने पर भी तूने नहीं माना। विरुद्ध आचरण कर ही डाला, तो अब इस अविचारदशा का फल, रुष्ट हुए पति के द्वारा जो भी दिया जायगा, उसे भोग।

यहां पर अविनीतत्व' रूप वाच्यार्थ की सम्बोध्य तो सखी (नायिका) है, अर्थात् यह वाच्यार्थ नायिका से कहा जा रहा है। और व्यङ्ग्यार्थ 'इयं भ्रमरेण दष्टाधरा न तु षिङ्गेन'–उसके पति को समझाया जा रहा है। यानी व्यङ्ग्यार्थ का विषय (सम्बोध्य) उसका पति है। निष्कर्ष यह है कि वाच्य का विषय 'नायिका' है। और 'इयं भ्रमरेण दष्टाधरा न तूपपतिना'—इस व्यङ्ग्य का विषय 'नायक' है। 'आदि पद से 'ममैवं वैदग्ध्यम्' इस व्यङ्ग्य का विषय 'प्रतिवेशिनी' है? 'इदं मया समाहितं पुनरेवं त्वया न विधेयम्'—इस व्यङ्ग्य का विषय 'उपपति' है। 'भ्रमरेण अस्या अधरः खण्डितो न तु भर्त्रा इति त्वया ईर्ष्या न कार्या'—इस व्यङ्ग्य का विषय 'सपत्नी' है। 'सरलतरा इयं, न किञ्चित्प्रपञ्चं जानाति'—इस व्यङ्ग्य का विषय 'साध्वी स्त्री' है। 'नाऽन्यथाशङ्कनीया'–इस व्यङ्ग्य का विषय 'श्वश्रू' (सास) है। अनया विना त्वत्पतिर्न जीवतीति विदितमेव तदस्मत्समन्विते भेदो न विधेयः'—इस प्रकार अनेक प्रकार से 'वाक्य' और 'व्यङ्ग्य' का विषयभेद रहने पर (वैधर्म्य रहने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानान्तु न तदपेक्षत्वमिति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम्। किं च वाणीरकुडंगित्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्यं

पर) भी यदि वाच्य-व्यङ्ग्य का एकत्व (अभेद) रहेगा तो नील-पीतादि गुण में और तद्वान् घटादि में भी भेद की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अर्थात् 'इदं नैल्यं, इदं पैत्यं, और इदं नीलं, इदंपीतम्' यह भेदव्यवहार नहीं हो सकेगा, क्योंकि सभी में वैधर्म्य का अविशेष है। एवं च स्वरूपादिभेद को देखते हुए वाच्य और व्यङ्ग्य का भेद अवश्य स्वीकार करना ही चाहिये।

उक्तमिति। उपर्युक्त अर्थ में वृद्धसम्मति को बता रहे हैं—"अय मेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यासः कारणभेदश्च" इति। प्राचीन लोग कहते हैं कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु से जो भेद है, वह यह है कि एक वस्तु का धर्म, दूसरी वस्तु में नहीं दीखता, क्योंकि एक वस्तु का कारण, दूसरी वस्तु का कारण नहीं बन सकता। अर्थात् पदार्थों में विरुद्ध धर्मों की प्रतीति और कारणों की भिन्नता ही उन पदार्थों के भेद में कारण होती है।

विशेष विवरण—'भेद' का अर्थ—अन्योऽन्याभाव है। 'विरुद्धधर्माध्यासः' अर्थात् 'विरुद्धस्य तद्वृतेर्धर्मस्य अध्यासः ज्ञानं भेदः'—यह सब अन्योन्याभावत्व-वादी के मत से ज्ञात वैधर्म्यवाले के लिए कहा गया है। कमलाकर भी कहते हैं—"कारणभेदो भेदहेतुः अन्योन्याभावज्ञापक इति क्रमेण योजना'। इसी प्रकार चक्रवर्ती भट्टाचार्य भी कहते हैं—'विरुद्धधर्मस्य अध्यास आश्रयत्वं यदयमेव भेदो न ततोऽन्य इति प्राचीनानां केषाच्चिन्मतम्। यदिति सामान्ये नपुंसकम्। अयमेवेति विधेयाभिप्रायं पुंस्त्वम्, "सा वैश्वदेवी" इतिवत्। तथा कारण भेदो भेदस्य विरुद्धधर्मरसस्य हेतुरिति प्रभाकृत्। ज्ञातवैधर्म्यमेवान्योन्याभावः इति मतेन इदम्। कारणभेदश्च विरुद्धधर्मरूपभेदस्य हेतुरिति भाव इत्यु-द्योतकारः। अयमेव घट-पटयोर्भेदः, जलाहरणशीतत्राणादिविरुद्धधर्माध्यासः, अयमेव भेद हेतुः, यत्कारणभेदश्चेत्यर्थ इति सरस्वतीतीर्थः।

अभी तक वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ में दस प्रकार का भेद बताया गया और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने के लिए व्यञ्जना व्यापार की अनिवार्यता बताई गई। अब यह बता रहे हैं कि केवल वाच्यार्थ-व्यङ्ग्यार्थ में ही भेद नहीं होता है, अपितु उनके वाचक-व्यञ्जक शब्दों में भी भेद होता है।

वाचकानामिति। वाचक शब्द, गृहीतसङ्केत वाले (संकेतित) अर्थ का ही बोधन करते हैं, इसलिए उन वाचक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा रहती है। किन्तु व्यञ्जक-शब्द, बिना सङ्केतग्रह के (अ-संङ्केतित) भी अर्थ का बोधन करा देते हैं। जैसे व्यञ्जक शब्द 'तट' में पावनत्वादि धर्मों के न रहते हुए भी उनका बोध करा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वरूपे एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति ।

देते हैं। व्यञ्जक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि निरर्थक वर्ण भी व्यञ्जक माने जाते हैं। अर्थात् बिना संकेतग्रह के किसी भी अर्थ को वे बता सकते हैं। अतः 'वाचकत्व' और व्यञ्जकत्व' दोनों पृथक्-पृथक् हैं।

'सोऽयमिषोरिव' इत्यादि ग्रंथ से और 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इत्यादि से जो दो मत, पूर्व बताये थे उन्हीं को सिंहावलोकन-न्याय से पुनः बता रहे हैं— किञ्चेति। 'वाणीरकुडंगु' (वाणीर कुञ्जोड्डीन) इत्यादि असुन्दर व्यङ्ग्य के उदाहरण (श्लो. १३२) में 'दत्तसङ्केतः कश्चित् लतागृहं प्रविष्टः' इस व्यङ्ग्य अर्थ (प्रतीयमान अर्थ) का बोध कराकर 'अङ्गावसाद' रूप वाच्यार्थ अपने स्वरूप में ही विश्रान्त हो जाता है। क्योंकि वहाँ व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कार से भरा हुआ है। एवं च वहाँ पर आस्वाद्य (चरम आस्वाद का विषय) 'वाच्यार्थ' ही होता है, 'व्यङ्ग्यार्थ' नहीं। 'वाच्यार्थ' ही वहाँ 'विप्रलंभ' का पोषक हो जाता है, उसे 'व्यङ्ग्य' की अपेक्षा नहीं रहती।

तत्रेति। उस गुणीभूत व्यंग्यरूप असुन्दर मध्यमकाव्य में व्यंग्यार्थ जो है, वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारक न होने से तात्पर्य का विषय न होने वाला व्यंग्यरूप (प्रतीयमान) अर्थ भी, जो अपने वाचक शब्द से अभिहित न होकर ही प्रतीत हो रहा है। वह प्रतीति किसी व्यापार के विना तो हो नहीं सकती। ऐसी स्थिति में कौन-सा वह व्यापार होगा? जिससे उसकी प्रतीति हो रही है। अतः कहना होगा कि उस अर्थ की प्रतीति कराने वाला 'व्यञ्जनाव्यापार' ही एक मात्र हो सकता है, अन्य किसी व्यापार से उसकी प्रतीति नहीं हो सकती। क्योंकि अभिधाव्यापार का विषय तो 'विधेय' ही हुआ करता है। एवं च 'व्यञ्जनाव्यापार' को अलग ही मानना होगा।

विशेष विवरण—यह भूलना नहीं होगा कि केवल 'वाच्य-व्यङ्ग्य' के अर्थों में ही वैधर्म्य नहीं होता, अपितु वाचक-व्यञ्जक शब्दों में भी वैधर्म्य होता है। प्रदीपकार कहते हैं—"किंच वाचक-व्यञ्जकयोरपि वैधर्म्यादिभेदो वक्तव्यः। यतो वाचकस्य संकेतितार्थापेक्षा। संकेतिते (गृहीतसंकेते) एवं हि अर्थे अभिधा वर्तते। न त्वेवं व्यञ्जकः। अन्यत्रापि (अगृहीतसकेतेऽपि) व्यञ्जनया प्रत्ययजननात्"। कमलाकर भट्ट भी कहते हैं—"अर्थः संकेतविषयः। संकेतितमेव वाचका बोधयन्ति। व्यञ्जकस्तु न तथा, अर्थस्यापि व्यञ्जकत्वात्। नहि अर्थोऽपि अर्थे संकेतितः"।

मीमांसक भट्टलोल्लट ने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम के अनुसार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'व्यंग्यार्थ' को भी तात्पर्य का विषय मानकर 'वाच्यार्थ' कहने का उपक्रम किया था। उसका खण्डन भी उसी जगह किया जा चुका है। अब यह भी हम दिखा सकते हैं कि कहीं-कहीं ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जिनमें 'व्यंग्यार्थ' तो प्रतीत होता है, किन्तु तात्पर्यविषयीभूत अर्थ नहीं है। जैसे 'वाणीर कुडंगु', इस गुणीभूत व्यंग्य के 'असुन्दर व्यंग्य' नामक काव्य में व्यंग्यार्थ तो प्रतीत होता है; किन्तु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा 'असुन्दर' है। इसलिए आस्वाद की चरम विश्रान्ति 'व्यंग्य' में न होकर 'वाच्य' में ही हो जाती है। एवं इस उदाहरण को देखने से स्पष्ट होता है कि 'व्यंग्यार्थ', तात्पर्यविषयीभूत अर्थ नहीं है। तथापि इसकी प्रतीति तो होती ही है, अतः उस प्रतीति की उपपत्ति के लिए 'व्यंजना' को एक पृथक् (अलग) वृत्ति के रूप में मानना ही होगा।

मम्मट भट्ट ने व्यञ्जनावृत्ति को अभिधा, लक्षणा से अलग सिद्ध करने के लिए बारह युक्तियाँ बताई हैं—

(१) लक्षणामूल-ध्वनि के 'अर्थान्तर-संक्रमितवाच्य' और 'अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य' दोनों भेदों में व्यङ्ग्यार्थ के बिना 'लक्षणा' हो ही नहीं सकती। इसलिए व्यञ्जनावृत्ति का मानना आवश्यक है।

(२) अभिधामूलध्वनि के 'असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य' नामक भेद में 'रसादिध्वनि' कदाचिदपि स्व-शब्दवाच्य नहीं होता है। अतः उसे 'व्यंग्य' ही मानना होगा। इसलिए व्यञ्जनावृत्ति का मानना आवश्यक है।

(३) अभिधामूल-ध्वनि के 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के 'शब्द-शक्त्युत्थ' नामक भेद में 'अभिधा' व्यापार का 'प्रकरणादि' के कारण 'एक अर्थ' में नियन्त्रण हो जाने से 'अप्राकरणिक अर्थ' और उसके साथ 'उपमानोपमेयभाव' आदि की जो प्रतीति होती है वह व्यञ्जना से ही होती है, 'अभिधा' से नहीं। इसलिये व्यंजना' व्यापार का मानना आवश्यक है।

(४) अभिधामूलक 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य' के 'अर्थशक्त्युत्थ' नामक भेद में कुमारिलभट्ट के 'अभिहितान्वयवाद' में जहाँ 'वाक्यार्थ' ही 'अभिधा का विषय न होकर 'तात्पर्याख्यावृत्ति' से प्रतीत होता है, वहाँ 'व्यंग्यार्थ' की प्रतीति, अभिधा से हो ही कैसे सकती है? उसकी प्रतीति, 'अभिधा' से होना कदापि संभव नहीं है। अतः उसकी प्रतीति के लिए 'व्यञ्जना' का मानना आवश्यक है।

(५) उसी प्रकार प्रभार-मीमांसक के 'अन्विताभिधानवाद' में भी 'संकेतग्रह', अन्वित पदार्थ-सामान्य में ही होता है, कभी भी 'विशेष' में अन्वित का संकेतग्रह नहीं होता है। अतः वहाँ भी 'अतिविशेषरूप वाक्यार्थ' की प्रतीति' 'अभिधा' से हो ही नहीं सकती। तब उसके भी अनन्तर प्रतीयमान होनेवाले 'व्यङ्-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्यार्थ' की प्रतीति को 'अभिधा से होना कैसे कहा जायगा ? इसलिए अन्विताभिधानवाद में भी 'व्यञ्जना' को ही मानना आवश्यक है।

(६) 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इस नियम के अनुसार भी व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान, अभिधा व्यापार से तब तक नहीं हो सकता, जब तक शब्द का उस अर्थ के साथ संकेत ग्रह न हो। और अन्विताभिधानवादी के मत में 'संकेतग्रह' तो केवल अन्वित सामान्य के साथ होता है, 'विशेष' के साथ नहीं। वाक्यार्थ तो 'अतिविशेषरूप' है। जब 'विशेष' के साथ भी संकेतग्रह नहीं हो पाता है, तब 'अतिविशेष' के साथ संकेतग्रह होने की बात तो दूर ही रहो। जब अतिविशेषरूप वाक्यार्थ की ही प्रतीति 'अभिधा' से नहीं हो सकती, तब उसके पश्चात् होने वाली 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति 'अभिधा' से कैसे हो पायेगी ? इसलिए उसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जनाव्यापार को मानना अत्यावश्यक है।

(७) मीमांसक भट्टलोल्लट ने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम के अनुसार 'व्यङ्ग्यार्थ' को अभिधा से बोध्य माना है। किन्तु वे उक्त नियम के अर्थ को समझ ही नहीं पा रहे हैं। यह भूलना नहीं होगा कि विधिवाक्य में मुख्यतया क्रिया 'विधेय' होती है। 'भूत-भव्यसमुच्चारणे भूतं भव्याय उपदिश्यते'— इसका भी यही आशय है कि 'जहाँ क्रिया प्रमाणान्तर से प्राप्त होती है, वहां 'गुण' का विधान होता है। क्वचित् गुण और क्रिया दोनों की अप्राप्ति रहने पर दोनों का, तीनों का विशिष्ट विधान भी होता है। 'अदग्ध-दहन-न्याय' से जहाँ जितना अंश अप्राप्त रहता है, उतने ही अंश का विधान किया जाता है। यही 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का आशय है।

किन्तु भट्टलोल्लट उक्त 'तात्पर्यवाचोयुक्ति' का अर्थ समझ रहे हैं कि वक्ता का जहाँ तक बोधकराने का तात्पर्य होता है, उतना 'अर्थ' प्रयुक्त शब्द का 'वाच्य' कहलाता है। उस वाच्यार्थ का बोध जब कि 'अभिधा' से ही हो जाता है, तब 'व्यञ्जना' को अलग से मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

किन्तु भट्टलोल्लटका उक्त प्रतिपादन उचित नहीं है, क्योंकि वे मीमांसा के उक्त नियम का अभिप्राय ही नहीं समझ पाये हैं। उनके कथन के अनुसार सभी अर्थों को यदि 'वाच्यार्थ' के रूपमें ही मान लिया जाय, तो 'लक्षणा' की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

किञ्च उक्त नियम के अनुसार वाक्य में गृहीत (उच्चरित) किसी विशेषशब्द के अर्थ में हीं वाक्य के शेष शब्दों का तात्पर्य समझा जा सकता है। वाक्य में अगृहीत (अनुच्चरित) शब्द के अर्थ में वाक्य के शब्दों का तात्पर्य नहीं होता है। परन्तु व्यञ्जना' वृत्ति से जो अर्थ प्रतीत होता है, उसका वाचक कोई भी शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाक्य में नहीं होता है। इसलिए उसके विषय में 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह नियम नहीं लगता है। अतः व्यङ्ग्यार्थ के ज्ञानार्थ व्यञ्जनावृत्ति को मानना आवश्यक है।

(८) 'सोऽयमिषोरिव दीर्घ-दीर्घतरोऽभिधा व्यापारः' के अनुसार 'अभिधा' का दीर्घ-दीर्घतर व्यापार मानकर भट्टलोल्लट ने व्यङ्ग्यार्थ को भी अभिधा का विषय होना जो बताया है, वह भी उचित नहीं है। क्योंकि वैसा मानने पर अनेक आपत्तियाँ उपस्थित हो सकती हैं—

(१) लक्षणा को मानने की आवश्यकता ही नहीं होगी।

(२) 'ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः' 'कन्या ते गर्भिणी जाता' इत्यादि वाक्यों में हर्ष-शोक आदि अर्थों को भी वाच्य कहना होगा।

(३) मीमांसकों का जो 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्व-पूर्वबलीयस्त्वम्'—सिद्धान्त है, वह भी भंग हो जायगा।

उक्त तीनों बातों को क्या मीमांसक होने के नाते भट्टलोल्लट मानने को तैयार होंगे ? अर्थात् कभी भी तैयार नहीं हो सकेंगे। इसलिए अभिधा का दीर्घ-दीर्घतर व्यापार मानकर काम नहीं चल सकेगा। एवं च व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जनावृत्ति को मानना ही होगा।

(९) यदि व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से पृथक् न माना जाय तो—

(१) 'रुचिं कुरु' आदि वाक्यों में असभ्य अर्थ की प्रतीति होने से जो अश्लीलता दोष बताया गया है, उसे नहीं बता सकेंगे।

(२) नित्यदोष और अनित्यदोष की व्यवस्था नहीं बन पायेगी।

(३) 'कपाली और 'पिनाकी' दोनों शब्दों का वाच्यार्थ समान रहने पर भी विशेष स्थल पर विशेष शब्द के प्रयोग से जो चमत्कार पैदा होता है, वह नहीं हो सकेगा।

(१०) वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ के बोध में (१) संख्या, (२) स्वरूप, (३) काल, (४) आश्रय, (५) निमित्त, (६) व्यपदेश, (७) कार्य, (८) विषय—इनका भेद रहने के कारण भी व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से पृथक् (अलग-भिन्न) मानना अनिवार्य है।

साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ ने भी इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त किया है—

"स्वरूप-संख्या-निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम्।
आश्रय-विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः"॥

(११) यह भी भूलना न होगा कि केवल वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ ही पृथक्-पृथक् नहीं हैं; अपितु उनके हेतुभूत वाचक तथा व्यञ्जक शब्द भी पृथक्-पृथक्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु—'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति,

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्' इति ।'

'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्' इत्यादौ लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते, विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः

होते हैं। वाचक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा रहती है, किन्तु व्यञ्जक शब्दों को अर्थ की अपेक्षा नहीं रहती। निरर्थक (अर्थहीन) अवाचक शब्द भी व्यञ्जक हो सकते हैं। इसलिए व्यञ्जनाव्यापार को अन्य व्यापारों (वृत्तियों) की अपेक्षा अलग ही मानना चाहिये।

(१२) 'असुन्दरव्यङ्ग्य' संज्ञक गुणीभूतव्यङ्ग्य में यद्यपि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, तथापि वहां पर चमत्कार, 'वाच्यार्थ' का ही रहता है। अतः 'तात्पर्य' उस वाच्यार्थ में ही रहता है। वहां पर 'व्यङ्ग्यार्थ' कभी भी तात्पर्य का विषय नहीं रहता। फिर भी प्रतीति तो उसकी होती ही है। तब उसकी प्रतीति, व्यञ्जना से ही माननी होगी, अभिधा से नहीं।

निष्कर्ष यह निकला कि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति, अभिधाव्यापार से कभी भी नहीं हो सकती। इसलिए व्यञ्जना को अभिधा से अलग ही मानना चाहिये।

शङ्का—नन्विति। (क) 'रामोऽस्मि सर्वं सहे'— मैं तो निष्ठुर हृदयवाला 'राम' हूँ—अतः सब कुछ सहन कर लूँगा' इस वाक्य में 'कठोर हृदय वाला राम'—यह लक्ष्यार्थ 'राम' शब्द का है।

(ख) 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्'—'अपने जीवन के प्रति मोह रखने वाले इस 'राम' ने प्रेम के अनुरूप कार्य नहीं किया'—इस वाक्य में 'मिथ्या प्रेम का दम्भ भरने वाला राम'—यह लक्ष्यार्थ, 'राम' शब्द का है।

(ग) 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिम्पराम्'—'वह दया-दाक्षिण्यादि गुणों वाला 'राम' अपने शौर्य-पराक्रमादि गुणों से जगत् में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं—इस वाक्य में 'दया आदि गुणों वाला राम'—यह लक्ष्यार्थ 'राम' शब्द का है।

पूर्वपक्ष-इत्यादाविति। इत्यादि उपर्युक्त वाक्यों में 'लक्ष्यार्थ' यद्यपि अनेक प्रकार से बताया जा सकता है। और व्यञ्जना की तरह वह लक्ष्यार्थ भी 'अर्थान्तर-संक्रमित-वाच्य' आदि विविध प्रकार के विशेष व्यवहार का कारण (हेतु) हो रहा है, तथा उस लक्ष्यार्थ को प्रतीति भी 'व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के तुल्य ही शब्द और अर्थ दोनों के अधीन (आयत्त) रहती है, और उस लक्ष्यार्थ को भी 'प्रकरणादि' की अपेक्षा रहती है। अतः इन सभी कारणों को ध्यान में रखते हुए 'लक्ष्यार्थ' से पृथक् (भिन्न) 'व्यङ्ग्यार्थ' (प्रतीयमान अर्थ) कौन नया (नवीन) है ? अभिप्राय यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ? उच्यते, लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव। न खलु मुख्येनार्थेनाऽनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविषयवशेन नियतसम्बन्धः, अनियतसम्बन्धः, सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते।

है कि लक्ष्यार्थ से भिन्न 'व्यङ्ग्यार्थ' नाम का कोई नवीन पदार्थ नहीं है। इसलिए व्यञ्जना को लक्षणा से अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार लक्षणावादी के द्वारा पूर्वपक्ष उपस्थित करने पर व्यञ्जनावादी उत्तर दे रहा है—

समाधान— उच्यते इति। व्यञ्जनावादी कहता है कि लक्षणावादी के कथनानुसार 'लक्ष्यार्थ' अनेकविध होने पर भी वह अनेकार्थक 'शब्द' के वाच्यार्थ के समान (अभिधेय के समान) नियतरूप ही होता है, अर्थात् उसका स्वरूप नियत रहता है। क्योंकि वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) के साथ असम्बद्ध (सम्बन्ध न रखने वाले) अर्थ को लक्षणा के द्वारा नहीं बताया जा सकता। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ), प्रकरण, वक्ता आदि 'विशेष' के कारण (१) क्वचित् नियत-सम्बन्धवाला, (२) क्वचित् अनियत-सम्बन्धवाला, (३) क्वचित् परम्परित-सम्बन्धवाला अर्थात् त्रिविध रूपों में द्योतित होता है। अतः 'व्यंग्यार्थ' को लक्ष्यार्थ समझ लेना उचित नहीं है।

लक्षणावादी का पूर्वपक्ष—

विशेष विवरण—कुछ लोगों का कहना है कि 'व्यञ्जना' को अभिधा से अलग मानने पर भी उसको लक्षणावृत्ति से अलग (भिन्न) नहीं मान सकते, क्योंकि 'व्यञ्जना' का काम तो लक्षणावृत्ति से भी निकल सकता है।

(१) व्यञ्जनावादी ने व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना करने में संख्या, प्रतीति, काल, व्यपदेश आदि भेदों के कारण 'व्यंग्यार्थ' की वाच्यार्थ से जो विशेषता प्रदर्शित की है, वे सभी विशेषताएँ लक्षणावृत्ति में भी उपलब्ध होती हैं। इसलिए 'व्यंजना' को लक्षणावृत्ति से पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है।

व्यङ्ग्यार्थ की लक्षणागम्यता—

व्यञ्जनावादी ने वाच्यार्थ से व्यञ्जना को पृथक् सिद्ध करने के लिए जो यह कहा था कि 'वाच्यार्थ' एक ही नियत रहता है। किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ' एक ही नियत न होकर अनेक (नाना) होते हैं। इसलिए 'व्यञ्जना' को अन्य वृत्तियों से पृथक् ही मानना चाहिये।

उस पर लक्षणावादी कहता है कि व्यञ्जनावादी ने जो बातें बताई हैं, वे सब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लक्ष्यार्थ के विषय में भी बताई जा सकती हैं। 'राम' शब्द का वाच्यार्थ, निर्दिष्ट तीनों उदाहरणों में एक (समान) ही है, किन्तु लक्ष्यार्थ उसका तीनों उदाहरणों में अलग-अलग है। पहिले उदाहरण में 'राम' शब्द का वाच्यार्थ 'दाशरथी राम' है, किन्तु लक्षणावृत्ति के बल पर वही 'राम' पद, अर्थान्तर में संक्रमित होकर 'अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्व धर्म से विशिष्ट राम' अर्थ का बोध करा रहा है। एवं च उक्त उदाहरण 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' में 'राम' शब्द का लक्ष्यार्थ, वाच्यार्थ से पृथक् है।

द्वितीय उदाहरण 'वक्रोक्तिजीवित' से उद्धृत किया गया है। निर्दिष्ट किये गये श्लोक-चरण के पूर्ववर्ती तीन चरण इस प्रकार हैं—

प्रत्याख्यानरुचेः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदां साक्षिणा
रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्॥

इस द्वितीय उदाहरण में लक्षणावृत्ति के बल पर 'राम' पद (शब्द) 'निष्करुणत्व' आदि धर्म से विशिष्ट हुए 'राम' को बता रहा है।

तीसरे उदाहरण में 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्'— में 'राम' शब्द, अर्थान्तर में संक्रमित होकर 'खर-दूषणादि राक्षसों का निहन्ता राम' का बोध लक्षणावृत्ति के द्वारा करा रहा है। एवं च तीनों उदाहरणों में 'राम' शब्द का वाच्यार्थ तो एक ही है, किन्तु उसके लक्ष्यार्थ अलग-अलग हैं। अतः स्पष्ट है कि जैसे व्यङ्ग्यार्थ अनेक होते हैं, वैसे ही लक्ष्यार्थ भी अनेक होते हैं। इसलिए व्यञ्जनाव्यापार को अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है।

(२) व्यञ्जनावादी ने कहा था कि 'सहृदय, विदग्ध' आदि शब्दों का किसी के प्रति व्यवहार (व्यपदेश) किये जाने में कारण, (हेतु) व्यङ्ग्यार्थ ही हुआ करता है, और उसकी प्रतीति व्यञ्जनाव्यापार के बिना हो नहीं सकती। अतः व्यञ्जना को अलग से मानना आवश्यक है।

लक्षणावादी का उस पर कहना है कि उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'व्यङ्ग्यार्थ' की तरह 'लक्ष्यार्थ' भी 'अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य' आदि जो रूप विशेष हैं, वे भी 'व्यपदेश' के कारण कहे जा सकते हैं। इसलिए 'लक्षणावृत्ति' से भिन्न 'व्यञ्जनावृत्ति' को मानने की आवश्यकता नहीं है।

(३) व्यञ्जनावादी ने एक बात और कही थी कि 'वाच्यार्थ' का ज्ञान, केवल 'शब्द' से ही होता है, और व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान, शब्द से और अर्थ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न च—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ इत्थ अहं दिअहए पलोएहि।

से भी शाब्दी व्यञ्जना तथा आर्थी व्यञ्जना के रूप में होता है। इसलिए भी व्यञ्जना-वृत्ति को अलग से मानना चाहिये।

लक्षणावादी का उस पर कहना है कि उक्त कथन लक्ष्यार्थ में भी संभव हो सकता है। लक्ष्यार्थ की प्रतीति भी शब्द और अर्थ दोनों से होती है। अतः व्यञ्जनावृत्ति को उससे पृथक् मानने की आवश्यकता नहीं है।

(४) व्यञ्जनावादी ने जो यह कहा था कि 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति में प्रकरणादि सहायक होते हैं। अतः उसे वाच्यार्थ से पृथक् मानना चाहिये।

लक्षणावादी का उस पर कहना है कि उक्त कथन तो लक्ष्यार्थ में भी संभव हो सकता है। इस तरह जब कि व्यञ्जना का प्रयोजन 'लक्षणा' से भी निष्पन्न हो जाता है, तब उसे लक्षणावृत्ति से अलग मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

लक्षणावादी के पूर्वपक्ष का खण्डन—

इस तरह लक्षणावादी के द्वारा व्यञ्जनावादी के समक्ष सयुक्तिक पूर्वपक्ष, उपस्थित किये जाने पर व्यञ्जनावादी मम्मटभट्ट उसका खण्डन करते हुए व्यञ्जना की आवश्यकता को बताते हैं—

मम्मट ने प्रथम युक्ति का उत्तर तो यह दिया है कि (१) यद्यपि 'लक्ष्यार्थ' अनेक (नाना) हो सकते हैं, तथापि—'अनेकार्थक शब्द के 'वाच्यार्थ' के समान वह लक्ष्यार्थ, प्रायः 'नियतस्वरूप' ही रहता है।

(२) लक्षणा के द्वारा 'उसी अर्थ' का बोधन किया जाता है, जो 'मुख्यार्थ' (वाच्यार्थ) से सम्बद्ध होता है। असम्बद्ध अर्थ को 'लक्षणा' कभी नहीं बताती। अतः लक्ष्यार्थ भी 'नियत सम्बन्ध वाला' ही है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ, क्वचित 'नियतसम्बन्धवाला', क्वचित् 'अनियतसम्बन्धवाला', और क्वचित् 'परम्परित-सम्बन्धवाला' भी होता है। अतः वह, लक्ष्यार्थ से भिन्न है, इसलिए व्यञ्जना को लक्षणा से भिन्न ही मानना होगा।

(३) लक्ष्यार्थ की प्रतीति, 'मुख्यार्थ बाधादि तीन हेतुओं' के होने पर ही होती है, अन्यथा नहीं। किन्तु 'व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति', उन तीन हेतुओं के विना भी होती है। अतः 'व्यञ्जना' को लक्षणा से अलग ही मानना चाहिये।

यह 'लक्ष्यार्थ' से व्यङ्ग्यार्थ का प्रथम भेद बताया गया है, अतः 'व्यङ्ग्यार्थ' को 'लक्ष्यार्थ' समझ लेना अनुचित है।

न चेति। और न ही निम्नांकित उदाहरण में—अत्तेति। (श्वश्रूरिति।) हे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मा पहिअ ! रतिअन्धअ ! सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥ १३६ ॥
(श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राऽहं दिवसके प्रलोकय ।
मा पथिक ! रात्र्यन्धक ! शय्यायामावयोर्निमङ्क्ष्यसि ॥)

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः, तत्कथमत्र लक्षणा ? लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम् ।

रतौंधी रोग से नेत्रपीड़ित पथिक ! दिन में भली प्रकार से देख-भाल लो कि यहाँ पर मेरी सास (श्वश्रू) सोती है, और यहाँ पर मैं सोती हूँ । रात में रतौंधी के कारण न दिखाई देने से कहीं मेरी खटिया पर न गिरना ॥ १२६ ॥

इत्यादाविति । इस अभिधामूल-ध्वनि के उदाहरण में न 'मुख्यार्थबाध' ही है, तब यहाँ लक्षणा कैसे हो सकती है ? उपर्युक्त 'न च' का अन्वय 'मुख्यार्थबाधः' के साथ होगा । अभिप्राय यह है कि उक्त उदाहरण में मुख्यार्थबाध के अभाव में लक्षणा नहीं हुई है । लक्षणा के बिना ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है । इसलिए व्यङ्ग्यार्थ तो लक्ष्यार्थ से पृथक् ही सिद्ध हो रहा है ।

लक्षणायामिति । लक्षणा में भी प्रयोजन को बताने के लिए व्यञ्जना की सहायता अवश्य लेनी पड़ती है, यह बता चुके हैं ।

विशेष विवरण—उक्त उदाहरण से यह बताया है कि लक्ष्यार्थ का बोध, मुख्यार्थबाध के विना हो ही नहीं सकता, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ का बोध होने में मुख्यार्थ का बाध होना अनिवार्य नहीं है । लक्ष्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ का यह दूसरा भेद बताया है ।

यह प्राकृत भाषा का उदाहरण, 'हाल' कविकृत गाथा सप्तशती के सातवें शतक से लिया गया है । इसके द्वारा द्विकादि भेदों में से वक्तृत्व-बोद्धव्यरूप द्विकवैशिष्ट्य के कारण 'वाच्यार्थ' की व्यञ्जकता को बताया गया है ।

किसी कामुक पथिक के द्वारा अपने ठहरने के लिए स्थान प्राप्ति की प्रार्थना करने पर उससे कोई प्रोषितभर्तृका व्यभिचारिणी स्त्री कह रही है—वह (व्यभिचारिणी) स्त्री 'निमज्जति' कहकर बता रही है कि मेरी सास अत्यन्त बूढ़ी हो जाने से निष्पन्द (निश्चेष्ट) होकर गहरी नींद में सो जाती है । अतः 'किसी प्रकार की कोई शंका करने की बात ही नहीं है'—यह व्यङ्ग्यार्थ है । और उससे कुछ दूरी पर 'अहम्' अर्थात् मैं ही । यहाँ पर 'स्वाप' बोधक (निद्राबोधक) शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है । स्वापबोधक पद का प्रयोग न करके यह अभिव्यञ्जित किया है कि 'मन्मथ (काम) पीडा से मुझे नींद नहीं आती है' । 'दिवसे' न कहकर 'दिवसके' शब्द का प्रयोग किया है । यहाँ 'कुत्सा' के अर्थ में 'कन्' प्रत्यय किया है, अर्थात् 'कुत्सितो दिवसः दिवसकः तस्मिन् दिवसके' । 'कन्' प्रत्यय के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि 'दिन होने के कारण यह समय हम दोनों के लिए श्रेयः-प्रतिकूल है'। 'पथिक, रात्र्यन्ध'—दोनों सम्बोधन 'रहस्य-गोपनार्थ' किये गये हैं। क्योंकि 'पथिक' होने से श्रम के कारण बिस्मरण होने की संभावना है, और रतौंधी के रोग से शय्या पर गिर जाने की भी संभावना हो सकती है। अन्यथा 'आवयोः शय्यायां मा निमङ्क्ष्यसि' ऐसा बिना प्रसक्ति के ही निषेध रहने पर रहस्य भंग हो सकता है। अत एव 'निमङ्क्ष्यसि' कहा गया है। 'मह' यह निपात 'आवयोः' के अर्थ में है, 'मम' के अर्थ में नहीं है। अन्यथा केवल अपना ही निर्देश करने पर 'रहस्य' खुल जाने की संभावना हो सकती है। 'अत्र गृहे श्वश्रूः अहं च, श्वश्रूश्च जरत्तरत्वेन बधिरा निष्पन्दा च। जनान्तरसञ्चारस्तु नास्त्येव। अतो यथेष्टं मम शय्यायामेव स्वपिहि'—यह व्यङ्ग्यार्थ है। वक्ता और बोद्धव्य दोनों व्यभिचारियों के वैशिष्ट्य से इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति, प्रतिभा-सम्पन्न सरस सहृदयों को हो जाती है।

उक्त उदाहरण में मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बाध नहीं है, अर्थात् मुख्यार्थ के अन्वय की अनुपपत्ति नहीं हो रही है।

शंका—लक्षणावृत्ति का सहारा लेने में बीज 'मुख्यार्थबाध' नहीं है, किन्तु 'तात्पर्यानुपपत्ति' ही बीज होता है। वह बीज इस 'अत्ता एत्थः' उदाहरण में है ही। अतः लक्षणा से ही काम हो जायगा, व्यञ्जना की कोई आवश्यकता नहीं है।

'न च मुख्यार्थबाधः' कहकर जो दोष दिखाया था, उसमें अरुचि हो जाने से दोषान्तर बता रहे हैं।

समाधान—लक्षणा करने पर भी व्यञ्जना की आवश्यकता होती है; यह बात द्वितीय उल्लास में 'यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते। फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया'॥ (सू० २३) के द्वारा बता चुके हैं।

कमलाकर भट्ट ने भी इसी बात को कहा है—"पावनत्वादिप्रतीतेरावश्यकत्वात्तत्र च वृत्त्यन्तराभावादवश्यं व्यञ्जना अङ्गीकार्या। न च तत्रापि लक्षणा। सा हि न निरूढा प्रसिद्ध्यभावात्। न च प्रयोजनवती प्रयोजनस्य विषयत्वाभावात् इत्युक्तं द्वितीयोल्लासे। किं च व्यङ्ग्ये लक्षणा न पदवृत्तिः, वाच्यस्यापि व्यञ्जकत्वात् पदैकदेशवर्णादौ तत्वाच्च। न च वाक्ये पदत्वं तदेकदेशादौ सत्त्वात्। न च शब्दवृत्तिः। अर्थस्यापि व्यञ्जकत्वात् इत्यादिवैधर्म्यैर्मुख्यार्थबाधाभावेऽपि तात्पर्यज्ञानं विनापि वक्तृबोद्धव्यादिसहकारेण या अन्यार्थधीः सा व्यञ्जनां साधयति"।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा च समयसव्यपेक्षाऽभिधा। तथा मुख्यार्थबाधादित्रयसमयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा, अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः। न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम्, तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्। न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः। न च शाब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेरित्यभिधातात्पर्यलक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्त्ती ध्वननादिपर्यायो

यथेति। और जिस प्रकार 'अभिधा' संकेत ग्रह की अपेक्षा (समयसव्यपेक्षा) रखती है, उसी प्रकार 'लक्षणा' भी मुख्यार्थबाधादि (मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग, यानी लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध, और रूढि अथवा प्रयोजन दोनो में से कोई एक) तीन के सम्बन्धविशेष (समयविशेष) की अपेक्षा (सव्यपेक्षा) रखती है। अर्थात् मुख्यार्थबाधादि तीन कारणों के बिना, लक्षणा कभी भी अर्थ बोधन नहीं कर सकती। अत एव उसे (लक्षणा को) विद्वानों ने 'अभिधा' की पुच्छरूप बताया है। अर्थात् लक्षणा तो अभिधा की पूँछ है।

(१) नचेति। इसके अतिरिक्त चार कारण और भी हैं, जिनके आधार पर 'व्यञ्जना' को लक्षणा में अन्तर्भूत नहीं कर सकते। क्योंकि लक्षणामूल-व्यञ्जना के स्थल में लक्षणा के पश्चात् ही ध्वनन (व्यञ्जना) होता दिखाई देता है। अर्थात् लक्ष्यार्थ के बाद ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हुआ करती है। अतः व्यञ्जना को लक्षणा से भिन्न ही समझना चाहिये।

(२) अभिधेति। अभिधा का अवलम्बन करने से ही उस अभिधामूलाव्यञ्जना का संभव होता है। उसमें लक्षणा की कोई आवश्यकता नहीं होती। अतः व्यञ्जना को लक्षणा से अलग ही मानना चाहिये।

(३) न चेति। और वह व्यंजना, उक्त दोनों 'अभिधा लक्षणा' की न अनुगामिनी ही है, क्योंकि अवाचक (निरर्थक) वर्णों के अनुसार भी 'व्यञ्जना' होती देखी जाती है। यानी 'वर्ण' तो किसी अर्थ के वाचक नहीं होते हैं, वाचक तो 'पद' होते हैं। तथापि वे 'वर्ण' भी किसी 'अर्थ-विशेष' के व्यञ्जक होते दीखते हैं।

(४) न चेति। 'व्यञ्जना' केवल 'शब्द' का ही अनुसरण नहीं करती। अभिधा-लक्षणा का सम्बन्ध तो केवल 'शब्द' से ही रहता है। 'व्यञ्जना' का सम्बन्ध अशब्दात्मक नेत्र कटाक्ष (नेत्र-त्रिभागावलोकन) आदि से भी रहता है, जिससे अभिप्राय-विशेष व्यञ्जित हो जाता है। इस रीति से उस ध्वनन (व्यंजना) की ख्याति है।

अभिधेति। अतः अभिधा, तात्पर्य, लक्षणा रूप तीनों व्यापारों के पश्चात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0: In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यापारोऽनपलपनीय एव । तत्र–'अत्ता एत्थ' इत्यादौ नियतसम्बन्धः, 'कस्स वा ण होइ रोसो'–इत्यादावनियतसम्बन्धः ।

(तीनों का अतिक्रमण करके) होने वाले 'ध्वनन' आदि अपर पर्यायवाले व्यञ्जन या व्यञ्जना संज्ञक व्यापार को कथमपि अस्वीकार नहीं कर सकते ।

तत्रेति । उन त्रिविध व्यङ्ग्यार्थों में से 'अत्ता एत्थ' (श्लो० १३६) इस उदाहरण में 'व्यङ्ग्यार्थ' का सम्बन्ध नियत है, और 'कस्स वा ण होइ रोसो' (श्लो० १३५) में 'व्यङ्ग्यार्थ' का सम्बन्ध अनियत है ।

विशेष विवरण—शंका—'कर्मणि कुशलः' इत्यादि में 'निरुढ' लक्षणा के समान, अन्यत्र स्थलों में भी प्रयोजन की अपेक्षा नहीं की जायगी ।

समाधान—'लक्षणा' तो मुख्यार्थबाध आदि के रहने पर ही होती है, इसीलिए उसे 'अभिधा' से पृथक् माना गया है । अभिप्राय यह है कि जैसे 'अभिधा' संकेतग्रह-सापेक्ष रहती है, वैसे ही मुख्यार्थबाध, तद्योग, रूढि-प्रयोजनान्यतर की और मुख्यार्थ-संकेतग्रह की अपेक्षा 'लक्षणा' को भी रहती है । ऐसी स्थिति में अर्थात् रूढि अथवा प्रयोजन के अभाव में लक्षणा कैसे हो सकेगी ? 'लक्षणा', संकेतग्रहसापेक्ष होने से ही उसे अभिधापृष्ठलग्ना (अभिधापुच्छभूता) कहा गया है । यानी 'लक्षणा', शक्यसम्बन्ध-निरूप्य कहलाती है । एवं च जैसे मुख्यार्थबाधादिसापेक्षत्वरूप वैधर्म्य के कारण 'लक्षणा' को 'अभिधा' से भिन्न कहा जाता है, वैसे ही मुख्यार्थबाधाद्यनपेक्षत्वरूप वैधर्म्य के कारण 'व्यञ्जना' को भी 'लक्षणा' से भिन्न माना जाता है । पीछे बता चुके हैं कि अनेकार्थक शब्द के समान लक्ष्यार्थ अनेकविध होने पर भी 'नियतरूप ही' होता है और व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान अर्थ) कहीं नियत सम्बन्धवाला, कहीं अनियत सम्बन्धवाला और कहीं परम्परित सम्बन्धवाला भी होता है । किन्तु उदाहरण देकर उसे स्पष्ट नहीं किया गया था । इसलिए यहाँ पर ग्रन्थकार मम्मटभट्ट उदाहरण देकर उसे समझा रहे हैं ।

व्याख्याकारों ने 'नियतसम्बन्ध' और 'अनियतसम्बन्ध' की भिन्न भिन्न प्रकार से व्याख्या की है ।

कुछ व्याख्याकारों ने 'नियतसम्बन्ध' का अर्थ 'प्रसिद्धसम्बन्ध' बताया है । और 'अनियतसम्बन्ध' का अर्थ 'अप्रसिद्ध सम्बन्ध' बताया है ।

कुछ व्याख्याकारों ने 'नियत सम्बन्ध' का अर्थ 'वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ' की समानविषयता, और 'अनियत सम्बन्ध' का अर्थ 'वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नविषयता बताया है । 'अत्ता एत्थ' और 'कस्स वा ण होइ रोसो' इन उदाहरणों में दोनों व्याख्याओं का समन्वय हो सकता है । जैसे—'अत्ता एत्थ-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विपरीअरए लच्छी बम्हं दट्ठूण णाहिकमलट्ठं ।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥ १६७ ॥
(विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम् ।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ॥ १३७ ॥)

णिमज्जइ' (श्वश्रूरत्र निमज्जति) इस उदाहरण में वाच्यार्थ के द्वारा 'खटिया पर गिर पड़ने का निषेध' कर रही है, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के द्वारा 'पथिक को अपनी खटिया पर आने का निमन्त्रण' दे रही है। अतः वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ दोनों परस्पर विरुद्ध रहने से दोनों अर्थों का 'विरोधसम्बन्ध' है। यह 'विरोधसम्बन्ध'–प्रसिद्धसम्बन्ध है। इसलिए यह नियतसम्बन्ध (प्रसिद्धसम्बन्ध) वाले व्यङ्ग्यार्थ का उदाहरण है। उसी तरह अनियतसम्बन्ध (अप्रसिद्धसम्बन्ध) का उदाहरण (श्लो० १२५) 'कस्स वा ण होइ रोसो' (कस्य वा न भवति रोषो०) दिया गया है। इसमें 'वाच्यार्थ' का सम्बन्ध–'नायिका' से है, और 'व्यङ्ग्यार्थ' का सम्बन्ध–'नायक' से, 'उपपति' से, 'पडोसिन' से, 'सपत्नी' से; 'सास' से, 'उपपति की स्त्री' से इत्यादि कितनों ही से लगाया जा सकता है। यहाँ पर 'वाच्यार्थ' का 'व्यङ्ग्यार्थ' के साथ कोई नियत (प्रसिद्ध) सम्बन्ध नहीं बताया जा सकता है। अतः उक्त व्याख्या के अनुसार इसे 'अनियतसम्बन्ध' का उदाहरण कह सकते हैं।

जिन व्याख्याकारों ने 'नियतसम्बन्ध' का अर्थ, वाच्य–व्यङ्ग्य की 'समानविषयता' और 'अनियतसम्बन्ध' का अर्थ दोनों अर्थों की 'भिन्नविषयता' किया है; उनकी व्याख्या के अनुसार भी 'अत्ता एत्थ' उदाहरण में हीं वाच्य तथा व्यङ्ग्य दोनों अर्थों का 'विषय' बोद्धव्य) एक ही पथिक व्यक्ति है। अतः यह उदाहरण 'नियतसम्बन्ध' (समानविषयता) का उदाहरण है।

उसी प्रकार 'कस्स वा ण होइ रोसो' (कस्य वा न भवति रोषो) उदाहरण में 'वाच्यार्थ' का विषय (बोद्धव्य) 'सखी' है, और 'व्यङ्ग्यार्थ' का विषय, 'नायक, उपपति, प्रतिवेशिनी (पड़ोसिन) सपत्नी, सास, उपपति की स्त्री' आदि अनेक हैं। अतः वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों की भिन्नविषयता है। इसलिए यह 'अनियतसम्बन्ध' (भिन्नविषयता) का उदाहरण है।

विपरीअरए इति। (विपरीतरते इति।) विपरीत 'रति' के समय अथवा विपरीत रति में प्रसक्त हुई लक्ष्मी भगवान् श्रीहरि (विष्णु) के नाभिकमल में बैठे हुए चतुर्मुख ब्रह्मदेव को देखकर लज्जित हुई, किन्तु कामावेश से व्याकुल होने के कारण वह अपनी सुरतक्रीडा को रोक न सकी। मेरे इस निधुवनविलास (सुरतक्रीडा) को यह ब्रह्मदेव कहीं देख न ले, यह सोचकर उस लक्ष्मी ने कमल को बन्द कर देने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः। अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः तेन पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनं तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनियन्त्रणं निधुवनविलसितमिति।

के लिए भगवान् श्रीहरि (विष्णु) के दक्षिण नेत्र (सूर्य) को आच्छादित कर दिया है, यानी ढक दिया है ॥ १३७ ॥

इत्यादाविति। इस उदाहरण में 'पारम्परिकसंबंध' (वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ का सम्बद्ध-सम्बन्ध) दिखाया गया है। यहाँ पर 'हरि' शब्द से 'विष्णु' के दक्षिण नेत्र की सूर्यरूपता अभिव्यक्त की गई है। उस दक्षिण नेत्र को ढक देने से सूर्य का अस्त होना और सूर्य के अस्त होने से कमल का बन्द हो जाना, और कमल के बन्द हो जाने से ब्रह्मदेव का कमल के भीतर बन्द हो जाना, इस प्रकार कमल के भीतर ब्रह्मदेव के बन्द हो जाने से गोप्य अंगों तथा तत्संबंधी गोप्य व्यापारों के न दिखाई देने से विघ्नरहित सुरतक्रीडाविलास आदि परंपरासंबन्ध से अभिव्यञ्जित होता है।

लक्षणा से पृथक् व्यञ्जनावृत्ति की साधक युक्तियों का निष्कर्ष—

विशेष विवरण—"ननु रामोऽस्मि सर्वं सहे" से आरंभ कर "विपरीतरते लक्ष्मी" तक ग्रन्थकार मम्मट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'व्यञ्जनावृत्ति' से होने वाला कार्य 'लक्षणावृत्ति' से नहीं हो सकता। अतः 'व्यञ्जनावृत्ति' को 'लक्षणावृत्ति' से अलग ही मानना होगा। इस बात को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने छह युक्तियों को बताया है। उन छह युक्तियों का सारांश यह है—

(१) लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराने के लिए 'मुख्यार्थ का बाध' होना चाहिये, किन्तु 'अत्ता एत्थ निमज्जति' इस उदाहरण में 'मुख्यार्थ का बाध' नहीं हो रहा है। तथापि 'निषेधपरक वाच्यार्थ' से 'विधिपरकनिमन्त्रण' रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है। अतः यह प्रतीयमान 'व्यङ्ग्यार्थ', 'लक्षणा' का विषय नहीं है। इसलिए 'लक्षणा' से 'व्यञ्जना' को अलग ही मानना आवश्यक है।

(२) 'अभिधा' को जैसे 'संकेतग्रह' की अपेक्षा होती है, वैसे ही 'लक्षणा' को 'मुख्यार्थबाधादि हेतुओं' की अपेक्षा रहती है। इसीलिए 'लक्षणा' को 'अभिधा' की पुच्छभूत (अनुगामिनी) कहा है किन्तु 'व्यञ्जना', इन समस्त बन्धनों से रहित है। अतः 'व्यञ्जना' को 'लक्षणा' के अन्तर्गत नहीं कह सकते। उसे 'लक्षणा' से भिन्न स्वतन्त्रवृत्ति ही कहना होगा।

(३) यद्यपि 'अभिधा' और 'लक्षणा' दोनों में 'एक ही शब्द' से 'अनेक अर्थों की प्रतीति होती है, तथापि उनमें 'नियतसम्बन्ध वाला अर्थ' ही रहता है। किन्तु 'व्यञ्जनावृत्ति' से जिन भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति होती है, वे अर्थ,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'नियतसम्बन्धवाले' और 'अनियतसम्बन्धवाले' एवं 'पारम्पारिकसम्बन्धवाले' भी होते हैं। जैसे—'अत्ता एत्थ निमज्जति' में 'व्यङ्ग्यार्थ', नियतसम्बन्धवाला (एक व्यक्तिविषयक अथवा प्रसिद्ध सम्बन्धवाला) प्रतीत होता है।

'कस्स वा ण होइ रोसो' में 'व्यङ्ग्यार्थ', अनियत सम्बन्धवाला (वाच्यार्थ से भिन्न विषयक अथवा अप्रसिद्ध सम्बन्ध वाला) प्रतीत होता है।

'विपरीतरते' में 'व्यङ्ग्यार्थ', 'परम्परासम्बन्धवाला' प्रतीत होता है। अतः 'व्यञ्जनावृत्ति' को 'अभिधा' तथा 'लक्षणा' से अलग ही मानना चाहिये।

(४) 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति, 'लक्ष्यार्थ' के साथ न होकर उसके बाद ही होती है। इसलिए 'व्यञ्जनावृत्ति' को 'लक्षणावृत्ति' से पृथक् ही मानना चाहिये।

(५) 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति केवल 'लक्षणामूलक' ही नहीं होती है, अपितु 'अभिधामूलक भी' होती है। इस कारण भी 'व्यञ्जना' को 'लक्षणा' से पृथक् मानना चाहिये।

(६) 'अभिधामूलक' और 'लक्षणामूलक' व्यञ्जनाओं के अतिरिक्त कहीं कहीं 'निरर्थक वर्ण' से भी और कहीं-कहीं शब्द से भिन्न 'कटाक्षादि व्यापारों (संकेतों) से भी 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति होती है। इस कारण 'व्यञ्जना' को स्वतन्त्रवृत्ति ही कहना होगा। उसे 'लक्षणा' के अन्तर्गत नहीं कहा जा सकता। इस रीति से 'व्यंजना' को 'लक्षणा' से पृथक् एक स्वतन्त्रवृत्ति के रूप में मानने के लिए ग्रन्थकार ने छह युक्तियों को बताया है। इसके पूर्व 'व्यञ्जना' को 'अभिधा' से भी पृथक् सिद्ध करने के लिए ग्रन्थकार मम्मट ने कितनी ही युक्तियों को बताया है। तात्पर्य यह है कि 'व्यंजना' को 'अभिधा' और 'लक्षणा' दोनों से पृथक् बताने में ग्रन्थकार ने अठारह युक्तियाँ बताई हैं। अतः 'व्यञ्जना' नाम की यह तीसरी वृत्ति है, यह मानना ही होगा।

इस प्रकार व्यञ्जनाविरोधी मीमांसकों का खण्डन बड़े विस्तार से ग्रन्थकार ने यहाँ तक किया है, और 'व्यञ्जना' को एक स्वतन्त्रवृत्ति के रूप में सिद्ध कर दिया है। अभिहितान्वयवादी श्री कुमारिलभट्टपाद, अन्विताभिधानवादी प्रभाकरभट्ट, दीर्घ-दीर्घतर अभिधाव्यापारवादी भट्टलोल्लट, तथा 'अभिधावृत्ति-मातृका' के रचयिता मुकुलभट्ट ये सभी महान् मीमांसक हैं।

केवल मीमांसकों का खण्डन कर देने से ही ग्रन्थकार का मार्ग अभी निष्कण्टक नहीं हुआ है। व्यञ्जना को प्रतिष्ठित करने के लिए अभी उन्हें अन्यान्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः, वाक्यमेव च वाचकम्' इति

दार्शनिकों से भी संघर्ष करना है। मीमांसकों की तरह नैयायिक, वैयाकरण, वेदान्ती भी 'व्यञ्जना' के विरोधी हैं। इतना ही नहीं साहित्यशास्त्र के कितने ही सम्प्रदायों ने भी व्यञ्जना का विरोध किया है। साहित्यशास्त्र के केवल 'ध्वनि-सम्प्रदाय' वादियों ने ही 'व्यञ्जनावृत्ति' को स्वीकार किया है। ध्वनिवादी आचार्यों के मतानुसार तो 'व्यञ्जना' के बिना काव्य में कोई 'चमत्कार' अथवा 'रस' ही पैदा नहीं होता है। 'रस' के बिना जो काव्य है, वह शुष्क काव्य है। उससे सहृदयों को आनन्द का अनुभव नहीं हो पाता है। अतः काव्य में रसाभिव्यक्ति के लिए 'व्यञ्जना' की सत्ता का होना अनिवार्य है।

सत्कवियों का यह स्वभाव है कि वे किसी बात को 'अभिधा' से नहीं बताते। अभिधा से बात को बताने वाले तो सीसकाक्षरसंयोजक के समान ही हैं। इसीलिए सत्कवि अर्थात् महाकवि तो 'व्यञ्जना' के द्वारा ही अपने हृदय के भाव को अभिव्यक्त किया करते हैं। यह कवियों की वर्णनशैली कहलाती है। अतएव कहा भी है—

'व्यङ्ग्यप्रधानाभिनवैव भङ्गी मुख्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः।
वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम् ॥'

अपनी इस शैली पर कविगणों को हर्षप्रद गौरव का अनुभव होता है। अभिधा का आश्रय करके अपनी बात बताने वाले तो वैयाकरण, नैयायिक, मीमांसक, वेदान्ती आदि दार्शनिक हुआ करते हैं। वे 'कवि' नहीं कहलाते। परमेश्वर की स्तुति करते समय वेदों ने भी उस परमेश्वर को वैयाकरण या नैयायिक अथवा मीमांसक या वेदान्ती नहीं कहा, अपितु बार-बार उसे 'कवि' कहकर ही निर्दिष्ट किया है।

'स्तोतुं प्रवृत्ता श्रुतिरीश्वरं हि न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं काष्ठा ततः सा कविता परा नः ॥'

'व्यंजना' ही कवित्व का निकष (कसौटी) है। इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने व्यञ्जनाविरोधी मीमांसकों से महान् संघर्ष करके 'व्यञ्जना' को प्रतिष्ठित करने का प्राणपण से प्रयत्न किया है। तथापि अभी वेदान्ती, वैयाकरण और नैयायिकों से संघर्ष करना बाकी है। अब इसके आगे वही होगा और अन्त में व्यञ्जना को प्रतिष्ठित करने का मार्ग निष्कण्टक किया जायगा।

अखण्डेति। जो वेदान्ती अथवा वैयाकरण भी यह कहते हैं कि— 'अखण्ड बुद्धि से ग्राह्य होने वाला वाक्यार्थ' ही वाच्य होता है, और 'अखण्ड वाक्य' ही उस अर्थ का वाचक होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

येऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव ।

तैरपीति । उन वेदान्ती और वैयाकरणों को भी 'व्यवहारकालिक अविद्या' की दशा में पद-पदार्थ की कल्पना तो करनी ही पड़ती है। अतः उनके पक्ष में भी 'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि उक्त उदाहरण में 'तदन्तिकं गतासि' इस 'विधि' को व्यङ्ग्य मानना ही होगा।

विशेष विवरण—प्रथमतः शाब्दबोध की प्रक्रिया की ओर ध्यान देना होगा। इस प्रक्रिया में 'पदार्थसंसर्गबोध' को वाक्यार्थ कहते हैं। 'वाक्यघटक पदों' से प्रथमतः 'पदार्थों की उपस्थिति' होती है, तत्पश्चात् उपस्थित हुए उन 'पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध' होता है। इसी पदार्थ-सम्बन्ध (पदार्थ-संसर्ग) को 'वाक्यार्थ' कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि प्रायः सभी वाक्य 'पदार्थसंसर्गविषयक प्रतीति' को पैदा करते हैं।

किन्तु वेदान्तियों ने ऐसे वाक्यों की भी कल्पना की है, जो 'संसर्गविषयक प्रतीति' को नहीं कराते हैं। ऐसे वाक्यों को वे 'अखण्डार्थवाक्य' कहते हैं। अर्थात् 'अपर्यायशब्दानां संसर्गाऽगोचरप्रमितिजनकत्वम् – अखण्डार्थबोधकवाक्यत्वम्। हस्तः करः' इत्यादि में व्यभिचार का वारण करने के लिए 'अपर्याय' कहा है। 'इन्द्रियव्यावृत्ति के लिए 'शब्द' कहा है। 'गामानय' इत्यादि में व्यभिचारवारणार्थ 'संसर्गाऽगोचर' कहा है। वाक्याभासव्यावृत्यर्थं 'प्रमिति' कहा है। प्रायः लक्षणपरकवाक्य 'संसर्गाऽगोचरप्रमिति' के उत्पादक होने से 'अखण्डार्थवाक्य' कहलाते हैं। 'प्रश्नोत्तर' की विषयसमानता के आधार पर ही 'लक्षणपरक वाक्यों' को 'अखण्डार्थ वाक्य' कहा जाता है। क्योंकि यह एक सर्वसाधारण नियम है कि 'जिस विषय में प्रश्न हो, उसी विषय में उत्तर देना चाहिये'। अन्यथा 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे'—यह कहावत चरितार्थ होगी। अतएव 'प्रश्न कुछ किया जाय और उत्तर कुछ और ही दिया जाय' तो उसे शिष्ट लोग अनुचित कहा करते हैं। जैसे—कोई पूछ दे कि आकाश में उदित अनगिनती तारकादि ग्रहों में 'कतमश्चन्द्रः' चन्द्रमा कौन-सा है? इस प्रकार चन्द्रपदार्थ के 'स्वरूप' की जिज्ञासा होने पर उत्तर देने वाला व्यक्ति 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' जो सबसे अधिक प्रकाशमान् है, वह 'चन्द्रमा' है, इस प्रकार लक्षणवाक्य द्वारा उसको बताता है। यहाँ 'चन्द्रमा' के स्वरूप के विषय में प्रश्न किया गया है, इसलिए उसका उत्तर भी स्वरूपमात्रविषयक होने से उसे उचित ही कहा जायगा। 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः' यह उत्तर-वाक्य केवल 'स्वरूपपरक' ही है। इस उत्तर से पदार्थ-संसर्ग का बोध न होने से यह उत्तर-वाक्य 'संसर्गपरक' नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है। इसको भी यदि सामान्य वाक्य के समान 'संसर्ग-गोचर-प्रमिति का जनक' मान लें तो प्रश्न और उत्तर 'भिन्नविषयक' हो जाने से 'आम्रान् पृष्टः कोविदारान् आचष्टे' को कहावत घटित होगी। क्योंकि 'प्रश्न' तो स्वरूपविषयक है और 'उत्तर' संसर्गविषयक दे रहे हैं। अतः ऐसा उत्तर देना उचित न होगा। इसलिए 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः' इस वाक्य को 'संसर्ग का बोधक' न मानकर 'स्वरूपमात्र का बोधक' माना गया है। इसीलिए उसे 'अखण्डार्थकवाक्य' कहा गया है। 'तत्त्वमसि', 'सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्यों को भी वेदान्ती लोग 'अखण्डार्थवाक्य' ही मानते हैं।

कुछ व्याख्याकारों ने 'अखण्डार्थ वाक्य' की व्याख्या, दूसरे ढंग से की है। 'क्रिया-कारकभावमुररीकृत्य जायमाना धीः खण्डा, तदन्या अखण्डा'। क्रिया-कारकभाव को मानकर किये जाने वाले 'शाब्दबोध' को 'सखण्ड बोध' कहते हैं। क्योंकि क्रिया-कारक भाव में अनेक खण्डों (क्रिया, कारक के रूप) में वाक्य का विश्लेषण किया जाता है।

तथा 'क्रिया-कारकभावमनङ्गीकृत्य जायमाना धीः अखण्डा'—अर्थात् जहाँ क्रिया कारकभाव रूप खण्डों में वाक्य अथवा वाक्यार्थ का विभाग (विश्लेषण) नहीं किया जा सकता, वहाँ उसे अखण्ड वाक्य अथवा अखण्ड बाक्यार्थ कहा जाता है। क्योंकि क्रिया-कारकभाव तो धर्म-धर्मिभाव को मानने पर ही संभव हो सकता है। धर्म-धर्मिभाव को माने बिना वह कदापि नहीं हो सकता। वेदान्त सिद्धान्त 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' के अनुसार समस्त संसार और उसमें प्रतीयमान (अनुभूयमान) नानात्व (भेद) को मिथ्या माना जाता है। तब संसार के मिथ्या होने से उसमें धर्म-धर्मिभाव हो नहीं सकता और 'ब्रह्म' के निर्धर्मक रहने से उसमें धर्म-धर्मिभाव हो नहीं सकता। अतः 'मिथ्यात्व-सिद्धान्त के अनुसार धर्म-धर्मिभाव तथा क्रियाकारकभाव सभी कुछ मिथ्या ही है। इसीलिए वेदान्तियों के मत में पारमार्थिक रूप में 'अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना' की सत्ता नहीं मानी जाती। तथापि व्यावहारिक रूप में वे अभिधा, एवं लक्षणा की सत्ता मानते ही हैं।

अतः पद-पदार्थ विभाग के बिना ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन', 'तत् त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि'—इत्यादि महावाक्य, अखण्ड ब्रह्म का ही बोधन करते हैं।

उस अखण्ड बुद्धि से निर्ग्राह्य परब्रह्म ही उक्त 'महावाक्यों का वाक्यार्थ है। अतः वे वाक्य ही 'अखण्ड ब्रह्म' के वाचक हैं। ग्रन्थकार मम्मटभट्ट की—'अखण्ड बुद्धि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः', 'वाक्यमेव च वाचकम्'-लिखित पङ्क्ति का यही सरल अर्थ है। श्री व्यास चरणों ने भी यही बताया है—'अनवयवमेव वाक्यमनाद्यविद्योपदर्शितालीकपद-वर्णविभागमस्या निमित्तम्'। कुछ लोग 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्य' का अर्थ इस प्रकार भी बताते हैं—'अखण्डबुद्धि' अर्थात् महावाक्यबुद्धि, उससे निर्ग्राह्य जो 'महावाक्यार्थ' वही उसका वाच्य है। इसलिए वेदान्तियों के अनुसार वाक्य से प्रतीयमान व्यंग्यार्थ का बोध भी वाक्य की शक्ति से ही हो सकता है। अतः 'व्यङ्ग्य अर्थ' को वाच्य कहना ही उचित है।

आलंकारिकों ने लक्षणा के दो भेद 'उपादानलक्षणा' और 'लक्षणलक्षणा' के नाम से किये हैं। इन्हीं को 'अजहल्लक्षणा' और 'जहल्लक्षणा' के नाम से भी कहा जाता है। किन्तु वेदान्ती विद्वानों ने 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्य के अर्थबोधनार्थ 'जहदजहल्लक्षणा' को माना है। यह 'जहदजहल्लक्षणा' संज्ञक व्यापार, उक्त तीनों व्यापारों (अभिधा, उपादानलक्षणा=अजहल्लक्षणा, और लक्षणलक्षणा=जहल्लक्षणा) से पृथक् चौथा व्यापार है। इस चौथे व्यापार को 'भागत्यागलक्षणा' भी कहते हैं। एवं च वेदान्तियों के यहाँ तो पारमार्थिक दशा में 'ब्रह्मातिरिक्त' सभी कुछ मिथ्या है। 'अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, अखण्डवाक्य, सखण्डवाक्य' सब कुछ मिथ्या ही है। किन्तु व्यावहारिक दशा में तो वेदान्ती 'व्यवहारे भाट्टनयः' कहा करते हैं। अतः तदनुसार वेदान्तियों को व्यवहार-सम्पादनार्थ भाट्टमीमांसकों के समान आवश्यक बातों (पद-पदार्थ की कल्पना) को मानना ही पड़ता है। इसी दृष्टि से वेदान्तियों को अखण्डवाक्य तदर्थवादी के नाम से भी कहा जाता है। 'अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्। एकं वेदान्तनिष्णातास्तमखण्डं प्रपेदिरे॥" इस कथन के अनुसार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म', 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादि श्रुतियों से उत्पन्न हुई अखण्ड बुद्धि से निर्ग्राह्य परब्रह्मरूप वाक्यार्थ ही वाच्य है और अखण्ड वाक्य ही वाचक है, जो तादृश-बुद्धि में निमित्त है।

एवं च वेदान्तियों की दृष्टि से 'वाक्यार्थ' को वाच्य और 'वाक्य' को ही उसका वाचक कहा गया है। इस प्रकार वेदान्तियों की ओर से पूर्वपक्ष किया गया है। उक्त पूर्वपक्षीय ग्रन्थ का समाधान 'तैरप्यविद्यापदपतितैः' से ग्रन्थकार ने दिया है। ग्रन्थकार का कहना है कि पारमार्थिक दशा में सभी कुछ अर्थात् दृश्यमान् सम्पूर्ण जगत् को ही मिथ्या समझने वाले वेदान्तियों को भी व्यावहारिक दशा में व्यवहारसम्पादनार्थ 'पद-पदार्थ' आदि की कल्पना करनी ही पड़ती है। तब व्यवहारकाल में वेदान्तियों को भी 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि उदाहरणों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निषेधवाक्य से 'विधिरूप अर्थ' की जो प्रतीति हो रही है, उसे, व्यंजना को, स्वीकार किये बिना वे कैसे कर पायेंगे? अतः उन्हें 'व्यञ्जना' को स्वीकार करना ही होगा। एवं च वेदान्तियों के लिए भी 'व्यंजना' का मानना अनिवार्य है। सारबोधिनी सुधासागरकारादि व्याख्याकारों ने भी कहा है—"वेदान्तिभिरपि दशाविशेषे व्यञ्जनाङ्गीकार्यैवेत्याह अखण्डबुद्धीत्यादि।

मूल में प्रयुक्त 'अविद्यापद' का अर्थ, 'व्यवहारमार्ग' समझना चाहिये। यदि व्यवहारदशा में भी 'भाट्टनय' को नहीं मानेंगे तो व्युत्पन्न-अव्युत्पन्न व्यवहार (साधु असाधुशब्द व्यवहार) नहीं हो सकेगा, तत्तद्विशेषपदार्थ की उपस्थिति भी नहीं हो सकेगी। तब तो व्यवहारलोप ही होने लगेगा। इसीलिए कहा गया है कि 'व्यवहारे भाट्टनयः'। पीछे 'अर्थशक्तिमूलेऽपि' इत्यादि ग्रन्थ से भाट्टनय में व्यञ्जना की स्थापना को बता ही चुके हैं।

वेदान्तियों की तरह वैयाकरण भी 'अखण्डार्थतावादी' कहे जाते हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि वेदान्तियों के अद्वितीय 'ब्रह्म' की जगह वैयाकरणों ने एकमात्र 'शब्दब्रह्म' को माना है। उस 'शब्दब्रह्म' को वे 'स्फोट' शब्द से कहा करते हैं। यह 'स्फोट' कई प्रकार का होता है। वैयाकरणों के मत में 'अखण्ड' इत्यादि विशेषणों से विशिष्ट 'स्फोट' रूप 'शब्द ब्रह्म' ही माना जाता है।

प्रभाव्याख्याकार वैद्यनाथ का कहना है कि 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यः······येऽप्याहुः'—यह कथन, वेदान्तियों में से भ्रान्त हुए किसी एकदेशी वेदान्ती का है। क्योंकि सिद्धान्ती वेदान्तियों ने तो लक्षणा को ही माना है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'येऽप्याहुः' इत्यादि वृत्तिग्रन्थ तो वाक्य-स्फोटवादी वैयाकरणों के अभिप्राय को बता रहा है। क्योंकि उनके मत में 'अखण्ड' इत्यादि विशेषण-विशिष्ट स्फोट अर्थात् 'आविद्यिक पद-पदार्थ-विभाग की कल्पना' व्युत्पत्ति दशा में की जाती है। भर्तृहरि ने कहा भी है—

> "ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्‌ब्राह्मणकम्बले।
> देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः॥"

• ब्राह्मण का कम्बल यानी ब्राह्मण से सम्बन्धित कम्बल—यह प्रतीत होने वाला अर्थ, समस्त (समास से निष्पन्न हुए) ब्राह्मण-कम्बल-पद का है, किन्तु 'ब्राह्मण' शब्द का कोई अलग अर्थ नहीं है। क्योंकि ब्राह्मणसम्बन्धित्वविशिष्ट-कम्बल—इस अखण्डार्थ की प्रतीति होती है। जैसे 'देवदत्तो गच्छति' इस वाक्य में देवदत्त सम्बन्धी गमन इतने अखण्ड अर्थ की प्रतीति होती है, खण्डभूत—देवदत्त आदि पद अनर्थक ही रहते हैं। उसी तरह जो 'शब्दब्रह्मवादी' भर्तृहरि प्रभृति वैयाकरण हैं, वे भी प्रक्रियादशापन्न (अविद्यापदपतित) होने पर कहते हैं कि—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गाद् । एवं च सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति । तथा हि—

"उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः ।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ॥"

प्रकृति-प्रत्यय आदि का विभाग, बालकों को समझाने के लिए है । प्रथमतः असत्य मार्ग का अवलम्बन करके ही 'शाखा-अरुन्धती न्याय' से सत्य को समझा जाता है । ग्रन्थकार ने 'अविद्यापदपतितैः' कहकर 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा' को ही सूचित किया है ।

एवं च अखण्डार्थवाद, तो वेदान्ती और वैयाकरण दोनों को मान्य है । अतएव मम्मट भट्ट ने 'एका क्रिया द्व्यर्थकरी प्रसिद्धा' के अनुसार एक साथ ही दोनों का खण्डन कर दिया है ।

नन्विति । 'वाच्य अर्थ' से असम्बद्ध वस्तु की प्रतीति नहीं होती है— यह कहकर व्यंग्यार्थ और वाच्यार्थ की व्याप्ति को बताया है । अन्यथा जिस किसी भी शब्द से जिस किसी भी अर्थ की प्रतीति हुआ करेगी ।

एवं चेति । इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी सम्बन्ध से होने वाला जो 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव' है, वह अप्रतिबन्ध (नियत सम्बन्धरूप व्याप्ति के अभाव) में नहीं होता है । अर्थात् 'प्रतिबन्ध' (व्याप्ति) के रहने पर ही 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-भाव' का निश्चय हुआ करता है । अतः व्याप्तत्वेन, नियतत्वेन, धर्मिनिष्ठत्वेन अर्थात् सपक्षसत्त्व (व्याप्तत्व), विपक्षव्यावृत्तत्व (नियतत्व), और पक्षवृत्तित्व (धर्मिनिष्ठत्व) इन धर्मों के कारण तीन रूपों वाले 'लिङ्ग' (हेतु) से 'लिङ्गी' (साध्य) का जो 'अनुमान' किया जाता है, उसी में 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव' का भी पर्यवसान हो जाता है ।

विशेष विवरण—ग्रन्थकार मम्मटभट्ट ने वाक्यतत्त्ववित् मीमांसक, वेदान्ती, और पदतत्त्ववित् वैयाकरणों के द्वारा उपस्थित की हुई व्यञ्जनाविरोधी युक्तियों का अच्छी तरह खण्डन कर दिया ।

अब उपर्युक्त ग्रन्थावतरणिका देते हुए प्रमाणतत्त्ववित् नैयायिकों के द्वारा दी जाने वाली व्यञ्जनाविरोधी युक्तियों का खण्डन ग्रन्थकार करेंगे । ये व्यञ्जना-विरोधी नैयायिक 'महिमभट्ट' हैं । इनका कहना है कि 'व्यञ्जना' को अतिरिक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानने की आवश्यकता नहीं है, उसका तो अनुमान में ही अन्तर्भाव किया जा सकता है।

'व्याप्ति' का जब तक ज्ञान नहीं होगा, तब तक 'अनुमान' नहीं होगा। अतः अनुमान करने के लिए 'व्याप्ति' का ज्ञान होना अत्यावश्यक है।

अनुमान की प्रक्रिया में दो मुख्य अंश होते हैं—(१) व्याप्ति और (२) पक्षधर्मता।

उक्त दो अंशों में से प्रथम अंश जो 'व्याप्ति' है, वह दो प्रकार की होती है—(१) अन्वयव्याप्ति और (२) व्यतिरेकव्याप्ति। इनमें से 'अन्वयव्याप्ति' का स्वरूप और उदाहरण क्रमशः इस प्रकार है—

'हेतु' और 'साध्य' के नियत-साहचर्य को 'व्याप्ति' कहते हैं। जैसे—"यत्र-यत्र धूमः, तत्र-तत्र वह्निः' यहाँ 'धूम' और 'वह्नि' का नित्य-साहचर्य दिखाई देता है।

इस 'अन्वयव्याप्ति' में 'हेतु' व्याप्य रहता है और 'साध्य' व्यापक रहता है। इस व्याप्ति के बल पर ही 'व्याप्य' के द्वारा 'व्यापक' का यानी 'हेतु' से 'साध्य' का अनुमान किया जाता है।

ऊपर बताई हुई दूसरी (२) 'व्यतिरेकव्याप्ति' का स्वरूप और उदाहरण क्रमशः इस प्रकार है—

अन्वयव्याप्ति में जो 'व्यापक' होता है, 'उसका अभाव', व्यतिरेक व्याप्ति में 'व्याप्य' हो जाता है। और 'अन्वयव्याप्ति' में जो 'व्याप्य' होता है, 'उसका अभाव', 'व्यतिरेक व्याप्ति' में 'व्यापक' हो जाता है। इस व्यतिरेक व्याप्ति में 'व्यापक के अभाव' से 'व्याप्य के अभाव' का अनुमान किया जाता है। अर्थात् 'साध्याभाव' से 'हेत्वभाव' का अनुमान किया जाता है।

श्लोकवार्तिक में उपर्युक्त कथन को पद्य के रूप में बताया गया है—

व्याप्य-व्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते॥
अन्वये साधनं व्याप्यं साध्यं व्यापकमिष्यते।
तद्भावोऽन्यथा व्याप्यो व्यापकः साधनात्ययः॥
व्याप्यस्य वचनं पूर्वं व्यापकस्य ततः परम्।
एवं परीक्षिता व्याप्तिः स्फुटीभवति तत्त्वतः॥

(श्लो० वा० १२१–२३)।

दूसरा अंश 'पक्षधर्मता' है। जहाँ 'साध्य' का सन्देह रहता है, उसे 'पक्ष' कहते हैं। अतएव 'पक्ष' का लक्षण 'सन्दिग्ध-साध्यवान् पक्षः' किया गया है। जब

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तक 'पर्वत' में 'वह्नि' का निश्चित ज्ञान नहीं हो पाता है, तब तक 'पर्वत', सन्दिग्ध-साध्यवान् रहने से उसे ('पर्वत' को) 'पक्ष' समझा जाता है। 'धूम' रूप 'हेतु' का उस 'पर्वत' रूप पक्ष में रहना आवश्यक है। अन्यथा 'व्याप्ति' (यत्र धूमः तत्र वह्निः) का ज्ञान रहने पर भी 'पर्वत' रूप पक्ष में 'वह्नि' की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः 'धूम' रूप हेतु (लिङ्ग) की 'पर्वत' रूप 'पक्ष' में अवस्थिति को 'पक्षधर्मता' (पक्षवृत्तित्व) कहते हैं।

ग्रन्थकार ने इन दो (व्याप्ति और पक्षधर्मता) को क्रमशः 'व्याप्तत्वेन' और 'धर्मिनिष्ठत्वेन' से बताया है। तथा 'नियतत्वेन' से 'विपक्षव्यावृत्तत्व' को बताया है, अर्थात् हेतु (लिंग) को 'निश्चितसाध्याभाव वाले विपक्ष' में कभी भी नहीं रहना चाहिये। विपक्ष का लक्षण यही है कि 'निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः'। एवं च 'हेतु' (लिङ्ग) में (१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व और (३) विपक्ष-व्यावृत्तत्व—ये तीन धर्म अवश्य ही होने चाहिये। पक्ष, सपक्ष और विपक्ष के लक्षण इस प्रकार किये जाते हैं—(१) सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः, (२) निश्चित-साध्यवान् सपक्षः, (३) निश्चितसाध्याऽभाववान् विपक्षः। वह्निसाध्यक अनुमान में पर्वत पर 'साध्य' (वह्नि) का सन्देह रहने से 'पर्वत' को 'पक्ष' माना जाता है।

जहाँ पर निश्चित रूप से 'साध्य' के रहने का ज्ञान होता है, उसे 'सपक्ष' कहते हैं। जैसे पर्वत पर वह्निसाध्यक अनुमान में 'महानस' को 'सपक्ष' कहा जाता है। क्योंकि 'महानस' (रसोईघर) में 'वह्नि'रूप साध्य की स्थिति निश्चित रहती है।

जहाँ पर निश्चित रूप से 'साध्य का अभाव' रहता है, उसे 'विपक्ष' कहते हैं। जैसे—जलाशय (सरोवर, तालाब, समुद्र आदि) में वह्निरूप साध्य का अभाव' निश्चित रहता है।

'शुद्ध हेतु' (सद् हेतु) को अपने 'पक्ष' तथा 'सपक्ष' में अवश्य ही रहना चाहिये। और 'विपक्ष' में हमेशा उसका 'अभाव' ही रहना चाहिये। इन्हीं स्थितियों को 'पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व' कहते हैं। ये ही 'सद् हेतु' (लिङ्ग) के तीन रूप हुआ करते हैं। इन तीन रूपों से समन्वित 'हेतु' को ही सद्धेतु (शुद्ध हेतु) कहते हैं। उक्त तीन रूपों में से किसी भी एक रूप से हीन रहने वाले 'हेतु' को ही 'हेत्वाभास' (असद्धेतु) कहते हैं। ग्रन्थकार मम्मट ने 'त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानम्' कहकर हेतु के उक्त तीन रूपों को सूचित किया है।

एवं च 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता' से युक्त होकर अपने त्रिविध रूपों से विशिष्ट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हुए 'लिङ्ग' (हेतु) से 'लिङ्गी' (साध्य) का जो ज्ञान सम्पन्न किया जाता है, उसे ही 'अनुमान' कहते हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति' भी 'व्याप्ति' (साध्य', 'साधन' = हेतु का नियत साहचर्य सम्बन्ध), और 'पक्षधर्मता' ('हेतु' की धर्मिनिष्ठता), और 'नियतत्व' यानी नियतता = विपक्षव्यावृत्तता (विपक्ष में हेत्वभाव की नियतता) के बिना नहीं होती है। अतः 'व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव' की प्रतीति को भी अनुमान ही कह सकते हैं। अर्थात् वह, अनुमान रूप ही है। 'अनुमानेन रूप्यते विषयीक्रियते' इस व्युत्पत्ति से 'तद्रूप' का अर्थ 'अनुमेयाऽनुमापक-भाव' किया गया है। उसे अलग समझना और उसके लिए व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि क्लृप्त लिङ्ग-व्यापार से ही निर्वाह यदि हो जाता है, तो अक्लृप्त-व्यञ्जना व्यापार की कल्पना क्यों कर रहे हो ? यह नैयायिक-महिमभट्ट का अभिप्राय है। वे कहते भी हैं—

"अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमां परां वाचम् ॥"

सिद्धान्ती—उस पर सिद्धान्ती व्यञ्जनावादी कहता है—अनुमिति में तो सम्बन्ध का नियत होना जैसे आवश्यक होता है, वैसा व्यञ्जना में नहीं है, वहाँ 'सम्बन्ध का नियत होना' आवश्यक नहीं है। संभावना मात्र से भी 'व्यङ्ग्यार्थ' की प्रतीति हो जाती है। तब उसका अनुमान में अन्तर्भाव कैसे कर सकते हैं ?

पूर्वपक्षी—उस पर नैयायिक महिम भट्ट कहते हैं कि हम अनुमान की तरह वहाँ भी (व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति में भी) व्याप्ति आदि अनुमान सामग्री को बता सकते हैं।

तथा हीति। जैसे—

हालकवि विरचित 'गाथासप्तशती' के द्वितीय शतक का ७५ वाँ यह पद्य है। इस पद्य में 'वीसद्धो' के बजाय 'वीसत्थो' भी पाठ उपलब्ध होता है। 'वीसत्थो' की संस्कृत 'विश्वस्तः' होती है।

गोदावरी नदी के तट पर किसी स्त्री के घरेलू उपवन में कोई 'धार्मिक पुरुष' पुष्पावचयन के लिए प्रायः जाया करता था, किन्तु उसके घर का वह उपवन उसका 'संकेत-स्थान' था, जहाँ उसका 'उपपति' उससे मिलने आया करता था। किन्तु उस धार्मिक पुरुष के वहाँ आने से उस नायिका के कार्य में विघ्न होता था। इसलिए उस नायिका ने अपने कार्य में पड़ने वाली विघ्न-बाधा को दूर करने के लिए एक उपाय सोचा, जिससे उस धार्मिक पुरुष का वहाँ आना हमेशा के लिए बन्द हो सकेगा। क्योंकि वह जानती है कि वह धार्मिक पण्डित जी बड़े डरपोक हैं, जो कुत्ते से इतना डरते हैं तो सिंह का नाम सुन कर तो यहाँ आना बन्द ही कर देंगे। अतः वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥ १३८ ॥
(भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥ १३८ ॥)

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति। यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः।

व्यभिचारिणी स्त्री उस धार्मिक पुरुष के प्रति अत्यन्त विनय प्रदर्शित करती हुई उसे डराने के लिए कह रही है।

भ्रमेति। हे धार्मिक! आप निर्भय होकर खूब विश्वास के साथ अपनी इच्छा के अनुसार (यथेच्छ) इस उपवन में अब घूमा करिये। क्योंकि गोदावरी नदी के तटवर्ती लता-निकुञ्ज में रहने वाले उस उन्मत्त सिंह ने मेरे घर के उपवन में रहने वाले पालतू कुत्ते (शुनक = श्वा = कुत्ता) को आज ही मार डाला है॥ १३८॥

प्रश्न—प्रकृत प्रसंग में 'वाच्य' क्या है, और 'अनुमेय' क्या है?

उत्तर—अत्रेति। उक्त पद्य में यह बताया गया है कि गोदावरी नदी के तट पर बने हुए कुञ्ज में रहने वाले उस सिंह ने कुत्ते को मार दिया है। अतः यथेच्छ विचरण करने के लिए धार्मिक पुरुष से कहा जा रहा है। अर्थात् स्वच्छन्द विचरण करने का ('भ्रम' कहकर उपवन में विधिविषयीभूत भ्रमण का) जो विधान है, उससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'गोदावरी के तट पर सिंह के रहने' से वहाँ उसे 'विचरण' (भ्रमण) नहीं करना चाहिये। अर्थात् 'कुलटा स्त्री' के द्वारा कथित (विहित) 'भ्रमण', उस 'धार्मिक पुरुष' के 'अभ्रमण' का 'अनुमापन' (अनुमान) कराता है। यहाँ 'भ्रमण' वाच्य है और 'अभ्रमण' (भ्रमण निषेध) अनुमेय है। अनुमान करने में व्याप्ति की आवश्यकता होती है, व्याप्ति' दो प्रकार की होती है, एक अन्वय व्याप्ति और दूसरी व्यतिरेक व्याप्ति। यहाँ व्यतिरेक 'व्याप्ति' को इस प्रकार बता रहे हैं—'यद्-यद् भीरुभ्रमणं, तत्-तद् भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्' – (अर्थात् तत्तद्भयकारणाभावज्ञानपूर्वकम्) जो भीरु पुरुष का भ्रमण है, वह भय—कारण के न रहने पर (भयकारणाऽभावज्ञानपूर्वक) ही हुआ करता है—यह व्यतिरेक 'व्याप्ति' प्रदर्शित की गई है। किन्तु 'गोदावरी नदी के तट पर' तो भय के कारणभूत 'सिंह' की उपलब्धि (ज्ञान) हो रही है। एवं च 'भीरुभ्रमण' की व्यापिका जो 'भयकारणाभावोपलब्धि' है, उसके 'विरुद्ध' (विपरीत) 'भयकारण' की ही उपलब्धि हो रही है। अर्थात् व्यापक के विरुद्ध की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(व्यतिरेक व्याप्ति की) प्रतीति हो रही है। इस व्यतिरेक व्याप्ति से अनुमिति यह हो रही है कि 'गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणाऽयोग्यं सिंहवत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं, यथा गृहम्'। इस आकार में 'भ्रमणाऽभाव' की अनुमिति हो रही है।

विशेष विवरण—उपर्युक्त ग्रन्थ को हृदयङ्गत करने के लिए अनुमान की प्रक्रिया को जानना आवश्यक है। 'व्याप्ति' और 'पक्षधर्मता' को पहले बता दिया गया है। व्याप्ति के विषय में यह भी जानना आवश्यक है कि 'व्याप्ति' दो प्रकार की होती हैं—(१) अन्वयव्याप्ति, (२) व्यतिरेकव्याप्ति। उनमें से 'धूम' और 'वह्नि' जैसे भाव-पदार्थों की तो 'अन्वय व्याप्ति' हुआ करती है। तथा 'वह्न्यभाव' और 'धूमाभाव' जैसे अभाव-पदार्थों की 'व्यतिरेक व्याप्ति' हुआ करती है। अन्वयव्याप्ति का उदाहरण—'यत्र-तत्र धूमः, तत्र-तत्र वह्निः' इत्यादि है। इसके विपरीत व्यतिरेकव्याप्ति का उदाहरण—'यत्र-यत्र वह्न्यभावः, तत्र-तत्र धूमाभावः' इत्यादि है।

महिमभट्ट ने यहाँ पर 'व्यतिरेक व्याप्ति' का सहारा लेकर यह बताया है कि गोदावरी का तट, उस धार्मिक पुरुष के भ्रमण के योग्य नहीं है। अर्थात् 'भ्रमणाभाव' का बोधन, व्यतिरेक व्याप्ति के सहारे किया है। 'गोदावरीतीरम्' यह 'पक्ष' है, और 'भीरुभ्रमणाऽयोग्यत्व' 'साध्य' है। किन्तु उक्त पद्य में 'भ्रम' अर्थात् विचरण (भ्रमण) करो–ऐसा विधिरूप में कहा गया है यानी 'भ्रमण' का विधान किया गया है। और उसी के साथ-साथ 'गोदावरी' के तट पर दृप्त सिंह के रहने की सूचना भी दे दी है। धार्मिक पुरुष जैसे भीरु पुरुष का विचरण (भ्रमण) तो तभी हो सकता है, जब कोई भयकारण उपस्थित न हो। परन्तु वहाँ तो भय का कारण 'सिंह' उपस्थित है। अतः भयकारणानुपलब्धि रूप 'हेतु' का अभाव यानी 'भयकारणोपलब्धि' के रहने से 'साधन' (हेतु) का अभाव है। इस प्रकार हेतु का अभाव रहने से साध्य (विधिरूप भ्रमण) का अभाव ही सिद्ध हो रहा है। अर्थात् भ्रमण का निषेध ही सम्पन्न हो रहा है। उक्त बात को अनुमान के प्रयोग में इस प्रकार कहा जायगा—

(१) 'गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणाऽयोग्यं, (२) भयकारणसिंहोपलब्धेः' (३) 'यद्यद्भीरुभ्रमणयोग्यं, तत्तद्भयकारणाऽभाववत्, (४) न चेदं तीरं तथा भयकारणाभाववत्; सिंहोपलब्धेः, यथागृहम्', (५) तस्मात् इदं स्थानं भीरुभ्रमणाऽयोग्यम्।

क्रमसंख्या (१) के वाक्य में 'प्रतिज्ञा अथवा साध्य' अंश को दिखाया है। क्र० सं० (२) के वाक्य में 'हेतु अथवा साधन' को दिखाया है। क्र० सं०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(३) के वाक्य में व्यतिरेक व्याप्ति सहित 'उदाहरण' को दिखाया है। क्र० सं० (४) के वाक्य में 'उपनय' को दिखाया है। क्र० सं० (५) के वाक्य में 'निगमन' को बताया है।

इस रीति से पञ्चावयव वाक्य (अनुमान) के द्वारा महिमभट्ट ने 'भ्रमण निषेध' की अनुमिति करायी है, अर्थात् उसे अनुमान का विषय होना सिद्ध किया है। एवं च 'भ्रमण निषेध' रूप अर्थ की प्रतीति कराने के लिए 'व्यञ्जना' 'वृत्ति को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है' यह नैयायिक महिमभट्ट का कहना है।

व्यतिरेकी जो व्यापकविरुद्धज्ञान (व्यापकविरुद्धोपलब्धि) है, वही अनुमिति में हेतु है। किन्तु नवीनों के मतानुसार 'भयहेतुमत्त्व के ज्ञान का अभाव' ही व्यापक है, ऐसा उद्योतकार ने बताया है।

प्रदीपोद्योत में उक्त विषय का स्पष्टीकरण सुन्दर ढंग से किया है—'तदत्र निकुञ्जवासिसिंहकृतया श्वनिवृत्त्या गृहे भ्रमणविधिर्वाच्यः, स एव निकुञ्जभ्रमणाऽयोग्यतानुमित्यै प्रभवति। यद्भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकं, निकुञ्जे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धौ पर्यवसानात् भ्रमणस्य व्यापकभयकारणाऽभावोपलब्धिः प्रतीता, तद्विरुद्धं यद्भयकारणं तदुपलब्धेः। यथा—नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेः। अर्थात् तुषारस्पर्शव्यापको हि वह्निभेदस्तदभावे वह्नित्वे वह्नितादात्म्ये वा तुषारस्पर्शाभावानुमितिरित्यर्थः। अत्र च भ्रमण-भयकारणाऽभावयोः सहचारः, तद्गृहे निश्चित इति सपक्षसत्त्वं, विपक्षाऽसत्त्वं व्याप्तिग्रहादेव ज्ञातम्। व्यापकाभावस्य च भयहेतुसिंहवत्त्वस्य उत्तरार्धेन निकुञ्जरूपपक्षधर्मत्वं गृहीतम्—इस प्रकार प्रभाकार ने स्पष्ट किया है।

अनुमानं च 'इदं गोदावरीनिकुञ्जं श्वभीरुभ्रमणाऽयोग्यं सिंहवत्त्वात्'। 'श्वा' अत्र गेहस्थः यद्भयात् गृहेऽपि अभ्रमणमासीत्, स एव पक्षभूते निकुञ्जे भ्रमणाऽयोग्यत्वानुमित्यै प्रभवति। ननु गृहे भ्रमणं न गोदावरीतीराऽभ्रमणमनुमापयति व्यधिकरणत्वात्, इति चेन्न। श्लोकवाच्यस्य तदनुमितिसाध्यसाधनविरुद्धयोर्व्याप्तिप्रदर्शनरूपत्वात् यद्यप्यत्र भीरुभ्रमणवति गृहे भयकारणश्वनिवृत्त्युपलब्धिरेव वाच्या, तथापि तत्र तदुपलब्धिज्ञानाद् व्युत्पन्नेन झटिति तयोर्व्याप्तिः स्मर्यते, उत्तरार्धेन च व्यापकाभावस्य पक्षधर्मताज्ञानम्। एवं च भ्रमणव्यापकभयकारणाभावज्ञानाऽभावेन व्याप्यभ्रमणाऽभावः सिध्यति। उपलभ्यमानभयकारणवत्त्वं हेतुः। यद्यदुपलभ्यमानभयकारणवत् तद् भीरुभ्रमणाऽयोग्यम्, यथा महदरण्यमिति अन्वय-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहचारः यद्यत् न भीरुभ्रमणाऽयोग्यं, न तदुपलभ्यमानभयकारणवत्, यथा गृहमित्येवं व्यतिरेकसहचारः।

नैयायिक महिमभट्ट का अभिप्राय यह है कि उक्त पद्य में 'भ्रमण' का विधान करने से 'भ्रमण' के निषेध का अनुमान होता है। इस पद्य के सुनने पर दो अर्थों का ज्ञान होता है। एक तो 'वाच्यार्थ' का, जिसका विधान किया जा रहा है, और दूसरा 'प्रतीयमान अर्थ' का, जो निषेध रूप है, अर्थात् खबरदार! इस कुञ्ज में मत आया करना।

कुलटा स्त्री का हृद्गत अभिप्राय उस धार्मिक पुरुष के भ्रमण का निषेध करने में ही है। तथापि वह उसे 'भ्रम' अर्थात् घूमा करो कह रही है, अतः 'विधि' के रूप में उसका यह कथन 'निषेधाभाव' का 'प्रतिप्रसव' कहा जायगा, क्योंकि "प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इस पाणिनि सूत्र से यहाँ पर अतिसर्ग, कामचार या प्राप्तकाल अर्थ में 'लोट्' लकार का प्रयोग किया गया है। अतः 'अब भय निवृत्त हो गया है, भ्रमण करना चाहो तो घूम सकते हो।

नैयायिक महिमभट्ट का कहना है कि यहाँ 'भ्रमण विधि' से 'भ्रमण के निषेध' का 'अनुमान' किया गया है। क्योंकि उक्त पद्य में 'दो अर्थ' भरे हुए हैं। एक तो 'विधिरूप वाच्यार्थ' और दूसरा 'निषेधरूप प्रतीयमान अर्थ'। 'विधिरूप भ्रमण' जो 'वाच्यार्थ' है, उसे 'भ्रम' शब्द से कह दिया गया है। किन्तु 'निषेधरूप अर्थ', जो 'भ्रमणाभाव' है, उसे 'किसी शब्द' से कहा नहीं गया है। उसे आप व्यञ्जनावादी 'व्यङ्ग्य' कहते हैं, और हम नैयायिक उसे 'अनुमेय' कहते हैं। व्यञ्जनावादी 'भ्रमण' रूप वाच्यार्थ' को 'भ्रमणाऽभाव' का 'व्यञ्जक' कहते हैं, और हम नैयायिक उस 'वाच्यार्थ' को 'भ्रमणाभाव' का अनुमापक कहते हैं।

शंका—गोदावरी तीर पर पालतू कुत्ते के डर से जिसको भ्रमण (घूमने) में हिचकिचाहट होती है, वह 'सिंहसद्भाव' के अवगत होने पर स्वयं ही वहाँ घूमना नहीं चाहेगा। अतः 'भ्रमण' को अनुमापक कहने की क्या आवश्यकता है?

समाधान—महिमभट्ट कहते हैं कि हमने 'भ्रमण' को 'भ्रमणाभाव' का 'अनुमापक' जो कहा है, वह उचित ही कहा है, क्योंकि 'गोदावरीतीरं कुक्कुरभीरुभ्रमणाऽयोग्यम्, सिंहवत्त्वात्' अर्थात् गोदावरीतीर, कुत्ते से भी डरने वाले भीरुपुरुष के घूमने योग्य नहीं है, क्योंकि वहाँ कुत्ते को भी मारने वाला सिंह रहता है। इसी आशय को ग्रन्थकार ने 'गृहे श्वनिवृत्त्या विहितं भ्रमणं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेः अभ्रमणमनुमापयति' के द्वारा बताया है। यहाँ पर 'अनुमापयति' क्रिया का कर्ता 'भ्रमण' है। वही 'भ्रमणाभाव' का अनुमापक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शंका—'भ्रमणाभाव' का अनुमापक तो वहाँ सिंह के सद्भाव का ज्ञान है। क्योंकि भय का कारण तो 'सिंह' है। अतः 'भ्रमण' को भ्रमणाभाव का अनुमापक कैसे कह रहे हैं।

समाधान—'अनुमापयति' में 'णिच्' प्रत्यय किया गया है। जो 'प्रयोजक कर्ता' को बता रहा है। 'कर्ता' दो प्रकार के होते हैं—(१) प्रयोज्य कर्ता और (२) प्रयोजक कर्ता। अतः 'अनुमानकर्ता' यानी प्रयोज्य कर्ता कोई दूसरा है, और उसका 'प्रेरक' यानी प्रयोजक कर्ता 'भ्रमण' है। वह 'भ्रमण', सिंहकर्तृक-श्वनिवृत्तिसंवलित होकर 'प्रेरक' हो रहा है। 'अनुमितिसाधकव्याप्तिग्रह' का 'उपाय (साधन) बनना' ही उसका प्रेरकत्व है। प्रयोज्य कर्ता (सामाजिक), 'भ्रमणाभाव' का अनुमान अर्थात् 'गोदावरीतीरं भीरुकर्तृकभ्रमणाभाववत् भीरुकर्तृक-कुक्कुरमारकसिंहसद्भावज्ञानवत्त्वात्' करता है। यहाँ 'गोदावरी-तीर-निकुञ्ज' पक्ष है, 'भीरुकर्तृकभ्रमणाभाव'—साध्य है, और 'भीरुकर्तृक-कुक्कुर-मारकसिंहसद्भावज्ञान' हेतु है। अनुमान करने वाले को 'तादृशभ्रमण' प्रेरणा देता है। इसलिए 'तादृशभ्रमण', 'भीरुभ्रमणाभाव' का अनुमापक है। प्रकृत में 'भ्रमणाभाव' साध्य (व्यापक) है, और 'सिंहसद्भावज्ञान' (भयकारणज्ञान) व्याप्य है। यहाँ पर 'अन्वयव्याप्ति' इस प्रकार बताई जायगी कि 'यत्र-यत्र भय-कारणज्ञानं, तत्र-तत्र भ्रमणाऽभावः। अतः 'भ्रमणाभाव' साध्य (व्यापक) है, उसका अभाव अर्थात् 'भ्रमणाऽभावाऽभाव' यानी 'भ्रमण', यह व्यतिरेक व्याप्ति में व्याप्य (हेतु) हो गया है। इसलिए 'भ्रमण' रूप 'हेतु' से 'भयकारणज्ञान' रूप 'साध्याभाव' का अनुमान किया गया है। यहाँ पर व्यतिरेक व्याप्ति का आकार यह होगा—'यत्र-यत्र भ्रमणम्, तत्र-तत्र भयकारणज्ञानाऽभावः' अर्थात् जहाँ-जहाँ भ्रमण है, वहाँ-वहाँ भयकारणज्ञान का अभाव रहता है, क्योंकि 'अन्वय-व्याप्ति' में जो 'व्याप्य' रहता है, उसका 'अभाव', 'व्यतिरेकव्याप्ति' में 'व्यापक' बन जाता है, और अन्वयव्याप्ति में जो 'व्यापक' रहता है, उसका 'अभाव', व्यतिरेकव्याप्ति में 'व्याप्य' बन जाता है। अतः 'जहाँ-जहाँ 'भयकारणज्ञान' है, वहाँ-वहाँ 'भ्रमणाभाव' है'। इस अन्वय व्याप्ति में जो व्यापक 'भ्रमणाभाव' है, उसका अभाव यानी 'भ्रमणाभावाभाव' (भ्रमण), 'व्यतिरेक व्याप्ति' में 'व्याप्य' होगा, और जो व्याप्य 'भयकारण ज्ञान' था उसका अभाव यानी 'भयकारणज्ञाना-भाव' है, वह 'व्यतिरेक व्याप्ति' में 'व्यापक' होगा। तब उस 'भयकारण-ज्ञानाभाव' रूप व्यापक के विरुद्ध यहाँ अनुमानबोधक पद्य में 'भयकारणसिंहो-पलब्धि' बताई जा रही है, इसलिए 'भ्रमण' नहीं होगा। ऐसा महिमभट्ट का कहना है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्रोच्यते—भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन, प्रियाऽनुरागेण, अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः, शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः

अत्रेति। व्यञ्जनाविरोधी नैयायिक श्री महिमभट्ट के द्वारा पूर्वोक्त पूर्वपक्ष का उपस्थापन करने पर ग्रन्थकार श्री मम्मट भट्ट उस पर समाधान दे रहे हैं—

भीरुरपीति। (१) भीरुस्वभाववाला पुरुष भी गुरु की अथवा अपने स्वामी (मालिक) की आज्ञा से, अथवा अपनी प्रिया के अनुराग से, अथवा इसी प्रकार के निधिलाभादि किसी अन्य कारण से, भय पैदा करने वाले (भय के हेतुभूत) हिंस्र सिंहादि पशुओं के विद्यमान रहने पर भी भ्रमण करता है। अतः नैयायिक के द्वारा प्रयुक्त किया गया हेतु (भीरुभ्रमण) अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है, कहने का अभिप्राय यह है कि 'भयकारणनिवृत्ति ज्ञान में' 'भीरुभ्रमण' रूप जो हेतु बताया गया है, वह (हेतु) अनैकान्तिक है। अर्थात् वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है, शुद्धहेतु (सद्धेतु) नहीं है।

(२) शुनोबिभ्यदपीति। और कुत्ते के स्पर्शजनित दोष से डरता हुआ भी (कुत्ते का स्पर्श करने से पाप लगता है, अतः कुत्ते का स्पर्श, पापजनक है, अतः वीर होने पर भी उसके स्पर्श होने का डर (भय) उसे रहता है किन्तु) वीर होने के कारण उसको 'सिंह' से डर नहीं लगता है। अतः 'सिंहवत्त्व' और 'भीरुभ्रमणाऽभाव' का सामानाधिकरण्य नहीं कह सकते। इसलिए हेत्वभावरूप 'भीरुभ्रमण' से सिंहवत्त्व' के व्याप्त हो जाने से वह हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास भी है। निष्कर्ष यह है कि 'भीरुभ्रमणाभाव और सिंहवत्त्व अर्थात् सिंहसद्भाव' में व्याप्ति कहाँ है? एवं च साध्याभाव से हेतु के व्याप्त रहने के कारण यह हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास भी है। अतः उक्त अनुमान में प्रयुक्त 'सिंहवत्त्व' हेतु 'असद्धेतु' ही है, शुद्ध हेतु नहीं है।

गोदावरीतीरे इति। गोदावरी नदी के तीर पर सिंह का होना प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान प्रमाण से निश्चित भी नहीं हुआ है, वह (सिंह का वहाँ होना) तो एक कुलटा स्त्री के कहने (वचन) से अवगत हो रहा है। अवगम्यमान 'अर्थ' के साथ श्रूयमाण शब्द की व्याप्ति (प्रतिबन्ध) का ज्ञान उसको न रहने से उस कुलटा स्त्री के 'वचन' (शब्द) को प्रमाण भी नहीं कह सकते। अतः उस स्त्री के वचन का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात् न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च, तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः।

प्रमाण नहीं है। एवं च 'पक्ष' में 'वचन' रूप हेतु का अभाव रहने से 'स्वरूपाऽसिद्ध' हेत्वाभास भी है।

तत्कथमिति। इस प्रकार तीन दोषों (अनैकान्तिक, विरुद्ध और असिद्ध) से युक्त हुए 'हेतु' के बल पर 'साध्य' की सिद्धि कैसे की जा सकती है?

विशेष विवरण—शुद्ध हेतु (सद्धेतु) का प्रयोग करने पर ही अनुमान ठीक-ठीक हो पाता है। अन्यथा असद्धेतु का प्रयोग करने पर अनुमान ठीक नहीं हो पाता है, अर्थात् उस अनुमान से 'साध्यसिद्धि' नहीं हो पाती है। 'असद्धेतु' को 'हेत्वाभास' भी कहते हैं। 'हेत्वाभास' शब्द की दो प्रकार से निरुक्ति की जाती है—(१) 'हेतुवत् आभासते इति हेत्वाभासः'—अर्थात् वास्तव में 'हेतु' न होता हुआ भी 'हेतु की तरह' जो भासित होता है, यानी दुष्ट (दूषित) हेतु। (२) 'हेतोः आभासः इति हेत्वाभासः'—अर्थात् 'हेतु' में आभास यानी 'दोष' का होना—उसे (दोष को) भी हेत्वाभास कहते हैं, यानी 'हेतु' के दोष।

शुद्ध हेतु (दोषरहित हेतु) वही कहलाता है, जो अपने स्वरूप से रहता है। हेतु के अपने पाँच रूप (स्वरूप) हुआ करते हैं। उन्हें पहिले बता चुके हैं। सद्धेतु (शुद्ध हेतु) में (१) पक्षसत्त्व, (२) सपक्षसत्त्व, (३) विपक्षव्यावृत्तत्व आदि रूपों का होना आवश्यक है, यदि किसी एक रूप की भी कमी रहे तो, उसे 'शुद्धहेतु' (सद्धेतु) नहीं कह सकते, अपि तु वह असद्धेतु यानी हेत्वाभास कहलाता है। 'हेतु' यदि 'पक्ष' में न रहे तो उस 'हेतु' को 'स्वरूपाऽसिद्ध' नामक हेत्वाभास कहते हैं, क्योंकि 'हेतु' का पक्ष में 'सत्त्व' होना 'हेतु' का स्वरूप ही (पक्षसत्त्व) है। अतः 'पक्षे हेत्वभावः—स्वरूपाऽसिद्धः' यह 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास का लक्षण है।

इस पर उत्तर दिया कि कुत्ते से (कुत्ते के स्पर्श से) डरता हुआ भी 'वीर पुरुष' होने के कारण वह 'सिंह' से डरता नहीं है। इस कारण 'सिंहवत्त्व' और 'भीरुभ्रमणाभाव' दोनों का 'सामानाधिकरण्य' न होने से अर्थात् 'गोदावरीतीरं शूरभ्रमणाऽयोग्यं सिंहादिसत्त्वात्' यहाँ पर 'साध्य' और 'हेतु' का 'असामानाधिकरण्य' होने से और 'साध्याऽभाव' से 'हेतु' के व्याप्त हो जाने के कारण 'विरुद्ध' हेत्वाभास भी है।

तीसरा दोष यह दे रहे हैं कि वह 'हेतु', 'असिद्ध' दोष से ग्रस्त हो जाने से 'असिद्धहेत्वाभास' भी हो जाता है। जैसे—गोदावरीतीर पर सिंह की सत्ता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि। व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम्। न चात्राधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम्।

(सिंहसत्त्व) रूप 'पक्षधर्मता' का अभाव भी है। क्योंकि गोदावरी के तीर पर 'सिंह' है, यह ज्ञान, न तो प्रत्यक्ष से हुआ है, और न अनुमान से ही हुआ है। वह तो कुलटा स्त्री के 'वचन' से हुआ है। उस कुलटा स्त्री के वचन का प्रामाण्य कैसे माना जाय ? प्रतीयमान अर्थ से उसका सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? और संबन्ध न हो पाने से वह उस अर्थ का ज्ञापक भी कैसे हो सकेगा ? इसलिए वह 'कुलटा-वचन' रूप हेतु 'असिद्ध' हेत्वाभास ही है। एवं च 'अनैकान्तिक, विरुद्ध और असिद्ध' तीन दोषों से दूषित हुए 'हेतु' से 'साध्य' की सिद्धि नहीं हो सकती।

उक्त रीति से ध्वनिकारोक्त उदाहरण में अनुमान का निरसन करने के बाद ग्रन्थकार के द्वारा प्रदर्शित किये गये उदाहरण (निःशेषच्युतचन्दनम्) में भी अनुमान का निरास करते हुए ध्वनि के लक्ष्य का समर्थन ग्रन्थकार कर रहे हैं।

तथेति। उसी प्रकार 'निःशेषच्युतचन्दनम्' आदि उदाहरण में जो 'चन्दन-च्यवन' आदि संभोग के व्यञ्जक चिह्न बताये गये हैं, वे (चिह्न) अन्य किन्हीं कारणों से भी हो सकते हैं। जैसे—उक्त उदाहरण में ही 'स्नान' आदि कारण के कार्य के रूप में बताये गये हैं। वे चिह्न, उपभोग में नियत न होने से व्यभिचारी हैं।

शंका—यदि उपर्युक्त हेतु व्यभिचारी (अनैकान्तिक) है, तो उन हेतुओं के आधार पर 'उस अधम के पास तुम गई थी'—इस व्यङ्ग्य की प्रतीति कैसे हो सकेगी ?

समाधान—व्यक्तिवादिनेति। व्यञ्जनावादी के (व्यक्तिवादी के) मत में तो 'अधम' पद की सहायता से उक्त हेतुओं के आधार पर 'व्यङ्ग्य' की प्रतीति 'व्यञ्जनावृत्ति' से होती है, इसलिए उन हेतुओं को उसने 'व्यञ्जक' माना है।

शंका—नैयायिक कहता है कि हमारे मत के अनुसार भी 'अधम' पद की सहायता से 'अनुमिति' हो जायेगी, तब 'व्यञ्जना' मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

समाधान—न चेति। नायक की 'अधमता' किसी प्रमाण से अवगत नहीं है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थं उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तदु अदूषणम् ।

इति श्रीकाव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णयो नाम पञ्चमोल्लासः ।। ५ ।।

इसलिए उसकी 'अधमता' 'सत्' नहीं है । तब 'असत् अधमता' से अनुमान कैसे हो सकेगा ?

शङ्का—व्यक्तिवादी (व्यञ्जनावादी) के मत में भी 'असत् अधमता' से 'व्यङ्ग्य' की प्रतीति कैसे हो सकेगी ?

समाधान—एवं विधादिति । व्यञ्जनावादी के मत में आपके कथनानुसार स्थिति के रहते हुए भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो सकती है, क्योंकि केवल 'संभावना के रहने पर भी एवंविध हेतुओं से इस तरह के अर्थ (व्यङ्ग्यार्थ) का प्रकाशन हो जाता है । इसलिए व्यञ्जनावादी के मत में कोई दोष नहीं है । निष्कर्ष यह है कि ध्वनिवादियों के सिद्धान्तानुसार 'अधम' पद के प्रभाव से 'चन्दन-च्यवन' आदि 'व्यञ्जक' हेतु के रूप में हैं ।

और नैयायिकों का कहना है कि 'अधम' पद के प्रभाव से 'चन्दनच्यवन' आदि हेतु 'अनुमापक' हैं ।

उस पर व्यञ्जनावादी का कहना है कि उन्हें (चन्दनच्यवनादि हेतुओं को) अनुमापक कहना उचित नहीं है, क्योंकि जब तक उस नायक की 'अधमता' का निश्चय, प्रत्यक्ष से अथवा अनुमान से न हो पाये । नायक के न आने से तथा दूती के शारीरिक चिह्नों के देखने से उसके दुराचरण की संभावना करती हुई नायिका क्रुद्ध (रुष्ट) हो रही है, उस रुष्ट हुई नायिका के कथन पर कैसे विश्वास किया जा सकता है ? अतः क्रोधाविष्ट नायिका के द्वारा उस पर आरोपित 'अधमत्व' को 'हेतु' बनाकर यदि आप अनुमान करते हैं, तो वह नहीं कर पायेंगे, क्योंकि 'अधमत्व' हेतु के सन्दिग्ध रहने से वह स्वयं 'असिद्ध' हेत्वाभास हो गया है । उससे अनुमान कैसे हो सकेगा ?

किन्तु हमारे व्यञ्जनावादियों के मत की यह विशेषता है कि किसी उपपत्ति (किसी व्याप्य-व्यापकभाव यानी व्याप्ति) के बिना भी 'सहृदय व्यक्तियों की प्रतीति के बल पर' ही कहा जा सकता है कि 'एवंविधादर्थात् एवंविधोऽर्थः' इस प्रकार के वाच्यार्थ से (कुपित हुई नायिका के द्वारा नायक को 'अधम' कहने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के साथ-साथ दूती के चन्दनच्यवन आदि चिन्हों के प्रकाशन से) इस प्रकार का व्यङ्ग्यार्थ (दूती का नायक के साथ सम्भोग रूप अर्थ) प्रतीत हो जाता है। यही व्यञ्जनावाद की विशेषता है। व्यञ्जनावाद (व्यक्तिवाद) में 'व्यञ्जक' को 'गमक' नहीं मानते हैं। अतः हमारे व्यञ्जनावादियों के मत में अनैकान्तिकता, सन्दिग्धासिद्धि, विरुद्ध आदि दोषों की उद्भावना ही नहीं हो पाती।

विशेष विवरण—पञ्चमोल्लास का सिंहावलोकन—इस पञ्चम उल्लास में ग्रन्थकार ने बड़ी ही मार्मिक युक्तियों के साथ 'व्यञ्जनावृत्ति के अस्तित्व को सिद्ध कर दिया है। व्यञ्जनाविरोधी सभी दार्शनिकों का मुखमुद्रण कर दिया गया है। इसी प्रसंग में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद एवं अखण्ड-वाक्यार्थवाद तथा नैयायिक महिमभट्ट के व्यञ्जनाभक्षक अनुमान में प्रयुक्त हेतुओं को हेत्वाभास के रूप में प्रदर्शित कर दिया है, जिससे नैयायिक उस हेत्वाभासात्मक हेतुओं (असद्धेतुओं) से अनुमान करने में कुण्ठित हो जाता है। इस रीति से परममाहेश्वर राजानक श्रीमम्मटभट्ट ने अपनी विजयपताका फहराते हुए ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य की अभीप्सित व्यञ्जनावृत्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना बड़े समारोह के साथ कर दी है।

श्रीमम्मटभट्टकृत-काव्यप्रकाश की 'रहस्यबोधिनी' व्याख्या में 'ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णय' नाम का पञ्चम उल्लास समाप्त हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

षष्ठोल्लासः

(सू० ७०) शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः ॥४८॥

न तु शब्दचित्रेऽर्थस्याचित्रत्वम् अर्थचित्रे वा शब्दस्य ।

उल्लास-सङ्गति—प्रथम उल्लास में (१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य-काव्य (मध्यमकाव्य) (३) चित्रकाव्य (अवर=अधम काव्य) के नाम से 'काव्य' के तीन भेदों को बताया गया। उनमें से व्यङ्ग्यप्रधान ध्वनिकाव्य (उत्तमकाव्य) का चतुर्थ उल्लास में और गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य (मध्यमकाव्य) का पञ्चम उल्लास में भेदोपभेदों के सहित सविस्तर वर्णन किया गया। अब इस षष्ठ उल्लास में व्यङ्ग्यार्थ-रहित चित्रकाव्य (अधम = अवरकाव्य) के भेदों को बताया जा रहा है।

(सू० ७०, का० ४८) कारिकागत 'शब्दार्थचित्रम्' में 'चित्र' शब्द का अन्वय, 'शब्द और अर्थ' प्रत्येक के साथ होता है। तथा च 'शब्दचित्र' और 'अर्थ-चित्र' नाम के दो काव्य, प्रथम उल्लास में ही 'स्वच्छन्देत्यादि' और 'विनिर्गत-मित्यादि' उदाहरणों के द्वारा बताये गये थे। उन उदाहरणों में क्रमशः 'शब्द-चित्र' और 'अर्थचित्र' शब्द का प्रयोग (स्थिति) 'गुण-प्रधान भाव' से होता है। अभिप्राय यह है कि शब्दचित्र और अर्थचित्र दोनों में दोनों प्रकार की चित्रता (शब्दचित्रता और अर्थचित्रता) की स्थिति का संभव रहने पर भी उक्त चित्रता में से जिसकी जहाँ प्रधानता रहेगी उसी के आधार पर उस काव्य को 'शब्दचित्र' अथवा 'अर्थचित्र' कहा जाता है ॥ ४८ ॥

न त्विति। 'शब्दचित्र' या 'अर्थचित्र' नाम को सुनकर यह नहीं समझ लेना चाहिये कि 'शब्दचित्र' में 'अर्थ का चित्रत्व' (अलङ्कारत्व) नहीं होगा, और 'अर्थचित्र' में 'शब्द' का चित्रत्व (अलङ्कारत्व) नहीं रहेगा।

विशेष विवरण—चित्रकाव्य के 'शब्दचित्र' और 'अर्थचित्र' नाम से दो भेद किये गये हैं।

यद्यपि चित्रकाव्य के दोनों भेदों को प्रथम उल्लास में ही प्रदर्शित किया गया था, और उसके भेदों का प्रदर्शन, अलंकार प्रभेदों के दर्शन से ही हो जाता है, अतः उसके सम्बन्ध में कुछ भी बताने की आवश्यकता नहीं है; तथापि प्रदर्शित किये गये दो प्रभेद ही अनुपपन्न हैं। 'स्वच्छन्दोच्छलत्' में अन्य नदियों की अपेक्षा आधिक्यरूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यतिरेकालंकार का और 'विनिर्गतं मानदम्' इस अर्थचित्र के उदाहरण में मकार के अनुप्रास (वृत्त्यनुप्रास) एवं 'ससम्भ्रमेन्द्रद्रुत' में भी वृत्त्यनुप्रास रूप शब्दालंकार की भी विद्यमानता रहने से परस्पर निरपेक्ष शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार की उपलब्धि नहीं हो पाती है, कदाचित् हो भी जाय तो उन दोनों के सङ्कर न 'शब्दार्थोभयचित्र' इस तृतीय भेद का भी संभव हो सकता है, उसे न बताने के कारण न्यूनता की आशंका हो सकती है, उस आशङ्का के निरासार्थ इस उल्लास में उसकी चर्चा की जा रही है, ऐसा प्रदीपकार का कहना है।

सारबोधिनीकार का कहना है कि शब्दों की चित्रता का प्राधान्य रहने पर अर्थचित्रता की गौणता (अप्रधानता) होती है, और अर्थों की चित्रता का प्राधान्य रहने पर शब्दचित्रता की गौणता (अप्रधानता) रहती है, दोनों का दोनों में अभाव नहीं है, अपितु गुण-प्रधानभाव से इनकी परस्पर अवस्थिति रहने के कारण इनका विभाग होता है, यह बताने के लिए और शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही हमें अभीष्ट हैं, कोई एक नहीं, यह बताने के लिए भी इस उल्लास का आरंभ किया जा रहा है। गुण-प्रधानभाव से परस्पर एक दूसरे में ये अलंकार विद्यमान रहने पर भी 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस नियम के अनुसार जिस अलंकार की जहाँ प्रधानता हो उसी के आधार पर उसका नाम रखा जाता है। इसी को ध्यान में रखकर प्रथम उदाहरण 'शब्दचित्र' का और द्वितीय उदाहरण 'अर्थचित्र' का दिया गया है।

कारिकागत 'चित्रार्थशब्दयोः' के स्थान पर किसी-किसी पुस्तक में 'शब्दार्थ-चित्रयोः' पाठ भी उपलब्ध होता है, तथापि 'चित्रार्थशब्दयोः' पाठ, जो पुस्तक में दिया गया है, वही उचित प्रतीत हो रहा है। सरस्वतीतीर्थ, प्रभाकार आदि अनेक प्राचीन व्याख्याकारों ने इसी का प्रतीक देकर व्याख्या की है। 'चित्रौ च तौ अर्थशब्दौ च तयोः = चित्रार्थशब्दयोः'-यह विग्रह किया जाता है। शब्द-चित्र में 'अर्थ' का गुणभाव (गुणत्व) और 'शब्द' का प्रधानभाव (प्राधान्य या प्रधानत्व) माना जाता है, क्योंकि समाप्ति तक उसी में कविसंरंभ (प्रयत्न) की विषयता रहती है। तथा 'अर्थचित्र' में 'शब्द' का गुणभाव (गुणत्व) और 'अर्थ' का प्रधानभाव (प्राधान्य या प्रधानत्व) माना जाता है, क्योंकि समाप्ति तक उसी में कविसंरम्भ (प्रयत्न = उद्यम) की विषयता रहती है। वृत्तिकार (कारिकाकार मम्मट) ने इसी को व्यतिरेक मुख से बताया है—'न तु शब्दचित्रे अर्थाचित्रस्य अचित्रत्वम्, अर्थचित्रे वा शब्दस्य' इति। अर्थात् कवि को अपने काव्य की उत्कट चारुता (सौन्दर्य) जिसके कारण विवक्षित हो उसी की प्रधानता मानी जाती है और अन्य (दूसरे) की अप्रधानता यानी अन्य को गौण माना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तथा चोक्तम्—

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः ।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ॥

जाता है, और जिसकी प्रधानता रहती है, उसी के नाम पर उसका व्यवहार (व्यपदेश) होने लगता है, क्योंकि 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' यह नियम है। एवं च एक का दूसरे में असत्त्व होने के कारण यह चित्रता का विभाग नहीं किया गया है, अपि तु 'उत्कटचमत्कारजनकत्वरूपप्राधान्यपुरस्कारेण' यह विभाग किया गया है।

शङ्का—जिस काव्य में दोनों प्रकार की चित्रताओं में चमत्कारजनकत्व हो, वहाँ 'सङ्कर-संसृष्टिरूप' तृतीय भेद का प्रसंग प्राप्त होगा, तब क्या उत्तर दिया जायगा ?

समाधान—हमें इष्टापत्ति ही है। दो-प्रभेदों का प्रदर्शन जो किया गया है; वह, न्यूनता के निरासार्थ ही किया होने से तृतीय आदि भेद का भी उपलक्षक है। अतएव दशम उल्लास में स्वयं ग्रन्थकार ने ही शब्दालङ्कारों की अर्थालङ्कारों की शब्दार्थालङ्कारों की संसृष्टि तथा संकरों के उदाहरणों को प्रदर्शित किया है। अतः आपने जो आशङ्का उपस्थित की है, उससे हमे कोई हानि नहीं हैं, अपितु हमें वह इष्ट ही है।

शङ्का—इस प्रकार से तो 'दोष-गुण' दोनों में भी संकर, संसृष्टि की संभावना रहने से अनिष्टापत्ति का भी प्रसंग प्राप्त होगा।

समाधान—अनिष्टापत्ति का प्रसंग नहीं होगा, क्योंकि चमत्कार-वैलक्षण्य के अनुरोध से वैसा स्वीकार किया गया था। काव्यलक्षण में कहे गये 'दोषाभाव' का विशेषण 'दोषत्वावच्छिन्नप्रतियोगिकसामान्याभाव' के होने से ही दोषाभाव के प्रतियोगी में रहने वाले एकत्व, अनेकत्व से अधिक चमत्कारवैलक्षण्य को हम नहीं देखते हैं और रसप्रतिबन्धकतावच्छेदक जो रूप है वह श्रुतिकटुत्वादि ही होगा, न कि दोषद्वयनिष्ठ कोई धर्म होगा। इसलिए उनके सङ्कर आदि होने से दोषान्तर की आशङ्का का अवसर ही नहीं है। तथा गुण भी तत्तद् रस के नियत होने से किसी एक ही जगह 'रसद्वय' की स्थिति न होने के कारण सङ्कर आदि की आशङ्का के लिए भी अवसर नहीं है, ऐसा नरसिंहमनीषा में स्पष्ट है।

तथाचोक्तमिति। शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों की चमत्कारप्रयोजकता में प्रामाणिक विद्वानों की सम्मति बता रहे हैं—'तथा चोक्तम्' से लेकर 'इति' तक। जैसा कि भामह ने कहा है—

रूपकादिरिति। कुछ अन्य आलंकारिक विद्वानों ने अनेक प्रकार के रूपकादि-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रूपकादिमलङ्कारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्।
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः॥ इति॥

अर्थालङ्कारों का निरूपण किया है, क्योंकि वे समझते हैं कि काव्य में सौन्दर्य का उत्पादन रूपकादि अर्थालङ्कार ही करते हैं। निष्कर्ष यह है कि इनके विचार से समस्त अलङ्कारों में 'अर्थालङ्कार ही मुख्य अलङ्कार हैं। क्योंकि रमणी का मुख स्वतः सुन्दर रहने पर भी आभूषण के बिना आनन्ददायक नहीं लगता। उसी प्रकार अर्थालङ्कार के बिना सुन्दर शब्द-रचना वाला भी काव्य अच्छा नहीं लगता।

रूपकेति। कुछ अन्य आलंकारिक विद्वान् कहते हैं कि रूपकादि अर्थालङ्कार तो काव्यार्थ प्रतीति की दृष्टि से बहिरङ्ग हैं, अन्तरंग नहीं। अर्थात् इनके विचार से रूपकादि अर्थालङ्कार तो बाह्य अलङ्कार हैं, क्योंकि उनकी प्रतीति अर्थज्ञान के पश्चात् होती है। अतः काव्य में सुबन्त तथा तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति अर्थात् विशेषकर अनुप्रासादि के रूप से उत्पत्ति अथवा सन्निवेश को ही वाणी का अन्तरङ्ग अलङ्कार वे कहते हैं। एवं च काव्य में सौन्दर्य को पैदा करने वाले तो शब्दालङ्कार ही होते हैं। शब्दात्मक काव्य का सौन्दर्य, शब्दालङ्कार में ही निहित है, इनके समक्ष अर्थ के चमत्कार तो फीके प्रतीत होते हैं।

तदेतदिति। इन सुबन्त–तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति अथवा सुन्दर सन्निवेश को ही वे लोग 'सौशब्द्य' कहते हैं। शब्दालङ्कार के श्रवण मात्र से चमत्कार की प्रतीति होती है, अतएव ये शब्दालङ्कार ही मुख्य अलंकार हैं। 'नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी'—अर्थात् अर्थसौन्दर्य (अर्थव्युत्पत्ति) से वैसा सद्यः चमत्कार नहीं होता है। अर्थालङ्कार की प्रतीति तो अर्थज्ञान के पश्चात् होती है। इसीलिए 'अर्थालङ्कार' को गौण यानी बाह्य (बहिरंग) अलङ्कार कहा गया है।

शब्देति। किन्तु आचार्य भामह का कहना है कि 'शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार' के भेद से दोनों ही हमें इष्ट हैं।

विशेष विवरण—शङ्का—श्री मम्मट भट्ट ने 'भामह' के काव्यालङ्कारगत पद्यों को प्रमाण रूप में क्यों उपस्थित किया? क्योंकि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारों की चमत्कारप्रयोजकता के मानने में तो किसी का विरोध ही नहीं है, उनकी चमत्कारिता तो निर्विवाद ही है।

समाधान—'रूपकादिरलङ्कारः' इत्यादि तीन श्लोकों को भामह के 'काव्यालङ्कार' (भाम० का० अं० १।१३–१५) से श्री मम्मटभट्ट ने यहां पर उद्धृत किया है। उन श्लोकों के द्वारा भामह कहते हैं कि कुछ अलङ्कारशास्त्री 'अर्थालङ्कारों' को

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ही प्रधान अलङ्कार मानते हैं, 'शब्दालङ्कारों' को नहीं—'अर्थालङ्कार एवादरणीयो न तु शब्दालङ्कारः'। विभावादि रूप अर्थ, रस का व्यञ्जक होने से 'रूपकादि' ही अलङ्कार हैं—'अर्थस्य विभावादिरूपस्य रसव्यञ्जकत्वेनार्थनिष्ठो रूपकादिरेवालङ्कारः। अर्थाश्रयो रूपकादिरेवालङ्कारः, विभावादिरूपार्थोपस्कारकतया मुख्यस्य रसादेरुत्कर्षकत्वात्। शब्दालङ्काराणान्तु विभावाद्युपनयनमात्रप्रयोजकशब्दधर्मतया बहिरङ्गत्वान्न मुख्यालङ्कारत्वम्।' अर्थात् अर्थ के आश्रित रहने वाला 'रूपकादि' अलङ्कार ही है, क्योंकि वही विभावादिरूप अर्थ का उपस्कारक होने से मुख्य रस का उत्कर्षक होता है। शब्दालङ्कार तो विभावादि के उपनयनमात्र में प्रयोजक 'शब्दधर्म' होने से बहिरङ्ग है। इसलिए शब्दालङ्कार को मुख्य अलङ्कार नहीं कहा जा सकता। वे तो अर्थप्रतीति कराकर उपक्षीण हो जाते हैं। अपने उक्त कथन को व्यतिरेकदृष्टान्त देकर पुष्ट कर दिया है कि जैसे किसी अङ्गना का 'आनन' लावण्यपूर्ण होने पर भी यदि वह निरलङ्कार रहे तो देखने वालों के हृदय को आह्लादित नहीं कर पाता। उसी तरह शब्दार्थशरीरवाला 'काव्य' सगुण रहने पर भी निरलङ्कार यदि रहे तो वह शोभा नहीं देता।

कुछ अलङ्कारशास्त्री 'रूपकादि' अर्थालङ्कारों को 'बाह्य अलंकार' अथवा गौण अलङ्कार कहते हैं। क्योंकि उनकी प्रतीति, अर्थप्रतीति के बाद होती है। शब्दश्रवण के अनन्तर शब्दालङ्कार के द्वारा चित्त आकृष्ट हो जाता है, तब अर्थप्रतीति होती है, तदनन्तर 'रूपकादि' अलंकारों का अनुसन्धान होता है, इसलिए उन्हें 'बाह्य' (बहिरंग) कहा जाता है। उद्योतकार ने भी कहा है—"प्रथमतः शब्दालङ्कारेण चित्तापकर्षः, अर्थप्रतीत्युत्तरं तु, अर्थालङ्कारप्रतीतिरिति तेषां बाह्यत्वम्, आस्वादोत्पत्तिपरवर्तित्वादितयावत्।" क्योंकि सुबन्त तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति अर्थात् विशिष्टोत्पत्ति (अनुप्रास आदि से निर्माण) को ही (शब्दालंकार को ही) अत्यन्त उपादेय मानते हैं। इस प्रकार की व्युत्पत्ति को ही अलङ्कार मानने मे हेतु 'सौशब्द्य' (शब्दनिर्माण सौष्ठव) ही है। अर्थात् सुन्दर शब्द वाले काव्य का सौन्दर्य स्वतः ही है, यानी शब्दालङ्कारों में चमत्कारत्व स्वतः ही है। किन्तु अर्थव्युत्पत्ति (अर्थालङ्कार) 'न ईदृशी'—यानी वह शब्द के समान इस प्रकार की स्वतः चमत्कारिका नहीं है, अपि तु विभावाद्युत्कर्षमुखेनैव वह चमत्कारिका होती है।

काव्य के अलंकार का निर्णय करने के लिए 'काव्य' शब्द पर विचार करना होगा। 'कुङ् शब्दे' धातु से काव्य शब्द की निष्पत्ति होती है। कवि के कर्म को 'काव्य' कहते हैं। कविकर्म (कविसंरम्भगोचर) 'शब्द' ही होता है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शब्दचित्रं यथा—

क्योंकि 'काव्यं पठ्यते, श्रूयते, गीयते' इत्यादि व्यवहार से स्पष्ट होता है कि पठन-श्रवण का विषय 'शब्द' ही होता है। अतः उसी के धर्म को अलंकार कहना उचित होगा, 'रूपक' आदि को नहीं। क्योंकि वह तो अर्थाश्रित होने से बाह्य है, उसमें भी जो 'अलंकार' शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह 'गौण' प्रयोग है। तात्पर्य यह है कि शब्दों के द्वारा अभिव्यज्यमान होने वाले आस्वादों का विभावादि अर्थों से उपचायन किया जाता है। उन शब्दों की रचना, माधुर्यादि-व्यञ्जकवर्ण-घटित अनुप्रासादि से युक्त होने पर ही आस्वादों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ हो पाती है। अतः शब्दालंकारों की आवश्यकता है। बाद में होने वाले अर्थालंकार तो अकिञ्चित्कर हैं। उनके बिना भी शब्दालङ्कारों से आस्वाद की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसीलिए अर्थालंकारों को बाह्य कहा गया है, क्योंकि आस्वादोत्पत्ति के समय उनकी उपलब्धि ही नहीं है।

अतः ये विद्वान् शब्दालङ्कारों को ही प्रधान अलङ्कार कहते हैं। क्योंकि शब्दालङ्कार की प्रतीति, काव्य के श्रवण करने मात्र से ही हो जाती है। किन्तु भामह अपना सिद्धान्तमत बताते हैं कि काव्य के लिए 'शब्दालङ्कार' और 'अर्थालङ्कार' दोनों की ही आवश्यकता है। क्योंकि जो भी 'सौन्दर्य' है, वह 'शब्द' से बोधित 'अर्थ' में और 'अर्थ' के बोधक 'शब्द' में विभक्त रहने से 'उभयगत' है।

अभिप्राय यह है कि 'शब्द' स्वरूपतः तो अलङ्कार है नहीं। अन्यथा 'निरर्थक शब्द' को भी 'अलंकार' कहना होगा। उसी प्रकार 'अर्थ' भी स्वरूपतः अलंकार नहीं है। अन्यथा सर्वदा ही अर्थ के विद्यमान रहने से उसे 'अलङ्कार' कहना होगा। किन्तु शब्दबोधित अर्थ में, और अर्थबोधक शब्द में चित्रता (अलङ्कार) अर्थात् सौन्दर्य रहता है। अतएव दोनों काव्य हैं, दोनों की 'आस्वादोपकारकता' सहृदयैकवेद्य है, जनसाधारणवेद्य नहीं है। 'दोनों ही काव्य' कवि-संरंभ के गोचर होते हैं। अतः दोनों ही (शब्द तथा अर्थ) अलङ्कार कहलाने योग्य हैं। उद्योतकार ने भी कहा है—"अलङ्कृतशब्दव्यङ्ग्यस्यास्वादस्य विभावाद्यप्राप्तौ शृङ्गारादिविशेषानाश्रयत्वेनाऽकिञ्चित्करत्वादलङ्कृतार्थोपजीव्यत्वाच्छब्दानामप्यावश्यकत्वेन द्वयोरप्यास्वादोपकारत्वात्कविसंरम्भगोचरत्वाच्चोपादेयता तत्र यो यदन्वय-व्यतिरेकानुविधायी स तेन व्यपदिश्यते"। अन्वय और व्यतिरेक के लक्षण—'यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः', 'यदभावे यदभावो व्यतिरेकः', तदनुविधायी तदनुसारीत्यर्थः।

शब्दचित्रमिति। शब्द चित्र का उदाहरण, जैसे—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रथममरुणच्छायस्तावत्ततः कनकप्रभ-
स्तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वीकपोलतलद्युतिः ।
उदयति ततो ध्वान्तध्वंसक्षमः क्षणदामुखे
सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविर्मृगलाञ्छनः ॥ १३९ ॥

प्रथममिति । रात्रि के प्रारम्भ में उदीयमान 'चन्द्रमा' प्रथमतः लालरंग की कान्तिवाला, तदनन्तर सुवर्ण के समान पीत कान्तिवाला, उसके बाद विरह से विह्वल कृशाङ्गी सुन्दरी के कपोल (गाल) के समान श्वेत कान्तिशाला, उसके बाद सरस-मृणालिनी के कन्द के खण्ड (टुकड़े) के समान अत्यन्त श्वेत कान्ति वाला अन्धकार का नाश करने में समर्थ होकर उदित होता है ॥ १३९ ॥

विशेष विवरण—'मालतीमाधव' नामक नाटक में चन्द्रोदयवर्णन परक यह पद्य है—ऐसा चन्द्रिका व्याख्याकार का कहना है; किन्तु आजकल उपलभ्यमान पुस्तकों में यह पद्य उपलब्ध नहीं हो रहा है। इस वर्णन के सम्बन्ध में उद्योतकार का कहना है कि 'अरुण' इसका विपक्षी होने से और 'सुवर्ण' की श्रेष्ठ अलकार के रूप में गणना होने से 'चन्द्रमा' का उत्कर्ष प्रतीयमान होता है, तथा कामिनी का 'कपोल' भी उसके 'मुख' रूप प्रतिद्वन्द्वी का सम्बन्धी होने से उससे उपमा देना उचित ही है, अतएव आगे चलकर उसे 'सरसबिसिनीकन्दच्छेदच्छविः' कहा गया है। यहाँ पर 'मृगलाञ्छनः' पद अपुष्टार्थ है, क्योंकि 'चन्द्रादि' पद प्रयोग से भी उसके अर्थ का लाभ हो सकता है। इस पद्य में 'मकार', 'तकार', 'ककार', 'धकार', 'दो क्षकार' और 'दो छकार' तथा 'सकार', 'छकार', 'लकार' आदि व्यञ्जनों के विन्यास-सौष्ठव में 'अनुप्रास अलङ्कार' की सुन्दरता यहाँ जितनी चमत्कारोत्पादिका बन पड़ी है, उतनी 'स्वभावोक्ति', 'उपमा' में चमत्कारजनकता नहीं हो पा रही है। इसलिए यहाँ 'शब्दालङ्कार' की ही प्रधानता है। पूरे पद्य में कवि का संरम्भ (प्रयत्न) इसी को प्रदर्शित करने में हुआ है। 'प्रधानता' का निर्णय, कवि की विवक्षा पर ही निर्भर होता है। अतः यह 'शब्दचित्रता' का ही उदाहरण है। यद्यपि यहाँ पर 'स्वभावोक्ति' और 'उपमा' इन अर्थालंकारों (अर्थचित्रों) का भी अस्तित्व है, उसको नकारा नहीं जा सकता, तथापि वे दोनों अर्थालङ्कार (अर्थचित्र) यहाँ 'गौण' (अप्रधान) ही हैं। क्योंकि उनके प्रदर्शन में कवि का संरम्भ (प्रयत्न) नहीं है।

सुधासागरकार ने भी कहा है कि "अत्र क्रमेण तत्तद्वर्णता स्वभावोक्तिः। यद्यपि किञ्चिद् व्यङ्ग्यमपि सम्भवति, तथा हि—प्रथमं तावत् अरुणच्छायः, अरुणस्येव छाया रक्तदीप्तिः यस्य तथाभूतः। ननु स्वोत्कर्षाऽसहिष्णोरनु-कारोऽनुचितः इति विचार्य तदनन्तरं 'कनकप्रभः'। ननु प्रतिस्पर्धि कान्ता-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अर्थचित्रं यथा—

ते दृष्टिमात्रपतिता अपि कस्य नात्र क्षोभाय पक्ष्मलदृशामलकाः खलाश्च ।
नीचाः सदैव सविलासमलीकलग्ना ये कालतां कुटिलतामिव न त्यजन्ति॥१४०॥

मुखमण्डनमेतदित्यस्याऽनुकारोऽनुचितः इति तदनु विरहोत्ताम्यत्तन्वी-कपोलतलद्युतिः । ननु यत्सम्बन्धात् कनकप्रभा त्यक्ता तदनुकारोऽत्यन्ता-ऽनुचित इति ततोऽनन्तरं ध्वान्तध्वंसेत्यादिबोधितरूपान्तरमाश्रित इति । तथाप्यत्र न कवेस्तात्पर्यमित्यधमकाव्यत्वम् ।''

अभिप्राय यह है कि कवि के तात्पर्य को ध्यान में रखकर ही उसके काव्य को देखना चाहिये । अतः यह काव्य 'शब्दचित्र' का ही उदाहरण है । यद्यपि इसमें 'चन्द्रोदय' का वर्णन जिस प्रकार किया है, उससे 'स्वभावोक्ति' 'उपमा' रूप अर्थालङ्कार का सौन्दर्य भी प्रतीत हुए बिना नहीं रहता । तथापि कवि का ध्यान इन अर्थालङ्कारों के प्रदर्शन में उतना नहीं है, जितना 'वर्णविन्यास-सौष्ठव' की ओर है ।

इस पद्य में 'व्यङ्ग्यार्थ' की भी झलक मिलती है । तथाहि—'सौन्दर्य की स्पर्धा में चन्द्रमा के द्वारा क्रमशः एक के बाद एक अपने प्रतिस्पर्धी पदार्थों को त्याग कर अपने ज्योत्स्नामय स्वरूप में अन्ततः प्रकट (प्रकाशित) होना'—यही व्यङ्ग्यार्थ है । किन्तु इस व्यङ्ग्यार्थ के प्रदर्शन में भी कवि की विवक्षा नहीं है । उसकी विवक्षा 'वर्णविन्यास-सौष्ठव' (विचित्रता) के प्रदर्शन कराने में ही है । इस पद्य में जो सौन्दर्य (चारुत्व) प्रतीत हो रहा है, वह 'शब्दचित्र' का ही है ।

अर्थ चित्रमिति । अर्थचित्र का उदाहरण, जैसे—

ते दृष्टिमात्रेति । सघन पलकों से युक्त नेत्रों वाली (पक्ष्मलाक्षी) सुन्दरियों के केशपाश और दुष्ट पुरुष (खल) ये दोनों दृष्टिगोचर होते ही (दिखलाई पड़ते ही) किस के चित्त को व्याकुल नहीं बना देते हैं ? अपितु सभी के चित्त को व्याकुल कर देते हैं ।

यहाँ रमणी के केशपाश और दुष्ट पुरुष, दोनों की समानता का वर्णन कवि के द्वारा किया जा रहा है । रमणियों के केशपाश ह्रस्व (छोटे) हैं, और अत्यन्त विलास (सुन्दरता) के साथ (सविलास) ललाट (अलीक = माथे) पर बिखरे हुए रहते हैं । अथवा खूब लम्बे (नीचे) लटकने वाले केशपाश हैं, जो विलास के साथ ललाट (अलीक) पर झूलते रहते हैं । वे केशपाश अपने घुंघरालेपन की तरह (कुटिलता की तरह) अपने कालेपन को नहीं त्यागते हैं । नीच (खल = दुष्ट) पुरुष भी सर्वदा नीच कर्मों (कार्यों) में ही तत्पर रहते हैं । अर्थात् दूसरों के छिद्रान्वेषण में तत्पर रहते हैं । एवं मिथ्या (अलीक)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाषण करते हैं। ये खल पुरुष अपनी कुटिलता की तरह हृदय की कालिमा का त्याग कभी नहीं करते हैं ॥ १४० ॥

विशेष विवरण—पक्ष्मल दृष्टि वाली सुन्दरियों के केशपाश और खल-पुरुषों की समानता का वर्णन इस पद्य में किया गया है। 'पक्ष्मल' पद से भूम (घने) अर्थ में मत्वर्थीय 'लच्' प्रत्यय किया गया हैं। इस पद्य में 'नीच', 'सविलास', 'अलीक', 'कालता' और 'कुटिलता'—ये शब्द, दो अर्थवाले हैं। एक अर्थ तो रमणियों के केशपाश के पक्ष में और दूसरा अर्थ खल पुरुष के पक्ष में घटित होता है। केशपाश के पक्ष में—'नीच' का अर्थ ह्रस्व अथवा अधोगामी अर्थात् नीचे तक लटकने वाले। 'सविलास' का अर्थ विलास के साथ। 'अलीक' का अर्थ ललाट। 'कालता' का अर्थ श्यामता। 'कुटिलता' का अर्थ वक्रता होता है। और खलपुरुष के पक्ष में—'नीचाः' का अर्थ पाप के आश्रित रहने वाले एवं उच्च आशय से रहित अथवा कृत्रिम विनय का प्रदर्शन कर नीचता को प्राप्त होने वाले। 'सविलसम्' का अर्थ, 'ब' और 'व' में भेद न मानकर 'बिलम्' अर्थात् 'बिलम्' = रन्ध्र (छिद्र) में 'आसः'=असनं (प्रहार) के सहित अर्थात् छिद्रान्वेषण में तत्पर। 'अलीक' का अर्थ मिथ्याभाषण। 'कुटिलता' का अर्थ कपटता। 'कालता' दूसरे को पीड़ा पहुँचाने का प्रयत्न करना अथवा भयानक रूप के कारण यमस्वरूपता, ये अर्थ किये जाते हैं।

यहाँ पर अलक और खल दोनों का 'क्षोभ पैदा करना' एक ही कार्य है—यह बताने के लिए 'समुच्चय' की उक्ति का आश्रय किया गया है। 'तत्सिद्धिहेता-वेकस्मिन् यत्रान्यत्तत्करं भवेत्'—इस सूत्र (१७८) से 'समुच्चय' नामक अर्थालङ्कार को आगे बताया जायगा। 'श्लेष' और 'उपमा' उसी के अङ्गभूत होने से उसी का (समुच्चय अलंकार का) ही प्राधान्य है। आरम्भ से लेकर समाप्ति तक काव्य में उसका पूर्णतया निर्वाह कवि ने किया है। 'अलीक' शब्द, परिवृत्त्य-सह होने से 'शब्दश्लेष' और 'अनुप्रास' का संभव रहने पर भी वे गौण ही हैं ऐसा प्रदीपकार तथा प्रभाकार का कहना है।

यहाँ पर 'कुटिलतामिव' कहकर 'सहोपमा' और उससे व्यङ्ग्य अर्थ दोनों का समुच्चय बताया है। निष्कर्ष यह है कि जैसे वे कुटिलता का त्याग नहीं करते हैं, वैसे ही 'कालता' का भी त्याग नहीं करते हैं—इस प्रकार से अर्था-लंकार की प्रधानता बताई गई है। कवि का संरंभ उसी के बताने में है—ऐसा उद्योतकार कहते हैं।

यहाँ 'अनुप्रास' के संभव होने पर भी श्लेषप्रतिभा में हेतुभूत 'समुच्चय' नामक अर्थालङ्कार ही प्रधान रहने से अर्थचित्रता (अर्थालंकार) है। कवि ने समाप्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यपि सर्वत्र काव्येऽन्ततो विभावादिरूपतया पर्यवसानम् तथापि स्फुटस्य रसस्यानुपलम्भादव्यङ्ग्यमेतत्काव्यद्वयमुक्तम् । अत्र च शब्दार्थालङ्कारभेदाद्-बहवो भेदाः, ते चालङ्कारनिर्णये निर्णेष्यन्ते ।

इति श्रीकाव्यप्रकाशे शब्दार्थचित्रनिरूपणं नाम षष्ठ उल्लासः ॥ ६ ॥

तक उसके प्रदर्शन में ही प्रयत्न किया है ऐसा सारबोधिनीकार आदि व्याख्याकारों का कहना है । किन्तु महेश्वर भट्टाचार्य का कहना है कि प्रकृत 'खल' और अप्रकृत 'अलक' दोनों के एक धर्मान्वयरूप 'दीपक' नामक अर्थालंकार की यहाँ प्रधानता है ।

शङ्का—'प्रथममरुण०' इस प्रथम उदाहरण में 'चन्द्रोदय रूप उद्दीपन विभाव' का वर्णन होने से 'श्रृङ्गार रस' व्यङ्ग्य है, तथा 'नीचाः सदैव' इस द्वितीय उदाहरण में 'खल-सदृशा अलकाः' कहकर 'उपमा' और तन्मूलक विप्रलम्भ की व्यङ्ग्यता रहने से पूर्व उदाहृत दोनों काव्यों को 'अव्यङ्ग्य' अथवा 'अधम' कैसे कहा गया है ? क्योंकि 'अव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' के द्वारा 'व्यङ्ग्य-रहित' को ही 'अधम' कहा गया है ।

समाधान—यद्यपीति । यद्यपि सर्वत्र ही काव्यों में वर्णन किये गये पदार्थों का अन्ततोगत्वा विभावादि के रूप में ही पर्यवसान हो जाता है, तथापि उन वर्णित विभावादिकों से वहाँ 'रस' की स्फुटतया प्रतीति नहीं हुआ करती । अतः इन दोनों काव्यों को 'अव्यङ्ग्य' कहा है । इन दोनों अधम काव्यों के शब्द और अर्थ के वैचित्र्य के कारण अनेकानेक भेद-प्रभेद होते हैं । यद्यपि उनको यहीं पर बतलाना उचित था, क्योंकि अधम काव्य के निरूपण का प्रसङ्ग चल रहा है, तथापि वे भेद-प्रभेद, अलंकारों के कारण होने से 'अलंकार' का निर्णय कर देने से ही उनका निर्णय हो जायगा ।

विशेष विवरण—सर्वत्र ही जैसे 'स्वच्छन्दोच्छलत्' उदाहरण में भी मन्दाकिनी विषयक 'रतिभाव' व्यङ्ग्य हो ही रहा है । किन्तु उसका 'रस' में ही पर्यवसान होता है ।

शंका—'स्वच्छन्दोच्छलत्' में 'भाव' ही व्यङ्ग्य हो रहा है, 'रस' नहीं । तब 'रस' में उसका पर्यवसान कैसे होगा ? अतः 'सर्वत्र काव्ये' कहना तो असंगत है ।

समाधान—'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः'—इस व्युत्पत्ति से 'रस' शब्द,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'व्यङ्ग्यपरक' है। 'अव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्' इस सूत्र मे 'अव्यङ्ग्य' शब्द से 'व्यङ्ग्यरहित' की विवक्षा नहीं है, अपितु 'स्फुटव्यङ्ग्यरहित' की विवक्षा होने से कोई विरोध नहीं है। अर्थात् अन्यान्य वैचित्र्यों को तिरोहित (अभिभूत) करके शीघ्रतर प्रतीयमान होने वाले 'रस' की उपलब्धि इन काव्यों में नहीं होती है। इन काव्यों में 'चित्र' ही अपनी स्फुटता के कारण चमत्कारक रहता है, उसी के निर्वाह में कवि का तात्पर्य रहता है, वहाँ 'रस' रूप व्यङ्ग्य में वैसी 'चमत्कारिता' न रहने से उन काव्यों को 'अधम' शब्द से कहा जाता है।

एवञ्च जहाँ व्यङ्ग्यत्वप्रयुक्त 'चारुत्व' की प्रतीति होती है उसे 'उत्तमकाव्य' कहते हैं और जहाँ 'वाच्य' की अपेक्षया 'व्यङ्ग्य' अधिक चमत्कारजनक नहीं होता या वाच्य के तुल्य ही रहता है, उसे 'मध्यम काव्य' कहते हैं और जहाँ 'व्यङ्ग्य' के रहने पर भी तत्प्रयुक्त चमत्कार का अभाव रहता है, केवल अलङ्कारमात्रकृत चमत्कार रहता है, उसे 'अधमकाव्य' कहते हैं।

श्रीमन्महामाहेश्वरराजानकवाग्देवतावतार श्रीमम्मटभट्टकृत-काव्यप्रकाश की वैद्य-मुसलगाँवकरोपनामकश्रीगजाननशास्त्रिकृत 'विवरणा-परपर्याय-रहस्यबोधिनी व्याख्या में 'शब्दार्थचित्रनिरूपण' नाम का षष्ठ उल्लास समाप्त हुआ।

॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन् १९८५-८६ ई० के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् । शोधपूर्ण संस्करण । अनुवादक एवं भाष्यकार-डॉ० रघुनाथ सिंह । द्वितीय भाग (अधिकरण ४-९)

शिशुपालवधम् । महामहोपाध्याय-कोलाचल मल्लिनाथ-सूरि तथा सर्वंकषाख्यया व्याख्यया समुल्लसितम् । संपादक पं० दुर्गाप्रसाद एवं पं० शिवदत्त ७०-००

पातञ्जलयोगदर्शनम् । व्यासभाष्य सहित सटिप्पण 'योगभाष्यचन्द्रिका' हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार-डॉ० उमाशंकर त्रिपाठी ५०-००

रामायणमञ्जरी । क्षेमेन्द्र विरचित । संपादक-भवदत्त शास्त्री एवं काशीनाथ-पांडुरंग परब ७०-००

रत्नावलिनाटिका । सटिप्पण 'कमलेश्वरी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार-डॉ० बालगोविन्द झा १२-००

संस्कारमयूखः । (प्रथमो मयूखः) नीलकण्ठभट्टकृत । सम्पादक-पं० नरहरिशास्त्री शेंडे ४०-००

मुहूर्त्तचिन्तामणिः । सविमर्श 'चन्द्रिका' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार-डॉ० रामचन्द्र पाण्डेय २५-००

निर्णयसिन्धुः । म. म. कमलाकरभट्टप्रणीत । पाठान्तरसहित-टिप्पणी आदि से विभूषित । सम्पादक-पं० नारायणराय आचार्य १२५-००

अष्टाध्यायीसूत्रपाठः । पूर्वपीठिका सूत्रविवरणात्मक 'प्रह्लाद' टिप्पणी सहित । संस्कर्ता-स्वामी प्रह्लाद गिरि वेदान्तकेशरी १२-००

अभिषेकनाटकम् । 'शशिप्रभा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार-डॉ० जमुना पाठक १०-००

लघुसिद्धान्तकौमुदी । 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार-पं० गिरीशकुमार ठक्कुर १५-००

लिङ्गानुशासनम् । सटिप्पण 'प्रह्लाद' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार-स्वामी प्रह्लाद गिरि वेदान्तकेशरी ६-००

श्रीमद्भगवतगीता । सविमर्श 'बालक्रीडा' हिन्दी टीका सहित । व्याख्याकार-आचार्य मधुसूदन शास्त्री ५-००

शीघ्रबोधः । सान्वय 'सुगमा' हिन्दी व्याख्या सहित । व्याख्याकार-आचार्य रामजन्म मिश्र ८-००

माधवनिदानम् । सविमर्श 'कुसुम' हिन्दी व्याख्या सहित । वैद्य आशुतोष मालवीय २५-००

शार्ङ्गधरसंहिता । शार्ङ्गधराचार्यप्रणीत । भिषग्वराढमल्लविरचित 'दीपिका', पं० काशीरामवैद्यप्रणीत 'गूढार्थदीपिका' टीका सहित । सम्पादक-पं० परशुरामशास्त्री विद्यासागर ८०-००

आयुर्वेद का मूल सिद्धान्त । (गुजरात यूनिवर्सिटी की अभ्यासेतर प्रवृत्तियों की योजना के तत्त्वावधान में दिये व्याख्यान) डॉ० प्राणजीवन-माणकचन्द महेता । हिन्दीरूपान्तरकार-कविराज श्रीवागीश्वर शुक्ल ६५-००

प्राप्तिस्थानम्-कृष्णदास अकादमी, पो० बा० ११८, वाराणसी-२२१००१

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi